हिन्दी उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य

[पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

डॉ० प्रेम भटनागर

अर्चना प्रकाशन, जयपुर
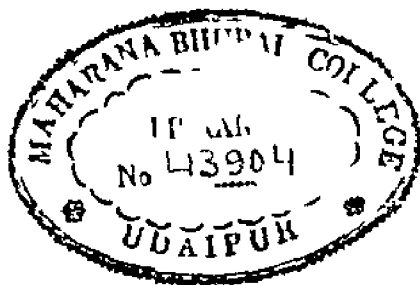
श्रद्धेय डॉ० इन्द्रनाथ मदान को

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उपन्यास शिल्प से सम्बद्ध कुछ प्रश्नों पर मनन किया गया है। प्रश्न नवीन भी है और पुरातन भी। उपन्यास का स्वरूप, उसका लक्ष्य, उसकी शैली क्या है ? औपन्यासिक तत्त्वों से शिल्प का क्या सम्बन्ध है ? ये तत्त्व शिल्प को कितना प्रभावित करते है, इनके गौण या अधिक मात्रा में रहने पर शिल्प में क्या परिवर्तन होता है, नए शिल्प को उपन्यासकारों की रचनाओं ने नई-नई दिशाएं प्रदान कर किस रूप में प्रभावित किया है, इनके द्वारा उद्‌गीर्ण शिल्प किस दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। जीवन की जटिलताओं के मध्य पनप रहे उपन्यास साहित्य के लिए नवीन प्रतीकों की योजना क्या हितकर प्रमाणित हुई है। शिल्प और वस्तु के द्वैधीकरण से क्या कुछ नयी भ्रांतियां या असंगतियां उत्पन्न हुई हैं।

मेरा दृढ़ मत है कि शिल्प सम्बन्धी परिवर्तनों में नितान्त असंगति नहीं अपितु विकासधारा है। नया शिल्प उपन्यास के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ या हानिप्रद, इस ओर न जाकर हमें यह देखना है कि इसने उपन्यास को नया रूप दिया या नहीं। प्रेमचन्द से लेकर आज तक जिन उपन्यासकारों ने इसे संभाला और संवारा वे किसी प्रशंसा के पात्र हैं या नहीं। उत्तर नकारात्मक नहीं है। प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम उपन्यास सर्जन की विधि की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने जन-जीवन के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित करते हुए इसे मनोरंजन के साधन से ऊपर उठाकर जीवनगत समस्याओं से समृद्ध किया।

मानव की अन्तश्चेतना के चितेरे उपन्यासकार जोशी और जैनेन्द्र की अपेक्षा उनका औपन्यासिक शिल्प भिन्न है। इन उपन्यासकारों ने समाज और व्यक्ति को विभिन्न दृष्टिकोणों से आंका है। हिन्दी उपन्यास का विकास वर्णनात्मक से विश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक से प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की ओर अभिमुख है। इस बीच यत्र-तत्र नाटकीय या समन्वित शिल्प-विधि के प्रयोग भी होते रहे है किन्तु मूल रूप से उसकी गति-विधि व्यापकता, गहनता और सकेतात्मकता का आश्रय लेकर अग्रसर हुई है। हिन्दी उपन्यास के शिल्प पर पड़ने वाले प्रभावों के क्रमबद्ध अध्ययन तथा विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किन कारणों से उपन्यास का आधारभूत रूप वर्णनात्मक से प्रतीकात्मक में रूपायित हुआ है तथा किन परिस्थितियो में होकर उसे यह यात्रा तै करनी पड़ी है।

प्रबन्ध के पहले अध्याय में 'विषय प्रवेश' के अन्तर्गत उपन्यास साहित्य और शिल्प का सम्बन्ध निर्धारित किया गया है। उपन्यास के मुख्य तत्त्वों के साथ शिल्प का सम्बन्ध नियोजित करते हुए इस बात को प्रतिपादित किया गया हे कि उपन्यासकार की रुचि तथा लोक रुचि के समन्वय द्वारा ही किसी शिल्प का गठन हुआ करता है। समस्या एवं

उद्देश्य प्रधान उपन्यास लिखने की चाह रही। बाद प्रेमचन्द ने शिल्प पर मनन और अध्ययन करके वर्णनात्मक शिल्प विधि का प्रयोग किया। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के प्रति आकृष्ट जोशी, अज्ञेय और जैनेन्द्र ने विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को अपनाया। लोक मंगल और व्यक्ति स्वातन्त्र्य के द्रष्टा उपन्यासकार शिल्प के क्षेत्र में नये नये प्रयोग करने लगे। उपन्यास में विस्तार, गहनता या संकेतात्मकता के आधार पर शिल्पगत प्रयोगों के प्रश्न भी इसी अध्याय में स्पष्ट किए गए हैं। कथावस्तु की अनिवार्यता माननेवाले तथा भिन्नता रखनेवाले आलोचकों की मान्यताओं पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। चेतना प्रवाहवादी शिल्पियों द्वारा आयोजित विचारों के परिवेश में घूमकर तथा प्रतीकात्मक कथाकारों द्वारा प्रतिपादित रचना तन्त्र संकेतों के महत्त्व का शिल्प रूप में रूपायित करने की चर्चा इस अध्याय के उल्लेखनीय तथ्य हैं।

प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में शिल्प विधि के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों पर प्रश्न चिह्न लगाए गए हैं। इस दिशा में मुझे अपने निरीक्षक से विशेष प्रेरणा तथा दृष्टिकोण मिला है। उन्होंने आरम्भ में ही कह दिया था कि किसी भी आलोचक की मान्यता को केवल इसलिए नहीं मान लेना चाहिए कि उसे तथाकथित बड़प्पन का प्रश्रय मिला है अपितु उसे वैज्ञानिक अनुसंधान की कसौटी पर परखना चाहिए और तथ्यपरक होने पर ही अपनाना चाहिए। डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव, डॉ० त्रिभुवन सिंह, डॉ० प्रतापनारायण टंडन, डा० सुषमा धवन आदि विद्वानों द्वारा कहे गए उपन्यास सम्बन्धी तथ्यों और प्रवचनों का मैंने अध्ययन, मनन और विश्लेषण की प्रक्रिया के पश्चात् नए रूप प्रदान किए हैं। शिल्प के सम्बन्ध में इन विद्वानों का दृष्टिकोण मुझे अस्पष्ट तथा अनिश्चयात्मक प्रतीत हुआ है। डा० टंडन ने इस विषय पर प्रथम और मौलिक कार्य किया है, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित शिल्परूपों का वर्गीकरण मुझे संदिग्ध, अस्पष्ट एवं अवैज्ञानिक आभासित हुआ है। इस विषय पर उपलब्ध सामग्री का अन्वेषण करके जो विवेचना प्रस्तुत की गई है, उसे मैं तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक समझता हूँ। डा० टंडन ने प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास साहित्य में शिल्प प्रयोग का आधिक्य दर्शाया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के मतानुसार प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य मनोरंजन प्रधान है। उसमें पाठकीय आकर्षण और कथा कौतूहल की सामग्री का बाहुल्य है तथा शिल्प मात्रा अति गौण है। वस्तुतः प्रेमचन्द ही पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने शिल्प को शिल्प के रूप में मान्यता दी। अतः उनसे पूर्व उपन्यास साहित्य शिल्प की स्पष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। उसे आधार मानकर शिल्प रूपों की चर्चा करना असंगत तथा अवैज्ञानिक है। विद्वान आलोचक शिल्प और शैली के अन्तर को भी स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। अतः उनके मत और मान्यताओं को शान्तिपूर्वक समझ कर उनका निराकरण करने की चेष्टा इस अध्याय के नवीनीकरण की परिचायक है। इसी अध्याय में मैंने शिल्प-विधि के पांच रूपों—वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, प्रतीकात्मक, नाटकीय और सम्मिश्रित शिल्प विधि को विशेष संदर्भ में रखकर उनकी विस्तृत विवेचना की है।

प्रबन्ध के शेष अध्याय शिल्प विधि के विविध रूपों से सम्बन्धित उपन्यासकारों तथा उनकी रचनाओं की गवेषणा करने में ही सम्पादित हुये हैं। उपन्यासों को उद्धृत करने

में यह ध्यान रखा गया है कि वे विशेष शिल्प परिचायक बनकर ही सामने आएं। वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों का महत्व प्रतिपादित करते हुए तीसरे अध्याय में यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि उनमे जन-जीवन अपने समग्र और व्यापक रूप में चमत्कृत हो उठा है। औपन्यासिक तत्त्वों की दृष्टि से कथावस्तु प्रधान 'सेवासदन'; चरित्र प्रधान 'दबदबा'; वातावरण प्रधान 'गढ़कुंडार'; तथा अंचल प्रधान 'मैला आंचल' अपनी भिन्नता रखते हुए भी शिल्पगत एकता रखते है। वैयक्तिक प्रकृतियो से परिपूर्ण दार्शनिक प्रसंगों से अवतीर्ण, उपन्यास साहित्य विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत रखा गया है। मानवीय चेतना की विकृति लिए 'सन्यासी' और 'प्रेत और छाया' मानवीय दार्शनिकता की तरलता एवं अनुरूपता का आधिक्य लिए 'सुनीता' 'कल्याणी' तथा 'शेखर: एक जीवनी' इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए गए है। प्रतीकात्मक शिल्प विधि के संकेतों, बिम्बप्रति-बिम्बों, स्वप्नों आदि का अन्वेषण पांचवें अध्याय की विशेषता है। छठे अध्याय में कतिपय उपलब्ध नाटकीय शिल्प-विधि के उपन्यासों का विवेचन किया गया है। सातवां अध्याय समन्वित शिल्प-विधि के उपन्यासों को लेकर रचा गया है।

आठवे तथा अंतिम अध्याय में उपसंहार रूप में यह बताया गया है कि उपन्यास शिल्प-विधि का क्या उपयोग है तथा इसने उपन्यास को किस दिशा मे अग्रसर किया है। हिन्दी उपन्यास के भूत, भविष्य और वर्तमन को शिल्प के आधार पर निर्धारित करने की एक चेष्टा भी इसी अध्याय में संयोजित हुई है।

अन्त में आभार प्रदर्शन का प्रमुख, महत्त्वपूर्ण तथा शिष्ट कार्य सम्पन्न करने के निमित्त मै पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष तथा अपने निरीक्षक डॉ० इन्द्रनाथ मदान के प्रति हृदय से श्रद्धांजली अर्पित करता हूं, जिनकी प्रेरणा प्रोत्साहन तथा सहयोगात्मक निरीक्षण-विधि द्वारा ही यह कठिन कार्य सहज एवं रुचिकर बन सका और मै प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रणयन में जुट सका। लेखक उन आलोचकों उपन्यासकारों तथा विद्वानों के प्रति भी आभारी है जिनकी रचनाओं को पढ़कर वह लाभान्वित हुआ है।

प्रबन्ध के प्रकाशन में कुछ कठिनाइयां अवश्य आई। मेरा यह अनुभव है कि प्रबन्ध लेखन जितना सरल है, उसका प्रकाशन उतना ही विकट है। इसी कारण मेरे दृष्टिकोण और निजी रुचि में एक परिवर्तन आया और मैंने अर्चना प्रकाशन का सहयोग पाकर इसे स्वयं प्रकाशित कराने का निश्चय किया। अतः प्रस्तुत प्रबन्ध को ग्रीष्म अवकाश की अल्प-अवधि में प्रकाशित कर देने के लिए उर्मिल भटनागर व सुदर्शन भटनागर (अर्चना प्रकाशन, जयपुर) तथा मुद्रक हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली के प्रबन्धकों को धन्यवाद देता हूं। यह शोध-प्रबन्ध प्रबुद्ध पाठक वर्ग की थाती है, अतएव इसे पढ़ अपनी प्रतिक्रिया वे अवश्य मुझे भेजने का कष्ट करें, जिससे मेरी जिज्ञासा शान्त हो और मैं उनके सुझावों से लाभान्वित हो हिन्दी उपन्यास के बृहद् इतिहास को लिखने के कार्य में उनका प्रयोग कर सकूं।

हिन्दी विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर कॉलेज, कोटा

—प्रेम भटनागर

अनुक्रम

पहला अध्याय

विषय प्रवेश

साहित्य एक ललित कला है, अतः साहित्यिक रचनाओं का स्थान अन्य सभी प्रकार की रचनाओं से भिन्न है। किसी भी भावना, विचार या सिद्धान्त को भाषाबद्ध कर देने के पश्चात् उसे साहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता। साहित्य वह तभी बनता है जब उसमे स्थायित्व तथा रागात्मक तत्त्व आते है। साहित्यकार भावना और विचार का प्रदर्शन ही नहीं करता, वह उसे कलात्मक रूप भी देता है। एक विशेष शिल्प भी प्रदान करता है। रोचकता, आकर्षण और चिर प्रभाव अन्वेषण हित साहित्यकार शिल्प की सृष्टि करता है। शिल्प साहित्य की विभिन्न विधाओं मे विविध रूपों में प्रस्फुटित हुआ है। शिल्प संबंधी विभिन्न रूपों का विकास कोई आकस्मिक घटना या संयोग नही है। साहित्यिक रचनाओं मे साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ-साथ साहित्य-शिल्प का शनैः-शनैः विकास हुआ। यह विकास प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकारो द्वारा समय-समय पर अपने सतत श्रम और प्रयोग द्वारा प्रस्तुत हुआ है। साहित्य के आरम्भिक रूप का अवलोकन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आदि काल में शिल्प की कोई निर्धारित रूप-रेखा नहीं थी। साहित्यकार अपने परीक्षण, अन्वेषण और विभिन्न प्रयोगों के द्वारा शिल्प संबंधित मान्यताओं को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते गए और उनमें से कतिपय समय और वातावरण द्वारा स्वीकृत होते गए।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का संबंध हिन्दी उपन्यास है, अतएव कुछ शब्द इसपर लिख देना भी सामयिक होगा। उपन्यास हिन्दी साहित्य की अभिनव एवं महत्त्वपूर्ण विधा है। इसके विकास और गतिविधि ने साहित्य के अन्य अंगों के विकास-क्रम को बहुत कम समय में बहुत अधिक पीछे छोड़ दिया है। यह शब्द उप-समीप तथा न्यास-थाती के योग से बना है। जिसका तात्पर्य है—निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात वह चीज़ जिसे पढकर लगे कि यह तो हमारी या हमारे किसी पड़ोसी, मित्र या रिश्तेदार की जीवनी, जीवनांश या जीवन-प्रतिबिम्ब ही तो है। उपन्यास साहित्य की सबसे अधिक लचीली, चमकीली और नुकीली विधा है जो कभी भी, कोई भी रूप धारण कर पाठक के मनोभावों को आन्दोलित करती है। इसमे एक युग की कथा भी हो सकती है, एक क्षण विशेष की भी; एक पूरे समाज की जीवनी भी संभव है; एक अकेले व्यक्ति की ऊब भी चित्रित की जा सकती है। कथानक की प्रधानता भी मोहित कर सकती है; कथा विहीन प्रयोग भी चले है। इतिहास भी वर्णित होता है, अंचल भी मुखरित हुआ है; व्यक्ति भी विश्लेषित हुआ है और जड़-चेतन

दोनों को खानी मिली है। कथा हो तो भी ठीक, मात्र शिल्प ही हो तो भी गुजारा चल जाता है और वस्तु तथा शिल्प में संतुलन हुआ तो कहना ही क्या ?

हिन्दी में श्रीनिवास दास, देवकी नन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि उपन्यासकारों की रचनाओं ने अपने समय के शिल्प का प्रयोग कर पाठकीय आकर्षण को बढ़ावा दिया है। इन आरम्भिक कथाकारों की रचनाओं में वस्तु तत्व का ही प्राधान्य है, शिल्प की कोई निश्चित रूपरेखा तब तक तैयार नहीं हुई थी। इसका मुख्य कारण इन कथाकारों का जीवन की जटिलताओं, वैज्ञानिक दृष्टि अनुरूप अनुसंधान एवं मार्मिक प्रयोगों के प्रति उदासीन रहना और मात्र उपदेश या मनोरंजन को ही उद्देश्य मानकर घटना वैचित्र्य की टीका टिप्पणी और उपदेश को प्रश्रय देना है। प्रेमचन्द से पूर्व के कथाकारों का कथा साहित्य और प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्द समकालीन एवं प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों की कथा रचनाओं में एक स्पष्ट रूपाकार (form) का अन्तर दृष्टव्य है। वस्तु स्थिति तो यह है कि प्रेमचन्द ही पहले कथाकार हैं जिन्होंने प्रथम बार नवीन, मौलिक व्यवस्थित रूप में शिल्प प्रयोग कार्य का आरम्भ किया। प्रेमचन्दोत्तर युग में द्रुत गति से शिल्प दृष्टि का प्रचार और प्रसार अनेक उपन्यासकारों के अध्ययन, मनन, अन्वेषण, सामाजिक परिवेश, तथा वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य का परिणाम है। आज जो शिल्प संबंधी मानदण्ड प्रस्तुत हो रहा है उसका सर्वेक्षण करने से पूर्व यह जान लेना परम आवश्यक है कि शिल्प क्या है ?

शिल्प अंग्रेजी के प्रसिद्ध शब्द टेक्नीक (Technique) का हिन्दी अनुवाद है। इसकी परिभाषा अंग्रेजी शब्दकोश में इन शब्दों में दी गई है — 'कलात्मक कार्यवाही की वह रीति, जो संगीत अथवा चित्रकला में प्राप्य है तथा कलात्मक कारीगरी।'[1] इसी से मिलती जुलती परिभाषा ज्ञान मंडल लिमिटेड, बनारस द्वारा सम्पादित बृहद् हिन्दी-कोश में दी गई है। यथा— 'शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है।'[2]

टेक्नीक के पर्यायवाची शब्दों की भी कोई कमी नहीं है। क्रैफ्ट (Craft) स्ट्रक्चर (Structure) तथा फॉर्म (Form) अंग्रेजी के ये तीनों शब्द टेक्नीक के ही पर्यायवाची हैं। इनमें से सर्वाधिक प्रयोग फार्म (Form) का होता है जिसका शब्दार्थ है—रूप। [illegible] महोदय ने अपने सम्पादित कोष में इसकी व्याख्या इन शब्दों में प्रस्तुत की—'वस्तु वह है जिसके द्वारा एक वस्तु तैयार होती है, रूप वह है जो इसको क्या बनाता है जो वह है। अरस्तु के मतानुसार रूप केवल आकार ही नहीं है, अपितु आकार का कारण भी है। विधान अथवा चरित्र ही नहीं है अपितु विधान का वह सिद्धान्त है जो चरित्र को बनाता है।'[3]

1 'Mode of Artistic execution in Music painting & technical skill in Art.'

Oxford Dictionary of Current English P. 1258

२ बृहद् हिन्दी कोश—पृष्ठ १३३४।

3 The Matter is that of which a thing is made, the form that

इसका तात्पर्य यह हुआ कि रूप ही टेकनीक नहीं है, शिल्प-विधि का असली पर्यायवाची रूपाकार है जो किसी भी साहित्यिक कृति को एक विशिष्ट आकार देता है, शक्ल देता है। और फिर यह रूपाकार (Form) साहित्य की रूढ़ि या परम्परा भी नही है जो साहित्यकार के मनोभावों आवेगों तथा संवेदनाओं को एक स्थिर रूप से रूपायित करके रख दे। यह तो सतत प्रवाहित जीवन-क्रम की भाति नित-प्रतिदिन परिवर्तित होने वाली कला की वह संतान है जो समस्त रूढ़ियों के प्रति विद्रोह कर अपने स्वतंत्र दृष्टि-कोण के अस्तित्व के प्रति सजग रहने मे ही अपना हित समझती है। रूपाकार (Form) की माता कला का कोप अक्षय है क्योंकि इसकी सामग्री कोई भौतिक पदार्थ न होकर मनोवेग एवं अनुभूतियां हैं। कलाकार की अनुभूति जितनी तीव्र, व्यापक और युगान्त-कारी होती है उतनी ही उसकी दृष्टि और रूप-विधा सचेत, विश्लेषणात्मक और मौलिक होती है। मनोभावों के प्रेषण हित वह भाषा, शैली और रूपाकार (Language. Style and Form) का आश्रय लेता है। इन तीनो में भी रूपाकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि रचना की प्रभावान्विति अधिकतर बाहरी रूप पर ही निर्भर रहती है। रूपा-कार की रूढ़ि-विद्रोहिता स्वयं सिद्ध है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक श्री ई० एम० फास्टर लिखते हैं—

"रूपाकार साहित्य परम्परा अथवा रूढ़ कला सिद्धान्त नहीं है, यह तो युग-युग को पीछे रखें ताकि लाइन सीधी हो पीढी-दर-पीढ़ी परिवर्तित होता रहता है।"[४]

अपनी कला, अपनी शिल्प-विधि तथा रूपाकार के प्रति प्रत्येक स्वतंत्रचेता कला-कार सचेत रहता है। तभी तो साहित्य के इस वाह्य परिधान की महत्ता स्वीकारते हुए एक पश्चिमी आलोचक श्री विलियम वान-ओ-कानर कहते है—"रूप तो विचार का बाहरी परिधान है, इसलिये यह रूप जितना ही विचारानुकूल होगा, उतना ही उत्कृष्ट माना जायेगा।"[५]

वस्तुतः रूपाकार या शिल्प-विधि की आवश्यकता किसी भी रचना में भीतरी और बाहरी संतुलन स्थापना हित होती है। कतिपय पश्चिमी और भारतीय आलोचक उप-न्यासकार उपन्यास में रूपाकार को वस्तु तत्त्व की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण मानते है जैसे स्कॉट जेम्स कहते है—"यह (रूपाकार) तो कलाकार के मन द्वारा विषय-वस्तु पर

---

which makes it what it is. For Aristotle therefore form is not simply shape but that which shapes, not structure or character simply but the principle of structure which gives character."

The Dictionary of world literary terms.

4. "Form is not tradition. It alters from generation to generation."

"Art for Arts sake" Two cheers for Democracy P. 103.

5. "Form is the objectifying of idea and its excellence, it would seem, depends upon its appropriateness to the idea."

"Forms of Fiction" P. 1.

आरोपित साक्षात्कार है।"[6]

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे इसे अनावश्यक मानते हों। उनकी स्थापना है कि सतर्कतापूर्वक लिखित प्रत्येक उपन्यास विधि और प्रविधि में अपनी पृथक समस्या प्रस्तुत करता है।[7]

हिन्दी के प्रमुख कथाकार जैनेन्द्र के भी कला और शिल्प के संबंध में अपने स्वतंत्र विचार हैं। अपने प्रसिद्ध निबंध "मैं और मेरी कला" में एक स्थान पर वे लिखते हैं—"शिल्प अनावश्यक नहीं है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारे बनते हैं। नदी का पानी नहीं बनता।" उन्होंने लिखा कि शिल्प अनावश्यक नहीं है। पर यह नहीं लिखा कि वह आवश्यक है। अर्थ यह हुआ कि जैनेन्द्र भी शिल्प की अपेक्षा वस्तु तत्त्व पर बल देने वाले कथाकार हैं, तभी तो वे कहते हैं कि शिल्प द्वारा तटों का निर्माण होता है, प्राण प्रवाह करनेवाले जल का नहीं। उनके मतानुसार शिल्प का काम ही साहित्य को गति देना है। उन्होंने अपने 'स्थायी और उच्च साहित्य' शीर्षक लेख में कहा भी है—"टेकनीक उस ढाँचे के नियमों का नाम है। पर ढाँचे की जानकारी की उपयोगिता इसी में है कि वह सजीव मनुष्य के जीवन में काम आये। वैसे ही 'टेकनीक' साहित्य सृजन में योग देने के लिए है। शरीर-शास्त्र-विद हुये बिना भी जैसे प्रेम के बल से माता पिता बनकर शिशु सृष्टि की जा सकती है, वैसे ही बिना टेकनीक की मदद के साहित्य सिरजा जा सकता है।"[8]

जैनेन्द्र की विरोधी धारणा के उन्नायक हैं श्री मेडिलोव। वे मानते हैं कि शिल्प ही सबकुछ है बिना इसके विषय-वस्तु एवं चरित्र चित्रण में रंगत आ ही नहीं सकती। मेडिलोव से भी अधिक शिल्प की सराहना करनेवाले लेखक हैं पश्चिम के मान्य उपन्यासकार हेनरी जेम्स। वे टेकनीक को साधन न मानकर साध्य तत्त्व की सीमा तक खींच कर ले गये। टाइम एण्ड नावेल में इस प्रकार के कथन प्राप्त हैं—"वह समय बीत गया जब शिल्प को मात्र साधन माना जाता था, जिसके द्वारा अनुभूत सत्य को गठित कर अपने हित में ढाल दिया जाता था।"[10] इसके आधार पर हेनरी जेम्स शिल्प की अतिरिक्त महत्ता के विषय

---

6 "It is objective order that has been imposed on matter by the mind"

"The making of literature" P 305

7 "Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique"

Do P 37.

८ साहित्य का श्रेय और प्रेय—पृष्ठ २५५

९ वही—पृष्ठ ३७०

10 The time has long passed when technique could be taken simply to mean the ways in which a given body of experience may be organised and manipulated to the best advantage "

"Time and the Novel" P 234

मे कह गये है—"रूप उस दर्जे तक विषय-वस्तु है कि उसके बिना विषय-वस्तु सर्वथा नहीं है।"[11]

न केवल हेनरी जेम्स अपितु मार्क शोरर ने भी टेकनीक को सबसे अधिक महत्त्व देते हुए लिखा है—"जब हम शिल्प के विषय मे बात करते है, तब हम लगभग सभी कुछ मान लेते हैं।"[12]

तात्पर्य यह कि शिल्प-विधि को ही सब कुछ समझ लेते है।

रूपाकार एवं शिल्प-विधि का यह तात्विक विवेचन स्पष्ट कर देता है कि शिल्प का महत्त्व मनोवेगों और भावों को स्पष्ट आकार देने मे सहायक सिद्ध होता है। अच्छी रूप-विधा या शिल्प-विधि वही है जो सही वस्तु को, सही समय, सही परिप्रेक्ष्य में उचित ढंग से प्रस्तुत कर दे। इसके लिये उचित विषय का चुनाव एक अनिवार्य शर्त है। वह विषय जो कथाकार के जीवन से संबंधित नही या उनकी दृष्टि की पैठ के बाहर की वस्तु है, उसके हाथों मे पड़कर सज-धजकर सामने आने की बजाय बिगड़ जायगा। वह कथाकार जो न मनोवैज्ञानिक है न मनोविज्ञान मे जिसकी रुचि है, विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास नहीं लिख सकता, और यदि वह ऐसा करने की भूल कर बैठेगा तो वह अपने कथ्य को मार्मिक ढंग से अपने पाठकों तक पहुचाने की कला मे बुरी तरह असफल रहेगा।

यहा पर एक मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है। वह है कि कथाकार कौन से ढंग को अपनाये ? किस शिल्प-विधि को प्रश्रय दे ? तथा उपन्यास के तत्त्वो के साथ उसका क्या सबंध है ? और निजी दृष्टिकोण से क्या ?

निजी दृष्टिकोण (Point of view) की स्वतन्त्रता का उद्‌घोष उपन्यासकारों ने समय-समय पर बडे ज़ोर-शोर के साथ किया है। अंग्रेजी उपन्यास की आरम्भिक अवस्था मे प्रसिद्ध उपन्यासकार विलियम फील्डिग ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'टॉमजोन्स' मे लिखा —"मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूं कि कोई नियम बनाऊं जो इसके उपयुक्त हो।"[13]

साराश यह कि आवश्यकता अनुसार उपन्यासकार नई-नई शिल्पविधियो का विनियोग कर सकता है जो उसके भिन्न-भिन्न कोणों मे देखने की दृष्टि को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं। वस्तुतः उपन्यास की शिल्प-विधि का निर्धारण मुख्यतः उपन्यासकार की दृष्टि अथवा दृष्टिकोण (Point of view) पर ही अवलम्बित होता है। इस संबंध में प्रसिद्ध समालोचक श्री पर्सी लुब्बक का कथन विचारणीय है। उन्होंने लिख-है—"उपन्यास कला की शिल्प-विधि अथवा कारीगरी की जटिलता का निर्धारण मूलतः कथाकार के दृष्टिकोण पर निर्भर है। कथाकार का कथा के साथ जो दृष्टिवाचक संबंध होता है, वही आखिर

11. Henry Jame's letter to Walpole (19.5.1912) "selacted Letters 1956."

12. "When we speak of technique, then, we speak of nearly everything.

"Technique as Discovery," Forms of Modern Fiction. P. 9.

13. "I am at liberty to make what laws I please therin .P 69."

में उपन्यास का शिल्प निर्धारित करता है।' "

पर्सी लुब्बक महोदय के साथ मिलता जुलता मत श्री बार्नेट एवं येगो का भी है। वे दृष्टिकोण पर अत्यधिक बल देते हैं और इसे शिल्प विधि से पृथक विषय नहीं मानते। उनके मतानुसार औपन्यासिक विन्यास में दृष्टिकोण ही रचनाकार का मूलभूत सिद्धान्त है। एक या दूसरे दृष्टिकोण को अपनाने से कथावस्तु, चरित्र चित्रण, वातावरण, वर्णन सभी कुछ अंश तक नियत या निर्मित होते हैं।

अतः मूल तत्त्व की बात यह हुई कि निजी दृष्टिकोण या उद्देश्य द्वारा किसी भी कथाकार की शिल्प विधि का निर्धारण और संचालन होना स्वतः सिद्ध है। पर दृष्टिकोण की सार्वभौमिकता के आधार पर वस्तु तत्त्व या उपादान के किसी अन्य तत्त्व की पूर्ण अवहेलना नहीं की जा सकती। विषयवस्तु को भी शिल्प के समानुरूप रखा जा सकता है। वस्तु तत्त्व को अलग हटाकर किसी भी कथा शिल्पी के लिए एक पग तक आत्मघातक भी सिद्ध हो सकता है। वस्तु तत्त्व के अन्तर्गत कथानक, मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथा, अन्तर्कथा, तथा विभिन्न घटनाएँ आते हैं। पर शिल्प वस्तु तत्त्व से कहीं अधिक शक्तिमान एवं समृद्ध किया है क्योंकि इसके अन्तर्गत वस्तुगठन योजना, चरित्रांकन विधि, संवाद परिकल्पना, वातावरण निर्धारण, विचार संचालन तथा भाषा और शैली तत्त्व निर्धारित होते हैं। रुचि का भी शिल्प में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। रुचि एवं संस्कार अनुरूप उपन्यासकार कथा रचता है

"मिस्टर विलियम्स" सर्वविदित लोकप्रिय है। रुचि की पकड़ एक जटिल समस्या है। उपन्यासकार के सामने दो प्रश्न रहते हैं—आत्मरुचि का प्रश्न और पाठक की रुचि का ध्यान। प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यासकारों को पाठक रुचि का अधिक ध्यान रहता था अतः उनके उपन्यासों में लोकरुचि अनुरूप शिल्प का गठन हुआ। इनकी रचनाओं में शिल्प का प्रयोग न मानना अनुचित है, क्योंकि यदि उनमें शिल्प-विधि की पकड़ न होती तो वे रचनाएँ केवल गद्य में उपलब्ध आकर्षक किस्सागोई का स्थान ग्रहण कर लेतीं, उन्हें साहित्य की कोटि में स्थान न मिलता। उनकी लोकप्रियता, रोचकता और पाठकीय आकर्षण ने ही यह सिद्ध कर दिया है कि उनके अन्दर, निश्चित न सही अस्पष्ट ही कहे जाएँ, शिल्प का समावेश रहा है। जासूसी कथा की माँग, तिलिस्म के स्वप्न, ऐयारी संसार की सैर करने की पाठक की रुचि का केन्द्र रही है, उनके अनुरूप उपन्यास शिल्प का निर्माण हुआ। जिसमें केवल घटना वैचित्र्य, आकर्षक संवाद, घुमावदार वातावरण ही प्रधान रहे। इन कथाकारों की रुचि भी ऐसी ही थी।

प्रेमचन्द ने इस शिल्प को अनुचित मानकर, मनोरंजन से ऊपर चारित्रिक महत्त्व की बात की। वे उपन्यास को मानव मनोरंजन का साधन मात्र न मानकर, मानव चरित्र का उद्घाटक मानकर चले, इसके अनुरूप उनके औपन्यासिक शिल्प में एक बड़ा परिवर्तन

14 'The whole intricate question of method in the craft of fiction I take to be governed by the question of point of view, the queston of the relation in which the narrator stands to story "

The Craft of Fiction P 251

आया । वे उपन्यास को अनगढ़ तिलस्म, जासूसी उछल-कूद और भाव लोक की रंगीली दुनिया से खींचकर यथार्थ परिस्थितियों और चेतन मन की व्यापक भावनाओं के धरातल पर लाए । इस परिवर्तन को आचार्य नन्द दुलारे इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"उपन्यासों के निर्माण और अनुवाद के आरम्भिक युग को पार करते ही हम हिन्दी के उस युग में प्रवेशकरते हैं जिनका शिलान्यास प्रेमचन्द जी ने किया और जिसमे आकर हिन्दी उपन्यास एक सुनिश्चित कला स्वरूप को पहचान सका तथा अपने उद्देश्य से परिचित होकर उसकी पूर्ति में लग गया ।"[15] प्रेमचन्द ने सामाजिक समस्याओ और पात्रो के चित्रण में अपने औपन्यासिक शिल्प का परिवेश बाधा तो उनके परवर्ती मनोवैज्ञानिक रुचि के कथाकारों ने वैयक्तिक विश्लेषण पर जोर दिया । कतिपय उपन्यासकार स्वप्नद्रष्टा बनकर प्रतीकात्मक शिल्प के सयोजक बने । हम देखते हैं कि कोई प्राचीन मान्यताओं को पढ़कर नाक भौं सिकोड़ने लगता है तो कोई नवीन प्रयोगो के पीछे ही लाठी लेकर दौड़ता है । रुचि वैभिन्न के इस युग मे क्या ग्रहणीय है, क्या त्याज्य, इसका उत्तर तो शिल्प नहीं दे सकता, हा किस में, किस परिणाम मे, क्या उपलब्ध है, यह वह अवश्य बताता है । शिल्प ही वह साधन है जिसके द्वारा उपन्यासकार अपने विजय की खोज, जांच पड़ताल और विकास करता है। जीवन और जगत बहुत व्यापक है । इनकी तुलना मे कथाकार जो मानव सत्य और मान्यताओं का अन्वेषक है, बहुत छोटा होता है। उसकी अपनी सीमाएं होती हैं, संस्कार होते है और होता है—स्वतन्त्र दृष्टिकोण जिनके सहारे वह अपने औपन्यासिक शिल्प की रचना करता है । शिल्प की रचना उपन्यास की प्रथम रचना के साथ साधारणतः कम प्रस्फुटित होती है । वैसे अपवाद हो सकते है जैसे नरेश महत्ता रचित 'डूबते मस्तूल' का शिल्प प्रयोग । शिल्प उपन्यासकार की रुचि, पाठक की मांग, समय की पुकार मे सन्तुलन स्थापित करने का माध्यम है—शिल्पगत परिपक्वता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि लेखक अन्धविश्वासों, थोथी मान्यताओ, जटिल संभावनाओं, अर्धविकसित और हानिप्रद रुढ़ियों के प्रति विद्रोह करे और उस माध्यम को प्रश्रय दे जो लोक मगल और व्यक्ति चेतना का उद्घाटक हो कोई भी । शिल्पविधान केवल इसलिए अभिनन्दनीय नही कहा जा सकता कि उसे बड़े-बड़े कथाकारों की रुचि का प्रश्रय मिला है । उनके द्वारा खींच दी गई कुछ विशिष्ट शिल्प रेखायें भले ही प्रशस्त हों, किन्तु अपने समग्र रूप में पूर्ण एवं उपादेय नही कही जा सकतीं, हर शिल्पविधि की अपनी सीमायें है, यह मानकर चलना होगा, तभी प्रचलित शिल्प प्रयोगो की वैज्ञानिक गवेषणा की जा सकती है । हिन्दी उपन्यासकारों ने शिल्पगत प्रौढ़ता तो प्राप्त कर ली, किन्तु अग्रेजी, रूसी, और फ्रैंच कथाकारों के समक्ष वे नहीं रखे जा सकते, एक भ्रान्त धारणा है। यह कहना हिन्दी उपन्यास साहित्य के अपूर्ण अध्ययन और अधूरे ज्ञान का द्योतक होगा । हिन्दी उपन्यास शिल्प के लिए यह क्या कम महत्त्वपूर्ण बात है कि जिस स्थिति को विदेशी उपन्यास साहित्य और शिल्प शताब्दियों की यात्रा तै करके पहुंचा है, हिन्दी मे कथाकारों ने वह अपेक्षाकृत बहुत कम वर्षो में प्राप्त कर लिया है । इस संबंध में डॉ० रामरतन भटनागर लिखते हैं—"हिन्दी उपन्यास ने "परीक्षा गुरु" से "परख" तक ५० वर्षो में ही पश्चिमी उपन्यास के विकास

---

१५. आधुनिक साहित्य—पृष्ठ १४०

की तीन शताब्दियां पार कर ली और नव उपन्यास का उदय होकर भी इस श्रेणी की रचनाओं के बहुत बाद नहीं हुआ।"[१५]

कथावस्तु और शिल्प

उपन्यास के तत्त्वों के अन्तर्गत कथावस्तु को प्रथम और अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्राय सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। प्रमुख विचारक इसे कहानी अथवा उपन्यास में वही स्थान देते रहे हैं जो शरीर में अस्थियों को मिलता रहा है। हिन्दी साहित्य में उपन्यास के क्षेत्र में जब पहले पहले शिल्पगत प्रयोग हुए उस समय तक कथावस्तु और शिल्प का सम्बन्ध अटूट एवं असंदिग्ध माना गया, किन्तु इस क्षेत्र में ज्यों-ज्यों नये शिल्पगत प्रयोग हुए, वस्तु तत्त्व क्षीण, निर्बल एवं संदिग्ध होता चला गया। कतिपय शिल्प प्रयोगों के फलस्वरूप उपन्यासकार कथा विधान की उपेक्षा करने लगे, अतएव कथावस्तु में संगठन, व्यवस्था आदि की तो बात ही छोड़ दीजिए, वस्तु पक्ष की उपादेयता पर ही संदेह होने लगा। जहां पर रिचार्ड्स आदि विचारकों ने कहानी उपन्यास आदि रचनात्मक साहित्य में वस्तु-तत्त्व को प्रधानता दी वहां [illegible] आदि विद्वानों ने इस तत्त्व के प्रति घोर घृणा प्रकट की। प्रेमचन्द और प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासकार इकहरी कथावस्तु से तो कभी तृप्त ही नहीं होते थे, विस्तार और वर्णनात्मक विधि से उन्होंने दोहरे और तीहरे कथावस्तु वाले उपन्यास लिखने पर विचार किया, किन्तु जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी ने अनेक इकहरी कथावस्तु वाले उपन्यास लिखे।

नव उपन्यासकारों ने विस्तार की अपेक्षा गहराई, परिमाण (घटनाओं की संख्या) की अपेक्षा गुण और स्थूलता की अपेक्षा सूक्ष्मता को प्रश्रय दिया है। समय और स्थान भी अब सीमित होते जा रहे हैं। कथानकों में कथा केवल एक दिन तक और कहीं-कहीं एक घंटे तक सीमित हो गई है। स्थान के लिए भी उपन्यासकार को प्रेमचन्द की भांति काशी से उदयपुर तक (रंगभूमि में) और जोशी की भांति मथुरा से कलकत्ता तक (जिप्सी में) दौड़ लगाने की आवश्यकता नहीं रह गई। 'चांदनी के खण्डहर' में गिरिधर गोपाल ने केवल इलाहाबाद की सिविल लाइन के घेरे में अपनी कथावस्तु को आबद्ध रखा है। [illegible] शर्मा के 'स्वप्न खिल उठा' में केवल एक घंटे के कथानक में सारे वर्ष की पूरी लम्बी पृष्ठभूमि को संयोजित किया गया है। आधुनिक उपन्यासों में जहां शिल्प ही शिल्प है, वहां घटनाएं ढूंढ़ना व्यर्थ है, वहां तो केवल मानसिक घटकों (Psychic Contents) का भूत-सूत्र दृष्टिगोचर होगा। कथावस्तु एवं घटनाओं के जाल की अनिवार्यता स्वीकार न करने वाले विचारकों को निरा महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। कथा तत्त्व की भर्त्सना करने वाले ये विद्वान तर्क देकर बात करते हैं। शरवुड एण्डरसन (Sherwood Anderson) ने कथानक को कहानी का विष कहा है।

प्रसिद्ध आलोचक श्री [illegible] ने तो पूर्व नियोजित, व्यवस्थित कथावस्तु में पूर्ण अनास्था प्रकट की है। उनका कथन है—"आपको यह बात चाहे अच्छी लगे या बुरी, मैं—कथावस्तु—इस शब्द को यह आशा करके कि यह डूब जाएगा और फिर नहीं उभरेगा,

१५ जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ २२१

सीधे सागर में फेंक देना चाहूंगा। अनर्गल कला या विधान के अन्तर्गत यह एक भारी भ्रामक शब्द है। संज्ञा के रूप में यह साधारणतया, न कम, न अधिक मात्रा में कहानी समझा जाता है या रूप-रेखा माना जाता है। इसका क्रिया रूप में प्रयोग आकार या विधि के अर्थ में होता है। अनिश्चितता से मुझे घृणा है। अतः मैं प्लाट शब्द का संज्ञा वाचक रूप के लिए और क्रियावाचक के लिए रचना शब्द का प्रयोग कर रहा हूं।"[१७]

इन आलोचकों के मतानुसार कथानक के आदि, मध्य और अन्त की कोई निश्चित, पूर्व-नियोजित योजना की आवश्यकता ही नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि किसी विषय को चरमोन्नत अवस्था तक पहुंचाया जाए और उसके निमित्त समस्त अन्तर्दशाएं, गौण घटनाएं एवं विभिन्न भूमिकाएं क्रमपूर्वक नियोजित की जाए। ये पीठिका पर नहीं, सिद्धि पर; घटना पर नहीं, पात्र या विचार पर सारा ध्यान केन्द्रित रखते है। अब तक उपन्यास-शिल्प के विचारक के सम्मुख व्यवस्थित और अव्यवस्थित कथा शृंखला की बात रही थी; किन्तु कथावस्तु वर्जित मानने वालों का सिद्धान्त एकदम चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली बात है। चेतना-प्रवाहवादी शिल्पियों ने घटनाओं की वाह्यात्मकता का विदारण ही नहीं किया, अन्तर्जगत के घटकों को भी निराकृत कर दिया है। वे केवल विचारों के परिवेश में घूमते हुए पात्रों के चारित्रिक विकास पर ही अपनी शक्ति केन्द्रित रखते हैं। इसी प्रकार प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की कतिपय रचनाओं में वस्तु तत्त्व को सीमित आकार देकर स्वप्नों, संकेतों और रूपकों को प्रश्रय मिला है। 'चादनी के खण्डहर' मे दिवा स्वप्नों, यथार्थ स्वप्नों और संकेतों के साथ-साथ रूपकों का भी सफल नियोजन मिलता है। किसी भी प्रधान कथा को महत्त्व न देकर, गौण कथाओं का तारतम्य और एक मे से दूसरी कथा का निकास भी उपन्यास-शिल्प की वर्तमान गति-विधि की ओर स्पष्ट संकेत है। धर्मवीर भारती रचित 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' इसका उदाहरण है। शिवप्रसाद मिश्र की 'बहती गंगा' मे सत्रह कहानियां स्वतन्त्र रूप में वही हैं।

प्रेमचन्द युग में ही कथा तत्त्व का ह्रास आरम्भ हो गया था। प्रेमचन्द के समकालीन प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र ने उनकी श्रेष्ठ रचना 'गोदान' पढ़ कर अपना मत दिया कि इसमें आवश्यकता से अधिक विस्तार है। अपने एक लेख "प्रेमचन्द का गोदान; यदि मैं लिखता" में वे लिखते हैं—"गाँव की कथा पर शहर कुछ थोपा हुआ सा है। वह अनिवार्य नहीं है, पस्तक की कथा के साथ एक नही है। हो सकता था कि होरी को कथा के केन्द्र में रहने के लिये, और ऐसे कि सब प्रकाश उसी पर पड़े दूसरे ब्यौरे ध्यान को खींच

17. With or without your kind permission I will kick the word plot right into the sea, hoping that it will sink and never reappear. It is the most deceptive word in the jargon of the art, craft, or what would you. As a noun it uselly means nothing more or less than story-outline or simply. As a verb it means to shape or plan.

I had ambiguities, and so I am substituting story outline for the noun, and devise for verb.

—Creative Technique in Fiction, P. 424.

पर अपनी ओर न ले जायें [illegible] में अनुपस्थित हो जाने देना।''[१८]

जैनेन्द्र भारी भरकम कथानक के विरोधी रहे हैं, तभी वे लम्बी कथा के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हैं। जो कथा तथा घटनायें उन्हें असंगत और अनुपयुक्त जान पड़ती हैं, वही प्रेमचन्द के लिए उपयुक्त हैं और उनके द्वारा अपनायी शिल्प-विधि का प्राण तत्त्व है। क्योंकि प्रेमचन्द वर्णनात्मक शिल्प विधि के प्रणेता हैं अतएव उनकी सामग्री की चयनक्रिया पर आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता। जिस सामग्री का उपयोग जैनेन्द्र को भारी, अनुपयुक्त और संदिग्ध प्रतीत हुआ उसे ही प्रेमचन्द अपनी वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा महत्त्वपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना गये। उनकी रचना में प्रथम तो अरोचकता है ही नहीं और यदि कहीं है भी तो वह अति गौण और नगण्य है।

एक कारण कथानक के ह्रास का जैनेन्द्र जैसे उपन्यासकारों की जीवन दृष्टि है तो दूसरा मनोविज्ञान का उदय है। मनोविज्ञान ने उपन्यासकारों को वर्णनात्मकता की परिधि से खींच कर विश्लेषणात्मकता की ओर अग्रसर किया। कथा जीवन सरिता से हट कर मनोगति के सरोवर की ओर खिसक आयी। पात्र की अन्तर्यात्रा कथा का प्रतिपाद्य बनी। बहिर्मुखी प्रवृत्ति का त्याग कर कथा, अन्तर्लोक की सूक्ष्म मानसिक घटना (Psychic content) पर आ टिकी। इसीलिए कथा आरम्भ की जीवनी से प्रारम्भ न होकर विच्छिन्न विपर्यस्त होकर कभी मध्य और कभी अन्त से आरम्भ हुई। जैनेन्द्र के 'व्यतीत' में नायक जीवन व्यतीत कर अपनी कथा कहता है। 'शेखर : एक जीवनी' में अज्ञेय शेखर के जीवन की मध्यावस्था से उसकी कथा आरम्भ करते हैं।

आधुनिक काल में उपन्यासकार ने कथानक का सूत्र भी स्वयं के हाथ से निकाल कर पात्र के हाथ में सौंप दिया है। श्री इलाचन्द्र जोशी की 'लज्जा', 'पर्दे की रानी,' श्री अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और श्री लक्ष्मी नारायण लाल के 'काले फूल का पौदा' में एक या एक से अधिक पात्र बारी बारी अपनी कथा पाठक को सुनाते हैं। हेनरी जेम्स इस कथा उद्घाटन विधि को दृष्टि विशेष की संज्ञा देते हैं। इस तथ्य की पुष्टि जैनेन्द्र जी ने भी की है। वे लिखते हैं—"जेम्स इस विशिष्ट विधि को जिसके द्वारा कथा कही न जाकर, एक या विभिन्न पात्रों द्वारा स्थिति का प्रकाश में लाती है—दृष्टिकोण की संज्ञा देते हैं।"[१९]

अपनी ही सृजित कथा में लेखक की तटस्थता, कथा के प्रति अनासक्ति और पात्रों को अतिरिक्त महत्ता देने की प्रवृत्ति देने की प्रवृत्ति प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की शिल्प-परिवर्तन की उद्घाटक है।

कथा को अल्पसूत्री बनाने का एक और कारण भी है। वह है शिल्प के प्रति उपन्यासकार का परिवर्तित दृष्टिकोण। प्रेमचन्द युगीन और प्रेमचन्द परम्परा के आज के कथाकार जीवन की विविधता, बड़ी बड़ी तफसील (व्याख्या) तथा प्रचा-

१८ साहित्य का श्रेय और प्रेय—पृष्ठ २३१

19 "James Called this particular method of revelation of story, that is illumination of the situation and characters through one or several minds, the point of view." Ibid Page 36

रात्मकता में विश्वास रखते थे या रखते है, जबकि नये शिल्प के प्रणेता बड़ी-बड़ी तफसीलों (व्याख्याओं) में मानव चरित्र की मात्र ऊपरी स्तर की बातें ही पाते हैं, वे छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म बात की गहराई में जाकर उनका विश्लेषण एवं परीक्षण कर उसके यथार्थ मर्म तक पहुंचने का बीड़ा उठाने लगे है। प्रेमचन्दोत्तर काल के कतिपय उपन्यासकारों ने तत्त्वान्वेषण और प्रतीक परीक्षण कर युग की चेतना और मानव मन के मूल की खोज का कार्य किया है। यह ठीक है कि इस कार्य द्वारा न केवल कथानक का ह्रास ही हुआ अपितु कभी-कभी तो कथा रस ही सूखता दृष्टिगत हुआ है। जैसे डॉ० प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' तथा डॉ० रघुवंश के 'तंतुजाल' मे चेतना-प्रवाहवादी विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि तथा प्रतीकात्मक शिल्प-विधि का चमत्कार क्रमशः अभिवृद्ध हुआ परन्तु कथा तत्त्व शिथिल, पंगु और नीरस होता चला गया।

शिल्प के अत्यधिक मोहके साथ-साथ जब उपन्यासकार अपनी ही दृष्टि तथा वस्तु तत्त्व में असंतुलन उत्पन्न कर देता है तब स्थिति और भी अधिक भयानक हो उठती है। जैसे हिन्दी के सुप्रद्धि उपन्यासकार श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'अपने खिलौने' में किया। उन्होंने 'अपने खिलौने' में एक ओर तो नया शिल्प-प्रयोग करना चाहा, दूसरी ओर अपने लक्ष्य पर वे केन्द्रित न रह पाये और वस्तु तत्त्व को कहीं झीना, कहीं असंगत, कहीं काल्पनिक, कहीं अस्वाभाविक कहीं अति यथार्थपरक तो कहीं परायथार्थवादी बनाने के चक्र में वे शिल्प, दृष्टिकोण और वस्तु तत्त्व को असंतुलित करते चले गये और उपन्यास मात्र उनके मन का खिलौना बन कर रह गया।' 'चित्रलेखा' जैसी कथानकगत रोचकता और शिल्पगत नाटकीय उत्कृष्टता इसमें न आ पाई।

प्रेमचन्दोत्तर काल के उपन्यास साहित्य में नवीन शिल्प प्रयोगों के कारण कतिपय उपन्यासों के वस्तु तत्त्व में मानवीय संवेदना का प्रश्न भी विचारणीय है। एक ओर 'संन्यासी', 'त्याग-पत्र', 'शेखर एक जीवनी', 'चांदनी के खंडहर', 'गुनाहों का देवता' आदि उपन्यास हैं जिनके कथानक मानवीय संवेदना से भरपूर है तो दूसरी ओर 'अपने खिलौने' 'सितारों का खेल', 'गिरती दीवारें', 'बड़ी-बड़ी आंखें,' 'पतवार', 'भूदान', 'यथार्थ से आगे', 'प्रेम की भेंट', 'उदयास्त', 'आभा', 'जन प्रवाह', 'विश्वास की वेदी पर आदि ये रचनायें हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कथाकारों सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती-प्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, गुरुदत्त, प्रताप नारायण श्रीवास्तव द्वारा रचित होने पर भी मानवीय संवेदना से बहुत दूर है। यदि कतिपय आलोचक इन रचनाओं में मानवीय सवेदना देखते है तो यह एक अप्रासंगिक आरोपण मात्र है। इन सभी उपन्यासों के कथानक की सूत्रबद्धता संदिग्ध है। इन कथाकारों की उद्देश्य-प्रियता ने अपनी-अपनी वैचारिक बोझिलता के कारण एक ओर वस्तु तत्त्व को झीना बना दिया, दूसरी ओर मानवीय संवेदना को इनमे आबद्ध होने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

इधर कतिपय उपन्यास ऐसे भी उपलब्ध हुए जिनका न केवल शीर्षक ही प्रतीका-त्मक है; अपितु वस्तु तत्त्व भी सांकेतिकता लिये है। जैसे श्री अमृतलाल नागर रचित 'बूंद और समुद्र,' अज्ञेय कृत 'नदी के द्वीप' आदि।

चरित्र चित्रण और शिल्प

शिल्प और चरित्र का संबंध अटूट है। उपन्यास में यथावस्तु की उपादेयता पर दो मत संभव हैं, किन्तु चरित्र चित्रण के विषय में विवादास्पद प्रश्न अभी नहीं उठे। उपन्यास का प्रधान उपजीव्य मानव है, जो अपनी नाना भावनाओं, विविध कामनाओं और विभिन्न भंगिमाओं एवं मान्यताओं के साथ चित्रित होकर उपन्यास शिल्प को गति देता है। हिन्दी उपन्यास के प्रसिद्ध शिल्पी प्रेमचन्द ने तो स्पष्ट कहा है—"मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"[२०] मानव चरित्र का चित्र नाना विधियों द्वारा प्रकाश में आता है। चरित्रांकन निमित्त मुख्यतः दो शिल्प-विधियों का प्रयोग हुआ है —

(क) वर्णनात्मक शिल्प विधि (Descriptive Technique)
(ख) विश्लेषणात्मक शिल्प विधि (Analytic Technique)

जब उपन्यासकार को मानव का उन्मुक्त, विशृंखल अथवा संयत और शृंखला-बद्ध विस्तृत विवरणात्मक चित्रण इष्ट होता है तब वह प्रायः वर्णनात्मक शिल्प विधि को अपनाता है। इस विधि को अपनाने वाले कथाकार का कार्य सरल होता है। उसे अधिक सुविधा और स्वतंत्रता रहती है। वह स्वयं ही पात्रों का निर्माता और भाग्य विधाता होता है। वह पात्रों का केवल संचालन ही नहीं करता, उनका पूर्ण निरीक्षण, परीक्षण और आलोचना कर दिशा-प्रयास भी करता है। वर्णन प्रकार द्वारा वह उन्हें जीवन की नाना परिस्थितियों में डुबाता हुआ, तैराता हुआ, उतार-चढ़ाव देता चलता है। इस विधि के चरित्रांकन में पात्रों की बाह्यात्मकता, रूप रंग, वेष-भूषा, रुचि अरुचि, वंश परम्परा, संस्कार, विचार, वातावरण, प्रभाव और सिद्धान्त आदि का सविस्तार संयोजन होता है। इस चरित्रांकन विधि में व्यक्ति बाहर से संचालित होता है।

विश्लेषणात्मक विधि में उपन्यासकार अपेक्षाकृत संयत हो जाता है। वह पात्र का निर्माता और दर्शक मात्र रह जाता है। पात्र स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होता है। मनोवैज्ञानिक चरित्रों की गतिविधि इस शिल्प-विधि द्वारा अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आ जाती है। वैयक्तिक पात्रों के जीवन संघर्ष, हर्ष विषाद, मनोद्वन्द्व आदि आत्म निरीक्षण और मनोविश्लेषण प्रक्रिया द्वारा पाठक के सामने प्रस्तुत होते हैं। यह आत्म निरीक्षण और मनोविश्लेषण प्रक्रिया विश्लेषणात्मक चरित्रांकन विधि का प्राण स्रोत है। इस शिल्प विधि की परम्परा को मानने वाले उपन्यासकारों के पात्रों का विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। वे मन की तीन पर्तें मानकर चलते हैं। ज्यों-ज्यों उपन्यास में बहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर यात्रा की त्यों त्यों उपन्यास के पात्र मन की तीन पर्तों का विश्लेषण करने लगे। वे चेतन मन की अपेक्षा अचेतन पर बल देने लगे, अर्द्ध चेतन का महत्त्व स्वीकारने लगे। अन्तर्मन का अन्वेषण होने लगा। पात्र कभी अपनी, तो कभी अपने निकटवर्ती पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों की विश्लेषण प्रक्रिया में संलग्न हुये। जैनेन्द्र की सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी की रज्जा, निरुपमा, नन्द किशोर, पारसनाथ और मन्दनी तथा अनेक

२० कुछ विचार—पृष्ठ ३०

के रेखा, शशि, शेखर और भुवन अनेक ऐसे पात्र हैं जो अपने को अन्तर्द्वन्द्वों से लेकर अन्तर्विवादों तक का विश्लेषण करने की क्रिया में अत्यधिक कुशलता प्राप्त कर चुके है।

प्रेमचन्द और प्रेमचन्द परम्परा के वर्णनात्मक चरित्र-चित्रण शिल्प-विधि के समर्थक उपन्यासकार पात्रों की जीवनगत बाह्य द्वन्द्व लीला की खुलकर चर्चा करते नही अघाते। वे पात्रों की वेश-भूषा से लेकर उनके नख-शिख, वार्तालाप-विधि, कार्य कुशलता की गति-विधि और व्यवहारिकतापूर्ण जीवन दृष्टि तथा बहुमुखी जीवन-क्रीडा का इति-वृत्तात्मक रूप प्रस्तुत करते हैं। जैसे प्रेमचन्द अपने 'गोदान' मे होरी, गोबर, धनिया, मालती, मेहता की मानो जीवनी ही लिख गये हों। वे इन पात्रो पर कलम उठाते ही कलम तोड़ते दृष्टिगत होते है, पर चरित्र वर्णन करते नही अघाते। जबकि जोशी की लज्जा या अज्ञेय की शशि या जैनेन्द्र की मृणाल अपने व्यक्त सार्वजनिक जीवन के स्थान पर मात्र अपने अव्यक्त निजी जीवन के उस अंग का विश्लेषण करते हैं जो उन्हे क्षण विशेष में पीड़ित किये है। ये पात्र अपने रहस्यावृत अपरिमित मनोजगत की अन्तर्लीला, अन्तर्प्रेरणा, अन्तस्फूर्ति तथा अन्तर्प्रवृत्तियों का कोना-कोना झाक लेना चाहते है तथा अपने पाठकों को अपने अछूते, अतल गह्वर मे छिपे व्यक्तित्व के दर्शन करा देना चाहते है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के चरित्र प्रेणता कथाकार अपने-अपने उपन्यासों में टाइप न देकर व्यक्ति प्रस्तुत करते है। और ये व्यक्ति सब अपने मे विशिष्ट व्यक्ति होते हैं। स्थिर रहना तो मानो ये जानते ही नहीं। पूर्ण गतिमान होते है। श्री इलाचन्द्र जोशी का पारसनाथ और नन्दकिशोर तथा अज्ञेय का शेखर और भुवन ऐसे ही पात्र है। ये असाधारण तो है ही, पर अहं से परिपूर्ण भी है। जोशी ने तो प्रायः अपने सभी उपन्यासों के नायकों के परा अहं पर निर्मम प्रहार किया है। यह ठीक है कि अन्त में ये पात्र उदात्तीकरण की प्रक्रिया द्वारा, या परिस्थिति अनुरूप अपने चरित्र एव व्यक्तित्व को बदल लेते हैं। स्थिर (Type) कोटि के पात्र वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा अतिरंजित रूप में वर्णित होने के कारण अधिकतर सबल, आदर्शवादी, आस्थावादी या अति यथार्थवादी, समाजभीरू, परिवारभीरू, कर्म प्रधान और जनसाधारण के प्रतिनिधि बन समाज के प्रतीक रहे हैं। जबकि व्यक्ति (Individual) पात्र विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि द्वारा चित्रित आकार में विश्लेपित होने पर हमें अधिकतर दुर्बल नायक या नायिका यथार्थोन्मुखी जीवन दृष्टि के वाहक, अनास्थावादी, अहंवादी, चिन्तनरत, घुटन, कुण्ठा व अन्तर्द्वन्द्व के शिकार परिलक्षित हुए। इस विधि के उपन्यासों में पात्रों की सख्या भी कम हुई है।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के पात्र यदि सबल है तो अधिकतर हर परिस्थिति मे श्री यज्ञदत्त शर्मा के दीवान रामदयाल की भांति सबल ही रहते है, चाहे आप उन्हे उपन्यास के आरम्भ में देखें या अन्त में और यदि वे दुर्बल है तो श्री प्रेमचन्द के 'गोदान' के होरी की भांति आदि से अन्त तक समाजभीरू दुर्बल ही रहेंगे। विश्लेषणात्मक चरित्रांकन विधि के प्रायः सभी पात्र समय, परिस्थिति, पात्र, परिवेश, दृष्टि-परिवर्तन के साथ अपने रंग गिरगिट की भांति बदलते दृष्टिगत हुए है। जोशी का पारसनाथ वेश्यागामी भी बना, स्त्री-भक्त भी और अन्तमें एक आदर्श पति भी। 'संन्यासी' का नन्दकिशोर

डाक्टर का दब्बू नायक घोर अहंवादी भी बना, स्त्री से संकोच के कारण भाग खड़े होने वाला सुनीत शान्ति के प्रेम पाश में भी बंधा और विवाह की परिकल्पना से भाग खड़ा होने वाला यह पात्र अन्तों के साथ विवाह का संवाद सुनते ही अनिश्चित पुलकन की भावना में विगलित भी हो उठा। निज निज अपने को विश्लेषित करने वाले पात्रों में कभी श्रीकान्त के समान दब्बू जागृत हो जाता है कभी देश पर न्योछावर हो जाने वाले हरिप्रसन्न में सुनीता को नग्न रूप में देखने की पाशविक भूख जागृत हो जाती है। इन विरोधी आचरणों की संगति को विश्लेषण विधि द्वारा हल किया गया है।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के पात्र अधिकतर सामाजिक, मुखर और प्रचारक टाइप के होते हैं जबकि विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के नायक नायिकाएं वैयक्तिक, मौन चिन्तक, विश्लेषक ही पाए गए हैं। यह अजीब संयोग की बात है कि हिन्दी के अधिकतर मनोविश्लेषक पात्र विक्षिप्त मनःस्थिति के परिचायक हैं। लगता है हिन्दी के कथाकारों ने उनके मनोविकारों या मनोग्रन्थियों के अन्वेषण हित ही लेखनी चलाई है। यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पारसनाथ, नन्दकिशोर, महीप, शेखर, भुवन, लज्जा, शान्ति, नन्दिनी, निरुपमा, जयन्ती, शशि, सुनीता, रेखा आदि पात्र या तो कामग्रन्थियों के शिकार हैं या फिर अहं की पूरी सीमा पर पहुँच स्वयं अपने ही अहं की गर्म राख में झुलस रहे हैं। अनेक पात्र हीनता की ग्रन्थियों का शिकार भी हुए हैं। बाह्य परिस्थितियाँ, घटनाएँ, परिवेश तो मानो रहे ही नहीं, मात्र एक दो निकटवर्ती पात्र ही इन्हें अन्तर्दाह में धकेल देते हैं, अन्तर्द्वन्द्व में जकड़ देते हैं और फिर ये अन्तर्विश्लेषण के लिए ही जीवित रहते हैं। संन्यासी, सुनीता, लज्जा, त्यागपत्र आदि विश्लेषणात्मक चरित्रांकन प्रधान रचनाओं की एक विशेषता यह भी है कि वे पात्र-बहुल नहीं हैं। और कुछ दो-तीन पात्रों की रचनाएं तो रोचक ही इसलिए बन पाई हैं कि उनमें दो-तीन पात्रों पर उपन्यासकार की दृष्टि अधिक केन्द्रित हुई है। ये पात्र अपने चेतन अचेतन के द्वन्द्व को स्वयं या कथाकार द्वारा विश्लेषित करके पाठक की आकर्षण क्रिया का माध्यम बन गए हैं। ऐसे अनेक विशिष्ट पात्रों का विश्लेषण पढ़ पाठक विचारने पर मजबूर हो जाता है कि कहीं वही तो पारसनाथ नहीं है। शेखर तो नहीं है क्या? अथवा यदि जीवन में कहीं कोई प्रेमिका मिले तो रेखा जैसी मिले, शशि जैसी मिले या फिर न मिले। अस्वस्थमना होने पर भी वह आकर्षक है।

विश्लेषणात्मक चरित्रांकन विधि अनेक पद्धतियों में प्रस्तुत हुई है। कहीं उपन्यासकार द्वारा पूर्व-वृत्तात्मक विधि द्वारा—'त्यागपत्र' में, कहीं सहस्मृति-परीक्षण-विधि द्वारा—'जहाज का पंछी' में, कहीं स्वप्न विश्लेषण विधि द्वारा 'शेखर एक जीवनी' में उपन्यासकारों ने विभिन्न और विचित्र साधनों का आश्रय लेकर इसे उद्घाटित किया है।

इन दो चरित्रांकन विधियों के साथ-साथ नाटकीय और प्रतीकात्मक विधियों द्वारा भी चरित्र प्रकाश में लाए गए हैं। 'बूँद और समुद्र', 'बया का घोंसला और साँप', 'तनु-जाल', 'बादलों के खण्डहर' आदि रचनाओं में पात्रों की अन्तर्निहित अगाध आस्था, प्रेम, वात्सल्य और करुणा को कथाकार उभारकर सांकेतिक रूप में सामने लाए हैं। 'मृगनयनी' 'दिव्या' आदि रचनाओं के पात्रों में मर्मस्पर्शी नाटकीयता आ गई है। इन उपन्यासों के

पात्र नाटकीय रूप से पाठकों के सामने आते हैं और हमारे मनोभावों को स्पन्दित करते हैं।

उपन्यास में चित्रण कला उपन्यासकार की सृजन शक्ति पर निर्भर या सृजन शक्ति विशिष्ट प्रतिभा तथा कल्पना की अनिवार्यता पर बल देते हुए उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द लिखते हैं—

"अगर उपन्यासकार में यह शक्ति मौजूद है, तो वह ऐसे कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है, जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नही है। अगर ब्रह्म शक्ति की कमी है, (तो) उसकी रचना मे सरसता नही आ सकती। ऐसे कितने ही लेखक है, जिनमे मानव-चरित्र के रहस्यों का बहुत मनोरंजक सूक्ष्म और प्रभाव डालने वाली शैली में बयान करने की शक्ति मौजूद है, लेकिन कल्पना की कमी के कारण वे अपने चरित्रों मे जीवन का संचार नहीं कर सकते।"[२१]

साराश यह कि उत्कृष्ट चरित्र-चित्रण के लिए चाहे वह किसी भी शिल्प-विधि का हो मौलिक उद्भावना और उदात कोटि की कल्पना का होना एक अनिवार्य शर्त है।

उपन्यास के तत्त्वों के अन्तर्गत वस्तुतत्त्व और चरित्र-चित्रण के सशक्त महत्त्व को स्वीकारते हुए पश्चिम के प्रसिद्ध विद्वान श्री एडविन मयूर महोदय ने समस्त उपन्यास साहित्य को दो भागों में विभक्त किया और एक को वस्तु प्रधान उपन्यास तथा दूसरे को चरित्र प्रधान उपन्यास की संज्ञा देते हुए दोनों के मध्य रेखा खीचते हुए लिखा—"चरित्र चित्रण प्रधान उपन्यास गद्य साहित्य की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विभाजन रेखा है, इसका शुद्धतम रूप 'वेनीटीफेयर' है। इसमें पात्र वस्तु के अधीनस्थ सृजित नहीं होते, इसके विरीत उनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और समस्त कार्य उनके अधीन होता है।"

"क्रियारत उपन्यास (Novel of Action) की प्रधान चाहना एक पूर्ण चुस्त एव विकसित कथानक है।"[२२]

चरित्र की सफलता, असफलता किसी भी शिल्प-विधि पर निर्भर न होकर उपन्यासकार की दृष्टि, पकड़ और प्रवाह पर निर्भर करती है। जब किसी भी चरित्र को पढ़ते ही पाठक बोल उठे—"क्या खूब पात्र गठित किया है," तभी मान लो उत्तम चरित्र-चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द चरित्र-चित्रण की सफलता का मापदण्ड पाठक के भावों मे उत्कर्ष की अनुभूति मानते हैं। पर यह आदर्शवादी दृष्टिकोण है। यथार्थपरक चरित्रो में उत्कर्ष, आस्था, प्रेरणा, शिक्षा और सिद्धान्त ढूंढना बेकार की बात है। यथार्थपरक पात्र या तो जन जीवन के वास्तविक रूप के प्रतिनिधि होगे या फिर व्यक्ति विशेष की घुटन,

---

२१. कुछ विचार—५५।

२२. "The novel of character is one of the most important divisions in prose fiction. Its purest example is 'Vanity Fair'. The characters are not Conceived as part of the plot ; on the Contarary they exist independently and the action is subservient to them."

"Novel of Action demands a strictly developed plot."

—Aspects of novel P. 23 and P. 38.

कुण्ठा, सन्त्रास, निराशा और घोर ऊब के परिचायक। इनमें किसी प्रकार के आदर्श जीवन बोध की चाहना व्यर्थ है। वे जीवन के अन्धकार पक्ष के उद्घाटक होते हैं और उन्हें पढ़कर हम इतना तो पता चलता ही है कि जीवन में यह रूप भी है, ऐसा पात्र भी है जिसमें बुराई, आरोपित पाप और विवशता भी है। यदि जीवन में यह सब घटित हो सकता है तो जीवन के चित्रक उपन्यास में यदि वह अपनी झलक दे, प्रतिछाया दे तो नाक-भौं सिकोड़ने की आवश्यकता नहीं है। चरित्र की सफलता का मापक मात्र हमारा कोमल मन है। यदि वह संवेदना में भीग जाता है तो उसे सर्वदित करने वाला पात्र और उस पात्र का स्रष्टा कथाकार दोनों सफल माने जाएँगे फिर चाहे वे पात्र आत्मकथात्मक रूप में चित्रित हों, या प्रथम पुरुष शैली में अभिव्यक्त हों। आदर्शवादी हों या यथार्थवादी हों।

शिल्प और विचार

अनेक आलोचक शिल्प के अन्तर्गत उपन्यास के छः तत्त्वों का नियोजन कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। यह ठीक है कि लगभग सभी तत्त्वों का उपन्यास की शिल्प-विधि से गूढ़ सम्बन्ध है। परन्तु वस्तुतत्त्व तथा चरित्र चित्रण के पश्चात् मैं विचार या जीवन दर्शन पक्ष को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। मेरे मतानुसार हर साहित्यिक उपन्यास का एक लक्ष्य होता है। उसमें चित्रित समाज, इतिहास, व्यक्ति, परिवार, धर्म या राष्ट्र कुछ निश्चित विधियों द्वारा उद्घाटित होता है। हर श्रेष्ठ उपन्यासकार मात्र कतिपय घटनाओं का संकलन कर कुछ पात्रों की उछल-कूद दिखाना ही अपना कर्तव्य नहीं समझता अपितु वह अनुभूत भावनाओं, क्रिया कलापों, विचारों तथा अध्ययन अर्जित दृष्टिकोण को किसी न किसी रूप में अपनी रचना में उड़ेलने का प्रयास भी करता है।

उपन्यासकार अपने कथ्य में विचार मिश्रित करके आगे बढ़ता है। हर बड़ा कथाकार एक न एक बौद्धिक प्रश्न लेकर चला है, फिर उस प्रश्न के अनेक पहलुओं पर अपनी कलम की पूरी शक्ति व्यय करता है। राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और दर्शन की अनेक बातें वर्णित और विश्लेषित करने में उसने हज़ारों पृष्ठ रंगे हैं। आधुनिक युग में तो उपन्यास को मार्क्स के साम्यवाद और फ्रायड के यौन सिद्धान्त का प्रचारवाहक बना दिया गया है। हिन्दी में सर्वश्री यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त और नागार्जुन ने अपनी रचनाओं में निम्न वर्ग के लोगों के मनोभावों, मनोवेगों और विचारों को वाणी दी है तथा इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और जैनेन्द्र मानव मन के अन्तर में प्रवेश कर वहाँ छिपी विकृतियों, कुण्ठाओं, ग्रन्थियों के विश्लेषण में संलग्न रहे हैं। आधुनिक शिक्षा के फल-स्वरूप भारतवर्ष में आई राष्ट्रीय चेतना का उद्घोष सर्वश्री प्रेमचन्द, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, यज्ञदत्त शर्मा ने आयोगिक क्रान्तिकालीन पात्रों की वाणी द्वारा कराया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास साहित्य में सैकड़ों नीतिपरक उपदेशात्मक सूक्तियाँ दीं। प्रताप-नारायण श्रीवास्तव ने उच्च शिक्षा प्राप्त पश्चिमी ढर्रे में ढो जा रहे उच्च वर्ग की मनो-दशा और विचारणा का पर्दाफाश किया है। यज्ञदत्त शर्मा ने समाज के पिछड़ेपन, और मध्यवर्गीय चेतना तथा दीवान रामदयाल जैसे पेशेवर राष्ट्ररक्षकों (पुलिस कर्मचारियों

की रिश्वतखोरी व स्वच्छन्दता) की विचारणा को मुखरित किया।

जन-जन में राजनैतिक दासता के फलस्वरूप जो असंतोष था, उसे अभिव्यक्ति देने वाले कथाकार हैं श्री प्रेमचन्द, श्री मन्मथनाथ गुप्त तथा डा० रांगेय राघव व श्री गुरुदत्त। इन्होंने ग्रामीण जीवन, अंग्रेज द्वारा उत्पन्न जमींदार वर्ग, ज़मीदारों के अधीनस्थ किसान, नागरिक जीवन में पूंजीपति व उनके अधीनस्थ मजदूर, दूकानदार, अध्यापक, डाक्टर, क्रान्तिकारी वर्ग की बौद्धिक, मानसिक विचारणाओं को वाणी दी है। भारतीय ग्रामीण समाज जो शताब्दियों से रूढ़िवादी, अन्धविश्वासी और त्रस्त होने के कारण मूक दर्शक मात्र थे, प्रेमचन्द ने उसके मौन को तोड़कर 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में उसे वाचाल बना दिया। सर्वहारा वर्ग का जन्म तो युग-युगान्तर पूर्व हो चुका था, मगर उसका द्रुतगति से विकास औद्योगीकरण द्वारा हुआ। मठों में मठाधीशों के अत्याचार तो पहले भी हो रहे थे परन्तु उनकी धर्म पर एकाधिकार सत्ता का विरोध 'कंकाल' में पहले-पहल जयशंकर प्रसाद ने किया। हिन्दू जन-मन मुसलमानों द्वारा त्रस्त तो एक हजार वर्ष से था, पर इसका उद्घाटन श्री गुरुदत्त ने ही किया। आज विचार का न रखा जाना उपन्यास को श्रेष्ठता की सीढ़ी से गिरा देता है। विश्वविद्यालय के छात्र और प्राध्यापक तो उस उपन्यास को उपन्यास ही नही समझते जो 'चित्रलेखा' की तरह 'पाप और पुण्य' या 'सुनीता' की तरह हिसा और अहिंसा तथा घरे-बाहर पर अपनी चिन्तना और प्रतिक्रिया अभिव्यक्त न करे। ये विचार, समस्याएं, प्रश्नचिह्न ही उन्हें मनन, विश्लेषण के लिए अवसर देते हैं।

विचार प्रतिपादन भी दो प्रकार से संयोजित होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो विधिया इस क्षेत्र मे अपनाई गई है। प्रत्यक्ष विधि द्वारा उपन्यासकार जीवन अनुभूत क्रिया एव सत्य को स्वयं कहकर पाठक तक पहुचाता है। इस विधि के प्रणेता उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द है। प्रेमचन्द अपने पात्रो को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की छूट बहुत ही कम मात्रा मे देते है। अपने उपन्यासो मे वे अपने विचारों को आग्रहपूर्वक व्यक्त करने का स्थान खोजते रहते हैं। अन्याय, शोषण, दुराचार के विरुद्ध उन्होंने तीव्र रोष अभिव्यक्त किया है। जैसे—"शान्ता ने देखा कि उसके देशवासी सिर पर बड़े-बडे गट्ठर लादे एक संकरे द्वार पर खड़े है और बाहर निकलने के लिए एक-दूसरे पर गिर पड़ते है। एक दूसरे तंग दरवाजे पर हजारों आदमी खडे अन्दर जाने के लिए धक्कमधक्का कर रहे हैं। लेकिन दूसरी ओर एक चौड़े दरवाजे से अंग्रेज लोग छड़ी घुमाते कुत्तों को लिये आते-जाते हैं। कोई उन्हे नही रोकता, कोई उनसे नही बोलता।"[२३]

और यह रोष मात्रा में बढ़ गया कि वे नास्तिक विचारधारा के समर्थक बन एक स्थल पर ईश्वर पर भी व्यंग्य कर गए—

"प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है—मनुष्य ने अपने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हरेक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। अगर ईश्वर के विधान इतने अज्ञेय है कि मनुष्य की

---

२३. सेवासदन—पृष्ठ २६१

समझ में नहीं आते, तो उन्हें मानने में ही मनुष्य को क्या सन्तोष मिल सकता है।"[२४]

प्रेमचन्द की लक्ष्यप्रियता और विचार निष्ठा पर टिप्पणी करते हुए हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने ठीक ही लिखा है—"प्रेमचन्द की कला का मूल उद्देश्य न तो चरित्र चित्रण है और न वस्तु-संगठन करना सुधार है। साहित्य के दो कार्य हैं एक जीवन की व्याख्या करना, दूसरा जीवन को परिवर्तित करना। प्रेमचन्द पिछले पर अधिक जोर देते हैं।"[२५]

वस्तुतः प्रेमचन्द उपन्यास शिल्प की सभी सीमाओं को लांघकर अपनी उद्देश्यप्रियता और विचारणा का परिचय लम्बी लम्बी टिप्पणियों भाषणों और संवादों में देने लगते हैं। मानो वे अपने युग और समाज को झकझोड़ देने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हों। तभी तो वे औपन्यासिक कलात्मकता तथा शिल्प सन्तुलन खो बैठते हैं। यह सही है कि अधिकतर उनके कटाक्ष बड़े मर्मभेदी होते हैं परन्तु अधिकांश में वे वस्तु-संगठन तथा चरित्र-चित्रण कला की सहज प्रवाहगति में बाधा पहुंचा गए हैं। वे विचार प्रधान होने के कारण कुशल शिल्पी नहीं बन पाए हैं। इसीलिए हिन्दी के अनेक आलोचकों ने उन्हें द्वितीय श्रेणी का कथाकार माना है। जहां मानवीय संवेदना का चित्रण पाठक को द्रवीभूत करने को होता है वहीं उनका उपदेशक और प्रचारक जाग उठता है और पाठक के मर्म में मार्मिकता प्रवाहित होने की अपेक्षा विचारणा की चुनौती उसे कचोटने लगती है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' आदि उपन्यासों में प्रेमचन्द सूत्रधार बोले हैं।

विचार प्रतिपादन की दूसरी विधि (परोक्ष विधि) अधिक सफल मानी गई है। इसमें कथाकार तटस्थ हो जाता है। सामाजिक, वैयक्तिक, नैतिक रीति-नीति और प्रवृत्ति का विश्लेषण पात्र द्वारा होता है। हिन्दी उपन्यास के विकास काल में सर्व श्री जोशी जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अधिकतर इसी विधि को प्रश्रय दिया है। उन्होंने विचार-सूत्र कथा-सूत्र की भांति विभिन्न पात्रों के हाथ में सौंपकर अपनी अनासक्ति का परिचय दिया है। विचार आ भी जाता है पर परोक्ष रूप में। जहां कहीं वह प्रत्यक्ष रूप में विज्ञापित हुआ कि आंख को खटका।

शिल्प और लक्ष्य के सन्तुलन पर भी विचार करें। वास्तव में उपन्यास की परिभाषा ही यह सिद्ध करती है कि उसमें मानव चरित्र के किसी न किसी पक्ष पर प्रकाश डालना उपन्यासकार का लक्ष्य होता है। लक्ष्यहीन उपन्यास नहीं हुआ करते। एक आलोचक ने तो अनुभूति और लक्ष्य को ही कथा-साहित्य के शिल्पगत परीक्षण का मापदण्ड स्वीकार किया है। उनके मतानुसार "इन्हीं के प्रकाश से कहानी के शिल्प में कथावस्तु की योजना, चरित्र अवतारणा और शैली का निर्माण हुआ करता है।"[२६] किन्तु मात्र लक्ष्यप्रियता और अनुभूति प्रकाशन ही सर्वस्व नहीं हैं। लक्ष्यप्रियता का मोह प्रेमचन्द और प्रेमचन्द जैसे के वर्णनात्मक शिल्पियों को अधिक सताता रहा है। जब कोई अवसर मिलता है, ये कथाकार अपने

२४ प्रेमाश्रम—पृष्ठ ८०१

२५ प्रेमचन्द एक विवेचन—पृष्ठ १२३

२६ 'विषय प्रवेश' हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास।
—लेखक डॉ० लक्ष्मी नारायण

मूल प्रसंग से हटकर उपदेश देने लगते है। समाज की किसी भी कुरीति पर, धर्म की किसी भी कुप्रथा पर, किसी सम्प्रदाय विशेष की समस्या पर अवसर मिलते ही ये लेखक कहीं न कहीं अवश्य ही खुलकर भाषण देते है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में सामाजिक प्रवृत्तियों की व्याख्या रहती है, तो विश्लेषणात्मक-विधि रचनाओं में मनोविश्लेषणों या चेतना-प्रवाह की ऊहापोह होती है। इस प्रकार की व्याख्या या विश्लेशण के कारण उपन्यास साहित्य में संतुलन की मात्रा घट गई है। प्रेमचन्द को प्रचारात्मक और इलाचन्द्र जोशी को मनोविज्ञानवेत्ता मात्र कह दिया गया है। जोशी के उपन्यास साहित्य मे मनोवैज्ञानिकता के आधिक्य पर टिप्पणी करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी लिखते हैं—"इसी तरह इलाचन्द्र जोशी क्रमशः समाज की व्यापक स्थितियों के चित्रण से अलग होकर अधिकाधिक सीमित भूमि पर आते जा रहे है और आश्चर्य तो यह है कि यह सब यथार्थवाद और वैज्ञानिक सत्य के नाम पर किया जा रहा है······यह संभावना है कि साहित्यिक मूल्यों को छोड़कर वैज्ञानिक मूल्यो को प्रधानता देने लगेगे, विज्ञान के नाम पर हीन और रुग्ण भावनाओ का चित्रण ही श्रेष्ठ साहित्य के नाम पर खपने लगेगा। क्या इस प्रक्रिया द्वारा श्रेष्ठ साहित्यिक निर्माण की सम्भावना है?"[२७] आचार्य जी ने यह एक गम्भीर प्रश्न प्रस्तुत किया है।

प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि इस युग के कतिपय उपन्यासकार लक्ष्य और शिल्प में सन्तुलन नहीं रख पाये और लक्ष्य के प्रति अधिक आकृष्ट रहे। शिल्प का संबंध भाव, विचार लक्ष्य और अनुभूति पक्ष की अपेक्षा भाषा, शैली और विधा पक्ष से अधिक जुड़ता है। शिल्प किसी कलाकार की कला द्वारा अभिव्यक्त भाव एव चिन्तनधारा को स्पष्ट करने का साधन या विधा है। प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य विभिन्न उपन्यासकारों द्वारा अपनाये इस साधन या विधा पर प्रकाश डालना है। शिल्प के चुनाव का प्रश्न देखने मे जितना सरल है, प्रयोग में उतना ही जटिल है। शिल्प का वर्गीकरण इस तथ्य का उद्घाटक है कि प्रत्येक शिल्प की अपनी सीमाएं है। प्रयोग द्वारा शिल्प के क्षेत्र में प्रौढ़त्व आता है। एक बात का स्पष्ट हो जाना नितान्त आवश्यक है। वह है कला और शिल्प में अन्तर। स्थूल रूप से दोनो पर्यायवाची लगते है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से परखने पर पता चलता है कि दोनों में अन्तर है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक श्री लुब्बोक कहते है—

"कला एक उड़ान लेने वाला शब्द है, न पकड़े जाने के लिए, न बन्धन में जकड़े जाने को। यह तो सदैव भाग उड़ने को तैयार रहता है, ताकि अपने स्थान पर लिपटा सके तथा काम पर लगा सके। शिल्प-विधि इस प्रकार से परे नही हटाती—वह तो प्रस्तुत वस्तु की ओर उन्मुख करती है। उससे बांध देती है, बनी हुई वस्तु की ओर झुका देती है। हमें यह भी नही भूलने देती कि समस्त वस्तु एक सीमित आकार में समाप्त हुई है और यह आकार शिल्प द्वारा गठित है।"[२८]

---

२७. नया साहित्य : नया प्रश्न—पृष्ठ १७८-७९

28. Art is a winged word, neither to hold nor to bind, ever ready to fly away with a discussion that would faster it to its own

कला की विस्तृतता और पकड़ में न आने की कठिनाई का अनुभव करते हुए इसके विषय में हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित कथाकार श्री जैनेन्द्र अपने एक प्रसिद्ध निबन्ध 'मैं और मेरी कला' में लिखते हैं—"कला यदि कुछ होती है तो मैंने देखा लगभग वह एक सूत्र में समा जाती है कि अपने प्रति कलाकार सच्चा रहे। इस प्रयत्न में बाहर के प्रति सच्चा रहना असम्भव और सहज अनावश्यक हो जाएगा। अत: उस बाहर के प्रति विनयशील और स्नेहशील रहकर ही कलाकार का धर्म पूरा हो जाना चाहिए। संसार पकड़ में नहीं आता, इससे उसको पकड़ने का मोह वृथा है। कला उस मोह में पड़कर केवल फैशन और आडम्बर में भटकती है। अपनी साधना में वह प्राप्त नहीं कर सकती।"[29]

वस्तुत: कला का क्षेत्र अधिक व्यापक है जिसमें लेखक का दृष्टिकोण, भाव सौंदर्य, वस्तुविस्तार, चरित्रगठन, संवाद, वातावरण, शैली सभी तत्त्व नियोजित होते हैं। शिल्प का कार्य और क्षेत्र दोनों सीमित हैं। उसमें किनारे बनते हैं। सीमाएं बनती हैं। स्वरूप निर्धारित होता है। इन सीमाओं के बांधना या तोड़ने से स्वयं स्वरूप के नष्ट-भ्रष्ट होने का भय बना रहता है।

और शिल्प भी स्वाभाविक हो तो श्रेयस्कर है। सायास गठित शिल्प उपन्यास के स्वरूप को बिगाड़ भी सकता है। इस संबंध में भी जैनेन्द्र लिखते हैं—"टेकनीक तो होती भी है और नहीं भी होती। वह तो अपने आप ही जन्म लेती है। उसके लिए खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता।"[30]

स्वरूप कैसा है। यह तो बाद की बात है। पहले तो यह स्वीकार करना होगा कि हर उपन्यास का एक स्वरूप होता है। यह अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी हो सकता है। बिना स्वरूप के न तो पहचान हो सकती है और न वैज्ञानिक मूल्यांकन ही। यदि किसी सुन्दर, शीलवान और वीर पुरुष को शरीर पर आघात कर छिन्न-भिन्न कर डाल दिया जाए तो फिर उसपर टिप्पणी की जाए कि कितनी विशाल बाहु है, कितनी नुकीली नाक, कितने सुन्दर कपोल और कितना सुदृढ़ शरीर, तो यह बात भी किसी को अच्छी न लगेगी, छिन्न भिन्न शरीर को देखकर तो घृणा और जुगुप्सा ही उत्पन्न होगी। उस पुरुष का महत्त्व तो तभी आंका जाएगा जब उसमें आत्मा और कार्य करने की सामर्थ्य हो। इसी प्रकार वही उपन्यास सुगठित, आकर्षक और सुन्दर शिल्प का माना जाएगा जिसमें वर्णन,

---

ground to the work that bears its name The homely note of the craft allows no such distractions, it holds you fast to the matter in hand, to the thing that has been made and the manner of its making, nor lets you forget that the whole of the matter is contained within the finished form of the thing and that form was fashioned by the craft "

"The Craft of Fiction" P V
(From Preface)

२९ साहित्य का श्रेय और प्रेय—पृष्ठ ३५८-५९
३० वही—पृष्ठ ३७८

विश्लेषण, प्रतीक या नाटकीयता किसी एक शिल्प-विधि द्वारा उपन्यासकार की अनुभूति, भावना और लक्ष्य को आत्मसात करके पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया गया हो और वह उपन्यासकार की मनोप्रकृति को पाठक के हृदयरस में उंडेलकर उसे सार्वकालिक बनाने की क्षमता दिखाए। स्वरूपहीन उपन्यास की कल्पना करना ही मूर्खता है। यह मान लेने के उपरान्त कि प्रत्येक उपन्यास का स्वरूप होता है, हम देख परख सकते है कि स्वरूप कैसा है, और यही हमारा प्रमुख ध्येय भी है। विकृत स्वरूप कहीं छिप नही सकता। पढ़ते समय वह अवश्यमेव कही न कहीं आंख को स्वयमेव खटकेगा। जहां इस प्रकार का संशय उठे,वहीं पता चलाना होगा कि अभाव कहां हैं। विषय निर्वाचन में है, अथवा विषय प्रतिपादन में, चरित्र निर्माण में है अथवा लम्बे संभाषणों मे या ऊबड़ खाबड़ वातावरण प्रस्तुत कर खड़ा किया गया है। कथा की पकड़ ही गलत ढंग से की गई है या उसमें प्रस्तुत आवश्यक मोड़ नही दिए गए। कथानक में पड़े हुए उपकथानक कार्य व्यापार की एकता बनाये चलते है या नहीं। चरित्रांकन मोह मे फंसकर कहीं कथाकार कथानक व उपकथानक पर कुठाराघात तो नहीं कर गया अथवा घटनाओं के चक्कर में पाठक को घुमाता हुआ वह चरित्रों को भुला ही तो नही बैठा। कथा, चरित्र और जीवन दर्शन को सन्तुलित आकार न देकर लिखने वाले उपन्यासकार ही विकृत स्वरूप के उपन्यास लिखा करते हैं।

सर्वोत्तम स्वरूप वाले उपन्यास वे है जिनमें वस्तु और शिल्प एकात्म हो जावें और शिल्प द्वारा वस्तु सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त होवे। ऐसे उपन्यासों की खोज करने की उत्कट चाह से यह प्रबन्ध लिखा जा रहा है। उपन्यास में मानव जीवन सवेग प्रवाहित होता है और कहीं-कही यह भय बना ही रहता है कि शिल्पगत सीमाओं के बन्धन अब टूटे कि अब टूटे, किन्तु आवश्यकता ऐसी परिस्थिति देखकर घबरा उठने की कदापि नहीं है। ये सीमा रेखाएं तो नये-नये नियमो की भांति नित प्रतिदिन बनती-बिगड़ती रहती हैं। लोग नियमों को तोड़ते हैं क्या इसलिए कानून बनाये ही न जावें ? यदि ऐसा हुआ तब तो और भी अधिक उछृंखलता तथा अराजकता फैलेगी। ऐसी बातों को रोकने के लिए ही तो नियम और शिल्प बनाने की आवश्यकता है। उन्ही की सीमाओं मे तो औपन्यासिक कला को परखना है। हिन्दी उपन्यास की शिल्पगत प्रवृत्तियों को केन्द्रस्थ रख शिल्प की दृष्टि से उपन्यासों की बनावट को परखा गया है। उनके आकार और प्रकार का विश्लेषण किया गया है। नवीन प्रयोगों के महत्त्व को भी शिल्प की सीमा में बांधकर तोला गया है। साराश यह कि शिल्प के उत्तरोत्तर प्रौढ़त्व प्राप्त कर लेने के कारण उपन्यास की शिल्प-विधि के अन्तर्गत विषय-निर्वाचन, कथा-विधान, चरित्र-विधि, विचार प्रतिपादन आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विद्यमान परिवर्तनों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत निबन्ध मे सन्निवेश करने का पूरा-पूरा यत्न किया गया है। इस प्रयास में मुझे समय-समय पर प्रबन्ध निरीक्षक से अमूल्य सुझाव मिलते रहे हैं, जिसके परिणाम स्वरूप अब तक के उपलब्ध निष्कर्ष इस रूप मे सामने आ सके हैं।

साहित्य जीवन्त कला है, अतएव अपनी चेतना के कारण किसी निश्चित स्वरू अथवा सीमा मे आबद्ध नहीं हो सकती। इसमें एक सीमा तक शिथिलता अनिवार्य है।

साहित्य अन्य कलाओं जैसे वास्तुकला तथा मूर्तिकला की भांति स्थिर नहीं है, यह संगीत तथा वाद्यक्रम की भांति गत्यात्मक है। कला की इस गत्यात्मकता को श्री लुब्बोक महोदय की भांति श्री नियोन इडेल ने भी सिद्ध की है—'कला कभी स्थिर नहीं रहती। इसे रूढ़ियों का अनुसरण करना या बार-बार दुहराये जाना कभी स्वीकार नहीं है। कला तो जीवन की विविधता तथा नूतन साहित्यिक रूपों तथा शिल्प विधियों की खोज के कारण ही फलती फूलती है।'[31]

इस तरह हम देखते हैं कि कला अपनी गत्यात्मकता के कारण साहित्य विशिष्ट रूप में उपन्यास को नित नवीन स्वरूप प्रदान करने की क्षमता रखती है। जब एक औपन्यासिक स्वरूप एक विशेष काल में अपना विस्तार खो बैठता है तब नये स्वरूप का आविष्कार नये पैटर्न पर अनिवार्य हो जाता है। इस नये पैटर्न के आविष्कार में सबसे बड़ा उपयोग शैली का होता है। अतः शिल्प एवं शैली के संबंध पर विचार करना भी सामयिक प्रतीत होता है।

शिल्प एवं शैली

हिन्दी उपन्यासों में जितनी बहुरूपता विषयों के क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक मात्रा में शैलीगत विविधता दृष्टिगत होती है। शिल्प और शैली दोनों का गूढ़ संबंध अभिव्यक्ति से है अतएव दोनों में पर्याप्त साम्य और विभिन्नता है। इससे पहले कि हम इस विषय पर विचार करें, शैली के लक्षण पर विचार कर लेना सामयिक है।

शैली को संस्कृत के आचार्य वामन ने 'रीति' की संज्ञा देते हुए इसे काव्य की आत्मा माना था। और रीति की परिभाषा इन शब्दों में प्रस्तुत की—

'विशिष्ट पद रचना रीतिः।'[32]

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचकों ने शैली की परिभाषा इन शब्दों में दी है—

'शैली अभिव्यक्ति का विशिष्ट अंग है।'[33]

"शैली वो शरीर है और विचार इसकी आत्मा है, इसके माध्यम से ही यह अभिव्यक्त होती है।"[34]

'यह उसके शरीर के भांति ही उसका एक सम्पूर्ण भाग है। शैली मनुष्य की वाह्यात्मक दृष्टिगत होने वाली प्रतीक योजना है। इसके अतिरिक्त यह कुछ हो ही नहीं

31 "Art is never static It neither accepts Confirmity nor does it like repitition Art thrives best on variousness of life and on a search for new forms and new techinques"

"The Psychological Novel" P 213

३२ काव्यालंकार सूत्र, १।२।७-८

33 "Style is the technique of expression"

"The Problem of Style" P 5

34 "Style is the body to which thought is the soul and through which it expresses itself"

"A Premier of Literary Criticism" P 3

सकती।···संक्षेप मे कह सकते हैं कि शैली मनुष्य की भावनाओं से परे न जाने वाली वस्तु जिनका निवास मन में होता है। यदि वे स्पष्ट है तो शैली भी स्पष्ट होगी।"[३५]

"शैली से अभिप्राय उस विशिष्ट एवं वैयक्तिक अभिव्यक्ति विधि से है, जिसके द्वारा हम किसी लेखक को पहचानते है।"[३६]

इसी प्रकार शैली को कतिपय साहित्यकार और आलोचक व्यर्थ की सज्जा मानते है जिसके द्वारा शैलीकार की मनः तुष्टि तो हो सकती है किन्तु साधारण पाठक का कोई लाभ नहीं होता। फिर भी शैली लगभग सभी कथाकारों को अपनानी पडती है। शैली शिल्प के अधीनस्थ मानी जाएगी। वस्तुतः यही वह तत्व है जिसके द्वारा कोई लेखक पहचाना जाता है। कथाकार और उसकी रचना मे आलोचकों ने जो शरीर आत्मा का संबध बताया है, वह सही है। यह मात्र वाह्य परिधान मात्र ही नही है। अपितु शब्द की वह शक्ति है जो परिधान को रंगकर प्रस्तुत करती है। किसी भी कथ्य को जिस शिल्प में प्रस्तुत किया जाता है वह शैली रूपी कारीगर द्वारा ही किया जाता है। इस दृष्टि से शिल्प और शैली का निकटस्थ और अटूट सबंध स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। शैली भाषा का रूप चमत्कार है। इसी कारण भारतीय चिन्तकों ने अभिव्यक्ति की विशिष्टता तथा भाषा के रूप चमत्कार का मेल होने के कारण शैली को साहित्य रचना के चौथे तत्व की संज्ञा दी है।

अतः स्पष्ट हुआ कि शैली का संबंध कथाकार के व्यक्तित्व के साथ-साथ भावाभिव्यक्ति एवं भाषा के विशेष परिधान से है। प्रत्येक कथाकार का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है या होना चाहिये। इसी प्रकार उसकी एक स्वतंत्र शैली होती है अथवा होनी अनिवार्य है। यह शैली उसके विचार, भाव, कल्पना, संस्कार, स्वभाव, प्रतिभा और जीवन दृष्टि के अनुरूप अभिव्यक्ति पाती है। शिल्प इस शैली का दिशान्यास करता है, आवश्यकता अनुसार इसे सीमित, विश्लेपित, वर्णनात्मक, सांकेतिक या नाटकीय विधि द्वारा संयोजित करते हुए इसका मार्गदर्शन करता है। क्योंकि शिल्पविधि का संबंध रूप-रचना की समस्त प्रक्रियाओं से है, अतएव किसी भी रचना की शिल्प-विधि की खोज करने के लिए हमें उस रचना में काम आने वाली विधिया, रीतियां तथा अन्य ढंगों की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। शिल्प विधा का सम्पूर्ण ढांचा (structure) है तो शैली (style) उस ढांचे की अभिव्यक्ति की रीति। इसीलिए शैली की जानकारी के लिए शिल्प की भांति पूर्ण ढांचे पर ध्यान न देकर इसके कथ्य, पात्रों, वातावरण, जीवन दर्शन (Philosophy

---

35. "It is an integral part of him as that skin is...a style is always the outword and it cannot be anything else...To sum up style cannot go beyond the ideas which is at the heart of it. If they are clear, it too will be clear."

"Selected Prejudices" P. 167

36. "Style means that personal idiosreracy of expression by which we recognise a writer."

"The Problem of Style" P. 4

or Point of view) आदि अन्य तत्वों पर दृष्टि केन्द्रित न करके इसकी भाषा, भाषा प्रवाह की रीति (मन्द, द्रुत, व्याख्यात्मक, समासात्मक) आदि पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करती चलती है। शिल्प शैली का स्वामी है। वह इसका दिशा-निर्देश किया करता है। शिल्प का लक्ष्य यह नहीं होता कि कथा क्या है, पात्र क्या है? अपितु यह है कि कथा किस भांति संयोजित हो, पात्र किस प्रकार नियोजित हों, जीवन दर्शन कैसे उड़ेला जाए आदि-आदि। इस लक्ष्य की सबसे बड़ी सहायक शैली होती है। वर्णनात्मक शिल्पी के लिए व्याख्यात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक शैली उपयुक्त रहती है। प्रतीकात्मक शिल्प विधि के प्रणेता को सांकेतिक भाषा और शैली का प्रयोग ही श्रेयस्कर रहता है। विश्लेषणात्मक कथा शिल्पी के लिए विश्लेषणपूर्ण शैली अनिवार्य है।

शिल्प विधि का क्षेत्र व्यापक है, क्योंकि इसका संबंध अभिव्यक्ति की सभी शक्तियों से है। शैली का क्षेत्र संकुचित है। मुख्य रूप से शैली दो प्रकार की होती है—व्याख्यात्मक और समास। शैली व्यक्तिपरक होती है, शिल्प वस्तुपरक। साहित्यकार की रुचि उसके शिल्प को प्रभावित तो करती है परन्तु इसके अनुरूप ही शिल्प का निर्माण नहीं हुआ करता है, अनुकरण होता है, जबकि शैली तो कथाकार की रुचि अनुरूप ही नियोजित होती है। समाज, इतिहास या अंचल का प्रबन्धात्मक चित्रण मात्र वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा ही संयोजित हो सकता है अतएव यह वस्तुपरक हुआ, विषयपरक हुआ, जबकि समाज, व्यक्ति, इतिहास या मनोविज्ञान, राजनीति आदि किसी भी विषय-वस्तु के चित्रण के लिए अनिवार्य रूप से किसी एक शैली को अपनाना उपन्यासकार के लिए आवश्यक नहीं है। 'परख', 'सुनीता', 'गबन', 'गोदान', 'लज्जा', 'संन्यासी', 'शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप'—जैनेन्द्र, प्रेमचन्द, जोशी और अज्ञेय की श्रेष्ठतम रचनाएं शिल्प की दृष्टि से वस्तु अनुरूप शिल्प द्वारा नियोजित हुई रचनाएं हैं, जबकि इनमें तदानुकूल शैली वैविध्य वस्तुपरक न होकर विषयी प्रधान है। मनोवैज्ञानिक धारा के उपन्यासकारों की अधिकतम रचनाएं व्यक्तिवादी विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की रचनाएं हैं किन्तु इसके अग्रणी तीनों उपन्यासकारों इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र तथा अज्ञेय का अपना अपना व्यक्तित्व है और अपनी अपनी स्वतन्त्र शैली है, जो इन्हें एक-दूसरे से भिन्न करती है। यही बात सामाजिक या बहिर्मुखी समाजवादी उपन्यास के विषय में भी कही जा सकती है। प्रेमचन्द, यशपाल, नागार्जुन, रेणु, उग्र आदि उपन्यासकार वर्णनात्मक शिल्प विधि के रचनाकार हैं किन्तु इनकी शैली भी एक-दूसरे से पृथक् हैं। प्रेमचन्द ने अन्य पुरुष शैली में नागार्जुन ने उत्तम पुरुष शैली में, उग्र ने पत्र शैली में तो डा० देवराज ने 'अजय की डायरी' में डायरी शैली का प्रयोग किया है। इन कथाकारों के भाषागत प्रयोग—तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी शब्दों का अनुपात, पद और वाक्यविन्यास, प्रसंग गर्भत्व, मुहावरों तथा लोकोक्तियों के आधार पर संयोजित होता है। हिन्दी का सर्वाधिक उपन्यास साहित्य अन्य पुरुष शैली में रचा गया है। कुछ वर्षों से हिन्दी के अधुनातम उपन्यासकारों ने आत्मकथात्मक शैली में उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र और अज्ञेय ने अपने अधिक उपन्यास इसी शैली में रचे हैं, फिर भी इन तीनों की शैली में वैविध्य है। इलाचन्द्र जोशी अपनी बात पात्रों द्वारा विश्लेषण करा-करा

कर दबदबे से कहलाते हैं, तो जैनेन्द्र अपने एक-एक वाक्य में वक्रता और दार्शनिकता ले आते हैं। और अज्ञेय ? वे अपनी भाषा को काव्यमयी भी बना देते हैं और अंग्रेजीनिष्ठ भी। श्री अमृतलाल नागर मे भाषा के भीतर व्यंग्यात्मकता और छींटाकसी करने की कला है, तो यशपाल में समाजद्रोह तथा निम्नवर्ग का पक्षपात एवं उन्ही लोगो की गाली-गलोच तथा अदायगी। श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा संस्कृत-निष्ठ और शैली कवित्वमय है। इस काव्यमयता की दृष्टि प्राकृतिक चित्रण तथा विभिन्न स्थलों के भौगोलिक वर्णनों में प्राप्य है। द्विवेदी के साथ जोशी मे भी यह शैली अपनी उन्नत अवस्था में मिलती है। कहीं-कही तो वाक्य समास संधियुक्त शब्द स्फीतता के साथ सामने आते है। परन्तु द्विवेदी तथा जोशी का उपन्यासशिल्प भिन्न है। द्विवेदी जी वर्णनात्मक शिल्प-विधि के कलाकार हैं, जोशी जी विश्लेषण-प्रधान शिल्प के प्रणेता। परन्तु दोनों की शैली आत्मकथात्मक है, कवित्वप्रधान है, उपमा बहुल है। दोनो ने उपमाएं भिन्न-भिन्न स्थलों से जुटाई हैं, द्विवेदी जी ने इतिहास और संस्कृत साहित्य से, जोशी जी ने विज्ञान और पश्चिमी साहित्य से।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक ओर सर्वश्री प्रेमचन्द, भैरवप्रसाद गुप्त, मन्मथनाथ, गुरुदत्त, यज्ञदत्त शर्मा और रागेय राघव तथा यशपाल जनसाधारण की बोलचाल को अपने-अपने उपन्यास की भाषा बनाकर चले है, वहा श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री अज्ञेय, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज, डॉ० रघुवंश, श्री नरेश मेहता आदि कथाकार अभिजात भाषा के समर्थक दृष्टिगोचर होते हैं। इसे ये कथाकार कलात्मक स्तर का मापक मानकर चले हैं। कतिपय उपन्यासकारों की भाषा और शैली में स्थानीय रंग आ गया है, जैसे रेणु की भाषा शैली में बिहार के पूर्वी जगत की शैली की स्पष्ट छाप है, वैसे ही श्री उपेन्द्रनाथ अश्क की भाषा व शैली पंजाबी रंगत लिए है, ठीक ऐसे ही श्री यज्ञदत्त शर्मा की भाषा एवं शैली में मेरठ-दिल्ली की परम्परा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लोक उपकरणों का सबसे अधिक उपयोग रेणु और नागार्जुन ने किया है। यशपाल की भाषा शैली में पुरुष वर्ग की कठोरता एवं बर्बरता परिलक्षित हुई हैं, तो उषादेवी मित्रा के वाक्य विन्यास में नारी हृदय की कोमलता और पद लालित्य मिलता है।

हिन्दी में संकेत शैली का प्रचलन मन्द गति से हुआ है। वैसे श्री गिरिधर गोपाल के 'चांदनी के खण्डहर' और डॉ० रघुवंश के 'तन्तुजाल' में अभिव्यक्ति स्थूल वाच्यार्थ के साथ-साथ सूक्ष्म संकेतार्थ को लिए हुए है।

इधर कुछ वर्षो से सवाद शैली का प्रचलन भी द्रुतगति से हुआ है। श्री वृन्दावन लाल वर्मा की 'मृगनयनी', यशपाल की 'दिव्या' संवाद शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक उदाहरण श्री भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' और डॉ० धर्मवीर भारती का 'गुनाहों के देवता' भी है। इसमें चन्द्र-सुधा संवाद ही समस्त कथा का वाहक है। यह संवाद शैली ही इस उपन्यास के शिल्प का प्रधान साधन बनी है। इस शैली को अपनाने का एक लाभ यह भी हो जाता है कि कथाकार परोक्ष में चला जाता है और पात्र ही सब कुछ कह डालते हैं, वे ही कथ्य के वाहक और साधक होते है। वे कभी परिस्थिति का वर्णन, कभी स्थिति का विश्लेषण और कभी कथाकार के जीवन दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करते चलते है।

श्री यादवेन्द्र शर्मा ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'महल और मकान' में इस शैली को अपनाया है।

शिल्प और शैली के उपर्युक्त विवेचन द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिल्प और शैली के किसी विशेष जोड़े का बंधन चिरस्थायी नहीं रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि अमुक शिल्प की कृति के लिए अमुक शैली की अनिवार्यता ही स्पष्ट हुई। जैसे अन्य पुरुष शैली और वर्णनात्मक शिल्प दोनों का दामन-चोली का साथ रहा है, फिर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वर्णनात्मक शिल्प और आत्मकथात्मक शैली का उदाहरण है। जैनेन्द्र रचित 'परख' विश्लेषणात्मक शिल्प की रचना है, फिर भी इसमें अन्य पुरुष शैली का ही चमत्कार उपलब्ध होता है, जबकि विश्लेषणात्मक शिल्प के अधिकतर उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में रचे गए हैं। इतना अवश्य हुआ है कि अधिकतर नाटकीय शिल्प के उपन्यासों में संवाद शैली और प्रतीकात्मक शिल्प के उपन्यासों में संकेत शैली का उपयोग हुआ है परन्तु इनमें यह घटनाओं और पात्रों में नाटकीय स्थिति के वेग को गति देने या इनमें प्रतीकात्मकता के सफल निर्वाह के लिए हुआ है, साथ ही इनमें अन्य शैलियाँ भी उपलब्ध होती हैं जैसे डा० धर्मवीर भारती के 'गुनाहों के देवता' तथा 'दिव्या' में अन्तर्कथा तथा अन्तर्वेदना की दीप्ति के लिए आत्मविवाद की शैली को भी कथाकारों ने अपना लिया है। 'मृगनयनी' तथा 'चित्रलेखा' में अन्य पुरुष शैली का चमत्कार प्रेमचन्द, कौशिक, और प्रतापनारायण श्रीवास्तव से कम नहीं है।

अब तो नवीन शिल्प का विकास होने पर शैली में भी प्रौढ़त्व आ गया है। क्लिष्टता के स्थान पर सरलता, जटिलता के स्थान पर सुगमता, वक्रता के स्थान पर सहजता, अवरोध का स्थानान्तर गतिमयता शैली के प्रौढ़त्व के परिचायक हैं। नवीन शिल्प की कुछ रचनाओं जैसे 'चाँदनी के खण्डहर', 'सोया हुआ जल', 'तन्तुजाल' को पढ़कर यह आभासित होता है कि भाषा और भावों में गुम्फन बढ़ गया है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की सब कहानियाँ नवीन शैली के साथ भावों का तादात्म्य स्थापित करती हुई हिन्दी उपन्यास के शिल्प एवं शैलीगत परिवर्तन एवं प्रौढ़त्व का परिचय दे रही हैं। क्योंकि एक ओर ये शैलीगत स्वाभाविकता लिए हैं, दूसरी ओर शिल्प का नया प्रयोग, तीसरे व्यंग्यात्मकता का सहज सौंदर्य। ये समाज पर कटाक्ष तो हैं, परन्तु प्रच्छन्न सांकेतिक कटाक्ष हैं जो पाठक का प्रसादन अधिक करता है और पढ़ते ही पाठक की पकड़ में आ जाता है। हम शीघ्र ही उस चमत्कार की शैली को पकड़कर उसके विचारों के संसार में खो जाते हैं। अतः सरलता और प्रवाह के साथ-साथ एक अमिट प्रभाव नवीन शैली का अन्तिम गुण बन चुका है जिसकी खोज में हिन्दी उपन्यास शिल्पगत पचास वर्षों से (प्रेमचन्द युग से) संलग्न था। नये शिल्प की रचनाओं में कथाकार की छाया रचना से दूर होती चली गई है। अब कथा स्वयं बोलने लगी, कहीं पात्रों के संवाद द्वारा, कहीं स्वगत भाषण द्वारा, कहीं पात्र स्वयं संवाद द्वारा जैसे 'चाँदनी के खण्डहर में'—"हैलो मिस्टर कमरे हाऊ डू यू डू।" कहीं आत्मविश्लेषण द्वारा, कहीं प्रतीक निर्वाह द्वारा—ये सब गुण जहाँ परिवर्तित शिल्प के संयोजक हैं, वहाँ नवीन शैली के परिचायक भी हैं। शैली के क्षेत्र में यह विशिष्ट उपलब्धि है जिसने शिल्प-विधि के विशाल प्रांगण में नित नवीन रूप में प्रवेश कर पाठक के मन में स्थान बना लिया है।

दूसरा अध्याय

शिल्प-विधि के विविध प्रकार

शिल्प प्रकार के संबंध में अधिकांश आलोचक निश्चयात्मक रूप से कुछ कहने मे संकोच करते रहे है। इस संबंध में हिन्दी उपन्यास के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० त्रिभुवन-सिंह लिखते है—"ऐसे ही न जाने कितने प्रयोग आधुनिक उपन्यास साहित्य मे किए जा रहे हैं। यह उसका विकास काल है। अतः शिल्प प्रकार के संबंध मे निश्चित रूप से कुछ भी कहना न तो सम्भव है और न तो उचित है।[1] हिन्दी उपन्यास का शिल्पगत अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि शिल्प-विधि के विविध प्रकार और उनके विकास-क्रम पर एक विहंगम दृष्टि डाली जाए। इसके बिना हिन्दी उपन्यास का शिल्पगत अध्ययन अधूरा और अवैज्ञानिक माना जाएगा।

उपन्यास साहित्य का शिल्पगत मूल्यांकन करना प्रस्तुत प्रबन्ध का मूल विषय है, अतएव शिल्प-प्रकार का भेदीकरण और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। दुर्भाग्यवश अभी तक हिन्दी उपन्यास शिल्प का कोई प्रौढ़ और प्रतिमानित रूप निर्धारित नहीं हो सका। गत वर्ष हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (१९५९) शीर्षक एक शोध प्रबन्ध हिन्दी साहित्य भण्डार लखनऊ से प्रकाशित हुआ जो उपन्यास शिल्प का परिचयात्मक इतिहास प्रस्तुत कर सका। इसके लेखक डॉ० प्रतापनारायण टण्डन ने इसमें कथा विकास की विविध पद्धतियों का अन्वेषण किया है। नीचे दी गई तालिका में इन पद्धतियों की एक रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है—[2]

[१]
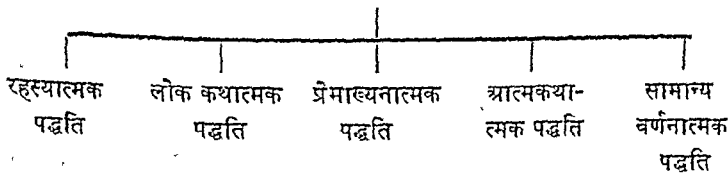
१. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—पृष्ठ ८०
२. हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास—पृष्ठ २०५-२०६

[५]
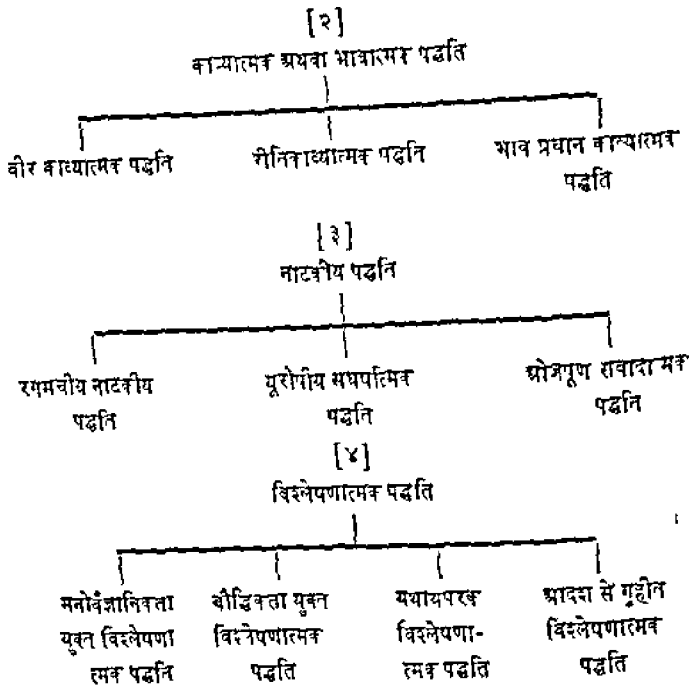
[illegible] पद्धति

कथात्मक पद्धति तथा काव्यात्मक पद्धति को मैं उपन्यास की शिल्प विधि के रूप में स्वीकार करने के लिए इसलिए असमर्थ हूँ कि इन दोनों में क्रमशः केवल प्रवृत्ति और शैली ही रूपायित होती हैं। कथा तत्त्व तो एक अर्थ में प्रत्येक उपन्यास का अविभाज्य अंग है। कथा शून्य उपन्यास नहीं हुआ करते। यह तो सम्भव है कि किसी उपन्यास में कथात्मकता अधिक हो, किसी में कम, किसी में चरित्र वैचित्र्य ही हो और किसी में वातावरण, किन्तु कहानी शून्य की सीमा पर पहुँच जाए, ऐसी बात अकल्पनीय है। प्रभाकर माचवे जैसे चरित्र प्रधान, और जैनेन्द्र सदृश विचार प्रधान उपन्यास लेखकों ने भी कथा प्रवृत्ति की आवश्यकता को स्वीकार किया है। जैनेन्द्र लिखते हैं—"मैंने कहानी कोई लम्बी चौड़ी नहीं कही है। कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है, अतः तीन-चार व्यक्तियों में ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना काम चला सकते हैं और उसमें सत्य का दर्शन पा सकते हैं, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की जरूरत मुझे नहीं लगी, थोड़े में समग्रता क्यों न दिखाई जाए?"[1]

---

१ सुनीता की भूमिका से अवतरित

डॉ० टंडन ने कथात्मक शिल्प को पांच भागों में विभाजित किया है। यह विभाजन भी वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। रहस्यात्मक, लोककथात्मक और प्रेमाख्यानात्मक तीन पद्धतियां कथानक के लिए विषय रूप में तो स्वीकृत हो सकती हैं, किन्तु इन्हे विधान मानना कहां तक संगत है? हिन्दी उपन्यास साहित्य का अभ्युदय जासूसी कथाओं के साथ हुआ। इनमें रहस्यात्मकता, कौतूहल, सहज जिज्ञासा आदि प्रवृत्तियां पाठकीय आकर्षण की विषय-वस्तु मात्र है, समग्र विधान नही। उपन्यास साहित्य में शिल्प को शिल्प के रूप मे मान्यता देने वाले और उपन्यास लेखन विधि के महत्त्व को स्वीकार करने वाले प्रथम प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द है। इनके विषय मे डॉ० इन्द्रनाथ मदान के ये विचार सत्यपरक है—"प्रेमचन्द को कोई परम्परा विरासत में नही मिली, उनको अपना शिल्प-विधान स्वयं गढ़ना पड़ा···वे अपने शिक्षक स्वयं ही थे। उन्होंने अपने शिल्प-विधान और कला की समस्याओं पर विशेषकर उपन्यास और कहानी के ढांचे पर स्वयं विचार किया।"[४] प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य शिल्पगत मान्यताओं की कोई सुस्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत नहीं करता।

कथात्मक पद्धति के अन्य दो रूप आत्मकथात्मक पद्धति और वर्णनात्मक पद्धति बताए गए है। इनमें से आत्मकथात्मक पद्धति को मैं उपन्यास की शैली मात्र समझता हूं। अपने शोध प्रबंध में डॉ० टंडन ने भी इसे एक स्थल पर शैली रूप मे स्वीकार किया है। वे लिखते है—"आधुनिक युग मे यह शैली सर्वप्रथम प्रौढ़रूप में जैनेन्द्रकुमार के 'त्यागपत्र' में मिलती हैं, इसमें यह शैली आत्म संस्मरणात्मक तत्त्व का आधार लेकर प्रस्फुटित हुई है"[५] ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० टंडन शिल्प और शैली में पर्याप्त अन्तर नहीं कर पाए हैं, तभी उन्होंने आत्मकथात्मकता को पहले पद्धति रूप मे और फिर शैली रूप में स्वीकार किया। दूसरे इस शैली का प्रथम प्रयोग जैनेन्द्र की रचना 'त्यागपत्र' मे नहीं हुआ अपितु इलाचन्द्र जोशी रचित 'लज्जा' में हुआ है, जो सन् १६२६ में प्रकाशित हुई। 'त्याग-पत्र' का प्रकाशन इसके तीन-चार वर्ष बाद हुआ। पांचवां भेद वर्णनात्मक पद्धति ही मुझे वैज्ञानिक जान पड़ा है और इसे मै साभार स्वीकार करता हूं। मैंने इसे केवल एक अन्तर के साथ आगे प्रस्तुत किया है, वह यह कि इसे उपभेद न मानकर शिल्प-विधि का प्रथम प्रमुख प्रकार माना है।

काव्यात्मक अथवा भावात्मक शिल्प पद्धति की कल्पना भी दुर्लभ है। काव्यात्मकता भाषा और शैली का एक विशेष प्रवाह होता है। भावात्मक हो जाने से ही उपन्यास की शिल्प-विधि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वीरात्मक या रीतिात्मक कविताएं तो सुनने में आई हैं, उपन्यास नहीं, कविता में भी वीरात्मकता या शृंगारिकता प्रवृत्ति को चितवृत्ति के रूप में लिया गया है, शिल्प रूप में नहीं। ये चितवृत्तियां शिल्प-विधि के स्वरूप-निर्धारण में सहायक भले ही हों, स्वयं शिल्प की परिचायक नहीं कहला सकतीं। डॉ० टंडन ने अपने शोध प्रबन्ध में 'झांसी की रानी' को वीरात्मक और 'तारा' को रीति-

---

४. प्रेमचन्द : एक विवेचना—पृष्ठ १२१-१२२

५. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास—पृष्ठ २१३

त्मक शिल्प की रचना कहा है।[1] ये उपन्यास विषय की दृष्टि से वीर और शृंगार सूत्र को लेकर चलते है, किन्तु इनका शिल्प वर्णनात्मक है। अतः सिद्ध होता है कि वीरात्मक गद्य अथवा रीतात्मक गद्य कोई शिल्प-विधि नही कहे जा सकते। डॉ० टंडन का यह विभाजन एवं वर्गीकरण शिल्पगत न होकर विषय और वस्तुगत हो गया है। इस वर्गीकरण द्वारा उपन्यास साहित्य का अध्ययन करने से भ्रामकता की वृद्धि हुई है। विद्वान लेखक ने क्यो विषय और शिल्प का पृथक-पृथक करके विचार नही किया, यह एक गम्भीर प्रश्न है। इसके परिणाम स्वरूप शिल्प के अध्ययन मे कई बाधा प्रस्तुत हो सकती है। लेखक को अपने वर्गीकरण के अन्तर्गत उपन्यास रचना के केवल उसी रूप को विभिन्न भागो मे विभाजित करना चाहिए था, जिसका सीधा सबध शिल्प विधि से है। इनके द्वारा निर्धारित परीक्षणात्मक पद्धति भी कोई स्वतत्र शिल्प विधि नही है, यह केवल विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का एक उपभेद मात्र है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने हिन्दी उपन्यास शिल्प के क्षेत्र मे वर्तमान असगतियो एव भ्रान्तियो के निवारण हेतु उन्हे प्रश्नात्मक दृष्टि से आकने का भरसक प्रयत्न किया है। इसके परिणामस्वरूप उसे निम्नलिखित शिल्प विधिया उपलब्ध हुई है—

१ वर्णनात्मक शिल्प विधि (Descriptive Technique)
२ विश्लेषणात्मक शिल्प विधि (Analytical Technique)
३ प्रतीकात्मक शिल्प विधि (Symbolical Technique)
४ नाटकीय शिल्प-विधि (Dramatic Technique)
५ समन्वित शिल्प-विधि (Mixed Technique)

वर्णनात्मक शिल्प विधि

वर्णनात्मक शिल्प विधि वह है जिसके द्वारा उपन्यास मे जीवन के विस्तृत क्षेत्र का चित्रण विवरणपूर्ण ढग से बढा चढा कर व्याख्या सहित प्रस्तुत किया जाता है। इस विधि को अपनाने वाले उपन्यासकार के पास इतिहासकार जितनी सुविधाए विद्यमान रहती है। वह जीवन के किसी भी क्षत्र को अपनी कथा का माध्यम बना सकता है। घटना बाहुल्य पात्र आधिक्य, लम्बे सवाद तथा भाषण योजना अनेक समस्याए इसी विधि द्वारा सरलता पूर्वक चित्रित हो सकती हैं। वातावरण के प्रसार और दार्शनिक विवेचन की पूर्ण सुविधा इस विधि को अपनाने वाले कथाकार को मिल जाती है। पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व चित्रण की आवश्यकता इस विधि के कथाकारो को अनुभव ही नहीं हुई, यत्र-तत्र यदि कहीं अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हो भी गया है तो वह वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाने के कारण नही, जीवन की द्वन्द्वात्मक स्थिति की अनुभूति के कारण प्रदर्शित हुआ है क्योकि इस विधि के अन्तर्गत अन्तर्मन की नाना स्थितियो का विश्लेषण सम्भव नही है, केवल बाह्य पक्ष की विस्तृत चर्चा हुआ करती है। हिन्दी मे उपन्यास कला को इस विधि का प्रयोग सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने किया है।

---

१ वही —पृष्ठ २१४

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों का कथानक इतिवृत्तात्मक होता है। इसमें घटनाओं का एक जाल सा बिछ जाता है। कथावस्तु अधिकतर दुहरी या तीहरी होती है। कथा भाग सुन्दर, संगठित भले ही न हो किन्तु इस विधि की रचना मे एक विशेप विचार, एक समस्या अवश्य ही उठाई जाती है और प्रेमचन्द सरीखे उपन्यासकार तो उसका हल भी साथ ही जुटा देते हैं। ये समस्याएं अधिकतर सामाजिक होती है, किन्तु कतिपय रचनाओं में राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्न भी उठाए गए हैं। प्रखरता, गहनता, दृढ़ता तथा सूक्ष्मता की अपेक्षा व्यापकता ही इस विधि के उपन्यासों मे दृष्टिगोचर होती है। प्रखरता गहनता और सूक्ष्मता आदि के लिए गहन आन्तरिक द्वन्द्व अपेक्षित है, जो केवल विश्लेपणात्मकया नाटकीय विधि के उपन्यासों में उपलब्ध है। व्यापकता के कारण अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश भी रहता है।

वर्णनात्मक विधि के चरित्र-चित्रण में पात्रों की भरमार रहती है। ये पात्र अधिकतर किसी न किसी वर्ग विशेप का प्रतिनिधित्व करते है। इस विधि के अनुसार केवल चरित्र का चित्रण ही संभव है, इसमें उसका विश्लेपण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः चरित्रों को सुनिश्चित और अखंडित इकाई के रूप में चित्रित किया जाता है, जबकि विश्लेपणवादी उपन्यासकार चरित्र को कई खण्डों में विभाजित करके देखा-परखा करता है। पात्र अधिकतर समाजोन्मुखी होते है और उनके बाह्य-पक्ष का चित्रण ही प्रमुख रूप से किया जाता है। सभी चरित्रों पर समाज के बाह्य रूपों का प्रभाव सीधे रूप में दिखा दिया जाया करता है। इस विधि को अपनाने वाला कथाकार घटना और चरित्र पर पूर्ण अधिकार रखता है, वर्णनात्मक शिल्प-विधि के चरित्र-चित्रण में कभी-कभी कथाकार समूह की प्रवृत्तियों का चित्रण व्याख्यापूर्वक प्रस्तुत कर दिया करता है। 'सेवासदन' मे हम भोली का ही नहीं, वेश्या मात्र का चित्र देखते हैं। 'गवन' में जालपा का ही नहीं स्त्री जाति का आभूपण प्रेम उद्‌घाटित किया गया है। 'कंकाल' में पुरुप-मात्र की काम लिप्सा और यश लिप्सा का चित्रण प्रस्तुत हुआ है। 'दबदवा' और 'मधु' में वेश्या समाज की प्रवृत्तियो और समस्याओं पर लेखक ने व्यापक रूप से प्रकाश डाला है।

वर्णनात्मक विधि के उपन्यासों में कथाकार का ध्यान कथा और चरित्र के साथ-साथ विचार और समस्या की ओर भी केन्द्रित रहता है। कभी-कभी तो उपन्यासकार का ध्यान सबसे अधिक अपने लक्ष्य की ओर ही झुक जाता है; वह अपनी कथा और पात्रों को अपने सुधारवादी विचारों के अनुसार तोड़-मरोड़ देता है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासो में मूलतः एक समस्या को पकडते है, फिर उसका व्यापक वर्णन करके सुधार के उपाय बताते चलते है। आदर्श सिद्धान्त और सुधार की ओर उनका ध्यान केन्द्रित रहता है। अपने युग के वे सफल चित्रकार बन जाना चाहते है और इस लक्ष्य को प्राप्त भी कर चुके है। उनके उपन्यास सहित्य में सामाजिक समस्याएं ही चित्रित नहीं हुई, अपितु राजनैतिक हलचल, धार्मिक और साम्प्रदायिक आन्दोलन, आर्थिक प्रश्न, नैतिक विचार भी प्रतिपादित हुए है। यह उनकी ही नही, वर्णनात्मक शिल्प की विशेपता, जिसमें इतनी व्यापकता और असीमता संभव है।

वर्णनात्मक शिल्पविधि में लिखा गया उपन्यास साहित्य चार शैलियों में उपलब्ध

है। अतः शैली की दृष्टि से इसे चार रूपों में देखा जा सकता है—

(१) अन्य-पुरुष शैली,
(२) आत्म-कथात्मक शैली,
(३) पत्र-शैली,
(४) डायरी शैली।

अन्य पुरुष शैली

अन्य पुरुष शैली अथवा तृतीय पुरुष शैली ही सर्वाधिक प्रचलित शैली है। प्रेमचन्द जयशंकरप्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा प्रभृति उपन्यासकारों ने अपनी अधिकांश रचनाएं इसी शैली में लिखी हैं। इसमें उपन्यासकार एक इतिहासकार की भांति कथा का वर्णन करता है। कथा का सूत्र उसके अपने हाथ में होता है अतः उसे धर्मवेत्ता, समाजवक्ता अथवा राजनैतिक नायक के समान बोलने और उपदेश देने की पूरी सुविधा होती है। इस शैली में लिखने वाला उपन्यासकार लक्ष्य से चिपट जाया करता है। यदि वह कोरा आदर्शवादी है तो अपनी सुधार प्रवृत्ति के कारण समाज की यथार्थ परिस्थिति का वर्णन नहीं करेगा और यदि घोर यथार्थवादी है तो समाज के कुत्सित रूप दिखा कर ही चैन लेगा। यही कारण है कि अधिकांश वर्णनात्मक उपन्यासों में सन्तुलन का अभाव है, वह कथाकार के निजी वाग्मिल विचारों तले दबे रहते हैं। इस शैली को अपनाने के कारण वर्णनात्मक शिल्पी अपनी ओर से सब कुछ कहने की छूट रखता है। वर्णनात्मक उपन्यासों में कथाकार की लक्ष्य प्रियता की ओर संकेत करते हुए आचार्य नन्ददुलारे प्रेमचन्द के विषय में लिखते हैं—"उन्होंने प्रत्येक स्थान में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठाए हैं, उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचन्द जी लक्ष्यवादी हैं।"[७] निर्णयात्मक प्रवृत्ति के कारण प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में कुछ घटनाएं तोड़-मरोड़ दी हैं, कुछ पात्रों के चरित्रों को परिवर्तित कर दिया है। 'सेवासदन' में कथाकार का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य यही रहा है कि एक ऐसे आश्रम की स्थापना की जावे जिसमें पग रखते ही वेश्याएं देवी बन जाएं और आदर्श जीवन व्यतीत करें। इस उद्देश्य की पूर्ति हित देव तुल्य चरित्र सदन और सुमन को चलता किया गया, ताकि वह सुभीता से 'सेवासदन' की स्थापना कर सके। विचार प्रतिपादन हित कई प्रगल्भ भाषण जुटाए जाते हैं, जो केवल उपन्यास के आकार को ही बढ़ाते हैं या प्रचार का साधन बनते हैं।

आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत वर्णनात्मक उपन्यास

वर्णनात्मक शिल्प विधि का एक अन्य उदाहरण डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी रचित "बाण भट्ट की आत्म-कथा' है। इसकी रचना आत्मकथात्मक शैली में हुई है। इसमें स्वयं बाण भट्ट कथा-सूत्र को पकड़कर अपनी कथा कहता है। उपन्यास का प्रबंध भाग

७ आलोचना-उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ ५६

और सूक्ष्म अंश यथायोग्य अलंकरणों से सम्पन्न है। जिस भांति एक भवन में अलिन्द, कक्ष्याएं, स्तम्भ, वापियां, आहार-विहार स्थल, व्यायाम गृह आदि सब भाग सूक्ष्मातिसूक्ष्म अलंकारों तथा रत्नों से सजाये जाते है, ठीक उसी प्रकार इस रचना में स्थूल रूपो को शब्दों द्वारा पूर्ण सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्त किया गया है।

'वाण भट्ट की आत्म-कथा' गुप्त-युगीन भारतीय इतिहास की कहानी हैं। यह युग भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध हैं। डॉ० हजारी प्रसाद ने अपने सशक्त वर्णनों द्वारा स्वर्ण-युग के इतिहास के औपन्यासिक रूप को पूरी पॉलिश कर चमत्कृत कर दिया है। रम्य झील, भव्य-भवन, मन-मोहक प्रकृति का साक्षात् दर्शन सदैव के लिए सुलभ कर दिया है। इन वर्णनों मे जो चित्र उपलब्ध होते है, वे तत्कालीन मानवी सृष्टि का अन्तरंग परिचय तो देते हैं, साथ ही उपन्यास की चित्रग्राहिणी बुद्धि तथा अद्‌भुत वर्णन की क्षमता की वात भी कह रहे हैं।

प्रस्तुत उपन्यास के वर्णन रस मे लिप्त मिष्ठान की भांति है। इनमें एक प्रकार का लालित्य है। शिल्प विधान का सौन्दर्य यहां उत्कर्ष पर हैं। ऐसा लगता है कि कथाकार ने समाधिजन्य तन्मयता की स्थिति में लालित्य सागर में डुवकी लगाकर वाण द्वारा वर्णनों की लहरें उठाई हैं। जहां कहीं दार्शनिक प्रसंगों की अवतरणा करनी पड़ी है, वही धार्मिक पात्र संयोजित करके उनके भाषण दिलाए गए है। इन भाषणों में सरल माधुर्य और स्वाभाविक प्रवाह है। नारी-तत्त्व पर विचार प्रकट करने के लिए वाण भट्ट, महामाया आदि पात्रों को समय और स्थल दिए गए हैं। इनमें से दो प्रकरण पठनीय है—"राज्य-गठन, सैन्य-संचालन, मठ संथापन, और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन, मर्यादाहीन, शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम है। इनको नियन्त्रित कर सकने की एक-मात्र शक्ति नारी है। कालिदास ने इस रहस्य को पहचाना था। इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गए हैं, मठ विध्वस्त हो गए हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुदबुद की भांति क्षण-भर मे विलुप्त हो गए है।[८]

"परम शिव से दो तत्त्व एक साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव विधि रूप है और शक्ति निषेधा रूप। इन्हीं दो तत्त्वों प्रस्पन्द-विष्पन्द से यह संसार आभापित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधन्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है। जहां कही अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहां कही दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रवल है, वहीं नारी तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो शक्ति तत्त्व है। हां, रे, नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है...।"[९]

'वाण भट्ट की आत्म-कथा' में स्थिति और गति के मिले हुए विधान से कथा के

---

८. वाणभट्ट की आत्म-कथा—पृष्ठ ११४-१५

९. वही—पृष्ठ १५४-१५५

वर्णनों में अद्भुत रसवत्ता की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। प्रेम और यौवन से सम्बन्धित वर्णनों में तो भावुकता, रस प्रवाहिनी क्षमता तथा काव्यात्मक शैली के दर्शन किए जा सकते हैं। बाण भट्ट से भेंट होने पर सुचरिता अपनी कथा कहती है। इस कथा को एक विशेष स्थिति और गति के बीच की अवस्था के वर्णन में जो रसात्मक प्रवाह है उसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

"जिस प्रकार वसन्त काल में मधुमास, मधुमास में पल्लवराजि, पल्लवराजि में पुष्प सम्भार, पुष्प सम्भार में भ्रमरावली और भ्रमरावली में मदावस्था बिना बुलाए आ जाती है, उसी प्रकार मेरे शरीर में यौवन का पदार्पण हुआ।"[10]

पत्र शैली में प्रस्तुत वर्णनात्मक उपन्यास

पत्र शैली में प्रस्तुत "चन्द हसीनों के खतूत" नामक उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य में एक महत्वपूर्ण कृति है। शिल्प के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग है, जिसके लिए 'उग्र' का नाम चिर स्मरणीय रहेगा। प्रेमचन्द द्वारा प्रतिष्ठित अन्य पुरुष शैली वर्णनात्मक शिल्प विधि के प्रति यह एक विद्रोह सूचक रचना है। स्कूल तथा कॉलिज के विद्यार्थियों की प्रणयलीला को अभिव्यक्त करने के लिए पत्र शैली को अपनाया गया है। कुछ समालोचकों की मान्यता है कि पत्रों में प्रेमात्मक वर्णन अपनी चरम सीमा को प्राप्त करते हैं। 'उग्र' ने इस किंवदन्ती को सार्थक कर दिखाया है।

प्रथम पत्र में ही उपन्यास की नायिका नरगिस अपनी भाभी को प्रेम-पीड़ा की लिखित स्वीकृति भेजती है। इस पत्र में प्रेम की मार्मिक अभिव्यञ्जना की गई है। दूसरे पत्र में नायक मुरारी कृष्ण अपने साथी गोविन्द हरि शर्मा को अपनी प्रेम जनित अवस्था से परिचित कराता है। इसके पश्चात् लिखे गए पत्रों में प्रेमपथ की कठिनाइयों और मुरारी कृष्ण के साहसिक बलिदानों का वर्णन है। वर्णन इतने बढ़ गए हैं कि कथा की शृंखला टूट गई है। अख्तरी द्वारा अपने पति अलीहुसेन को लिखे गए पत्र में पति द्वारा लिखित पत्र की कुछ पंक्तियाँ ही उद्धृत की गई हैं इससे कथा स्पष्ट नहीं होती। यदि इस पत्र से पूर्व अलीहुसेन का पूरा पत्र दे दिया जाता तो कथानक में सुसंगठितता आ जाती।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर उपन्यासकार ने रोमांचकारी वर्णन प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं तो हास्य रस का स्रोत फूट पड़ा है जैसे—"चारों ओर डंडाशाही, ईंटाशाही, छुराशाही, तलवारशाही, धींगाशाही और नादिरशाही का बोलबाला था। धूर्त नौकरशाही और इन सब शैतानों की जड़ नौकरशाही उस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।"[11] किन्तु ये वर्णन हास्य-रस उत्पादक होने पर भी शब्द दोष से रहित नहीं हैं। शाही शब्द का प्रयोग अतिशयपूर्ण है और कानों को खटकने लगता है। समाज के घृणित अवयवों का विस्तृत चित्रण तो इसमें हुआ ही है, नारी की विवशता का व्यापक चित्र भी खिंच गया है।

---

१० वही—पृष्ठ २१८

११ चन्द हसीनों के खतूत पृष्ठ

असगरी के पत्र द्वारा उद्‌घाटित नारी विषयक विचारधारा मनन योग्य है। बुतखाने के परदे में काबा का नजर आना पद्य का गद्य में उसी प्रकार समा जाना है जैसे पानी का दूध में मिलकर दुग्धमय हो जाना। कुछ दोषों के रहते हुए भी इस रचना का शिल्प के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व तो अक्षुण्ण रहेगा ही। पत्र-शैली के उपन्यासों में स्वाभाविकता लाने के लिए आवृत्तियो की अत्यन्त आवश्यकता रहती है जिसका अभाव इस रचना का बड़ा दोष है।

डायरी शैली में रचित वर्णनात्मक शिल्प-विधि का जयवर्धन

'जयवर्धन' के प्रकाशन के साथ ही जैनेन्द्र ने एक वक्तव्य द्वारा इस उपन्यास की सार्थकता में सन्देह प्रकट कर दिया—"जयवर्धन पाठक के पास आ तो रहा है, पर कह नहीं सकता कितना वह उपन्यास सिद्ध होगा।"[१२] समस्त उपन्यास पढ लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना उपन्यास अवश्य है किन्तु इसकी कथा अन्य पुरुष शैली में वर्णित न होकर डायरी शैली में प्रस्तुत हुई है जिसमें पात्र दैनन्दिनीपरक विवरणों को विचार की नोच खचोट का आवरण देकर प्रस्तुत करते है, तभी तो यह रचना उपन्यास से अधिक एक विचारात्मक जीवनी है जिसमे जैनेन्द्र का लक्ष्य त्याग और निःस्पृहता से उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करना है। उन्होने स्वतन्त्रोत्तर भारत में राजनीतिक छीना-झपटी का मार्मिक चित्र इस डायरी शैली की रचना मे प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र के अधिक उपन्यास विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के है। वे व्यक्ति के अन्तर्मन के विश्लेपक कलाकार है किन्तु 'जयवर्धन' एक अपवाद है। डायरी के पृष्ठों मे सकलित विदेशी पत्रकार श्री विलवर हूस्टन के संस्मरण आत्मकथामक विवरणों सहित प्रस्तुत किए जाने के कारण यह उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत आता है। डायरी द्वारा पात्र अपनी वात तो कहते ही है, निरीक्षक के रूप में दूसरे पात्रों के विषय में भी हमें जानकारी कराते हैं। जैसे हूस्टन लिखते है—"जयवर्धन के बारे में सुना ही है, दो रोज और, कि मैं पास से और सामने से उन्हें मिलूंगा। अत जो सुना है उस पर ध्यान जाने की ज़रूरत नही है। जरूर उसमें कुछ अंधियारा है।"[१३] अमरीकन जिज्ञासु हूस्टन भारत में आए और यहां जिन लोगों के सम्पर्क मे आए उनके जीवन को तिल-तिल कर जानना चाहा। उपन्यास मे उन्होने २१ फरवरी २००७ से लेकर १० अप्रैल २००७ तक की घटनाओं का वर्णन किया है।

इस उपन्यास में जीवन की यथा तथ्यता है, अनुरूपता नही। पात्रों के लम्बे-लम्बे भाषणों तथा वक्तव्यों की योजना ही प्रधान रूप से सामने आती है। राजनीति से संवधित वक्तव्यों के स्पष्टीकरण के लिए लम्बे-लम्बे तर्क भी प्रस्तुत किए गए हैं। दार्शनिक प्रश्नों को पात्रो के संवादों द्वारा सुलझाने की चेष्टा की गई है। प्रेम, विवाह, ईश्वर, युद्ध, राज्य, अहिंसा, सत्य जैसे गम्भीर और ज्वलन्त प्रश्नों पर खलकर विचार किया गया है। इसी

१२. जयवर्धन—पृष्ठ प्रथम (वक्तव्य)
१३. वही—पृष्ठ १०

कारण इस उपन्यास का विचार पक्ष औपन्यासिकता पर छा जाता है और कथा एवं चरित्र पक्ष दब जाता है।

शैली की दृष्टि से उपन्यास के शिल्प में नया प्रयोग हुआ है। हस्टन की डायरी द्वारा तो कथा वर्णित हुई ही, कथाकार ने प्रसिद्ध पात्रों में से दो या दो से अधिक पात्रों की भेंट और वार्ता कराकर राजनीति पर विचार विमर्श तथा घटनाओं के विकास का दिग्दर्शन भी किया है। ११ अप्रैल, २००७ को जो सभा हुई, वह एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत हुए वाद विवाद और उत्तेजनात्मक वातावरण के पश्चात् सभा भंग हो गई। पर पात्र एक-दूसरे को समझने को लालायित हुए। जैनेन्द्र आवश्यकतानुसार नये शिल्प का आश्रय लेकर क्रमशः 'जय और आचार्य', 'जय और इला', 'जय और स्वामी', 'एनिजाबेथ और जय', 'जय और नाथ', 'आचार्य और स्वामी', 'स्वामी, नाथ, जय और एनिजाबेथ', 'इला और इला' को निकट लाकर एक दूसरे को समझने और समझाने का अवसर देते हैं। १२ अप्रैल की डायरी का विवरण सर्वथा रहस्यपूर्ण रखा गया है। सब मौन हैं। इला से कुछ नहीं प्राप्त हो सका। न आचार्य कुछ विशेष विश्वस्त हैं। स्वामी चकित हैं। एनिजाबेथ विभ्रमित और नाथ उदासीन। पर जय और इला के शुभ विवाह की ओर कल्पनात्मक संकेत दे दिया गया है।

'जयवर्धन' की कथा प्रेमात्मक द्वन्द्व को साथ लेकर चली है। जयवर्धन को इला से प्रेम है, इस विषय में तो कोई शंका उठ ही नहीं सकती, किन्तु स्वामी चिदानन्द सदृश महात्मा भी प्रेम द्वन्द्व के बीच घसीटे गए हैं। आचार्य दुहिता इला मातृत्व प्रेम से वंचित रही और स्वामी चिदानन्द के आश्रम में पली, वही जयवर्धन से प्रथम साक्षात्कार कर प्रणय पथ पर अग्रसर भी हुई। इसी इला को लेकर जयवर्धन के मन में अन्तर्द्वन्द्व होता है कि कहीं स्वामी तो इसपर आसक्त नहीं—"चिदानन्द उसे पापिष्ठा समझते हैं। पर उनके मन में है कि कहीं वह उसे प्रिय भी तो नहीं समझते अपने भीतर लड़कर ही तो उसे पापिन नहीं समझते पाप पाप सदा भीतर के इसी झगड़े में से, इसी द्वन्द्व से उपजा करते हैं। अचरज न होगा, मेरी हत्या का षड्यन्त्र किया जाए। अचरज न होगा अगर अब भी वह हो रहा हो पर मैं कहता हूँ कि लेकिन अगर चिदानन्द में इला के लिए आकर्षण है, तो इसमें क्या अचरज है? क्या मुझमें वह नहीं है? संसार में क्या है कोई जो उसमें रोता है।"[१४] वास्तव में इस प्रकार के विश्लेषणात्मक प्रसंग हमारे सामने एक प्रश्न-चिह्न बनकर आते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या वर्णनात्मक शिल्प विधि के उपन्यासों में विश्लेषणात्मक प्रसंगों की चर्चा वांछनीय है?

उपन्यास चाहे वर्णनात्मक हो अथवा विश्लेषणात्मक यदि उसमें जीवन की विशेष स्थिति का उद्घाटन किया गया है, तब उस विशेष स्थिति का विश्लेषण अनिवार्य हो जाया करता है। प्रेमात्मक स्थिति को ही लें। यह सदैव द्वन्द्वात्मक हुआ करती है। प्रेम की स्थिति कभी एकपक्षीय नहीं हुआ करती, इसमें दो अथवा दो से अधिक पक्ष सामने आते ही दो से अधिक पक्ष आ जाने पर आशंका, भय और संघर्ष के सतत

१४ जयवर्धन—पृष्ठ १०७

हुआ करते हैं। साधारणतः वर्णनात्मक उपन्यासों में उनका सविस्तार वर्णन हुआ करता है और विश्लेषणात्मक में गहन विश्लेषण, किन्तु फिर भी विशेष-विशेष अवसरों पर वर्णनात्मक उपन्यासों में विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया जाता है और विश्लेषणात्मक उपन्यासों में व्याख्या जुटा दी जाया करती है। प्रेमचन्द के समस्त उपन्यास वर्णनात्मक है किन्तु 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'रंगभूमि' में अनेक स्थलों पर विश्लेषणात्मक प्रसंग दिए गए हैं। ऐसे ही 'सुनीता', 'लज्जा' और 'संन्यासी' विश्लेषणात्मक उपन्यास हैं किन्तु इनमें कई अवसरों पर कतिपय विषयों की व्याख्या कर दी गई है। अतएव उपन्यास को वर्णनात्मक शिल्प-विधि या विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत उसमें वर्तमान सामग्री और उस सामग्री की प्रस्तुतीकरण विधि द्वारा निर्णीत होने पर रखा जाता है।

'जयवर्धन' में जैनेन्द्र ने पात्रों का चयन व उनका चरित्र-चित्रण बहुत सतर्कता के साथ किया है। जयवर्धन, हूस्टन, इला, नाथ, स्वामी जैसे पात्र वर्तमान भारतीय राजनीति से संबंधित दिखाए गए है। इस दृष्टि से उनके पूर्ववर्ती विश्लेषणात्मक पात्रों और 'जयवर्धन' के वर्णनात्मक पात्रों मे एक स्पष्ट विभाजन रेखा है। 'जयवर्धन' में हमें चरित्र विषयक नवीन उपलब्धियां प्राप्त है। समस्त कथा इला और जयवर्धन को केन्द्रस्थ रखकर घूमती है। जैनेन्द्र को पात्रों की भीड़ पसन्द नहीं। वे चरित्र को स्वल्प रूप में उद्घाटित करते है, शेष पाठक की कल्पना पर छोड़ देते है। जयवर्धन के चरित्र को ही लीजिए। हूस्टन इस पात्र को इन शब्दों मे वर्णित करते है—"जयवर्धन को देखा। मिला, बात हुई। व्यक्ति नहीं, वह घटना है। पर छुआ कहीं तो बिजली का जीता तार जैसे छू गया। धक्के और अचम्भे से आदमी झनझना जाता है। धक्का और भी प्रबल शायद इसलिए होता हो कि तुम उसकी तनिक भी आशा नहीं रखते। बढ़ते हो कि करुणा करोगे। पर कुछ आता है कि तुम स्तब्ध बंधे रह जाते हो। तुच्छता समझकर जहां हाथ डाला वहां ज्वाला दमक आए तो कैसा लगे—कुछ वैसा ही अनुभव हुआ।" डायरी शैली मे ही जय के चरित्र पर आगे प्रकाश डालते हुए वे लिखा गए—"जय निश्चय ही व्यस्त होंगे। अचरज नहीं खिन्न भी हों, लेकिन मेरा सोच व्यर्थ निकला। कारण, अभी वहा से आ रहा हूं। इतना मैने उन्हें पहिले नहीं पाया। मालूम होता है इस व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरा है। संकट में वह स्वस्थ है अन्यथा चिंतित।" और भी—"जय कल्पना लोक में नहीं रहते। पर रहने को सबके पास अपना कल्पना लोक ही तो है, नहीं तो क्या है ? लोक स्वयं जो कल्पना है।"[15] चरित्र-चित्रण की यह प्रत्यक्ष विधि इसके वर्णनात्मक शिल्प का अकाट्य प्रमाण है। लेखक ने न केवल जयवर्धन के अपितु इला के व्यक्तित्व पर भी स्वयं हूस्टन द्वारा लिखवाया है—"मैने इला को देखा। अपनी कैसी घनिष्ठ कथाएं सुनाने यह नारी आ गई है। पर वह सब होने के बाद भी कहीं असमंजस नहीं है, प्रभावशालीनता और शालीनता में कहीं त्रुटि नही। देखकर लगभग उसी समय की कल की एलिजाबेथ का ध्यान आया। बहुत ही विलक्षण प्रतीत हुआ। निश्चय ही सामने बैठी नारी में नारीत्व किसी और से कम न था, पर वह तनिक भी मुझ पुरुष में उद्वेग का कारण न बना। प्रत्युत

१५. जयवर्धन—पृष्ठ १७, १४६, २७६

एक समाहित शुचिता और संताप का अनुभव हुआ। व्यक्तित्व के चारों ओर एक आदर्श का परिमण्डल था पर उससे भाव की भव्यता ही मिली।"[१६]

'जयवर्धन' की कथा डायरी के पृष्ठों में उपलब्ध होती है और ये पृष्ठ दार्शनिकता की एक स्पष्ट झलक देते है। इसमें प्राय पात्र डायरी के अनेक पृष्ठों में तर्क वितर्क करते हुए स्वयं उठाए प्रश्नों का उत्तर भी प्रस्तुत कर देते हैं। 'जयवर्धन' हिन्दी का ही नहीं, प्रत्युत भारतीय साहित्य का प्रथम उपन्यास है जो डायरी शैली में वर्णनात्मक शिल्प विधि में कलात्मक कौशल ला सका। उपन्यास दार्शनिक, राजनीतिक प्रश्नों की उहा-पोह में साधारण पाठक की पहुंच के बाहर भले ही हो, पर बौद्धिक वर्ग के लिए एक चुनौती लिए है—वह इसे डायरी कहे, उपन्यास कहे या फिर दोनों का समाहार। अवश्य ही इसमें गूढ़ विचारों, तर्कों, सिद्धान्तों, और नाना राजनीतिक प्रश्नों की बौछार हिन्दी के सामान्य पाठक को बौना बनाकर बैठा देती है और प्रबुद्ध पाठक को विचारों की क्षमता और सामग्री प्रदान करती है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास में एक बड़ा मोड़ है। इस शिल्प विधि को अपनाने वाला उपन्यासकार विषय-वस्तु, पात्र, विचार तथा वातावरण को नये ढंग से प्रस्तुत करता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से उपन्यासकार अखण्ड जीवन के विस्तृत क्षेत्र को त्यागकर उसके किसी एक पहलू को लेकर विशेषज्ञतापूर्वक उस पर प्रकाश डालता है। कथा संक्षिप्त होने लगी और कथाकार कथावहन के स्थान पर भाव एवं विचारवहन के कार्य में संलग्न हुआ। प्लाट प्रधान विषय वस्तु का ह्रास विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के विकास के साथ ही आरम्भ हुआ। उपन्यास की कथा में बाह्य क्रियाकलापों की कमी होने लगी। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों और आन्तरिक कारणों से ही कथा संबंध जोड़ने लगी। धीरे-धीरे कथा बाह्यात्मकता से मुक्त हो अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप पर आधारित हुई। मानव के बाह्य जीवन की लीला का वर्णन न कर उसके अन्तर्मन के आलोडन पर उपन्यासकार की दृष्टि केन्द्रित हुई। उसके अन्तर्मन में परस्पर विरोधी विचारों, घूर्णन, प्रतिघूर्णन, संघर्ष, तनाव, कुण्ठा, संत्रास, चिन्ता, आशंका की अभिव्यक्ति मिलने लगी।

वर्णनात्मक शिल्पियों ने समाज, इतिहास, अंचल, परिवार या राजनीति को उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया, विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के प्रणेताओं ने व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को विषय-वस्तु रूप में स्वीकार किया। एक बार व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन को लेकर ही इस शिल्प विधि का कथाकार अपनी इतिश्री नहीं समझ लेता, वह व्यक्ति का इतिहास नहीं देता, उसका अचेतन मन प्रस्तुत करता है और यदि उसका इतिहास देता भी है तो उसकी चेतन लीला अचेतन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित होती है। उपन्यास की मनोविश्लेषण वृत्ति ही मूल रूप से विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के नियामक तत्त्वों में से एक

१६ जयवर्धन—पृष्ठ २८६

है। दूसरा प्रमुख तत्त्व मनोविज्ञान शास्त्र का द्रुत गति से उभरा विकास है जिसने विश्व के आधे से अधिक कथा साहित्य को अपने अंचल में ले लिया है। इसी शास्त्र के अन्तर्गत अचेतन मन का अन्वेषण और उसके अध्ययन की विश्लेपणात्मक प्रणाली ने विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के स्रोत का राजमार्ग तैयार किया है। मनुष्य की अन्तश्चेतना में वर्तमान नाना ग्रन्थियां, विविध कुण्ठाएं, अनेक वासनाएं और प्रश्नों का बोध सूक्ष्म विश्लेपण द्वारा सहज हो जाता है। इस शिल्प-विधि के उपन्यासो में मूल केन्द्र कथा, घटना, या सामाजिक समस्या न होकर वैयक्तिक अन्तश्चेतना में वर्तमान कोई ग्रन्थि या स्थिति होती है जिसका संबंध अधिकतर हीनता या काम ग्रन्थि से होता है जो व्यक्ति विशेष के जीवन में विपर्यस्तता ला देती है और उससे असामाजिक, अवांच्छित कार्य कराती है जिसके कारण व्यक्ति का व्यवहार जटिल, विचित्र और अकल्पनीय लगता है।

मनोविज्ञान इस शिल्प-विधि का मूलाधार भी कहा जाता है। वैसे दर्शन-शास्त्र भी इसका उत्स माना जा सकता है क्योंकि इस विधि के उपन्यासों मे जहां एक ओर मनोविश्लेपणात्मक प्रसंगों की अवतारणा मिलती है, वहा दार्शनिक ऊहा-पोह से परिपूर्ण कथानक भी उपलब्ध होते हैं। इस विधि के कतिपय कथाकारों की रचनाएं तो केस हिस्टरी अथवा साइको-थरेपी मात्र कही जा सकती है। विशेष रूप से इलाचन्द्र जोशी पर यह आरोप है कि उनके उपन्यासों की कथा व पात्र अपने अन्तरंगी वैचित्र्य तथा केस हिस्टरी बन जाने के कारण उपन्यास से अधिक मनोविज्ञान शास्त्र बन गए हैं। मैं इस मत से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हूं। वस्तु स्थिति तो यह है कि श्री इलाचन्द्र जोशी इस शिल्प-विधि के प्रणेता हैं। उन्होंने मनोविज्ञान शास्त्र का अध्ययन हिन्दी के अन्य कथाकारों की तुलना में अधिक लगन के साथ करके इसे आत्मसात भी किया है। इसके कतिपय सिद्धान्तों की इन्होंने खुलकर आलोचना भी की है।

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि द्वारा उपन्यास की घटनाएं बाह्य संसार से हटकर मनस्तत्व में प्रवेश कर लेती है।...अतः उनमें सूक्ष्मता आ जाना अनिवार्य है। इस संबंध में डॉ० देवराज का यह कथन ठीक है कि इसमें मानवीय चेतना की निवृत्ति, उसकी तरलता, अनुरूपता, किसी रूप-रेखा को अपने प्रवेग से मटियामेट कर देने वाली आन्तिरिकता तथा प्राणवत्ता के स्वरूप को चित्रित करना उपन्यासकार का ध्येय होता है।[१७] इस विधि के उपन्यासों में कथा तत्त्व गौण होता है और जो होता है वह भी संगठित नही रहता। कार्य-कारण की शृंखला नियमित रूप से नहीं रहती। नये शैल्पिक ने घटनाओं में तारतम्य को नहीं स्वीकारा। विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के चरित्र-चित्रण में पात्रों के वैयक्तिक तत्त्व का पोपण हुआ करता है। यहां तक कि समाज और समस्या का विश्लेषण भी व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया जाया करता है। 'परख', 'लज्जा', 'सन्यासी', 'शेखर एक जीवनी' आदि उपन्यासों में हम वैयक्तिक पात्र योजना के दर्शन करते है। इन उपन्यासों के पात्रों को जब भी दो क्षण का अवकाश मिलता है। ये अन्तर्मन की अवस्था पर मनन करते है। 'संन्यासी' को ही लीजिए। शन्ति गमन पर

---

१७. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पृष्ठ ३१४

इस उपन्यास का नायक नरेन्द्रनाथ मनोविश्लेषण द्वारा अपनी मानसिक अवस्था का विश्लेषण करता है। "रह-रहकर केवल एक बात मेरे मन को अत्यन्त निर्ममता से आघात पहुँचा रही थी। वह यह कि शान्ति इस विशाल संसार में अकेली, एकदम अकेली पड़ गई और निःसम्बल अवस्था में अनन्त काल तक निरुद्देश्य भटकने के लिए निकल पड़ी है। कल तक वह मेरी थी, आज वह किसी की भी नहीं है। जीवन भर वह अथाह सागर में डूबती उतराती रही। जब किसी तरह तीर पर पहुँची तो एक एक तिनका चुन चुनकर बड़े कितने प्रयत्न और कितनी कठिनाइयों के बाद अपने लिए एक नीड़ का निर्माण कर पाई थी। आज आँधी के एक प्रबल झोंके से वह नीड़ नष्ट भ्रष्ट हो गया है, उसका एक एक तिनका शून्य में बिखर पड़ा है और उसमें वास करने वाली विहंगी अपने छिन्न पंखों से फिर अपार सागर पार करने की असम्भव चेष्टा में उड़ान भरकर चल पड़ी है। सोच-सोचकर अन्तस्तल से एक आकुल क्रन्दन रह-रहकर मर्म को चीरता हुआ ऊपर उठ रहा था।"[१८]

विश्लेषणात्मक कथा विधान

मनोविज्ञान को प्रश्रय देने के कारण विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यास का कथा-विधान भी परिवर्तित हो गया। सर्वप्रथम तो कथा में से इतिवृत्त तत्त्व का निकास आरम्भ हुआ और इसका स्थान मनोविज्ञान पर आधारित घटनाओं ने लिया। फिर ये घटनाएँ भी उपलक्षण मात्र रह गईं। प्रमुख स्थान आन्तरिक वृत्तियों को मिलता चला गया। इसीलिए दूसरी प्रधान प्रवृत्ति इस विधि के उपन्यासों की अन्तर्मुखी कथा योजना है। अब उपन्यास में अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect of experience) को अधिक महत्त्व मिलने लगा है। लेखक द्वारा वर्णित घटनाएँ अपनी प्रधानता त्यागकर अब पात्रों की मानसिकता में प्रवेश करके नाना द्वन्द्व और लीलाएँ दिखाने लगी हैं। अतः उसमें एक लोच आ गया है। इस विधि के कथाकार की मान्यता है कि भीतरी जगत अधिक विशाल व महत्त्वपूर्ण है। तभी तो वर्णनात्मक शिल्प विधि के कथानकों में उत्सुकता, रोचकता, संगठन आदि गुणों पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। इधर विश्लेषणात्मक विधि के उपन्यासों में सुसंगठित कथा-वस्तु के प्रति उदासीनता ही दृष्टिगोचर होती है। इस तथ्य का उद्घाटन डॉ० देवराज ने अपने थीसिस की इन पंक्तियों में किया है—'सुसंगठित कथा वस्तु के प्रति उदासीनता होती है, इसमें इस बात की इतनी परवाह नहीं होती कि कथा की कड़ियाँ इतनी बारीकी से मिलाई जाएँ कि कहीं भी जोड़ मालूम न पड़े। इसमें घटनाएँ गौण होंगी, उपलक्षण मात्र होंगी। उनके सहारे पात्रों के भावचक्र का खोलकर रखना ही उद्देश्य होगा। आंग्ल साहित्य में तो कथा की सुव्यवस्था (Orderly unfolding of plot) को छिन्न-भिन्न करके देखने वाले औपन्यासिकों का एक सम्प्रदाय ही है। पर हिन्दी में भी इसकी प्रतिक्रिया जैनेन्द्र, अज्ञेय, शिवचन्द्र तथा अचल जी के कुछ उपन्यासों में स्पष्ट दीख पड़ती है।"[१९]

---

१८ सन्यासी—पृष्ठ २३१

१९ आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पृष्ठ २९

कथा की अवधि और सामग्री में भी अन्तर आ गया है। अब कथा में जीवन की सामग्री व्यापक क्षेत्र से नही जुटाई जाती अपितु वह सीमित क्षेत्र से उपलब्ध हो जाती है। समाज, इतिहास और राजनीति के स्थान पर वैयक्तिक कुण्ठा अनेक प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करने के योग्य सिद्ध हो चुकी है। महाकाव्यों की सी विशाल कथाएं न सही; वीरों के से साहसिक चमत्कार न सही; खण्ड-काव्यों की सी ससीम कथाएं अपने दुर्बल चरित्र व्यक्तियों की जीवनी से नाना मनोग्रन्थियों, दमित वासनाओं, उन्मादों आदि की कथा जुटा पाई है। अवधिगत परिवर्तन भी द्रष्टव्य है। अब 'यूलिसस' के रूप में चौबीस घंटे की घटनाओं को ७०० पृष्ठों का वृहदाकार दिया जा चुका है। 'चांदनी के खण्डहर' में एक दिन और एक रात की कथा है। 'शेखर : एक जीवनी' में केवल एक रात को देखे गए विजन का प्रोक्षेपण है।

विश्लेपणात्मक कथा-विधान मे विस्तार का स्थान गहनता और वर्णन का स्थान विश्लेपण ने ले लिया है। घटना-विधान इस प्रकार संयोजित रहता है कि उसमें अन्तश्चेतना का मुक्त प्रवाह निर्बाध रूप में गतिमान रहे। इसमें कार्य-कारण परम्परा का पालन भी कम ही होता है। आदि, मध्य और अन्त का प्रतिवन्ध भी नहीं रहता क्योंकि इनका प्रभाव क्षेत्र वाह्य-जगत है, आन्तरिक जगत का इन नियमों की चिन्ता नहीं रहती। आन्तरिक जगत को पीठिका में रखने के कारण इस विधि का कृतिकार विश्लेपण के पर्दे के पीछे वहुत कुछ अनर्गल कह जाता है। इससे न केवल कथा की गति ही रुकती है, अपितु नैतिक मान्यताओं पर कुठाराघात भी होता है। सार्थक तारतम्य न केवल इतिवृत्त कथानक के लिए शोभायमान है, अपितु विश्लेपणात्मक कथावस्तु के सौंदर्य की भी श्रीवृद्धि करता है। इसका इस विधि के उपन्यासों में अभाव रहा है।

कतिपय आलोचक कहेंगे 'अवचेतन के लिए तो कुछ भी अनर्गल नहीं है।' सार्थकता का निपेध किसीको मान्य नही हो सकता। थोड़ी सावधानी वरतने पर अवचेतन की अनर्गल स्थिति पर भी सन्तुलित और कलात्मक ढंग से प्रकाश डाला जा सकता है। मनोविश्लेपण द्वारा कुत्सित से कुत्सित घटना में भी संतुलन रखकर उस विश्लेपण प्रसंग को सीमित रूप में रखा जा सकता है। विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के प्रणेताओं ने स्पष्ट रूप से यह अनुभव किया है कि घटनाएं मोती नहीं है जिन्हे पिरो कर हर हालत में एक हार तैयार करना ही चाहिए। आज जब कि जन-जीवन ही विशृंखलित है, मानव मन ही तार-तार हुआ जा रहा है और एक-एक तार अनेक गहराइयो मे डूवा है तब उन गहराइयों के विश्लेषण की ओर दृष्टि क्यो न डाली जाए। प्रेमचन्द और उनके स्कूल के लेखक वाह्य-जीवन की सीधी-सपाट सड़क के पथिक रहे है, विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के लेखक अन्तर्जीवन की संकरी सड़क के राही है जिनकी राह में अनेक अस्पष्ट पगडंडियां भी है, जिनका अन्वेपण ही इन शिल्पियों को अभीष्ट है। ये आन्तरिक व्यथा की वर्फ पर लेटे नायक और नायिकाओं की अन्र्मुखी प्रवृत्तियों के विश्लेपक है। वदलते युग में वदलती परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में जीवन को इन्होंने चित्रा है।

वैयक्तिक पात्र उद्भावना

वैयक्तिक पात्रों की उद्भावना विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की मौलिक देन है। वर्णनात्मक शिल्प विधि सामाजिक चरित्रों, विशेषकर वर्गगत पात्रों के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई, किन्तु इधर परिवर्तित शिल्प के लिए परिवर्तित उपादानों की आवश्यकता अनुभव हुई। इसीलिए वैयक्तिक चरित्रों को प्रस्तुत किया जाने लगा। व्यक्ति के प्रमुख हो जाने के कारण इस शिल्प-विधि के सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान हो गए हैं, किन्तु फिर भी चरित्र प्रधानता विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की मात्र विशेषता नहीं है, क्योंकि वर्णनात्मक उपन्यास भी चरित्र प्रधान हो सकता है—जैसे यादवेन्द्र शर्मा रचित 'दयदया' शुद्ध चरित्र प्रधान उपन्यास है किन्तु फिर भी वर्णनात्मक शिल्प विधि का ही उदाहरण है। अतएव विश्लेषणात्मक शिल्प विधि का प्रधान गुण उसमें वैयक्तिक तत्त्व का मिश्रण है। हमारी दृष्टि व्यक्ति पर टिकती है न कि उसकी चारित्रिकता पर।

वैयक्तिक तत्त्व का सन्निवेश हो जाने के उपरान्त व्यक्ति को उसकी समस्त कमजोरियों के साथ रखा-परखा गया है। अधिकतर यह अन्वेषण आत्म विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत होता है। इस तरह व्यक्ति के द्वारा उसके ही अन्तःकरण का अथवा उसकी अज्ञात चेतना में विद्यमान प्रवृत्तियों का ही अध्ययन नहीं होता अपितु समाज में वर्तमान वैसे ही लाखों प्राणियों की विषमताओं का पर्दाफाश हो जाता है। ये उपन्यास व्यक्ति के अहंभाव को नाना स्थितियों में प्रस्तुत करते हैं, उसकी एकात्मिकता को अनावृत करते हैं। ऐसा अहंभाव न केवल व्यक्ति का विनाश करता है, अपितु समाज के लिए भी खतरे की घण्टी सिद्ध होता है। इस ओर संकेत करते हुए जोशी ने लिखा है—"आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों ज्यों बढ़ती चली जा रही है त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चलता है। अपने तृप्त न होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक मुक्ति की चेष्टा में जब उसे पग पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आसपास के विनाश की योजना में जुट जाता है।"[1]

इस प्रकार इन वैयक्तिक पात्रों की शक्ति देखी जा सकती है, दुर्बलता भी पहचानी जा सकती है। ये केवल अपनी मानसिकता का परिचय ही नहीं देते, अपितु सामाजिक रोगों का भंडा भी फोड़ देते हैं। असाधारण और अपसाधारण पात्र योजना इस विधि में ही प्रयुक्त हुई है। नन्दकिशोर (संन्यासी में) और शेखर (शेखर : एक जीवनी में) रूपा (रज्जो में) आदि। अधिकतर पात्र या तो अपसाधारण हैं या असाधारण। इन उपन्यासों में व्यक्ति की असाधारण अथवा अपसाधारण स्थिति का अन्वेषण विश्लेषणात्मक विधि द्वारा करके यह सिद्ध कर दिया जाता है कि चेतन अवस्था की समस्त विकृतियों का मूल अवचेतनगत कुण्ठाएँ अथवा ग्रन्थियाँ होती हैं। आधुनिक सभ्यता के नव विकास ने केवल समाज के बाह्य जीवन में ही दुरूहता नहीं भरी है, अपितु व्यक्ति

---

२० विवेचना—पृष्ठ १२४

के अवचेतन में नाना कुण्ठाओं का सृजन भी कर दिया है। प्रखर अन्तर्दृष्टि रखने वाला वैश्लेषिक उपन्यासकार अन्तश्चेतना में सतत चलने वाले द्वन्द्व को सहज रूप मे पकड़ लेने के लिए वैयक्तिक कुण्ठा की खोज करता है। फिर व्यक्ति की कुण्ठित मनोवृत्ति की गाठे खोलने में ही उसका ध्यान केन्द्रित रहता है, और वाह्य संसार मे होने वाली घटनाओं और पात्रों की विशेषताओं को वह भूल जाता है।

वैयक्तिक कुण्ठा की प्रतिक्रिया का विश्लेषण जोशीजी ने अपने एक लेख 'साहित्य में वैयक्तिक कुण्ठा' में किया है। उसी निबन्ध में वे एक स्थल पर लिखते है—"वैयक्तिक कुण्ठा की प्रतिक्रिया मोटे तौर पर दो रूपों में होती है। एक तो यह कि कुंठित व्यक्ति जीवन से हारकर भीतर की और वाहर के संघर्ष से कतराकर इस हद तक जड़ बन जाए कि उस स्थिति से उबरने की कोई प्रवृत्ति ही उसमे शेष न रहे। दूसरा यह कि कुंठित भावनाएं विद्रोह का रूप धारण कर ले। यह विद्रोह भी दो रूपों मे अपने को व्यक्त कर सकता है—एक तो भीतर की और बाहर की परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट विद्रोह और कुंठित मनःस्थिति से उबरने और ऊपर उठने का सक्रिय प्रयत्न; दूसरा आत्म विद्रोह जो विद्रोह का विकृततम रूप है।"[२१] जोशी द्वारा किया गया यह विश्लेषण वैज्ञानिक है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में इसके उदाहरण मिलते है। जोशी कृत 'लज्जा' उपन्यास में नायिका की असाधारण जड़ अवस्था प्रथम रूप का उदाहरण है। दूसरी अवस्था के दो रूप हैं—परिस्थितियों के प्रति सचेष्ट विद्रोह करनेवाला असाधारण वैयक्तिक चरित्र शेखर : एक जीवनी का नायक स्वयं शेखर है। दूसरा रूप आत्म-विद्रोह का विकृततम रूप 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ है। पारसनाथ अपने विकृततम विद्रोह के कारण अपने चारों ओर के वातावरण को अपने भीतर के तेजाबी विष से जलाने और गलाने, स्वस्थ प्रवृत्तियों को कुचलने और विकृत प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्तियों का नंगा खेल खुल-खेलने में ही जीवन की सार्थकता मानता है।

चिंतन प्रधान वातावरण

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास दार्शनिक प्रश्नों से आवृत्त रहने के कारण चिंतन प्रधान वातावरण प्रस्तुत करते हैं। दार्शनिकता का आग्रह आज के उपन्यास की विशेषता बन चुकी है। वैसे तो हेनरी जेम्स ने ही उपन्यास को विचारों का वाहक मान लिया था, किन्तु आज यह विचार मूलकता जीवन-दृष्टि मे परिवर्तित हो चुकी है। टॉलसटाय, ऐन्द्रे जीद आदि उपन्यासकार कथा को जीवन-दर्शन सम्बन्धी ऊहापोह का साधन बनाते गए। प्रेमचन्द ने उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र कहकर जीवन चित्रण को प्रमुखता दी थी, किन्तु आज का विश्लेषणवादी उपन्यासकार जीवन की समीक्षा को ध्येय मानकर विश्लेषणात्मक प्रयोगों में जुटा हुआ है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासो मे बढ़ती हुई दार्शनिकता के आग्रह का एक उदाहरण दिया जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर बुद्धि-जीवी प्राणी है।

---

२१. देखा-परखा—पृष्ठ ६५

वह यात्रा कर रहा है कि उसके स्मृति पट पर कुछ संस्मरण उभर आते हैं। वह सोचता हुआ कहता है, "नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ पर डूबा था, शावनकार भी क्या है सिवाय इसके कि वहाँ शारदा थी और वह उससे लड़ आया? अब वह नहीं रहेगा, तब ये स्थान भी नहीं रहेंगे। ये सब इसलिए हैं कि इनमें वह है और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है। क्या यह सब सत्य है? क्या ये स्थान सत्य हैं? क्या वे सब लड़ाई-झगड़े, प्यार, तिरस्कार, सत्य हैं? क्या वह खुद सत्य है? गाड़ी उसे खींचती हुई दौड़ी चली आ रही है, उससे लगता है कि कुछ भी सत्य नहीं है, शायद गाड़ी का दौड़ना भी सत्य नहीं है।"[22]

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासकार को कथा विस्तार और घटनाओं की ऊहापोह में चिंतन का अवकाश अपेक्षाकृत कम ही मिलता है। इधर विश्लेषणात्मक उपन्यासकार कथा को सीमित कर प्रत्येक घटना के साथ-साथ चिंतनमय वातावरण का सृजन करता चलता है। चिंतन के लिए एकांत और अन्तर्मुखी वृत्ति सुविधा जुटानेवाले तत्व हैं। विश्लेषणात्मक विधि के उपन्यासों में नायक केवल एकान्तवास का अवसर ही नहीं पाते, अपितु उन क्षणों का सदुपयोग करके अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य पर मनन भी करते हैं। चिंतन विश्लेषण के लिए पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करता रहता है। युग का जितना दार्शनिक दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक विधि के उपन्यास में प्रतिफलित हुआ है, अन्यत्र किसी विधि में प्राप्य नहीं है। इसीलिए कहीं-कहीं विश्लेषणात्मक प्रसंग एक ओर बौद्धिक अनुचिंतन में संलग्न रहते हैं, तो दूसरी ओर कथा में गत्यवरोध उपस्थित कर देते हैं।

शैली

विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रश्रय आत्म कथात्मक शैली को प्राप्त हुआ है। जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय की प्रसिद्धतम वैश्लेषिक कृतियाँ इसी शैली में रची गई हैं। इस शैली में एक या दो पात्र कथा का सूत्र स्वयं पकड़कर उसका संचालन करते हैं। मानव मन की ग्रन्थियों को मानव स्वयं जितने स्पष्ट रूप में पहचान सकता है, अन्य प्राणी नहीं जान पाता। अतएव इस शैली को अपनानेवाला कथाकार मनःस्थिति के सूक्ष्म रूप को संतुलित रूप में अभिव्यक्त कर सकता है। अन्य पुरुष शैली में लिखनेवाले कथाकार को सदैव एक कल्पना करनी पड़ती है, उसे पहले कल्पना द्वारा अमुक पात्र के मन में प्रवेश करना होता है, फिर उसका उल्लेख करना होता है। अतः उसका कार्य दुष्कर हो जाता है।

जितने भी उपन्यास अहं विश्लेषण के धरातल पर रचे गए हैं उन सभी को आत्म कथात्मक शैली का आश्रय मिला है। आत्म विश्लेषण के भाव को इसी शैली में पूर्ण तीव्रता प्राप्त हो सकती है। तभी तो जोशी के 'लज्जा' और 'संन्यासी' इस शैली में अवतरित हुए। कहानी कहना इस शैली के कथाकार का उद्देश्य भी नहीं होता। वह तो

---

२२ शेखर : एक जीवनी—भाग २ पृष्ठ ६

वैयक्तिक पात्रों को लेकर चलता है। उनके अवचेतन स्तर की अवस्था का चित्रण करने के लिए जिन-जिन परिस्थितियों की आवश्यकता पड़ती है उन्हें कल्पना एवं अनुभूति के आधार पर निर्मित कर लेता है। इस शैली में कथा कहनेवाले पात्र घटनाओं में तारतम्य लाने के लिए उत्तरदायी नहीं होते। कथा अखण्ड रूप में चले या खण्डित हो जावे, इसकी कोई चिन्ता ही नहीं रहती; सबसे अधिक चिन्ता अवचेतन में कुण्डली मारकर बैठी हुई कुण्ठा के विश्लेपण की रहती है। साधारण से साधारण; तुच्छ से तुच्छ लगनेवाली बात की भी खोज-बीन की जाती है; इसके लिए भाषा में गति रहे या न रहे, इसकी चिन्ता कथाकार को नहीं होती। इस सम्बन्ध मे संन्यासी का विवेचन करते हुए श्री यदुपति सहाय लिखते हैं—"जोशीजी की शैली अपनी शक्ति को चलती हुई, मुहावरेदार और लचीली भाषा में व्यक्त नही करती। इसके पहले कि वह अपने शिल्प की जादूगरी से हमें मुग्ध कर सकें, यह आवश्यक होता है कि विषय-वस्तु का स्तर कुछ ऊंचा उठाया जाए, उसे एक स्वप्निल उदारता प्रदान की जाए। फिर भी कहीं-कही इस उदात्तता के साथ भी, उनकी शैलीगत तन्मयता छूट जाती है जैसे कल्पना की इस कवि-सुलभ उड़ान के बीच उन्हे फिर वही कर्दमपूर्ण यथार्थ याद आ गया हो, और तब शैली के एकता भंग हो जाती है। इसका परिणाम कभी-कभी एक विचित्र भावात्मक स्खलन होता है, जो अखरता है। उदाहरणतः अत्यन्त गम्भीर और विपादपूर्ण स्थिति मे भी जोशीजी अपने को लिखने से रोक नहीं पाते : "लाचार कफ़ू की तरह मुह बनाकर वहीं बैठ गया।" या उसी प्रकार का एक दूसरा अत्यन्त गम्भीर और जबरदस्त भावात्मक तनाव का स्थल वह है जब नन्दकिशोर के बड़े भाई सहसा प्रयाग आ जाते है और उसकी समस्त प्रेम-लीला को छिन्न-भिन्न करके उसे घर चलने का आदेश देते है। सम्भवतः यह स्थल उपन्यास का चरमोत्कर्प भी है। जोशीजी की लेखनी अपने पूरे प्रवाह और शक्ति के साथ स्थिति का चित्रण करती है। तभी सहसा हमें मिलता है "भैया इस बात से मेरी चिन्ता का जो तार बज रहा था वह टूट गया और एक नया तार पिन्न-पिन्न करने लगा।"[२३]

शैली के क्षेत्र में इस प्रकार के दोप विश्लेपणात्मक शिल्प योजना के दोप माने जावेंगे। वास्तव मे शैली तो साधन का भी साधन है। साध्य तो इसे मान ही नही सकते; साध्य तो कथा या जीवनगत स्थिति की व्याख्या ही रहती है। वर्णनात्मक शिल्प में कथा और विश्लेपणात्मक विधान में जीवनगत स्थिति ही साध्य होती है। साधन तो स्वयं शिल्प है और शैली शिल्प का भी साधन है। इस प्रकार किसी प्रकार के प्रवाह या अवरोध का कारण शैली इतनी नहीं है जितना कि शिल्प। वैश्लेपिक शिल्प में मनोवैज्ञानिक तथ्यों का स्पष्टीकरण ही मुख्य उद्देश्य रहता है, अतः कही-कहीं भापा और शैली में अवरोध आ जाना स्वाभाविक माना जावेगा, किन्तु यही अवरोध यदि वर्णनात्मक शिल्प की रचनाओं में दिखाई पड़े तो दोष बन जावेगा; क्योंकि वर्णन के समय एक स्वाभाविक प्रवाह होता है। जिसे भापा और शैली पूर्ण गति दिया करते हैं।

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. मनोविज्ञान प्रधान विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि

---

२३. आलोचना उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ १२२-२३

२ दर्शन प्रधान विश्लेषणात्मक शिल्प विधि
३ चेतना प्रवाहवादी विश्लेषणात्मक शिल्प विधि
४ पूर्वदीप्ति शिल्प विधि (Flash back technique)

मनोविज्ञान प्रधान विश्लेषणात्मक शिल्प विधि

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासो म मनोविज्ञान प्रधान विधि ही सर्वाधिक प्रचलित है। इसम मनस्तत्व की प्रधानता होती है। वैयक्तिक चेतना और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओ का अध्ययन इस विधि द्वारा अधिक सुगम हो गया है। ऐसा इसलिए हुआ है क्योकि अब मन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करके उसके तीन रूप (चेतन, अवचेतन, अचेतन) मान लिए गए है। मन की स्वतन्त्र सत्ता के पक्ष म इलाचन्द्र जोशी द्वारा 'प्रेत और छाया' की भूमिका म दिए गए वक्तव्य का यह अश पर्याप्त होगा—"आधुनिक मनोविज्ञान ने अत्यन्त परिपुष्ट प्रमाणो स यह सिद्ध कर दिया है कि मानव मन के भीतर की अतल गहराई म एक ऐसा गहन रहस्यमय अपार और अपरिमित जगत वर्तमान है जिसकी अपनी एक निजी स्वतन्त्र सत्ता है। यह जगत किसी भी बाहरी—आर्थिक अथवा सामाजिक—अनुशासन स परिचालित नही होता।" ²⁸

इस विधि का अपना कर उपन्यासकार असाधारण और असाधारण-व्यक्ति को अपनी कथा का नायक चुनता है फिर उसके अन्तरजीवन के द्वन्द्वो का वैज्ञानिक चित्रण करता है। इसम बाह्य जीवन चक्र की घटनाओ का मूल भी अन्तश्चेतना की प्रक्रिया द्वारा प्रकाश म लाया जाता है। उदाहरण स्वरूप जोशी की प्रसिद्ध रचना 'प्रेत और छाया' को ही लें। सारी कथा के मूल में काम ग्रन्थि है। यही पारसनाथ के चेतन मन का विघटन करती है। ईडिपस ग्रन्थि द्वारा पिता पुत्र सघर्ष होता है और पारसनाथ पिता को छोड़कर प्रतिशोध की भावना लेकर चल पड़ता है। अपने अस्त-व्यस्त और उच्छृंखल जीवन में वह भली भाति परिचित है। वह डटकर स्त्रीत्व हरण करता है। कुमारियो की ही नहीं वरन् विवाहिता को भी भ्रष्ट करता है। क्योकि उसका अन्तर्मन कहता है कि यदि उसकी मा कुलटा थी तो समस्त स्त्री जगत वेश्यावृत्ति अपनाए है। लेखक ने घटना चक्र को पारसनाथ की अन्तश्चेतना के साथ साथ घुमाया है और पिता द्वारा उसकी मनोग्रन्थि खोलकर जीवन को स्वस्थ पथ पर अग्रसर कराया है।

मनोविश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचनाओ म काम-ग्रन्थियो के अतिरिक्त अन्य प्रकार की ग्रन्थियो का भी महत्त्व होता है। मानसिक रोगो के विश्लेषण कार्य को फ्रायड के अतिरिक्त उसके दो शिष्यो एडलर और युग ने आगे बढ़ाया है। उन्होंने फ्रायड के कुछ सेक्स सबधी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का तीव्र विरोध करके अपने सिद्धान्तो की स्थापना की है। एडलर ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि व्यक्ति की विशिष्ट पारिवारिक या सामाजिक परिस्थितियाँ ही उसकी मानसिक स्थिति के लिए उत्तरदायी होती हैं। विशिष्ट परिस्थितियाँ ही उसमे हीनता अथवा उच्चता की ग्रन्थि उत्पन्न कर

२८ प्रेत और छाया—पृष्ठ १

देती हैं। इस हीनता की ग्रन्थि (Inferioty complex) की कुछ मनोविश्लेपणात्मक विधि के उपन्यासों में काफी चर्चा रही है। जोशी कृत 'जहाज का पंछी', जैनेन्द्र रचित 'त्याग-पत्र' और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे इसके उदाहरण भरे पड़े है। हीनता का बोध होने पर हीनता जनित क्षति की पूर्ति के लिए चेतन मन जो कार्य करता है, वही इन उपन्यासों की कथा का आधार होता है। 'सुबह के भूले' मे गिरिजा को जब हीन भावना की अनुभूति होती है, तभी उसके मन में मनोद्वन्द्व की एक बाढ़ सी आ जाती है। मनोविश्लेपणात्मक प्रक्रिया द्वारा ही वह आत्मपरिष्कार करती है।

युंग का सिद्धान्त फ्रायड और एडलर दोनो से अलग प्रकार का है। युग ने अपने सिद्धान्त में वैयक्तिक अवचेतन के साथ-साथ सामूहिक अवचेतन का प्रश्न उठाया है। उसके मतानुसार अवचेतना की अन्धशक्तियो के संतुलन के लिए आध्यात्मिक शक्तियों को जगाने की आवश्यकता है। फ्रायड, एडलर और युग तीनों का लक्ष्य एक ही है, वह है—विश्लेषणात्मक विधि द्वारा अन्तश्चेतना की अन्ध शक्तियो मे सन्तुलन उत्पन्न करना। इस कार्य को केवल पाश्चात्य मनोवैश्लेपिक ही नहीं कर रहे है, हमारे यहा भी यह कार्य सम्पन्न हुआ और जिस भव्यता के साथ हुआ उस पर प्रकाश डालते हुए श्री इलाचन्द्र जोशी लिखते है—"हमारे यहां के प्राचीन योगशास्त्री मनोवैज्ञानिक सत्य की जिस अतल गहराई तक पहुच गए थे और जिस ऊचाई तक उसे उठाने मे समर्थ हुए थे, उसका क्षीण-तम आभास भी अभी तक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक नही दे सका —

योगस्थ: कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय
सिद्धयसिद्ध्यो समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।"[२५]

दर्शन प्रधान विश्लेषणात्मक शिल्प विधि

इस विधि के अनुसार कथानक और पात्रों को बौद्धिक प्रश्नों से आवृत्त करके विश्लेषणात्मक रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। जैनेन्द्र और अज्ञेय इस धारा के प्रतिनिधि उपन्यासकार है। जैनेन्द्र के 'परख', 'त्याग पत्र' और 'कल्याणी' विशिष्ट रूप से दार्शनिक प्रश्नों को लेकर चले है, जिसके कारण कहीं-कही तो कथा तत्त्व गौण हो गया है और उपन्यासो में दार्शनिकता की गन्ध आने लगती है। इस विपय मे उपन्यास संबंधी जैनेन्द्र के विचार पठनीय है। परख की भूमिका मे वे लिखते है—"उपन्यास में जैसी दुनिया है, वैसी ही चित्रित नही होती। दुनिया का कुछ उठा हुआ, उन्नत, कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है।···उपन्यास का काम है, कुछ आगे की, भविष्य की संभावनाओं की जरा झाकी दिखाना और जो कुछ अब है, उसकी तह हमारे सामने खोलकर रख देना। उपन्यास एक नये, अजीब ही ढंग से रंगे और उपादेय जीवन का चित्र हमारे सामने रखता है। जीवन के साधारण कृत्य और उलझी गुत्थियों को सुलझाकर और खोल-खालकर रख देता है।"[२६]

---

२५. 'देखा-परखा' में संकलित 'मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' नामक निबन्ध से उद्धृत—पृष्ठ ४३-४४

२६. 'परख' की भूमिका से अवतरित

जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यासों में बौद्धिक तत्व का अन्वेषण हुआ है। दार्शनिकता तो उनके एक एक कथानक में चित्र के भाव के समान गुम्फित रहती है। दार्शनिकता को प्रश्रय देने के निमित्त इन कथाकारों ने कहानी की कड़ियों को तोड़-मरोड़ डाला है। यहीं पाठक को कल्पना का आश्रय लेकर कुछ अनुमान लगाने पड़ते हैं। अपने अपने उपन्यासों में जैनेन्द्र ने यह दार्शनिक विचार दिया है कि रुकना नाम ज़िन्दगी नहीं है। रुकना मृत्यु है। चलना ही जीवन है आदि-आदि। बौद्धिक प्रश्नों से आवृत्त रचना 'परख' में कट्टो कहती है—

'लेकिन एक बात है। सोती हूँ तो आकाश गंगा को ऊपर खिलखिलाते देखती हूँ। वह हम पर नीचे को देखती रहती है। हमारी जगत की यह गंगा भी ऐसे ही ऊपर को देख देखकर बहती रहती और हँसती रहती है। मुझे लगता है कि वे दोनों गंगाएँ एक-दूसरे को देख-देखकर ही जीती हैं। इस सारे अनन्त शून्य-किसी गणना में न आ सकने वाले आकाश को भेदकर इनकी हँसी एक-दूसरे को परस्पर कुशल-क्षेम दे आती है। दोनों का मन एक है। नियम एक है। मालूम होता है, दोनों आपस के समझौते से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि दोनों एक ही उद्देश्य को दो जगह पूरा करें। दूर है, फिर भी पास हैं। अलग हैं, फिर भी एक हैं। बिहारी बाबू क्या यह नहीं हो सकता—क्या हम भी दो ऐसे नहीं हो सकते? दूर फिर भी बिल्कुल पास।"[२७]

चेतना प्रवाहवादी विश्लेषणात्मक शिल्प विधि

चेतना प्रवाहवादी विधि को अंग्रेज़ी में (Stream of Consciousness) कहते हैं। इस शब्द का प्रयोग सबसे पहले विलियम जेम्स ने किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकॉलोजी' (Principles of Psychology 1890) में लिखा है—"मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवाहित होनेवाले जल प्रवाह के रंग में डूबी रहती है। इस मूर्ति को सार्थकता और महत्त्व प्रदान करने वाली वस्तु यही ज्योतिर्वलय या कहिए छायावेष्टित ज्योति है जो सरक्षक भाव से सदा उसे घेरे रखती है। चेतना अपने समस्त छोटे मोटे टुकड़ों में कट कर उपस्थित नहीं होती, इसमें कहीं जोड़ नहीं, यह प्रवाहमय होती है। इसे हमें चेतना के विचार का या आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह ही कहना चाहिए।"[२८]

---

२७ परख—पृष्ठ ७४

28 "Every definite image in the mind is sceped and dyed in the free water that flows round it The significance, the value of the image is all in this halo or penumbra that surrounds and escorts it Consciousness does not appear to itself Chopped up in bits It is nothing jointed it flows Let us Call it the Stream of thought of Consciousness or subjective life

"An Assessment of Twentieth Centuary Literature" p ९९

अंग्रेजी साहित्य में इस धारा के प्रवर्त्तक वर्जिनिया वुल्फ, जेम्स ज्वाइस और डोरोथी रिचर्ड्सन हैं। हिन्दी के क्षेत्र में प्रभाकर माचवे रचित 'परन्तु' नामक उपन्यास ही इस धारा की प्रतिनिधि रचना है। आलोचना के क्षेत्र में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सिन्क्लेयर Miss Sinclaire ने डोरोथी रिचर्ड्सन के उपन्यास पॉइन्टेड रूफ (1915) Pointed Roof का रिव्यू करते समय किया था। उन्होंने इसका प्रयोग उस नवीन विधि के अर्थ में किया है, जिसके द्वारा एक क्षण से दूसरे क्षण की ओर प्रवाहमान चेतना को अभिव्यक्त किया जा सके। इसमें कथाकार की ओर से कहीं भी विश्लेपण करने, टीका टिप्पणि करने या व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं होता। उपन्यास के चरित्रों की बौद्धिक चेतना में हम प्रवेश कर जाते हैं—हम उन्हें भीतर से देखते हैं। इसमे भावों के स्वच्छन्द सम्मिलन (free association) की सुविधा रहती है। किसी भी चरित्र के मस्तिष्क में वर्तमान गृहीत विम्ब का सम्बन्ध अतीत जीवनगत स्मृतियों से जोड़ा जाता है।

पूर्व-दीप्ति विश्लेषणात्मक-विधि (Flash-back Technique)

पूर्व-दीप्ति विधि विश्लेपणात्मक-विधि का ही एक नया रूप है। इसमें उपन्यासकार कथा को पात्रों के मस्तिष्क में उठी हुई स्मृति लहरों के रूप में प्रस्तुत करता है। कथा आत्म-विश्लेपणात्मक शैली मे प्रस्तुत की जाती है। उपन्यासकार वर्तमान से सम्बद्ध या उसे सार्थकता प्रदान करने वाली जीवन स्थिति को पात्रों के स्मृति खंडों के रूप में बिखेरता चलता है। पात्र कथा कहते-कहते अकस्मात प्रसंग के सूत्र को किसी विगत घटना के सूत्र से जोड़ देते है, जिससे कथा की गति बनी रहती है।

पूर्वदीप्ति-विधि में मनोविज्ञान का समावेश एक आवश्यकता है। इस विधि के उपन्यास वास्तव मे किसी मानसिक स्थिति के आधार पर खडे होते है। कथानक का निर्माण वहिर्जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत को दृष्टिगत रखकर किया जाता है। कथा का आरम्भ एक शब्द विशेप अथवा स्मृति विशेप पर आधारित होता है। स्मृति भी साधारण नहीं, अपितु असाधारण होती है जो प्रतिपल व्यक्ति विशेप के अन्तर्मन को आन्दोलित करती रहती है। कथा का आरम्भ विश्लेषणात्मक प्रसंग के साथ-साथ होता है। इलाचन्द्र जोशी के प्रथम दो उपन्यासो की आरम्भिक पंक्तियां इस मत का प्रमाण है, जिन्हें उद्धृत किया जाता है—"घृणा! घृणा! मेरी सारी आत्मा आज घृणा के भाव से ओत-प्रोत है। मुझ हत्यारी नारी ने आज समस्त प्रकृति को, सारे विश्व को अपने अन्तस्तल की घृणा से लोप-पोतकर एकाकार कर दिया है। इस अनन्त सृष्टि का अस्तित्व ही आज मेरे लिए केवल घृणा को लेकर है। स्त्री का रूप देखते ही घृणा से मेरा खून खौलने लगता है; पुरुष की छाया से भी मेरा हृदय जर्जरित हो उठता है।···इस घृणामयी नारी की क्या गति होगी। किस विकराल अन्धकारमय, निविड़ अवसादमय गहन गह्वर की ओर इस क्रूरा, उत्तेजिता, हिंसामयी रमणी को तुम ढकेले लिए जाते हो! हे मेरे अदृश्य देवता! इस विपुल शून्य की अनन्त छाया में क्या कही भी मेरे लिए त्राण नही है।"[२९]

---

२९. लज्जा—तृतीय संस्करण—पृष्ठ ५

" पर मैं पापी सदा आलस्यमय जीवन बिताने के बाद अन्त को जब भाग्य की विडम्बना से अकस्मात सन्यासी बन बैठा और देश-माता के वीर पुत्रों की प्रेरणा से लहर में आकर एक ओजीली वक्तृता देने के कारण जेल के अन्दर ठूस दिया गया, तो उस परास्त अवस्था में किसकी व्याकुल आत्मा का हाहाकार चट्टानों पर पछाड़ खाती हुई तरंगिणी के गर्जित क्रन्दन के समान मेरे हृदय को हिलाने लगा ? किसकी निपट निस्सहायावस्था की कल्पना में रह-रहकर पागलों की तरह छटपटाने लगा।"[30]

इस स्मृतिपरक विश्लेषणात्मक प्रसंगों को पढ़ते ही पाठक की उत्सुकता जाग उठती है। उसकी उत्सुकता निवृत्ति हित कथाकार पूर्व दीप्ति-विधि द्वारा कथा सूत्र को प्रधान पात्र के कर में सौंप कर उसी के द्वारा उसके विगत जीवन का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। इस विधि की एक विशेषता यह भी है कि यह अधिकतर वैयक्तिक तत्त्वों से परिपूर्ण कल्पनातीत मनोविश्लेषणात्मक प्रसंगों से अवतीर्ण होकर, पात्रमुखोद्गारित आत्म कथा के रूप में प्रस्तुत होती है। आरम्भ सदैव वैचित्र्यपूर्ण ढंग से कौतूहल वर्धन करने वाला होता है किन्तु कथा-कौतूहल श्रृंखला गौण हो जाने के कारण अपूर्ण रह जाता है। व्यक्ति विश्लेषण के बाहुल्य और विचार चिंतन के आधिक्य के कारण रहा-सहा कौतूहल भी अतृप्त रह जाता है। इस विधि की रचनाओं में पात्रों का वर्तमान अतीत से सम्बन्धित अनुभूतियों और घटनाओं के आधार पर होता है। अतः इसमें अतीत का महत्त्व अक्षुण्ण रहता है।

प्रतीकात्मक शिल्प विधि

प्रतीकात्मक शिल्प विधि के पीछे शब्द 'प्रतीक' की अमोघ शक्ति है। जब किसी मनोद्गार को अभिधा शक्ति द्वारा प्रस्तुत करना असाध्य प्रतीत होता है, तभी इसकी योजना की जाती है। प्रतीक योजना द्वारा वस्तु को अप्रत्यक्ष रखकर केवल अभिभावक के माध्यम से परोक्ष और अतीन्द्रियता की सीमा से खींचकर निकटस्थ ले आया जाता है। प्रतीक हमारे विभिन्न अनुभवों में युक्त होने के कारण अदृश्य, अगोचर और नितान्त गुह्य मनोभावों को भी साकार, मूर्त रूप देते हैं। आदि काल से ही प्रतीक प्रयोग होते रहे हैं, किन्तु ये अधिकतर कविता और नाटक के क्षेत्र में ही हुए हैं। नाथ पंथियों, सिद्ध योगियों, कबीर और जायसी आदि ने अपने-अपने काव्य में प्रतीकों का यथेष्ट प्रयोग किया है। यूरोपीय प्रतीकवाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस में हो गया था। बर्लेन, रिम्बो, मलार्मे और मेटरलिंक प्रतीक आन्दोलन में अग्र स्थान रखते हैं। प्रतीकवाद फ्रांस में जोला के प्रकृतवाद के प्रति प्रतिक्रिया रूप में सामने आया। इस संबंध में आलोचक शिवदानसिंह चौहान लिखते हैं—"प्रतीकवादियों ने साहित्य या कला में प्रकृतवाद और रूपगत रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके प्रतीकों के माध्यम से भावों, विचारों और मनःस्थितियों को अभिव्यक्ति देने पर जोर दिया और इसके लिए बात सीधे न कहकर सांकेतिक भाषा में व्यक्त करने की प्रथा ही अपनाई।'[31] चौहान जी का यह कथन सत्यपरक है।

३० सन्यासी—पृष्ठ १

३१ आलोचना के सिद्धान्त—पृष्ठ १४७-१४८

प्रतीक-विधि में बात सीधी नहीं कही जाती, कुछ प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता है। अमूर्त को प्रकट करने के लिए रूपकों की सृष्टि करनी होती है। सांप शब्द का प्रयोग दुष्टता, कपट, और मायावी रूप में होता है। 'चांदनी के खण्डहर' आशाओं, कल्पनाओं और स्वर्णिम स्वप्नों के लुट जाने की ओर संकेत करते हैं। अनेक बार सांकेतिकता, अस्पष्टता और दुरूहता का स्थान ग्रहण कर लेती है, वहीं कृत्रिमता का आभास होने लगता है, किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। प्रतीकों को समझने के लिए पर्याप्त बौद्धिकता का होना नितान्त आवश्यक है। इसके बिना प्रतीक-विधि का न तो प्रयोग ही सम्भव है और न ही पाठक के लिए मूर्त बिम्बों को ग्रहण करना सहज कार्य है। प्रतीक योजना पर अन्य मात्रा में स्पष्टता का अभियोग भी लगाया गया है और इसे स्वाभाविक जताया गया है। एक आलोचक लिखते हैं—"प्रतीकों में सूक्ष्म निर्देशन की जो शक्ति होती है उसकी कोई सीमा नहीं। किसी निर्देश से उसका कार्यकारण संबध नहीं है, अतः प्रतीकात्मक कथन मे संकेतात्मकता के बाहुल्य के साथ-साथ सामान्य जनों के लिए अस्पष्टता की प्रतीति भी स्वाभाविक है।"[३२]

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे उपन्यासकारों ने अपने भावों और विचारों की अधिकतम अभिव्यक्ति के माध्यम रूप में गहण किया है। भावों और विचारों की ऊहा-पोह मे न उलझकर ये उपन्यासकार मानसिक स्तर को साधारण से कुछ ऊंचा कर एकाग्रचित होकर अपने अनुभवों को भिन्न-भिन्न संकेतों के द्वारा अभिव्यक्ति देते हैं। प्रबल वेगयुक्त भावधारा साधारण भाषा और शैली की अपेक्षा न रखकर रूपको और प्रतीकों की बाट जोहती है, रूपक और प्रतीक में भी एक अन्तर है। रूपक का प्रयोग केवल अप्रस्तुत वस्तु अथवा अर्थ का आरोप करके भाव अभिव्यक्ति पाता है, जबकि प्रतीक प्रस्तुत वस्तु और अर्थ को सांकेतिक भाषा मे शब्दबद्ध कर देने वाला विधान है। पश्चिम के प्रसिद्ध प्रतीकवादी मलार्मे ऐन्द्रिता को प्रमुख मानकर इन्द्रिय चेतना के प्रबल समर्थक बने। उन्होंने एन्द्रियजनित रोमाच को संकेतों द्वारा व्यक्त किया। इधर हिन्दी के प्रतीकवादी उपन्यास-कारो ने जीवन का मूल्यांकन ही प्रतीकात्मक-विधि से किया है। उन्होंने मनुष्य को दीखने वाले स्वप्नो में प्रतीक खोज निकाले है। उन्होंने छाया का पीछा किया है और उसे भाषा दी है, चांदनी से बातें की हैं और मूर्त में से अमूर्त को लाकर पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। मध्यवर्ग की आवश्यकताओं को, मान्यताओं और रूढियों को प्रतीकात्मक-विधि के उपन्यास साहित्य ने स्पष्ट रूप मे लाकर हमारे बीच रख दिया है। 'बूंद और समुद्र' में व्यक्ति और समाज की रूपरेखा खींची है। 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति की विश्व और समाजगत क्षुद्रता प्रकट की है। इस विधि के उपन्यास मे विषय, वस्तु-विन्यास, व्यक्ति, वाणी, वातावरण, विचार सब प्रतीक के आश्रयी बनकर अभिव्यक्त होते है।

नाटकीय शिल्प-विधि

परिस्थिति, घटना और चरित्र का एक दूसरे के संघात में उद्घाटन करने वाले उपन्यास अभिनयात्मक अथवा नाटकीय शिल्प विधान के अन्तर्गत आते हैं। संख्या की

३२. डॉ० रामअवध द्विवेदी—काव्य में प्रतीक विधान—आलोचना (३३) पृष्ठ २६

दृष्टि में इनका स्थान गौण है किन्तु प्रभाव और महत्त्व की तुला पर ये अपूर्व हैं। इस विधि के उपन्यासों में जो आकर्षण शक्ति है, वह अन्य प्रकार के उपन्यासों में कहीं अधिक है। इन्हें पढ़ते समय पाठक का ध्यान प्रत्येक परिस्थिति और पात्र की ओर समाहित रहता है वह क्षण भर के लिए भी किसी घटना या पात्र को विस्मृत नहीं कर सकता क्योंकि इस शिल्प विधि के अनुसार कथावस्तु और कार्य व्यापार में अद्भुत समन्वय हुआ करता है। मैं इस सम्बन्ध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक एडविन म्यूर के मत से पूर्णतया सहमत हूँ। अपने निबन्ध 'नाटकीय उपन्यास' में उन्होंने लिखा है—

"पात्र कथानक रूपी कल का भाग नहीं है, न ही वस्तु पात्रों के चारों ओर घूमने वाली चाक है। इसके विपरीत दोनों अविभाज्य रूप से गुम्फित होते हैं। चरित्र विषयक विशेषताएँ ही क्रिया-कलाप की निर्णायक हैं और बदले में क्रियाएँ ही चरित्रों को तीव्रता के साथ परिवर्तित करती हैं और इस प्रकार सभी तत्त्व अन्तिम फल की ओर अग्रसर होते हैं।"[13]

भगवतीचरण वर्मा कृत 'चित्रलेखा' तथा वृन्दावनलाल वर्मा रचित 'मृगनयनी' इस तुला पर पूरे उतरते हैं। इन उपन्यासों में कथानक और चरित्र चित्रण में अपूर्व सन्तुलन है। कथा का विकास नाटकीय-विधि के साथ हुआ है। एक एक घटना पूरी तरह चरित्र को प्रभावित करती चलती है और प्रत्येक चरित्र नये दृश्यों की योजना में रचनात्मक योग देता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक बीच के मतानुसार नाटकीय उपन्यास का शास्त्रीय उदाहरण मिलना कठिन है। उनकी दृष्टि में Schnitzlers रचित "Fraulein Else" इस विधि का उत्तम उदाहरण है। वैसे बालजाक, डास्टावस्की टॉल्सटाय और थैकरे के कुछ उपन्यास भी इस विधि अनुसार रचे गए हैं। हिन्दी में इस विधि को अपनाने वाले कथाकार चार-पाँच ही हैं।

समन्वित शिल्प विधि

समन्वित शिल्प विधि प्रधानतया यथार्थ जीवन चित्रण को समग्र रूप में प्रस्तुत करने के निमित्त प्रयोग में आया है। स्थानीय, मानवीय और सामयिक परिस्थितियों के विस्तृत विवरण संयोजित करने के लिए वर्णनात्मक और व्यक्ति की यथार्थ स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए विश्लेषणात्मक, और निम्न कोटि के तथ्यों, स्वार्थों तथा विरोधों को सांकेतिक रूप देने के लिए प्रतीकात्मक, परिस्थिति, घटना और चरित्र में

---

13 'The characters are not part of the machinery of the plot nor the plot merely a rough frame work round the characters On the contrary both are inseparably knit together The given qualities of the characters determine the action, and the action in turn progressively changes the characters and thus everything is borne towards an end'

"Structure of Novel" P 41

प्रभावात्मक सामंजस्य ले आने के लिए नाटकीय शिल्प-विधियों का मिश्रण हो जाने पर समन्वित शिल्प-विधि का अभ्युदय होता है। इस विधि में यह आवश्यक नहीं कि अवश्य ही चारों शिल्प-विधियों का समन्वय हो। एक से अधिक शिल्प-विधियों का सम्मिलित प्रयोग रचना को समन्वित शिल्प प्रदान कर देता है। इस विधि के लेखक को शिल्प और कला के प्रति अधिक सजग और सचेष्ट रहना पड़ता है।

प्रस्तुत विधि के अनुसार मूल विषय विश्लेपणोन्मुख होता है। वस्तु-विन्यास का गठन साधारणतया वर्णनात्मक-विधि के आधार पर संयोजित होता है। जब कथाकार पात्र के विषय में बोलने लगता है, तब वह वर्णनात्मक शिल्प का प्रयोग करता है। आत्म-केन्द्रित, अन्तर्मुखी, आत्मविश्लेपक पात्र विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि द्वारा चित्रित होते है। इस विधि की रचना में समाज के फोटोग्रैफिक चित्रण भी संभव हो गए है। कुछ प्रतीकों की योजना करके सामाजिक चेतना की गहराइयो और वैयक्तिक अचेतन मन की ग्रन्थियों को सम्बद्ध और असम्बद्ध मूर्त्तिविधानों, रेखाचित्रो और संकेतों तथा रूपकों द्वारा रूपा-यत कर दिया जाता है। इस विधि की रचना में बाह्य घटनाओं का वर्णन तीव्र, प्रवाह-मान रूप में और आन्तरिक स्थितियों का विश्लेपण सूक्ष्म रूप में संयोजित होता है। उप-न्यास में वर्णित घटनाएं, उपकथाएं तथा भाषण आदि जितने व्यापक होते है, विषय का विश्लेषण उतना ही गहन, तीक्ष्ण तथा सूक्ष्म होता है। कोई भी सामाजिक क्रिया, राज-नैतिक घटना, धार्मिक परम्परा और आर्थिक समस्या इस शिल्प के उपन्यास में विस्तृत तथा सफल वर्णन पाती है, साथ ही प्रभाव का प्रखर विश्लेपण भी लेकर अग्रसर होती है।

टाइप, वैयक्तिक और प्रतीक तीन प्रकार के चरित्रों का समन्वय इस विधि की रचनाओं में हुआ है। 'बूंद और समुद्र' तथा 'चलते चलते' इसके ज्वलन्त उदाहरण है, जिनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा। इस विधि की रचनाओं में व्यापकता और गहनता, सूक्ष्मता और साकेतिक्ता एक साथ उपलब्ध हुई हैं। समाज का व्यापक रूप टाइप चरित्रों द्वारा, उसका गहन अध्ययन वैयक्तिक पात्रों द्वारा और सांकेतिक स्वरूप प्रतीक चरित्रों द्वारा उद्घाटित हुआ है। इस विधि की रचनायों को पढ़कर पता चलता है कि केवल समाज और राष्ट्र की बाह्य परिस्थितियां ही व्यक्ति का व्यक्तित्व नही बनाती अपितु उसकी मनःस्थिति, उसके संसर्ग में आने वालों की अचेतनावस्था, उसकी पाठकीय पुस्तकावली की सामग्री और उसके स्वप्न भी उसके मूर्त्त और अमूर्त्त वैयक्तित्व के स्रष्टा है। घटनाओ की व्यापकता, पात्रों की सघनता, संवेगों की स्पन्दनता और विचारों की प्रौढ़ता भी इस शिल्प की परिधि में आ जाते हैं।

हिन्दी उपन्यास के इस शिल्प ने सवेगों (Emotions) को तेजस्विता के साथ-साथ एक दिशा भी दी है। वास्तव मे संवेगों की शक्ति अक्षुण्ण होती है और यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का संचालन तक करती है। इसके द्वारा ही किसी व्यक्ति या समाज के मानसिक स्वास्थ्य और बौद्धिक स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। संवेगों के दमन स्वरूप उत्पन्न ग्रन्थियों का विश्लेपण और सामाजिक व्यवहार की चर्चा इस विधि की रचनाओं में खुलकर हुई है, संवेगों के संतुलन पर समाज कल्याण की बात भी इसके अन्तर्गत

रचनाओं में आ गए हैं, वास्तव में समन्वयवाद अपने आप में एक निखरी हुई प्रवृत्ति है, इसके आधार पर समन्वित शिल्प-विधि भी एक उपादेय विधा है जो परस्पर विरोधी अपूर्ण, अधूरे और खण्ड सत्यों को एक सीमा में मिश्रित करके सहारा ही नहीं देती अपितु उन्हें साहित्य के प्रशस्त पथ पर अग्रसर भी करती है।

हिन्दी उपन्यास शिल्प का यह वर्गीकरण निश्चयात्मक, वैज्ञानिक और शोध पूर्ण तो है, किन्तु इसे अन्तिम नहीं कहा जा सकता, तथ्य तो यह है कि शिल्प सदैव प्रयोग अवस्था में रहता है। जैसे-जैसे साहित्यिक रचनाओं का विकास होता है, वैसे ही शिल्प भी प्रौढ़त्व की ओर अग्रसर होता है। शिल्प को साहित्य के साथ सम्बद्ध करके इस वर्गीकरण को अगले अध्यायों में नियोजित किया जाता है।

तीसरा अध्याय

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास

'परीक्षा गुरु' से प्रारम्भ होकर 'दबदबा' तक हिन्दी उपन्यास मे शिल्प की परिपक्वता के लिए आवश्यक प्रयत्न हुए है। अपने प्रारम्भिक रूप में शिल्प वर्णन की सच्चाई और विवरणों की यथातथ्यता की ओर झुका। व्यक्ति, समाज, धर्म, राजनीति और आर्थिक विषयों को वर्णनात्मक शिल्प-विधि मे मुखरित करने और इसे सशक्त रूप प्रदान करने वाले प्रथम सफल कथाकार प्रेमचन्द है। वे उपन्यास को अनगढ़ तिलस्म, जासूसी उछल-कूद और भावलोक की रंगीली दुनिया से खीचकर यथार्थ परिस्थितियो और चेतन मन की व्यापक भावनाओं के धरातल पर ले आए। इन्होने इसे व्यवस्थित रूपाकार (form) और वर्णनात्मक शिल्प (Descriptive Technique) प्रदान किया। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन पर्याप्त है—"इस तृतीय उत्थान का आरम्भ होते-होते हमारे हिन्दी साहित्य में उपन्यास का यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचन्द आए। द्वितीय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील वैचित्र्य की उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचन्दजी के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढांचे की व्यक्तिगत विशेषताएं मिलने लगीं।"[1]

प्रेमचन्द का ध्यान समाज के निम्न और मध्य श्रेणी के जीवन की ओर गया। इन्होंने इन श्रेणियों के गृहस्थों तथा भारतीय कृषक और मजदूरों की सिसकियों को वर्णनात्मक शिल्प-विधि के द्वारा अंकित किया। इस शिल्प को अपनाने वाला कथाकार लक्ष्योन्मुखी रहता है, वह अपनी अनुभूतियों, भावनाओं और सिद्धान्तों को सूत्र रूप मे न रखकर प्रत्यक्ष व्याख्या और विवरण रूप में प्रस्तुत करता है, इस संबंध में प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है—"अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज़ नही है। मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है, अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता, किन्तु जीवन की समस्याओ पर भी विचार करता है। और उन्हें हल करता है।"[2] कथाकार के इन विचारों को पढ़कर यह सिद्ध होता है कि शिल्प विधा ही नहीं है, उद्देश्य भी है, इसीलिए इन्होंने उद्देश्यनिष्ठ शिल्प का संगठन किया। वे लिखते हैं—"उपन्यास मे वही घटनाएं, वही विचार लाना चाहिए जिससे कथा का माधुर्य बढ़ जाए, प्लाट के विकास

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास —छठा संस्करण—पृष्ठ ३३८-३९

२. कुछ विचार—पृष्ठ ८

में सहायक हो, या चरित्रों के गुप्त मनोभावों का प्रदर्शन करता हो।"[३]

किन्तु उनके उपन्यास की प्रत्येक घटना प्लाट के विकास में इतना सहयोग नहीं देती जितना उनके सामाजिक आदर्शों की पूर्ति में साथ देती है। लोक मंगल की भावना से अभिभूत होकर प्रेमचन्द शोषित वर्ग का साथ देने लगते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप कथा पीछे छूट जाती है और उद्देश्य आगे आ जाता है। इसे आप साहित्यकार का दायित्व समझते हुए लिखते हैं—"जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो, या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य वृत्ति को जागृत करके अपना यत्न सफल समझता है।"[४] प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य इस सिद्धान्त का प्रमाण है। यहां हम एक उदाहरण देते हैं। 'रंगभूमि' में जब राजा महेन्द्र कुमार को छः मास का कारावास देते हैं, तब वह पंचायत के सम्मुख अपना दुखड़ा रोकर उसे अपने पक्ष में कर लेता है। यह दृश्य प्रेमचन्द के जनवादी आदर्शों का प्रतीक है, कथा शिल्प का वाहक नहीं। वे चाहते भी यही थे कि उनके उपन्यास व्यक्ति, धर्म, समाज, नीति और देश के हित का माध्यम बनें। 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त को अपने युग के लिए असामयिक मानते हुए आप लिखते हैं—"साहित्य का सबसे ऊंचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिए की जाए। 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती ... पर 'कला के लिए कला' का समय वह होता है, जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति भांति के राजनीतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय दहल न उठे? हां, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाए, अन्यथा उपन्यास नीरस हो जाएगा।"[५]

तत्कालीन परिस्थितियों और विचारों का प्रभाव उनके वस्तु विन्यास तथा पात्र दोनों पर ही पड़ा है। भारतीय दासता और शोषण की कहानी इनकी कृतियों में मुखरित हो उठी है। प्रेमचन्द की उपन्यासकला का सामाजिक ध्येय—न्याय, समता और नीति के आदर्शों में प्रतिफलित रहा है। प्रत्येक उपन्यास में एक न एक सामाजिक ध्येय परिलक्षित होता है। 'सेवासदन' में वेश्या-जीवन की समस्या के साथ-साथ मध्यवर्ग की अन्य समस्याएं (उनके नैतिक विचार, सामाजिक दायित्व, वैयक्तिक साहस) भी चित्रित की गई हैं। सुमन, सदन और पद्मसिंह मध्य वर्ग के प्राणी हैं। पद्मसिंह में इतना नैतिक साहस भी नहीं रह गया है कि सेवासदन में जाकर सुमन से बातचीत भी कर सकें। वे सुमन के हितैषी अवश्य बने रहते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द ने पात्रों के आदर्शों, सिद्धान्तों और व्यवहारिक

---

३ कुछ विचार—पृष्ठ ५१

४ वही—पृष्ठ ६

५ वही—पृष्ठ ४१, ४२, ४३

कार्यों की असगति का चित्र अंकित किया है किन्तु मूल उद्देश्य सुमन के चरित्र का सुधार और एक आश्रम की स्थापना की है।

'सेवासदन' की भांति 'प्रेमाश्रम' मे भी एक आदर्श का पीछा किया गया है। यहां एक आदर्श ग्राम (लखनपुर) की स्थापना की गई है। शोपित वर्ग किसान की यथार्थवादी समस्या कृपक-भूपति संबंध समस्या का आदर्शवादी हल प्रस्तुत किया गया है। यह प्रेमचन्द के ध्येयवाद का प्रतीक है। यहां भी अनेक चरित्र कथाकार के आग्रह से हृदय परिवर्तन करते हैं, निजी इच्छाओं के कारण नहीं। ईजाज हुसेन सरीखा पाखण्डी, इर्फानअली जैसा लोभी और प्रियनाथ सम सरकारी पिट्ठू—एक ही दिन मे प्रेमशंकर की सद्वृत्तियों से प्रभावित होकर अपनी दुप्वृत्तियां छोड़ सेवाधर्मी वन बैठते है। अनेक हत्याएं दिखाई गई है जो उद्देश्य पूर्ति के लिए ही सहायक होती है, शिल्पगत गठन की दृष्टि से दोषपूर्ण है। अपनी दूसरी रचना 'निर्मला' में भी कथाकार ने अपने आदर्शवाद की पूरी-पूरी रक्षा की है। अनमेल विवाह द्वारा वशीभूत निर्मला मूक भाव से समस्त अत्याचारों को सहते हुए भी घुटनपूर्ण वातावरण मे दम तोड़ देती है। उसकी मृत्यु समाज के लिए एक व्यापक सदेश छोड जाती है।

'रंगभूमि' प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला का प्रगति सूचक ग्रन्थ है। इसमें विद्य-मान शोपक-शोपित संघर्ष को तीन कथाओं द्वारा चित्रित किया गया है, किन्तु इस संघर्ष मे भी एक आदर्श का आश्रय लिया गया है। संघर्प का मूल केन्द्र सूरदास है। वह अनेक अवसरों पर अपने आदर्शो का प्रचार करता है। प्रेमचन्द ने अनेक स्थलों पर उसके मुख से कहलवाया है—"हार-जीत तो जिदगी के साथ लगी हुई है, कभी जीतूंगा, तो कभी हारूंगा, इसकी चिन्ता ही क्या ? अभी कल वड़े-वड़ों से जीता था, आज जीत में भी हार गया। यह तो खेल मे हुआ ही करता है।"[६] इस प्रकार 'रंगभूमि' में कथाकार जीवन को सहज, सरल और क्रीड़ामय रूप मे स्वीकार करने का उपदेश देता रहता है और उसका आदर्शवाद अपनी चरम सीमा को छू लेता है। यहां औद्योगीकरण को नैतिक पतन के लिए जिम्मेवार ठहराया गया है और उसका भरसक विरोध किया गया है। 'रंगभूमि' में कथाकार ने अपने जीवन की समग्र अनुभूति और दृष्टिकोण को प्रतिष्ठापित करने की पूरी चेष्टा की है। 'गवन' में सामाजिक उद्देश्य और औपन्यासिक शिल्प में संतुलन रखा गया है।

'गोदान' मे प्रेमचन्द ने अपने व्यापक दृष्टिकोण का पूरा परिचय दे दिया है। इसमें राजनीति, समाजनीति, नैतिकता, दर्शन तथा अन्य मानव कर्मो के विभिन्न पहलुओं का यथार्थवादी चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से यह प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से एक भिन्नता रखता है। इसमें तत्कालीन भूमिपति और किसान का प्रश्न, उद्योगपति और विद्वत् मण्डली के सामाजिक प्रश्न और मान्यताएं यथार्थ रूप में प्रस्फुटित हुई है। यह एक शिल्पगत परिवर्तन है। उद्देश्य का उदात्तीकरण (Sublimation) है। मेहता-मालती प्रणय को लेकर एक प्रश्न उठाया जा सकता है—वह उनका अयथार्थवादी जीवन

---

६. रंगभूमि—पृष्ठ ९५

चित्रण। मेरे मत में सहज मानवी प्रणय की वैवाहिक जीवन में परिणति न होने की बात एक बौद्धिक स्थिति है न कि सामाजिक बन्धन, जिसको दोनों ने ही प्रसन्न बदन स्वीकार किया है।

उद्देश्य गर्भित होने के कारण प्रेमचन्द का पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य, कला और शिल्प की दृष्टि से वह श्रेष्ठत्व प्राप्त नहीं कर पाया जो हमें 'गोदान' में उपलब्ध होता है या एक सीमा में 'गबन' में दृष्टिगत होता है। उनके साहित्य पर आर्थिक विषमता तथा सामाजिक असमानता वृत्ति का विशेष प्रभाव रहा है किन्तु वह साहित्य अधिकतर मानसिक कुण्ठाओं से मुक्त रहा। क्योंकि आप पहले समाज सुधारक थे फिर कलाकार, इसीलिए आपकी कला आपके सामाजिक उद्देश्य की वाहक है जिसके द्वारा अधिक से अधिक प्राणियों के अधिक से अधिक कल्याण की कामना ही दृष्टिगत रखी गई है। इस प्रवृत्ति के कारण ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी आप पर दोषारोपण किया है। वे लिखते हैं—"इनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक (propagandist) का रूप उभर गया है।"[7]

प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य अद्भुत काल्पनिक और भावप्रधान था। यह सत्य है कि उसकी कोई निर्धारित प्रणाली या रूपरेखा निश्चित नहीं हुई थी, केवल प्रयोग हो रहे थे। ऐसा पहला प्रयोग 'परीक्षा गुरु' के रूप में हमारे सामने आया। इसके निवेदन में लेखक ने बतलाया कि 'अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक होगी।' वह इसे 'नावेल' कहकर पुकारता है। इसके पश्चात् देवकीनन्दन खत्री आए, गोपालराम गहमरी आए और हम ऐयारी, तिलिस्मी तथा जासूसी उपन्यास देखने को मिले, किन्तु ये सब कल्पनापूर्ण, सनसनीपूर्ण घटनाओं की योजना ही जुटाते रहे, कोई शिल्पगत प्रश्न हल नहीं कर पाए। इसी कारण प्रेमचन्द को कोई परम्परा नहीं मिली। उन्हें अपना शिल्प स्वयं तैयार करना पड़ा। ऐसा होने पर भी एक बात स्पष्ट है—वह है प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यासकारों का प्रेमचन्द पर प्रभाव। इनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में चमत्कार चातुर्य प्रचार था। प्रेमचन्द ने अपनी किशोरावस्था में देवकीनन्दन खत्री, गोपाल राम गहमरी आदि लेखकों के उपन्यास बड़े शौक से पढ़े थे और उन्हीं के प्रभाव स्वरूप इनका कथा शिल्प विकसित हुआ। इनके वस्तु विधान के अन्तर्गत कतिपय कौतूहलवर्धक घटनाएँ, अतिनाटकीय प्रसंग, अस्वाभाविक आत्महत्याएँ, असम्भव परिस्थितियाँ पूर्ववर्ती प्रभाव के परिचायक हैं। प्रेमचन्दयुगीन परम्परागत शिल्पी उपन्यासकारों पर भी यही प्रभाव बना रहा। वे उसी धारा प्रवाह में बहते रहे। प्रेमचन्द ने अपने पूर्ववर्ती प्रभाव का निराकरण कर अपना शिल्प विधान के अन्तर्गत पात्रों के चरित्र चित्रण और विचारों को भी प्रतिष्ठित किया जिसका विवेचन आगे किया गया है।

मेरी कोरेली, हैगर्ड, डिकेन्स, थैकरे, गोल्सवर्दी, टाल्सटाय, तुर्गनेव तथा गोर्की के उपन्यास साहित्य का विशेष अध्ययन करने के कारण पश्चिमी उपन्यास की शिल्प

---

७ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ८५४

विधि से भी प्रेमचन्द का कुछ परिचय हो चुका था। रूसी उपन्यासकार टॉल्सटाय से आप प्रभावित हुए। इनकी रचनाओं पर यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर यह होता है। इसी कारण आपके उपन्यास बहिर्मुखी है। इनमें वर्णित दृश्य समाजोन्मुखी हैं। प्रेमचन्द संघर्ष को कभी भी दो व्यक्तियों तक सीमित नहीं रखते। 'रंगभूमि' में सोफिया और उसकी मा के बीच आरम्भ किया गया संघर्ष धीरे-धीरे राजा महेन्द्रकुमार, इन्दु आदि अन्य पात्रों और शोषक समाज के प्रतिनिधि क्लार्क को अपनी लपेट में ले आता है। सूरदास का व्यक्ति-परक संघर्ष दीन दुखियों और ग्राम के असहाय वर्ग को वर्गगत संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। 'गबन' की कथा जालपा-रमा के छोटे से परिवार के रूप में आरम्भ होती है किन्तु उपन्यास के मध्य में यही कलकत्ता की विशाल नगरी और पुलिस की धाधली की लम्बी और व्यापक कथा का आकार अपना लेती है। 'गोदान' की कथा एक किसान की ही कथा नहीं है, अखिल भारतीय शोषित वर्ग की कथा है। व्यापक समाज और दूरवर्ती स्थलों की सुदृढ़ पकड़ प्रेमचन्द के 'शिल्प विधान' की अभूतपूर्व योजना है जो पाश्चात्य उपन्यास के गम्भीर अध्ययन का प्रमाण है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के रूप निर्माण (Form Construction) तथा कला स्थायित्व में पाश्चात्य उपन्यास के प्रभाव को ग्रहण किया है जिसके फलस्वरूप इन्होंने उपन्यास में कल्पना कम और सत्य अधिक अनुपात मे ग्रहण किया। व्यक्ति का मूल्यांकन और परिस्थितियों के साथ उसका तादात्म्य पश्चिमी उपन्यास की ही देन है जिसको प्रेमचन्द ने अक्षुण्ण रूप मे ग्रहण किया है। आपके मतानुसार उपन्यास को मानव चरित्र से अलग नहीं किया जा सकता। इस विषय मे जोला लिखते है—"एक स्वभाव विशेष के माध्यम से देखा हुआ जीवन कोण।"[8]—इस दृष्टि से चरित्र-चित्रण औपन्यासिक शिल्प का एक अविभाज्य अंग है। जिसे प्रेमचन्द तथा प्रेमचन्दोत्तरी उपन्यासकारो ने उपन्यास शिल्प का अनिवार्य अंग माना है।

वैयक्तिक और सामाजिक बौद्धिक चेतना सजीव पात्रों के माध्यम से उपन्यासों मे चमत्कृत हो उठती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों मे ऐसे पात्रों का निर्माण किया है जो सामयिक भारतीय समाज एवं जीवन दर्शन के वाहक है। ये पात्र कम कहते है, अधिक सुनते हैं क्योंकि इनमें कहने का साहस कम है। होरी भारतीय कृषक का प्रतिनिधित्व करता है, एक परिवार का ही प्रतिनिधि नहीं है। वह सब की सुन लेता है—राय साहब अमर-पाल सिंह, धनिया, गोबर, पंडित दातादीन, मेहता आदि पात्र उसे सुनाते है और वह सुन लेता है, कभी-कभी तर्क-वितर्क करने की चेष्टा मात्र करता है। बौद्धिक और मानसिक रूप से जर्जर होरी तत्कालीन प्रतन्त्र भारतीय जन का प्रतीक होने के कारण सजीव रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

स्वभाव वैचित्र्य तथा चारित्रिक विशेषताओं को उपन्यास में खुलकर अभिव्यक्त किया जा सकता है। उपन्यासकारों के अतिरिक्त पात्र भी अपने चारित्रिक उत्थान अथवा पतन पर दृष्टिपात कर सकते है। प्रेमचन्द के पात्र न केवल दूसरे पात्रों के कार्यो की

---

8. A look of life visualised through temprament.

आलोचना करते हैं अपितु स्वयं अपने आलोचक हैं। 'गोदान' के अमरपाल सिंह होरी को अपनी विवशताएँ ही नहीं बताते वे उसे अपनी तथा अपने वर्ग की समस्त दुर्बलताएँ बता देते हैं। उद्देश्यमूलक उपन्यासों में प्रेमचन्द अपनी ओर से अधिक मुखरित होकर पात्रों की टीका टिप्पणी कर गए हैं।

विचार संघटन की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास ह्यूगो की उपन्यास कला से यथेष्ट प्रभावित हुए। ह्यूगो के उपन्यासों में हमें तत्कालीन राजनीतिक तथा विचार सम्बन्धी द्वन्द्वों के चित्र उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं उद्देश्य का संकेत भी देते हैं। उनमें विभिन्न वर्गों तथा समुदायों के विचारों का पूर्ण योग है किन्तु वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होता है। प्रेमचन्द ने विचार प्रदर्शन में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रणालियों का आश्रय ले लिया है। कहीं-कहीं अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को इतनी प्रमुखता दी है कि समय और स्थल का ध्यान न रखकर घटनाओं तथा चरित्रों को मनमानी दिशा में मोड़ दिया है और लम्बे-लम्बे भाषणों की योजना जुटा दी है।

इनकी विचार प्रधानता को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० मदान लिखते हैं—"साहित्य के दो कार्य हैं एक जीवन की व्याख्या करना और दूसरा जीवन का परिवर्तन करना। प्रेमचन्द पिछले पर अधिक जोर देते हैं। वस्तुतः उनके उपन्यासों में सबसे पहली बात है उनमें सामाजिक समस्याओं का प्रतिबिम्बित होना।"[१] प्रेमचन्द के पहले पाँच उपन्यासों में घटनाएँ और व्यक्ति सामाजिक उद्देश्यों से दबे रहते हैं, किन्तु 'गबन' से इसका अपवाद आरम्भ हो जाता है। इस रचना का यही शिल्पगत महत्त्व है कि इसमें प्रेमचन्द ने वस्तुविन्यास, व्यक्ति और विचार में सन्तुलन रखा है। कथावस्तु की दुहरी प्रणाली (Dobule Plot) में भी कथा को मूल केन्द्र से अधिक दूर नहीं जाने दिया।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में साधारण मनोविज्ञान के प्रयोग तीन या चार मिल सकते हैं। इन्होंने मनोविज्ञान को अपने उपन्यास शिल्प का साधन कभी नहीं बनाया। फ्रायड द्वारा प्रतिपादित कामवासनाओं की ग्रन्थियाँ, एडलर द्वारा प्रचारित हीन भाव जनित कुण्ठाएँ आदि मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताएँ तथा असंगतियाँ इनकी कला से परे ही रही हैं। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती उपन्यास के प्रमुख तत्त्व मनोरंजन तथा परवर्ती प्रवृत्ति विश्लेषण के मध्य की स्थिति को स्वीकार किया है।

प्रेमचन्द ने शिल्प के महत्त्व को स्वीकार करने पर भी अधिक महत्त्व भाव, विचार और अनुभूति को ही दिया है। इनके परवर्ती उपन्यासकार जैनेन्द्र, जोशी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि कथाकार शिल्प-वैभव पर अधिक बल देते हैं। नवीनता के ये आग्रही मनोविज्ञान का आश्रय लेकर शिल्प में परिवर्तन ले आए हैं। इसका मूल्यांकन आगे किया जाएगा। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत तो उन्हीं लेखकों को रखा गया है, जिन्होंने वर्णनात्मक शिल्प विधि को अपनाया है। प्रेमचन्द, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, फणीश्वरनाथ 'रेणु', हजारीप्रसाद द्विवेदी, नागार्जुन तथा यज्ञदत्त शर्मा आदि उपन्यासकारों की औपन्यासिक कला

---

१ प्रेमचन्द : एक विवेचन—कला और शिल्प विधान—पृष्ठ १२३

में विभिन्न स्वरों के ध्वनित होने पर भी उनके शिल्पगत दृष्टिकोण में मूलगत साम्य है। अतः इन लेखकों को वर्णनात्मक शिल्प-विधि के पोषक एवं समर्थक के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें से अधिकांश कथाकारों को सामाजिक और कुछ को ऐतिहासिक या आंचलिक उपन्यासकार माना जाता है। विषय और प्रवृत्ति की दृष्टि से यह कहना उचित भी है, किन्तु शिल्प की दृष्टि से ये सब कथाकार वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाकर चले है, अतः इन्हे वर्णनात्मक शिल्प-विधि के कथाकार कहेंगे। इनकी औपन्यासिक रचनाओं के अध्ययन और अन्वेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि इनमें इस विधि की बहुतांश प्रवृत्तियां परिरम्भित है।

सेवासदन—१९१७

'सेवासदन' प्रेमचन्द की महत्त्वपूर्ण रचना है। शिल्प की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी उपन्यास जगत में यह शिल्प की निर्मात्री रचना है। सन् १९१७ के लगभग इसके प्रकाशन के पश्चात् विभिन्न आलोचकों द्वारा इसकी समालोचना की गई। किसी ने इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास कहा, तो कोई इसके कलात्मक रूप पर मुग्ध हुआ।[1]

(क) "सेवासदन प्रेमचन्द का ही नही, हिन्दी का पहला मौलिक सामाजिक उपन्यास है।"

(ख) "विचार परिपक्वता, वस्तु-योजना एवं चित्रण-कला की दृष्टि से इसे ही हम प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास मानते है।"

(ग) "हिन्दी साहित्य क्षितिज पर आधुनिक उपन्यास की प्रथम किरण प्रेमचन्द के उपन्यास 'सेवासदन' से प्रस्फुटित होती दिखलाई पड़ती है।"

(घ) "सेवासदन प्रेमचन्दजी का पहला मुख्य उपन्यास है।"

मेरे मतानुसार यह शिल्प की दृष्टि से पहला सफल प्रयोग है। प्राचीन ढर्रे के उपन्यास जो केवल एक वर्ग विशेष के मनोरंजन का साधन-मात्र थे, कोई शिल्पगत महत्त्व न रखते थे। कथा की अतिशयता और घटना बाहुल्य उन्हें एक अलग कोटि के अन्तर्गत रख छोड़ते हैं; मानव जीवन के विविध रूपों की कोई व्याख्या ये प्रस्तुत नही कर पाए। 'सेवासदन' पहला उपन्यास है जिसमें मानव जीवन का चित्र और उसकी व्याख्या दोनों उपलब्ध है।

मानव जीवन की व्याख्या मुख्यतः दो प्रणालियों द्वारा की गई है—वर्णनात्मक-

---

१. (क) श्री गंगाप्रसाद पांडेय : हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ५६,
(ख) प्रो० शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ७९,
(ग) डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पृष्ठ ७१,
(घ) डॉ० नन्द दुलारे वाजपेयी : प्रेमचन्द साहित्य विवेचन—पृष्ठ २३,

विधि तथा विश्लेषणात्मक विधि—प्रेमचन्द ने इनमें से प्रथम को अपनी कला तथा कृतित्व का साधन बनाया। 'सेवासदन' वर्णनात्मक शिल्प विधान का प्रथम सोपान है। इस शिल्प विधि को अपनाने के कारण प्रेमचन्द ने जीवन के विस्तृत क्षेत्र का चित्रण विवरणपूर्ण ढग से प्रस्तुत करने की सुविधा प्राप्त कर ली। उनकी ये सुविधाए इतिहासकार से कम नहीं है, इसीलिए तो 'सेवासदन' में बहिर्गत (Extrovert) जीवन से नाना घटनाए जुटाई गई है। कथा म सयोजित समस्त घटनाए, पात्रो की विभिन्न लीलाए तथा उपन्यासकार की व्याख्याए समाजपरक तथा वर्णनात्मक हैं। इनमें एक साथ व्यक्ति, समाज राजनीति, अर्थनीति और नैतिक परिस्थितियो की बाह्य सीमाओ का खुलकर वर्णन किया गया है। 'सेवासदन' म वर्णनात्मक शिल्प विधान के सब गुण तथा अभाव विद्यमान हैं। इसमे मानव के बाह्य आचार का विस्तृत वर्णन हुआ है, घटनाओ का विशद चित्रण हुआ है, परिस्थितियो और परिणामो की अद्भुत व्याख्या हुई है किन्तु पात्रो के अन्तर्मन म कमही प्रवेश हुआ है, उनके अन्तर्द्वन्द्वो के सूक्ष्म और तीक्ष्ण चित्रण का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। 'सेवासदन' म व्यापकता है गहराई नही, स्थूलता है, सूक्ष्मता नही, गति है तीक्ष्णता नहीं। 'सेवासदन' के ये अभाव वर्णनात्मक शिल्प-विधान के अभाव है, और जो विशेषताए है, वे भी वर्णनात्मक शिल्प के गुण कहे जायेंगे।

विषय को ही लें। 'सेवासदन' का विषय नारी जीवन और वेश्या समस्या है। यह एक सामाजिक विषय है और वर्णनात्मक शिल्प विधान का विषय सदैव सामाजिक ही हुआ करता है, वैयक्तिक विषय विश्लेषणात्मक शिल्प की धरोहर है। 'सेवासदन' में विषय के अनुकूल वस्तु जुटाई गई है। सुमन और शान्ता को सामने रखकर नारी, विशेषकर वेश्या समाज से सबधित नारी की व्याख्या की गई है। भोली वेश्या समाज की प्रतिनिधि पात्र है, सुमन वेश्या सुलभ युवती की प्रतीक है, सुमन से सबधित शान्ता वेश्याओ के कुल से सबधित विवश नारी का प्रतीक है।

वर्णनात्मक शिल्प विधि के उपन्यास का वस्तु विन्यास इतिवृत्तात्मक होता है, इसमे घटनाओं का एक जाल सा बिछ जाता है। कथावस्तु अधिकतर दुहरी या तिहरी हो जाया करती है, किन्तु इकहरी भी रह सकती है। 'सेवासदन' को ही लें। इसकी वस्तु-योजना इकहरी है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के मतानुसार 'सेवासदन का निर्माण एक ही प्रधान ढाचे पर हुआ है।'[२] श्री हरस्वरूप माथुर आदि लेखको ने दो कथाओं की बात उठाई है। सुमन और शान्ता की कथाए अलग होने पर भी एक है। प्रधान कथा सुमन की है, जो आदि से अन्त तक रहती है और शान्ता आदि की कथा को सहायक रूप में स्वीकृत कर अपने रूप (form) म समेट लेती है। 'सेवासदन' की आलोचना करते हुए श्री हरस्वरूप माथुर ने यह मान भी लिया है—'अन्य घटनाओ की भाति शान्ता की कहानी भी

---

२ 'सेवासदन', 'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' एक ही प्रधान कथा के ढाचे पर खडे किए गए है। 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' मे एक से अधिक कथाओं का समावेश है।"

प्रेमचन्द एक विवेचना—पृष्ठ १२३-१२४

सुमन के संबंध से विकास प्राप्त करती है।"[३] शांता ही नहीं, उमानाथ और पद्मसिंह से संबंधित घटनाएं और उपकथाएं भी सुमन की कथा को व्यापक बनाने मे सहायक होती है।

'सेवासदन' में जो घटनाएं दी गई है, वे समाज सापेक्ष है, विवरणात्मक है, मनोवैज्ञानिक या अन्तर-विश्लेषणात्मक नहीं है, क्योंकि वर्णनात्मक शिल्प-विधान के अन्तर्गत घटनाओं के व्यक्तिपरक और मनोविश्लेषणात्मक बनने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। कुछ घटनाओं का विवेचन शिल्प की तुला पर करके देखे। कृष्णचन्द्र (सुमन के पिता) की गिरफ्तारी उपन्यास की सबसे पहली घटना है। सुमन के तिलक की साइत से पूर्व इस प्रकार की गिरफ्तारी निश्चय ही घटना के द्वारा कथा को एक विशेष दिशा में मोड़ने के लिए प्रस्तुत की गई है। अत: यह शिल्पगत महत्त्व रखती है। दूसरी प्रधान घटना रामनौमी के दिन घटित होती है। सुमन की उपस्थिति में भोली का मन्दिर प्रवेश और गीत गाना केवल मात्र सुमन के चरित्र को प्रभावित करने के लिए संयोजित नही किया गया अपितु कथान्यासार्थ जुटाया गया है। तीसरी मुख्य घटना गजाधर सुमन नोक-झोक के पश्चात् सुमन का गृह-त्यागना है। इसके द्वारा ही सुमन जीवन के नव्य-क्षेत्र में प्रवेश करके नव्यतम परिस्थितियो और अनुभूतियो का परिचय प्राप्त करती है। कथा के इस भाग तक की घटनाओं की प्रशंसा आचार्य नन्ददुलारे ने भी की है किन्तु आगे की घटनाओं की आलोचना करते हुए वे लिखते है—"प्रेमचन्द जी ने कथा के आरम्भ से लेकर सुमन के गृहत्याग तक का वर्णन बड़े व्यवस्थित रूप मे किया है, परन्तु गृहत्याग के पश्चात् घटनाएं उतनी सुन्दर गति से आगे नही बढ़ती। दालमण्डी मे रहते हुए सुमन का वृत्तान्त बड़ा अस्पष्ट और उखड़ा-उखड़ा-सा लगता है।"[४]

आचार्य नन्द दुलारे द्वारा की गई परवर्ती घटनाओं की आलोचना से मैं सहमत नहीं हूं। वास्तव मे आचार्य जी ने प्रेमचन्द जैसे वर्णनात्मक शिल्पी से वैश्लेषिक व्याख्या की मांग की है। दालमण्डी में रहते हुए सुमन से संबंधित घटनाओ का विवेचन नही हुआ है, इसीलिए आचार्यजी को यह आरोप लगाने का अवसर मिला, उन्हे सुमन का वृत्तान्त अस्पष्ट नजर आया, किन्तु तथ्य यह है कि सुमन का चरित्र ही अस्पष्ट है, न घटना योजना ही उखड़ी हुई है। सुमन के दालमण्डी में रहते हुए बहुत कम घटनाएं चित्रित की गई है। प्रेमचन्द का शिल्प वर्णनात्मक है अत: आशा थी वे उन परिस्थितियों और घटनाओं का भी विस्तृत वर्णन करेगे जो दालमण्डी के वातावरण मे घटित होंगी, किन्तु यहा पहुंच कर कथा को समेट लिया है। इसका कारण प्रेमचन्द की उद्देश्य प्रियता है जिसके कारण शिल्पगत दोष आया। उनकी लक्ष्य प्रियता अनेक स्थलों पर शिल्प पर छा जाती है। इसीलिए उन्होंने सुमन की नाना संभावित घटनाओ को दूर रखा है। मनोवैज्ञानिक घटना वैचित्र्य के जाल में वे नही फंसे है। सीधे, सरल ढंग से अपने आदर्श की रक्षा करते हुए सुमन को घुटन से भरे हुए वेश्यालय के वातावरण से शीघ्र ही मुक्त करा देते है। उसके

---

३. प्रेमचन्द : कथा और शिल्प—पृष्ठ ३०

४. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ ३१

वृत्तान्त को अस्पष्ट नहीं होने देते, केवल अत्यावश्यक घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं।

मदन-सुमन प्रेम नैतिक और सामाजिक दृष्टि से अवाञ्छनीय होता हुआ भी शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह कथा को विस्तार देने के साथ-साथ उसमें शैथिल्य भी नहीं आने देता। वेश्या प्रेम में अन्धा युवक (मदन) एक ओर चोरी करके कंगन लाकर अपनी प्रेयसी (सुमन) को भेंट कर देता है तो दूसरी ओर यह कंगन सुमन को आगे मोड़ देता है। उसे पद्मसिंह की स्मृति ताजा हो जाती है। अब कथा संश्लिष्ट होकर ध्येय की ओर बढ़ती है। वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यास में कथा संश्लिष्ट होकर ध्येयोन्मुखी रहती है। यहीं पहुँचकर प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म बौद्धिक प्रतिभा का परिचय दिया है। सुमन पद्मसिंह का कंगन लौटाने के लिए बेताब हो उठती है, साथ ही इस नरककुण्ड से छुटकारा पाने के लिए चिन्तित तथा प्रयत्नशील भी रहती है।

कथा की तीसरी अवस्था में घटनाएँ अधिक व्यापकता के साथ चित्रित हुई हैं। प्रेमचन्द के वर्णनात्मक उपन्यासों में व्यापकता की कोई कमी नहीं है। सुमन के अतिरिक्त शान्ता, उमा, गंगाजली, मदनसिंह, पद्मसिंह, गजानन्द आदि पात्रों की चारित्रिक घटनाएँ जीवनी सम दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें से कुछ घटनाएँ और उपकथाएँ तो इतनी फैल गई हैं कि मुख्य कथा कुछ समय के लिए लुप्त-सी हो गई है। सुभद्रा-पद्मसिंह पारिवारिक कलह, म्युनिसिपलिटी की कार्यवाइयाँ, पद्मसिंह विचार मग्नता, कृष्णचन्द्र की विक्षिप्त दशा और आत्महत्या, गजानन्द के भाषण आदि प्रसंग कथा को विस्तार देने में अधिक सहायक सिद्ध हुए हैं। सुमन की कथा से इनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं जुड़ता।

कथा शिल्प की दृष्टि से प्रेमचन्द पर एक भारी आरोप लगाया गया है। कतिपय आलोचकों ने इनके प्रचारक और उपदेशक रूप की कड़ी आलोचना की है। 'सेवासदन' भी प्रचारात्मक प्रसंगों से रहित नहीं है। इसमें प्रेमचन्द ने अनेक स्थलों पर हस्तक्षेप करके वर्णन और व्याख्या का विस्तार किया है। इसे शिल्पगत दोष नहीं कह सकते। वर्णनात्मक शिल्प की तो यही एक मुख्य विशेषता है, इसमें उपन्यासकार को खुलकर कहने की सुविधा प्राप्त होती है। वर्णनात्मक शिल्पी समस्याओं का उद्घाटक ही नहीं होता, उनका हलकर्ता भी होता है। अवसर मिलते ही वह राजनैतिक-सामाजिक, आर्थिक, नैतिक या धार्मिक समस्या पर भाषण देने की सुविधा जुटा लिया करता है। 'सेवासदन' की सबसे प्रधान रहस्यमूलक घटना के घटित होते ही (अनाथालय की सफलता अवसर पर) जो भाषण दिया गया है, उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

"सच्ची हितकांक्षा कभी निष्फल नहीं होती। अगर समाज को विश्वास हो जाए कि आप उसके सच्चे सेवक हैं, आप उसका उद्धार करना चाहते हैं, आप निस्वार्थ हैं तो वह आपके पीछे चलने को तैयार हो जाता है। लेकिन यह विश्वास सच्चे सेवा भाव के बिना कभी प्राप्त नहीं होता। जब तक अन्तःकरण दिव्य और उज्ज्वल न हो, वह प्रकाश का प्रतिबिम्ब दूसरों पर नहीं डाल सकता।"[५]

कथाकार ने अनेक घटनाओं का वर्णन करके उन पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी

---

५ सेवासदन—पृष्ठ ३२१

भी कर डाली है। इससे उपन्यास में वस्तु, व्यक्ति, वार्ता और वातावरण के साथ-साथ जीवन व्याख्या भी संभव हो गई है। अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के उपन्यास साहित्य के प्रथम कलाकारों द्वारा भी यह प्रवृत्ति अपनाई गई है। ये कथाकार कथा को दृढ़ता के साथ पकड़े रखते है और उसे पूर्णतया अपने इंगित पर घुमाते हैं, तथा विभिन्न घटनाओं की चर्चा के साथ-साथ उनकी आलोचना भी करते है। यह आलोचना कही भाषण, कहीं टीका तो कहीं नीति वचन द्वारा प्रस्तुत होती है। 'सेवासदन' मे कृष्णचन्द्र की गिरफ्तारी के पश्चात् प्रेमचन्द ने लिखा है—"जिस प्रकार विरले ही दुराचारियों को अपने कुकर्मो का दण्ड मिलता है, उसी प्रकार सज्जन का दण्ड पाना अनिवार्य है।"[६] सदन-सुमन नोक-झोंक के समय लिखा गया है—"व्यंग और क्रोध में आग और तेल का संबंध है। व्यंग हृदय को इस प्रकार विदीर्ण कर देता है जैसे छेनी बर्फ के टुकड़े को।"[७]

वर्णनात्मक शिल्पी की इस प्रवृत्ति के विषय मे अग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक श्री बीच ने अपने ग्रन्थ "दि ट्वेंटीथ सेंचरी नॉवल : स्टेडीज इन टेकनीक" में लिखा है—

"अंग्रेजी उपन्यास पर विहगम दृष्टि डालने से एक बात जो तुम्हें किसी अन्य बात से अधिक प्रभावित करेगी, यह है कि फील्डिग से लेकर फोर्ड तक पहुचते-पहुंचते लेखक परे हट गया। फील्डिग तथा स्कॉट, थैकेरे और जॉर्ज इलियट में लेखक प्रत्येक स्थल पर उपस्थित रहता है, इसलिए कि वह देख सके कि आप प्रत्येक परिस्थिति तथा कार्यकलापों से भली भांति परिचित करा दिए गए है; साथ ही चरित्रो की व्याख्या कर सके ताकि आप उनके बारे में उचित धारणाएं बना सकें, बुद्धि की विषमताओ को बिखेर सकें और कथा के साथ-साथ अच्छे भाव प्रवाह रखे। और यह बताया जा सके कि कैसे उनकी असफलताओ से तुम एक स्वस्थ और ठीक जीवन दर्शन अपना सको।"[८] यह ठीक भी है। क्योंकि 'सेवा-सदन' से ही प्रेमचन्द्र ने घटनाओं के अतिरिक्त पात्रो, सामाजिक कुप्रथाओं तथा कुविचारों एवं रूढ़िगत मान्यताओं की कुटु आलोचना प्रस्तुत की है। उनकी सब कुछ कह डालने की प्रवृत्ति वर्णनात्मक शिल्प को अपनाने की धारणा की पुष्टि करती है।

---

६. सेवासदन—पृष्ठ १३

७. वही—पृष्ठ ४७

8. In a bird's eye view of the english novel from Fielding to ford, the one thing that will impress you more than any other is the disappearnce of the author. In Fieding and scott, in Thackary and George Eliot, the anthor is everywhere present in Person to see that you are properly informed on all the circumstances of the action, to explain the characters to you and insure your forming the right opinion o. them, to scatter nuggets of wisdom and good feeling along the course of the story, and to point out how, from the failures and successes of the characters, you may form a sane and right philosophy of conduct." page 14. chap. II Exit author

शिल्प की दृष्टि से वस्तु विन्यास के अनेक स्थल कृत्रिम परिलक्षित होते हैं, इसका मूल कारण प्रेमचन्द पूर्ववर्ती उपन्यास साहित्य है, जिसे प्रेमचन्द ने रिक्थ के रूप में पाया था। और जिसका आंशिक प्रभाव वे अन्त तक नहीं त्याग सके। इसी कारण से इनके उपन्यासों में संयोग और आकस्मिकता का प्रवेश हुआ है। 'सेवासदन' में कृष्णचन्द्र का आत्महत्या के प्रयत्न में गंगा-तट पर पहुँचना, अकस्मात् स्वामी गजानन्द का पहुँच जाना एक स्वप्न सृष्टि है। ऐसे ही सुमन का भ्रम ही भ्रम में स्वामी गजानन्द की कुटिया तक पहुँच जाना एक आकस्मिक घटना है। ये संयोग और आकस्मिक घटनाएं कथाकार के उद्देश्य की पूर्ति हित संयोजित हुई हैं और वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यास साहित्य में इनका बाहुल्य है क्योंकि यहाँ कथा की कार्य-कारण शृंखला की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि विश्लेषणात्मक शिल्प की कृतियों में पाया जाता है।

रचना चाहे वर्णनात्मक हो या विश्लेषणात्मक, उसमें पात्रों का महत्त्व आवश्यक होता है। उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र कहने वाले कथाकार ने इस महत्त्व को सम्पूर्ण समझा है और अपने पात्रों द्वारा उस कथन को सार्थक कर दिखाया है। 'सेवासदन' वर्णनात्मक शिल्प का उपन्यास है अतः इसके पात्र समाजोन्मुखी हैं और किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुमन को ही लें। यह मध्यवर्गीय नारी समाज की प्रतीक है। इस पात्र के चारित्रिक विकास में कथाकार ने भारतीय नारी, विशेषकर मध्यवर्ग से सम्बन्धित नारी की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं को संयोजित किया है। सुमन अकस्मात् रूप से ही वेश्या नहीं बन बैठती अपितु कथाकार उसके मन पर कुछ ऐसे संस्कार डालता है जो सामयिक परिस्थितियों का परिणाम हैं, जिनके कारण वह वेश्या वृत्ति की ओर उन्मुख होती है। शैशव की चंचलता, यौवनगत रूप प्रदर्शन की कामना उसके शाश्वत संस्कार हैं किन्तु भोली का साहचर्य, आर्थिक समस्याएं और पारिवारिक कलह सामयिक परिस्थितियां बन जाती हैं जो उसके मन और चरित्र को परिवर्तित करने में सहायक सिद्ध होती हैं।

सुमन एक टाइप पात्र है, अतः उसका चारित्रिक पतन क्षणिक रहता है, हृदय से वह पवित्र भारतीय मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है।। बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव ही उसके चरित्र को प्रभावित और परिवर्तित करता है। आदर और सम्मान की भूख उसमें यौन-सुख की भूख (Sex desires) से कहीं अधिक है। इसी से प्रभावित होकर उसने वेश्यावृत्ति ग्रहण की और इसी की प्राप्ति आकांक्षा में इसका त्याग भी कर दिया। वह आरम्भ से अन्त तक कीच में फँसे कमल सदृश खिली हुई पवित्र नारी रहती है। इस विषय में प्रेमचन्द ने एक स्थान पर लिखा है—'सुमन को यद्यपि यहाँ भोग-विलास के सभी सामान प्राप्त थे, लेकिन बहुधा उसे ऐसे मनुष्यों की आवभगत करनी पड़ती थी जिनकी सूरत से उसे घृणा होती थी, जिनकी बातों को सुन उसका जी मिचलाने लगता था। अभी उसके मन में उत्तम भावों का सर्वथा लोप नहीं हुआ था।'[६] यह सिद्ध करता है कि सुमन का चरित्र एक स्थिर (Static) चरित्र है, जो परिवर्तित परिस्थितियों और जीवन स्थितियों

६ सेवासदन—पृष्ठ १११

में भी अपरिवर्तित रहता है। सदन से सतत प्रेम करने पर भी वह यौन संबंधों से बची रही,यह अमनोवैज्ञानिक है। इसका कारण वर्णनात्मक शिल्प योजना ही है, जिसके कारण मनस्तत्व की खोज संभव नहीं हो पाई।

सुमन के अतिरिक्त शांता, सदन, पद्मसिंह, मदनसिंह, उमानाथ कृष्णचन्द्र, विट्ठल दास, सुभद्रा और भोली उपन्यास के मुख्य सामाजिक पात्र हैं, जो कथा में गति लाने में विशेष सहयोग देते है। इनका चरित्र चित्रण प्रेमचन्द द्वारा ही प्रस्तुत हुआ है। इनके अतिरिक्त अबुल्लवफा, सेठ बलभद्र, प्रभाकर राव आदि गौण पर सामाजिक पात्र ही हैं जो केवल मात्र प्रेमचन्द की उद्देश्यप्रियता के प्रतीक है; इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नही है।

परिस्थितियों, चरित्रों और घटनाओं का पारस्परिक संबंध और प्रभाव प्रेमचन्द के शिल्प का मूलाधार है। परिस्थिति का संयोजन चरित्र में उत्कर्ष अथवा अपकर्ष ले आता है, साथ ही उद्देश्यमूलक भी होता हैं। शांता गम्भीर थी और शीलवती भी, जबतक उसकी मां थी; मां गई, तो वह उदण्ड भी हुई और क्रोधी भी। विवाह से पूर्व परिस्थितिवश वह सुमन से दबी रही, श्रद्धामयी भी रही, पर विवाह के ठीक बाद उसने सुमन को आखें भी दिखाई, यही नहीं प्रसव पीड़ा से छुटकारा पाते ही आंखें भी फेर ली। यह चारित्रिक चित्रण स्पष्टतः उद्देश्यमूलक है। इसमें चरित्र की स्थिरता को उद्देश्य के लिए झंझोड़ा भर गया है, उसमें निजी गतिशीलता नही है।

वर्णनात्मक रचना विधान होने के कारण 'सेवासदन' में वर्गगत प्रवृत्तियों का चित्रण अधिक मात्रा और व्यापकता के साथ किया गया है, जिसमे एक असाधारण-सी सजीवता प्रेमचन्द की अपनी मौलिक विशेषता है—"विवाह के इच्छुक बूढ़े नाइयों से मूंछ कटवाते और पके हुए बाल चुनवाने लगते। कोई अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनसे पैर दबवाता, कोई धोती छटवाता। जबतक उमानाथ वहां रहते, स्त्रिया घरों से न निकलती कोई अपने हाथ से पानी न भरता, कोई खेत मे न जाता।"[१०]

वर्गगत चित्रण वर्णनात्मक कृति मे स्वाभाविक भी है, क्योंकि वह पात्र द्वारा नहीं, कथाकार द्वारा होता है। इसीलिए व्यक्ति उसमें व्यक्ति न होकर कथाकार के उद्देश्य के कारण वर्ग का प्रतिनिधि बन जाता है। 'सेवासदन' में भोली का नही, वेश्या वर्ग का समग्र चित्रण है। गजाधर की अहमन्यता पूरे पुरुष वर्ग के बड़प्पन की प्रतीक है। अब्बुलवफा, विट्ठलदास और प्रभाकर राव में मानवीय स्वार्थप्रियता तथा ईर्ष्या वृत्ति का चित्रण है। नगरवासी साहब, सेठ और धनी-मानी सज्जनों की विलासिता उस वर्ग की यथार्थ मनोवृत्ति को उभार कर प्रस्तुत की गई हैं।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासो में कथाकार का ध्यान कथा और चरित्र के साथ-साथ विचार और समस्या पर भी पड़ता है। कभी-कभी तो उसका ध्यान सबसे अधिक विचार पर झुक जाता है। 'सेवासदन' में ऐसा ही हुआ है। इस रचना में प्रेमचन्द का ध्यान सबसे अधिक अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित रहा है। उन्होने इस उपन्यास की

---

१०. सेवासदन—पृष्ठ १८

समस्त घटनाओं और सब पात्रों को अपने सुधारवादी विचारों के अनुसार मोड़ा है। इस उपन्यास में उन्होंने मूलतः वेश्या समस्या को पकड़ा है, फिर उसके विभिन्न रूप दिखाकर परिष्कार और नारी उत्थान के उपाय भी बताए हैं। आदर्श, सिद्धान्त और सुधार की ओर उनका ध्यान सदैव बंधा रहा है। सुमन वेश्यालय में जाकर भी सती बनी रहती है, सदन से प्रेम करने पर भी नैतिकता से परे रहती है, पद्मसिंह अपने ही सिद्धान्तों से चिपके हुए हैं, तभी तो वेश्या सुमन से मिलने तक से कतराते हैं। विट्ठलदास सुधार का डंका बजाते फिरते हैं। यही सुधारप्रियता इस समाज की यथार्थ परिस्थिति और मनोवैज्ञानिक धरातल पर उलट-पुलट कर देती है। यहीं उपन्यास कथाकार के बोझीले सुधारवादी विचारों तले दब गया है।

प्रेमचन्द की लक्ष्य प्रियता के विषय में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी लिखते हैं—'उन्होंने प्रत्येक स्थान में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठाए हैं, उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचन्द जी लक्ष्यवादी हैं।'[10] निर्णय का निरूपण ध्यान में रखने के कारण ही 'सेवासदन' की कुछ घटनाएं नाटकीय सी प्रतीत होती हैं। पात्रों का चरित्र अस्वाभाविक सा बन गया है। सदन का व्यवहार कई स्थलों पर अस्वाभाविक और अमनोवैज्ञानिक है। उसमें भावुकता है बौद्धिकता नहीं। 'सेवासदन' में प्रेमचन्द का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य यही है कि एक ऐसे आश्रम की स्थापना की जाए जिसमें पग रखते ही वेश्याएं देवी बन जाएं, और आदर्श जीवन व्यतीत करें। इसी उद्देश्य के निमित्त देव तुल्य चरित्र सदन और शान्ता के मन में ईर्ष्या, घृणा और क्रोध की अवतारणा की गई है, जिसके कारण खिन्न होकर सुमन दोनों के आश्रय को त्यागकर सुभीतापूर्वक कथाकार के इंगित पर चली और 'सेवासदन' में पहुंची।

'सेवासदन' की स्थापना मात्र से समस्या हल नहीं हो जाती। मुख्य प्रश्न मानवीय मनोवृत्ति से संबंध रखता है। जब तक वेश्याओं का मानसिक स्तर नहीं बदलता, जब तक पुरुष वर्ग की मनोवृत्ति परिवर्तित नहीं होती, तब तक ऐसे सुधार और आदर्श निरर्थक सिद्ध होंगे। स्वयं सुधारवादी आदर्शों की आड़ में सैकड़ों ललनाओं का जीवन भ्रष्ट करते हैं, आश्रमों की योजना बनाकर वहीं से यह व्यापार चलाते हैं। अतः आवश्यकता विषय के मनोवैज्ञानिक पहलू पर प्रकाश डालने की है। वेश्याओं की सामाजिक स्थिति बदलने की है। जब 'सेवासदन' में ही अन्त तक पद्मसिंह जैसे सुधारवादी भी आश्रम में जाकर सुमन से मिलने को तैयार न हुए तो जनसाधारण से क्या आशा रखी जा सकती है।

समसामयिक उपन्यास होने के नाते 'सेवासदन' में आधुनिक समाज, उसकी समस्याओं और विचारों को आधुनिक वातावरण के ढांचे में प्रस्तुत किया गया है। समाज में विद्यमान वर्ग—'वेश्या वर्ग' की सामूहिक वृत्तियों का व्यापकता के साथ चित्रण हुआ है। इस प्रसंग के अन्तर्गत म्युनिसिपल बोर्ड तक में मतदान कराया गया है। कहीं पात्रों में धारा प्रवाह भाव व्यंजनापूर्ण भाषण योजना जुटाई गई है। विचार प्रतिपादन हित जुटाए

१० आलोचना—उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ ५६

गए समस्त भाषण उपन्यास के आकार को बढ़ाते और प्रेमचन्द की उद्देश्य प्रियता को तृप्त करने मे सहायक सिद्ध हुए है, वे औपन्यासिक शिल्प की शैशव अवस्था के परिचायक हैं।

निर्मला—१९२३

'सेवासदन' के पश्चात् प्रेमचन्द के दो उपन्यास 'वरदान' और 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुए। इनमें से 'वरदान' बहुत पहिले लिखा जा चुका था अतः इसमें 'सेवासदन' की सी कलात्मक प्रौढ़ता का अभाव खटकता है। 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' के ढर्रे पर ही रचा गया, किन्तु दुहरे कथानक के कारण इसमें प्रेमचन्द की वर्णनात्मक प्रतिभा अधिक प्रखर हो गई है। 'प्रेमाश्रम' के पश्चात् 'निर्मला' ही ऐसी रचना है, जिसे 'सेवासदन' के उपरान्त शिल्प की दृष्टि से अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है, इसका कारण प्रेमचन्द का इस रचना को तैयार करते समय शिल्प को अधिक महत्त्व देना है। वर्णनात्मक शिल्प के अन्तर्गत इसमें व्यापकता की अपेक्षा गहनता को प्रश्रय मिला। 'निर्मला' का आरम्भ अधिक संयत होकर किया गया है। 'सेवासदन' की भाति इसकी आरम्भिक पंक्तियां नीति शब्दों से लदी हुई नही है, अपितु इनमें आश्चर्यजनक ढंग से उदयभानु की पारिवारिक दशा और कलह का परिचय भी दिया गया है; इसमें वर्णनाधिक्य नहीं है, कथा बाहुल्य है; घटना प्रधान्य है। कृष्णा से रुष्ट होकर उदयभानु कुछ कर गुज़रने के लिए घर से बाहर निकलते ही हैं कि मतई की अतीत प्रतिशोध अग्नि का शिकार हो जाते हैं; इनकी मृत्यु एक संयोग नहीं है अपितु तीन वर्ष पूर्व घटित मतई को दिलाए गए कारावास के दण्ड का परिणाम है, कार्य-कारण शृंखला का निर्वाह इसी को कहेंगे।

'निर्मला' एक लघु उपन्यास है। अनमेल विवाह ही इसका मूल विषय है, किन्तु इसमें केवल नारी-जीवन को विषाक्त करने वाले तत्त्वों का वर्णन ही नहीं हुआ है, अपितु विमाता की छत्र-छाया में पले शिशुओं की दारुण स्थिति का वर्णन भी किया गया गया है। अनमेल विवाह और विमाता के संस्कारों का विवरण 'निर्मला' में संयत होकर प्रस्तुत किया गया है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत यह संयम और संक्षिप्त चित्रण योजना प्रेमचन्द के नये रूप को प्रस्तुत करती है। कथाकार ने कथावस्तु को संगठित करने और वर्णन विस्तार को सीमित रखने के लिए जिस विधा का प्रयोग किया है, उससे हमें परिचित भी करवा दिया है। तीसरे परिच्छेद का आरम्भ करते ही वह 'निर्मला' में लिखता है—"विधवा का विलाप और अनाथो का रोना सुनाकर हम पाठकों का दिल न दुखाएंगे। जिसके ऊपर पड़ती है, वह रोता है, विलाप करता है, पछाड़ें खाता है, यह कोई नई बात नहीं है।"[1] इतना लिखते ही वह मुख्य विषय और कथा को पकड़ कर आगे बढ़ गए हैं, किन्तु कथा के बीच मे बार-बार आकर अपनी ओर से मुख्य घटनाओं का विवेचन करने और अपना मत देने की प्रवृत्ति का त्याग नहीं कर सके। निर्मला के पिता उदयभानु की हत्या के पश्चात् प्रेमचन्द ने अपनी ओर से जो टीका-टिप्पणी की है, वह संयत तो है,

---

१. निर्मला—पृष्ठ १६

किन्तु अपनी ओर से टीका टिप्पणी करने की प्रवृत्ति की परिचायक अवश्य है। यह टिप्पणी नीचे दी जाती है—

"जीवन तुमसे ज्यादा असार भी दुनिया म कोई वस्तु है? क्या वह उस दीपक की भांति ही क्षणभंगुर नहीं है जो हवा के एक झोंके से बुझ जाता है? पानी के एक बुल-बुले को देखते हो, लेकिन उसे टूटते ही कुछ देर लगती है, जीवन मे उतना सार भी नहीं है। सास का भरोसा ही क्या? और इसी नश्वरता पर हम अभिलाषाओं के कितने विशाल भवन बनाते हैं। नहीं जानते, नीचे जाने वाली सास ऊपर आएगी या नहीं, पर सोचते इतनी दूर की हैं, मानो हम अमर हैं।"[२]

'निर्मला' म अनावश्यक विवेचन और विस्तार का अभाव है। लम्बे सभाषण और उपदेश भी नहीं है घटनाओं का विवरण भी सयत कर दिया गया है। पात्रो का चरित्र भी बडी कुशलता मे अकित किया है। निर्मला की दुश्चिन्तना का आभास पहले ही परिच्छेद मे मिल जाता है। उसकी अस्थिर मनोदशा का एक चित्र देखिए—"निर्मला जब वस्त्रा-भूषणो से अलकृत होकर आइने के सामने खडी होती है और उसमे अपने सौंदर्य की सुषमा-पूर्ण आभा देखती, तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तडप उठता था। उस वक्त उसके हृदय मे एक ज्वालामुखी सी उठती। मन म आता, इस घर मे आग लगा दू। अपनी माता पर क्रोध आता, पर सबसे अधिक क्रोध बेचारे निरपराध (!) तोताराम पर आता।"[३] उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद मे निर्मला व्याप्त है। उसे उपन्यास की केन्द्रस्थ सत्ता कह सकते हैं।

'निर्मला' की घटनात्मक और वर्णनात्मक स्थिति पूर्ण सतुलित है। इसमे एक व्यक्ति विशेष (निर्मला) की कथा को पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कोण से देखा-परखा गया है। इस उपन्यास मे केवल एक मुख्य कथा, एक उपचरित्र तथा तीन वर्णन नियोजित हैं। उपन्यासकार एक सीमा तक पीछे हटकर पात्रो को ही परिस्थिति बनाने या बिगाडने का अवसर देता चला है। परिणाम स्वरूप वर्णित पात्रो की आन्तरिक मनोवृत्ति और जीवनगत अनुभूति अधिक प्रखर रूप मे प्रस्तुत हुई है। मसाराम निर्मला मनोमालिन्य कथाकार की नहीं, रुक्मिणी की ईर्ष्यालु और मुशीराम की चिरशकालु प्रवृत्ति का परिणाम है। मसाराम के बाल हृदय मे पारिवारिक जीवन के विषम अनुभवो का चित्रण कराया गया है। विमाता की दिनचर्या और भावोद्गार की प्रतिक्रिया मसाराम के बाल हृदय पर एक अमिट प्रभाव छोडती है, उसे द्वद्वात्मक स्थिति मे प्रवेश कराती है—वह सोचता है—यह स्नेह, वात्सल्य और विनय की देवी है या ईर्ष्या और अमगल की मायाविनी मूर्ति। उसे निर्मला की सहृदयता पर विश्वास आया ही चाहता है कि मुशी तोताराम आ धमकते हैं। उन्हे देखते ही निर्मला का परिवर्तित रूप कथा की रूप-रेखा की दिशा ही बदल देता है, मसाराम के हृदय म पुन द्वन्द्व मच जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वह गृहत्याग और मृत्यु का शिकार होता है।

---

२ निर्मला—पृष्ठ १६

३ वही—पृष्ठ ४०

'निर्मला' वर्णनात्मक शिल्प का उपन्यास है, अतः इसके पात्र किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है; वे स्थिर है, गत्यात्मक (Dynamic) नहीं। तोताराम, मंसाराम और निर्मला तथा रुक्मिणी एक पग भी अपने विचारों, व्यापारों, आदर्शो और सिद्धान्तों से इधर-उधर होने को तैयार नहीं है, वे टूट तो जाते हैं, किन्तु मुड़ या झुक नही सकते। निर्मला की सहृदयता विवशता किन्तु फिर भी निष्ठा, धर्मभीरुता एवं कर्तव्य-परायण आरम्भ से अन्त तक एक ही रूप में वर्णित की गई हैं। वह सीमाओं में बंधकर चलती है और मध्यवर्गीय भारतीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है। जीवन की विषम से विषमतम परिस्थिति भी उसे उसके सिद्धान्तों और आदर्शो से डिगा नहीं पाती। विमाता होने पर भी वह सद्माता बनी रहती है। नवजात कन्या के भविष्य की चिंता से बंधकर भी वह जियाराम की रक्षार्थ पाच सौ रुपया निकालकर दे देती है।

'निर्मला' में प्रेमचन्द ने चरित्र की मर्मस्पर्शी दशाओं का चित्रण सविस्तार न करके उसे सीमित, प्रखर और अधिक प्रभावमय बना दिया है। निर्मला की दारुण और विवश दशा का चित्रण केवल इन दो पंक्तियों में कर दिया गया है—"निर्मला की दशा उस पंखहीन पक्षी की सी हो रही थी, जो सर्प को अपनी ओर आते देखकर उड़ना चाहता है, पर उड़ नहीं सकता, उछलता है और गिर पड़ता है।"[4] निर्मला आदि पात्रों का चरित्र चित्रण सर्वत्र प्रेमचन्द ने ही नही किया है, अपितु दूसरे पात्रों को भी अन्य पात्रों के विषय मे सोचने और प्रकाश डालने का पूरा-पूरा अवसर दिया है। बोर्डिंग हाउस में जाकर भी मंसाराम के हृदय को चैन नही पड़ता। वह सतत निर्मला के विषय में सोचता रहता है और उसके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए कहता है—"आहा! मैं कितने भ्रम में था। मैं उनके स्नेह को कौशल समझता था। मुझे क्या मालूम था कि उन्हें पिता जी का भ्रम शांत करने के लिए मेरे प्रति इतना कटु व्यवहार करना पड़ता है। आहा! मैंने उनपर कितना अन्याय किया है। उनकी दशा तो मुझसे भी खराब हो रही होगी। मैं तो यहां चला आया। मगर वह कहां जाएगी।...वह अब भी बैठी रो रही होंगी। कितना बड़ा अनर्थ है? बाबूजी को यह क्या हो रहा है? क्या इसीलिए विवाह किया था? क्या एक बालिका की हत्या करने के लिए ही उसे लाए थे? इस कोमल पुष्प को मसल डालने के लिए ही तोड़ा था।"[5]

शंका, शंका समाधान और उससे संबंधित चित्रण केवल एक पात्र द्वारा संयोजित नहीं होता। 'निर्मला' में निर्मला के चरित्र से संबंधित शंका की चर्चा क्रमशः मंसाराम, तोताराम और फिर निर्मला द्वारा की गई है। निर्मला की शंका निर्मूल नही है; उसे अपने से अधिक अपने जीवन चरित्र की चिंता है, तोताराम की परिवर्तित मुख मुद्रा और कटु व्यंग्य उसके सात्विक मन पर वज्राघात करते है। चरित्र की यह व्याख्यात्मक प्रणाली वर्णनात्मक शिल्प की विशिष्ट देन है। 'निर्मला' में चरित्रों के चित्रण को संतुलित रखने की चेष्टा की गई है, उसे ससीम कर दिया गया है, किन्तु उद्देश्यमूलक कलाकार ने अवसर

---

४. निर्मला—पृष्ठ ७६

५. वही—पृष्ठ ८४

मिलने पर इस ससीम अवस्था का कहीं कहीं अतिक्रमण भी कर दिया है। पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण के विवाह अवसर पर कृष्ण निर्मला वार्ता केवल मात्र बूढ़े तोताराम के चरित्र पर, उसकी शकालु प्रवृत्ति पर कटाक्षाघात करने के लिए नियोजित की गई है। इसमें कथाकार के लक्ष्य की पूर्ति हुई है, शिल्प की अभिवृद्धि नहीं।

'निर्मला' में प्रेमचन्द स्वयं ही लम्बे चौड़े और लच्छेदार भाषणों की योजना से दूर नहीं रहता अपितु पात्रों को भी सयत होकर बोलने देता है। पात्र मुखोद्गारित सभाषण ससीम है, उनका विचार विवेचन पर्याप्त लघु है। जैसे—"स्त्री स्वभाव से लज्जाशीला होती है। कुलटाओं की बात तो दूसरी है, पर साधारणत स्त्री पुरुष से कहीं ज्यादा सयमशीला होती है। जोड़ का पति पाकर वह चाहे पर-पुरुष से हँसी दिल्लगी कर ले, पर उसका मन शुद्ध रहता है। बेजोड़ विवाह हो जाने से वह चाहे किसी की ओर आखें उठाकर न देखे, पर उसका चित्त दुखी रहता है।"[६] तोताराम के ये मनोद्गार लघुकाय हैं, इसी प्रकार के विषयों पर प्रेमचन्द के दूसरे उपन्यासों के पात्र घण्टों बोलते नहीं अघाते। 'रंगभूमि' के सूरदास और 'गोदान' के मि० मेहता काफी लम्बे-लम्बे भाषण देते हैं।

'निर्मला' वर्णनात्मक शिल्प की रचना होने पर भी शुद्ध पारिवारिक उपन्यास है। इसका पारिवारिक चित्रण समाजोन्मुखी है और इसमें प्रेमचन्द ने पात्रों के अन्तस में बसने की अपेक्षा उनके बाह्य द्वन्द्व और बहिर्गत कार्य कलाप का चित्रण ही विशदता के साथ किया है। उपन्यास की तीन प्रमुख घटनाएं— मसाराम की मृत्यु, जियाराम का भाग जाना और सियाराम का अपहरण—घर के घेरे से बाहर घटित होती हैं। सुधा के पुत्र की आकस्मिक मृत्यु एकमात्र ऐसी घटना है जो घर में घटित होती है, किन्तु यह घटना स्वयं कथा के मुख्य कैनवस (Canvass) के घेरे से बाहर है। अतएव शिल्प की दृष्टि से आलोच्य है। इसका वर्णन केवल मात्र कथाकार की सुधार मूलक विचार-धारा का प्रतीक है, शिल्प सौष्ठव का परिचायक नहीं। यहां कथाकार ने यह चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि वैवाहिक जीवन की सफलता या असफलता केवलमात्र भौतिक साधनों और सुविधाओं पर ही निर्भर नहीं है, अपितु मानसिक स्तर और बौद्धिक सौजन्य पर आधारित है।

कतिपय समालोचक कथाकार से शतप्रतिशत आधुनिकता की मांग करते हैं। वे आधुनिक औपन्यासिक शिल्प का नितान्त नवीन रूप देखना चाहते हैं और प्रेमचन्द से भी उसी की अपेक्षा रखते हैं। श्री मन्मथनाथ गुप्त भी ऐसे समालोचकों में से एक हैं। उन्होंने 'निर्मला' में कुछ शिल्पगत दोष ढूंढ निकाले हैं। 'निर्मला' की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—"टेक नीक की दृष्टि से इस पुस्तक में खोजने पर कुछ त्रुटियां मिल सकेंगी। द्वितीय परिच्छेद में ये शब्द आते हैं—'पर यह कौन जानता था कि वह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है। जीवन रंगशाला का यह सूत्रधार किसी अगम्य स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल क्रूर कौतुक दिखा रहा है। यह कौन जानता था कि नकल असल होने आ रही है अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करने वाला है।' यह उस समय का वर्णन है जब उदयभानु रात गंगा में डूबने का स्वांग रचने जा रहे थे। वर्णन कुछ प्राचीनता दोष पुष्ट

६ निर्मला—पृष्ठ १००

है। इसी के बाद प्रकृति वर्णन है—"निशा ने इन्दु को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। सद्वृत्तियां मुंह छिपाए पड़ी थीं, और कुवृत्तियां विजय गर्भ से इठलाती फिरती थीं। वन में वन्य-जन्तु शिकार की खोज मे फिर रहे थे, और नगरों में नर-पिशाच गलियों में मंडराते फिरते थे।" एक आधुनिक उपन्यास में इस प्रकार के वर्णन से सौंदर्य की कोई वृद्धि नही होती।"[७]

श्री मन्मथनाथ गुप्त ने पहले प्रसंग को प्राचीनता दोप पुष्ट बताया है। यह तो ठीक है, किन्तु शिल्प के अन्तर्गत इसकी विशिष्ट आलोचना नहीं की। इतना लिख देना कि प्रसंग प्राचीनता दोष पुष्ट है, पर्याप्त नहीं। क्योकि प्राचीनता अपने आप में कोई दोप नहीं है। बहुत सी प्राचीन बातें आज भी संगत और वैज्ञानिक भी हो सकती हैं। दूसरे प्रसंग को लेकर उसमें सांकेतिक वर्णन की बात उठाई है, यह भी आलोच्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रेमचन्द का शिल्प वर्णन प्रधान शिल्प है। आचार्य शुक्ल की भांति प्रेमचन्द की यह प्रवृत्ति रही है कि एक बात लिखकर उस पर छोटी या बड़ी टीका-टिप्पणी अवश्य दे देते है। 'निर्मला' मे तो उन्होने इस प्रवृत्ति की ओर विशेप संयम का परिचय भी दिया है, अन्य रचनाओं में तो वे खुलकर बोले है, अतः यह कोई दोप नहीं, शिल्पगत प्रवृत्ति है। वर्णनात्मक शिल्प के अन्तर्गत प्राकृतिक, भौतिक और अन्य बाह्य घटनाओं, प्रवृत्तियों और वातावरण का विस्तृत वर्णन हुआ करता है, यह स्वाभाविक ही कहा जाएगा। परिस्थिति अनुकूल प्राकृतिक वर्णन उपन्यास के रूप की सौदर्य वृद्धि ही करते हैं, वे वर्णनात्मक शिल्प-विधि के प्राण हैं; उनके कारण ही उपन्यास में मानव और जगत के चित्र का चित्रण और व्याख्या प्रस्तुत होती है, अतः श्री मन्मथनाथ जी के मत से मैं सहमत नहीं हू। प्राचीनता भी कोई दोष नही है, अपितु ऐतिहासिक महत्त्व की विधा है जिसका शिलान्यास हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र मे प्रेमचन्द द्वारा प्रस्तुत हुआ है।

रंगभूमि—१९२४

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सबसे वृहद् उपन्यास है। इस विशालकाय रचना में व्यक्ति, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति, दर्शन और भारतीय इतिहास (१९०१–१९२३) को प्रतिष्ठित किया गया है। वस्तु-विन्यास, पात्र और विचारों की व्यापकता के कारण इसके रूपाकार (form) को संभालने की कठिनाई का प्रश्न उठता है। इसके विपय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह सुगठित रूप का उज्ज्वल प्रमाण है, क्योंकि एक साथ तीन कथानकों को व्यवस्थित ढंग से संभालने और निभाने का प्रश्न जटिल हुआ करता है। इसमें व्यक्ति और स्थान इतने दूर तक फैले हुए हैं कि उनमें स्वाभाविकता रहना दुर्लभ हो गया है।

'रंगभूमि' का शिल्प-विधान वर्णनात्मक है। इसकी रचना व्याख्यात्मक शैली के अनुसार की गई है। इसका रूप बहिर्मुखी है जिसमें तीन मुख्य कथाएं तथा अनेक उप-कथाएं समानान्तर चलती हैं जो जीवन की व्यापकता को इसके अन्तर्गत समेटने का प्रयास

---

७. कथाकार प्रेमचन्द— पृष्ठ ४३९

करती है। सघर्ष का मूल बीज व्यक्ति-परक है किन्तु उसे बहिर्मुखी रूप देने के लिए समाजोन्मुखी रखा गया है। सूरदास की लडाई दस बीघे भूमि की रक्षा हित की गई स्वार्थमूलक व्यक्तिपरक लडाई नहीं रह जाती, अपितु भारतीय ग्रामीण जीवन तथा निम्न मध्य-वर्ग के अधिकारों की लडाई बन जाती है। इसे इतिवृत्तात्मक रूप देकर प्रस्तुत किया गया है जिसके कारण इसका विवरणात्मक रूप खिल उठा है। प्रस्तुत उपन्यास 'रगभूमि' में कथाकार के व्यापक दृष्टिकोण और कथा की सुदृढ पकड दोनो ही द्रष्टव्य हैं। वे कथा के एक सूत्र को पकड लेते हैं, फिर उससे सबधित अनेक आख्यानो तथा घटनाओ को चित्रित कर दस्या का विस्तार कर देते हैं। इस प्रकार कहानी में से कहानी (Episode) जन्म लेती है, नये-नये चरित्रो के निर्माण का अवसर मिलता रहता है। 'रगभूमि' में नई-नई, कथाओ तथा पात्रो की उदभावना केवल कथा कहने के उद्देश्य से नहीं हुई अपितु मानव जीवन के अखण्ड चित्र को चित्रित करने के महान उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर हुई है। इस दृष्टि से यह रचना भी उद्देश्यमूलक है। कथाकार ने मनोनीत आदर्शों तथा सिद्धान्तों के प्रतिपालन हित स्थान स्थान पर कथा को तोडा है, नये चरित्रो को जन्म दिया है और कतिपय चरित्रो के स्वाभाविक विकास की गति रोक दी है, या उन्हें मृत्यु लोक में पहुचा दिया है।

सामयिक समाज ही 'रगभूमि' का विषय है। जीवन के जितने विविध रूपो को इसमें अभिव्यक्त किया जा सकता था, कथाकार ने अपनी ओर से उन सभी को एक साथ पकड लेने की पूरी चेष्टा की है। इसमें हम विश्व के तीन बडे धर्म, (हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई) तीन वर्ग (पूजीपति, मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग) तथा मानवीय जीवन की तीन अवस्थाओ में चित्रित पात्र (वृद्ध—ईश्वर सेवक, युवक—विनय, शिशु—घीसू) उपलब्ध होते हैं। मूल विषय भारत में औद्योगीकरण हित उठी अनेक समस्याओ का विशद चित्रण है। औद्योगीकरण के विषय से सबधित समस्याओ का चित्रण भी उद्देश्य मूलक होने के कारण एकागी रहा है। कथाकार ने अपने आदर्शवाद को प्रमुख रखकर ग्रामीण समाज की कठिनाइयो, इच्छाओ, आकाक्षाओ तथा नैतिक विचारो की चर्चा ही अधिक बल देकर की है। औद्योगीकरण के फलस्वरूप समाज और देश के कल्याण की बात जान सेवक से कहलवाकर भी उसे अपने आदर्शवादी विचारो तथा उद्देश्य के फलस्वरूप पल्लवित नहीं होने दिया।

विशाल विषय के चुनाव के कारण वस्तु विन्यास की व्यापकता आवश्यक हो गई। इसके लिए प्रेमचन्द ने कथा के तीन केन्द्र रखे हैं। पहली कथा का केन्द्र काशी का निकटवर्ती ग्राम पाडेपुर तथा इसका कर्णधार अधा चमार सूरदास है। दूसरी कथा काशी नगरी में पल्लवित होती है, इसके अग्रदूत विनय, सोफिया, राजा महेन्द्रकुमार इन्दु तथा जानसेवक हैं। तीसरी कथा मुख्य पैटर्न से दूर खडी है, इससे सबधित सभी घटनाए एक दूरवर्ती रियासत उदयपुर के जसवन्त नगर और उसके निकटवर्ती इलाके में घटित होती हैं। इसके सूत्रधार दूसरी कथा के नायक विनयकुमार ही हैं किन्तु इसकी परिस्थितिया तथा दृश्य नए हैं। इसकी योजना प्रेमचन्द की उद्देश्य प्रियता का प्रमाण है।

इन तीनो कथाओ से अतिरिक्त भैरों-सुभागी, ताहिरअली माहिरअली, आदि

की उपकथाएं भी ली गई हैं। कथाकार ने भैरों-सुभागी की उपकथा को सूरदास की जीवनी से जोड़ दिया है और ताहिरअली माहिरअली परिवार की कथा को ही स्वतंत्र रूप से विकसित किया है। यह कथा विशेष रूप से प्रेमचन्द के ध्येयवादी दृष्टिकोण की पुष्टि करती है। इसके द्वारा उन्होंने मध्यवर्गीय परिवारों की आर्थिक उलझनों का चित्र खींचा है तथा 'रंगभूमि' को सामयिक समाज का चित्र बनाया है। ये उपकथाएं तथा इसमें गुम्फित अनेक घटनाएं ही 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द के व्यापक दृष्टिकोण की परिचायक है। जिसकी स्वीकृति कतिपय विद्वानों द्वारा की गई है।[1]

(क) "रंगभूमि भारतीय समाज की सम्पूर्णता को गाथाबद्ध करने का सबसे बड़ा प्रयास है। हिन्दी कथा-साहित्य में इसकी जोड़ का दूसरा प्रयास अनुपलब्ध है।"

(ख) "जितनी बड़ी रंगभूमि इस उपन्यास की है उतनी अधिक किसी अन्य उपन्यास की नहीं है।"

(ग) " 'रंगभूमि' जीवन की वास्तविक रंगभूमि है। इसमे लेखक ने समस्त जीवन का सम्पूर्ण चित्र बड़ी व्यापकता से खींचा है।"

(घ) " 'रंगभूमि' गांधीवाद के उन्माद की विभोर अवस्था में लिखित उपन्यास है।"

एक उपन्यास में अनेक स्वतन्त्र कथाओं को स्थान देना प्रेमचन्द पर पूर्ववर्ती उपन्यास के प्रभाव स्वरूप घटित हुआ। प्रेमचन्द से पूर्व देवकीनन्दन खत्री आदि उपन्यासकार कथा के बीच अनेक कथाओं का सृजन करते रहे हैं। उनका उद्देश्य केवल मात्र कौतूहलवर्धक घटनाओं और दृश्यों की रचना करना था। कार्य-कारण शृंखला की उन्हें कोई चिन्ता न रहती थी। प्रेमचन्द ने पाश्चात्य शिल्प का अध्ययन किया था, अतः उन्होंने कथाओं में कार्य-कारण शृंखला बनाए रखने की पूरी चेष्टा की। फिर भी यदि अस्वाभाविकता तथा असंबंधिता दृष्टिगोचर होती है तो वह वर्णनात्मक शिल्प-विधि के कारण है। वर्णनात्मक शिल्पी के कथानक यदि तिहरी कथावस्तु को लेकर चलते है तो उनमें शृंखला बनाए रखना सम्भव नहीं रहता।

टॉलसटाय की प्रसिद्ध रचना 'वार एण्ड पीस' में भी ऐसा ही हुआ है। इसके विषय में श्री लुब्बोक महोदय लिखते हैं—" 'वार एण्ड पीस' का साधारण स्वरूप दृष्टि को सन्तुष्ट करने में असफल रहता है। ऐसा मेरा विचार है कि यह अवश्य ही असफल रहता है। यह दो योजनाओं की अनर्गलता है, एक ऐसी अनर्गलता जो अल्प या अधिक मात्रा में टॉलसटाय के बदले हुए गतिमान ढंग से प्रतिपादित करती है। किन्तु यह अपने आकार को तभी अभिव्यक्त करती है जब समस्त रूप में देखा जाए तो इसका कोई केन्द्र नहीं मिलता। टॉलसटाय इस विषय में स्पष्ट रूप में इतने असंबंधित रहते हैं कि कोई भी यह परिणाम

---

१. (क) श्री हरस्वरूप माथुर—प्रेमचन्द : उपन्यास और शिल्प
(ख) डॉ० रामरतन भटनागर—आलोचना : उपन्यास विशेषांक
(ग) श्री गंगाप्रसाद पांडेय—हिन्दी कथा साहित्य
(घ) डॉ० इन्द्रनाथ मदान—प्रेमचन्द : चिन्तन और कला

निकालेगा कि उन्होंने इस विषय पर गौर नहीं किया है।"[2]

'रंगभूमि' में एक और बात दृष्टव्य है। वह है—कथा के केन्द्र की बात। पाण्डेपुर केवल पहली कथा का केन्द्र ही नहीं है, दूसरी कथा का केन्द्र भी बन जाता है। हां तीसरी कथा (जसवन्त नगर की कथा) का केन्द्र नहीं बन पाया। इसीलिए यह कथा मूल कथा तथा मुख्य पैटर्न से दूर खड़ी है। यह केवल मात्र उद्देश्य पूर्ति के लिए रची गई है, कथा शिल्प की सौन्दर्य वृद्धि के लिए नहीं। इस कथा का उद्गम स्रोत रानी जाह्नवी की उस महत्वाकांक्षा से फूटता है जहां वह विनय को कर्मनिष्ठ, समाजसेवी, आत्मत्यागी, वीर प्रभु के रूप में देखने का सुख स्वप्न लेती है। सोफिया के प्रति उसकी बढ़ती हुई आसक्ति को मन्द करने तथा उज्ज्वल प्रेम को प्रखर करने के निमित्त प्रेमचन्द उसे कुछ समय के लिए मुख्य रंगभूमि से हटाकर जसवन्त नगर भेज देते हैं। दूसरे प्रेमचन्द आदर्शों की पूर्ति ही नहीं करते उद्देश्य को भी दृष्टिगत रखते हैं। एकमात्र पूंजीवादी शोषण ही नहीं, सामन्ती शोषण के चित्र भी अंकित करना चाहते हैं। इसी के लिए जसवन्त नगर और वीरपालसिंह से संबंधित घटनाएं दी गई हैं।

जसवन्त नगर वाली कथा मुख्य कैनवस से दूर हट गई है, इसीलिए इसमें एक अद्भुत उथल पुथल (Confusion) दृष्टिगोचर होता है। सोफिया को वश में करने के लिए विनय द्वारा किए गए जनन्त्रात्मक प्रयोग 'भूतनाथ' और 'चन्द्रकान्ता' का स्मरण कराते हैं। इस कथा के अन्तर्गत हमें सबसे अधिक अप्रासंगिक प्रसंग मिलते हैं। वीरपाल सिंह की सारी कथा अप्रासंगिक है। जब वह विनय को स्वतन्त्र कराने के लिए जेल में सेंद लगाकर आता है तब आदर्शवादी विनय के द्वारा डांट दिया जाता है, दूसरे ही दिन जब जेल से न्यायालय की ओर विनय को ले जाते हुए एकाएक दूसरी मोटर में डालकर दीवान के सम्मुख दिखाया जाता है तब पाठक भौंचक्का सा रह जाता है। यह अद्भुत घटनावली स्पष्टतया पूर्ववर्ती उपन्यास का प्रभाव दर्शाती है। साथ ही कथाकार की उद्देश्यमूलक वृत्ति का उद्घाटन भी करती है। यहीं प्रेमचन्द ने विनय-दीवान वार्ता दिखाई है जिसके द्वारा सामन्ती शोषण की खोखली बातों की जड़ें खोदी हैं। शिल्प की दृष्टि से इन घटनाओं का कोई महत्व नहीं है। यहां उद्देश्य ही प्रमुख है।

सोफिया पर हुए आक्रमण का प्रतिशोध लेने के लिए विनय का उग्र रूप धारण करना जहां मानवीय दुर्बलता का परिचायक है वहां परिस्थिति के प्रभाव का चित्रक दृश्य है। यहीं से अधिकतम आकस्मिक घटनाओं का सूत्रपात होता है। यहीं प्रेमचन्द

---

2 "Why the general shape of 'War and Peace fails to satisfy the eye—as I suppose it admittedly to fail It is a confusion of the designs, a confusion more or less marked by Tolstoy s imperturbable ease of manner, but revealed by the book of his novel when it is seen as a whole It has no centre, and Tolstoy is so clearly unconcerned by the back that one must conclude he never perceived it"

"The Craft of Fication" P 39

अपने दार्शनिक विचार प्रकट करने का अवसर पाते हैं—"जीवन के सुख जीवन के दुःख है। विराग और आत्मग्लानि ही जीवन के रत्न है। हमारी पवित्र कामनाएं, हमारी निर्मल सेवाएं, हमारी शुभ कल्पनाएं विपत्ति ही की भूमि में अंकुरित और पल्लवित होती है।"[3]

'रंगभूमि' में हमें औद्योगिक क्रान्ति की आरम्भ कालीन परिस्थितियां तथा सामन्ती राज्य में दु:ख के सांस लेती जनता दोनों ही दृष्टिगोचर होती है, किन्तु इनमे से औद्योगीकरण से संबंधित समस्याएं अधिक प्रखर रूप में सामने आई है। इसीलिए औद्योगिक आरम्भ कालीन परिस्थितियो को चित्रित करने के लिए दो कथाओं की योजना जुटाई गई हैं। सामन्ती शोषण की कथा एक कथानक में सन्निहित कर दी गई है। एक ही विषय (औद्योगिक विकास का विषय) से संबंधित होने के कारण प्रथम दो कथानक एक-दूसरे में गुम्फित हो गए है। सूरदास पाण्डेपुर निवासियों की नाना लीलाओ में ही मग्न नहीं है अपितु काशी नगरी के उद्योगपति जानसेवक और प्रधान राजा महेन्द्रकुमार द्वारा आयोजित औद्योगिक तथा राजनैतिक दाव पेंचो को उलटता तथा घुमाता रहता है। इसी भांति जानसेवक, महेन्द्रकुमार; विनय और इन्द्रदत्त पाण्डेपुर निवासी नायकराम, भैरों, बजरंगी आदि पात्रों की कथाओं मे पूरी रुचि रखते है और उन्हें अपने-अपने हाथ में रखकर स्वार्थसिद्धि करना चाहते है। इन दो कथानकों मे केवल मात्र राजनीति और समाज का ही समावेश नही हुआ है अपितु परिवार चित्रण भी खुलकर किया गया है। एक नहीं, तीन-तीन परिवार दोनों कथानको में लाए गए है। काशी में जानसेवक परिवार के अतिरिक्त कुंवर भरतसिंह तथा राजा महेन्द्रकुमार के पारिवारिक जीवन की झांकी मिली है तो पाण्डेपुर में ताहिर अली परिवार के साथ-साथ भैरो सुभागी परिवार तथा वजरंगी का छोटा-सा कुटुम्ब भी दृष्टिगोचर होता है। इन सब परिवारो में ताहिरअली परिवार की उपकथा ही सबसे लम्बी बन पड़ी है जो कथा शिल्प की दृष्टि से आलोच्य है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार यह कथा उपन्यास को बोझीला बना देती है—"ताहिरअली और उनके समस्त परिवार की कथा जो उपन्यास में भिन्न-भिन्न अवसरों पर आती रही है, कथानक की दृष्टि से उपन्यास को बोझीला बना देती है। यदि ताहिरअली का आख्यान 'रंगभूमि' मे न होता तो कोई हानि न थी। बल्कि कथा अधिक व्यवस्थित और गतिशील हो सकती थी।"[4]

इस उपकथा को कथाकार ने सुचारु ढंग से चलाया है। हमारे मतानुसार यह कथा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसको बढ़ाने के लिए कथाकार ने पांच अध्याय मुख्य कथानक मे जोड़ दिए।[5] यदि इनसे अलग कर दिया जाए तो एक लघु उपन्यास की रचना की जा सकती थी। हमारी दृष्टि में कथाकार ने इस कथा को जो विस्तार दिया है वह उद्देश्यमूलक है। कथाकार मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन की कतिपय समस्याएं

---

३. 'रंगभूमि' (दूसरा भाग)—पृष्ठ २०२

४. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ ७७

५. रंगभूमि—अध्याय संख्या—पृष्ठ ९७ से १०१ तक, ४, १०, २२ (प्रथम भाग) ३६, ४७ (दूसरा भाग)

तथा नैतिक मान्यताएं चित्रित करना चाहा है और उसी के निमित्त उसने यह कथा गढ़ दी है।

सूरदास और पाण्डेयपुर निवासियों की कथा मुख्य कथानक का सृजन करती है। इसमें भारतीय ग्रामीण जीवन की दीनता, पारस्परिक कलह के कारण जनता की मानसिक हीनता तथा ईर्ष्या, द्वेष जनित लोगों की वाह्य स्थिति का विवरणात्मक उल्लेख प्राप्त होता है। अभी ये लोग अपनी उलझनों से ही मुक्ति नहीं पा रहे कि नगरवासी पूंजीपति जानसेवक की असीम महत्वाकांक्षाओं के शिकार हो जाते हैं। यहीं से दूसरे कथानक का श्रीगणेश होता है और दोनों कथानक साथ-साथ चलने लगते हैं। घटनाओं के मेघ छा जाते हैं और उनमें से कभी-कभी आकस्मिक घटनाएं ओले बन बरस उठती हैं। इन आकस्मिक घटनाओं का मूल कारण हमें खोजना है। प्रेमचन्द के शिल्प विधान में ये आकस्मिक घटनाएं कांटों के समान चुभ रही हैं। इनके समावेश के चार कारण दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें प्रथम का संबंध कथावस्तु से है शेष तीन का चरित्र चित्रण तथा उद्देश्य से है।

वस्तु विवेचन में नई घटना का समावेश शिल्प की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। हमें परखना यह है कि क्या नवीन घटना स्वाभाविक, प्रासंगिक और कथा संगठन की दृष्टि से उपादेय है अथवा केवल मात्र कौतूहल वृद्धि करनेवाली है। दूसरी मुख्यकथा को आरम्भ करने से पूर्व प्रेमचन्द ने जानसेवक की दुहिता सोफिया को अपने पारिवारिक एवं धार्मिक संकुल जीवन के प्रति असंतुष्ट दिखाया है। वह इस जीवन से परे भाग जाना चाहती है। घर से चल पड़ती है कि शैशव कालीन स्मृति जागृत हो उठती है और उसे इन्दु की याद आ जाती है। इसी स्मृति पर प्रेमचन्द अपनी टिप्पणी दे देते हैं। "मजबूरी में हमें उन लोगों की याद आती है जिनकी सूरत भी विस्मृत हो चुकी होती है। विदेश में हम अपने मुहल्ले का नाई या कहार भी मिल जाए, तो हम उसके गले मिल जाते हैं, चाहे देश में उससे कभी सीधे मुंह बात भी न की हो।"[६]

एक तो कथा के बीच में आ आकर बार-बार टीका टिप्पणी करते चलना वर्णनात्मक शिल्प का परिचायक है, दूसरे उपन्यास में शीर्ष योजना पूरी तरह अवांछनीय है। 'शान समर में कभी भूलकर धैर्य नहीं खाना होगा' नामक कथा शृंखला को तोड़ने लगता है। तीसरे, यहीं पर एक आकस्मिक घटना दिखा दी गई है। सोफिया ने अपने सामने एक जलते हुए भवन को देखा और वह आग में कूद पड़ी, जल गई और अपने को इन्दु, विनय के सम्मुख देखती है। यह घटना पूर्णतः अस्वाभाविक तथा अप्रासंगिक है। केवल दूसरी कथा को प्रस्फुटित करने के लिए नियोजित की गई है। यहीं पर एक अन्य प्रश्न उठ खड़ा है। अभी सोफिया बीमार हो पड़ी है। परिवार के सब लोग उसकी सेवा में संलग्न हैं कि परिवार अधीश्वर कुंवर भरतसिंह उसे धन्यवाद देने के लिए आते हैं। पाठक आशा करता है कि कुंवर साहब इस गति से सोफिया के पास पहुंच जाएंगे और कुशल समाचार पूछेंगे, किन्तु हुआ यह है कि कथाकार ने कुंवर साहब के रंग रूप का वर्णन शुरू कर दिया

६ रंगभूमि—भाग १—पृष्ठ ५१

है। शिल्प की दृष्टि से यह एक भारी दोष है। जब पात्र के बाह्य आपे का वर्णन करने के लिए कथाकार विश्लेषणात्मक प्रणाली अपनाता है और कथा की गति को कुछ समय के लिए रोक देता है तब कथा में अस्वाभाविकता आ जाती है। घटना का चित्रण अबाध गति से होना चाहिए।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास में कथा मे वर्णित संघर्ष दो पात्रों का पारस्परिक संघर्ष न रहकर जातीय अथवा राष्ट्रीय संघर्ष बन जाया करता है। छोटी से छोटी घटना भी उग्र रूप धारण कर लिया करती है। सूरदास-भैरों द्वारा सताई सुभागी को शरण देता है तो सूरे तथा भैरों में मनोमालिन्य हो जाता है, किन्तु यह द्वेष दो पात्रों तक सीमित नहीं रहता। राजा महेन्द्रकुमार तथा जनसेवक तक को अपनी सीमा में ले लेता है। भैरों राजा साहब से फरियाद करने जाता है तो कथाकार कुछ देर के लिए कथा-प्रवाह को रोककर अपनी टिप्पणी देने लगता है—"किसी बड़े आदमी को रोते देखकर हमे उससे स्नेह हो जाता है। उसे प्रभुत्व से मंडित देखकर हम थोड़ी देर के लिए भूल जाते है कि वह भी मनुष्य है। हम उसे साधारण मानवीय दुर्वलताओ से रहित समझते है। वह हमारे लिए एक कौतूहल का विषय होता है। हम समझते है, वह न जाने क्या खाता होगा, न जाने क्या पढ़ता होगा, न जाने क्या सोचता होगा, उसके दिल मे सदैव ऊंचे-ऊंचे विचार आते होंगे, छोटी-छोटी बातों की ओर तो उसका ध्यान ही न जाता होगा—कुतूहल का परिष्कृत रूप ही आदर है। भैरों को राजा साहब के सम्मुख जाते हुए भय लगता था, लेकिन अब उसे ज्ञात हुआ कि यह भी हमी जैसे मनुष्य है। मानो उसे आज एक नई बात मालूम हुई।"[७]

फिर कथा आगे बढ़ाई गई है। यह इस शिल्प-विधि की विशेषता का उद्बोधक उदाहरण है। जानसेवक, महेन्द्रकुमार और मि० क्लार्क के सामूहिक आक्रमण द्वारा सूरदास को हराने की कुचेष्टा भी एक दीर्घ काल लेती है। एक ओर ये राजकीय एवं पूंजीवादी शक्ति है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय एवं जनवादी आन्दोलन, जो विनय के नेतृत्व में सूरदास के झोंपड़े की रक्षा ही नहीं कर रहा, दीन-हीन, निर्बल और निराश जनता के अधिकारो की रक्षा भी करता है।

शिल्प की दृष्टि से विनय की मृत्यु एक दोषपूर्ण घटना है। विनय की आत्महत्या नितान्त आकस्मिक एवं क्षणिक भावुकता का परिणाम है। इसके साथ ही साथ मुख्य कथा का अन्त हो जाना उचित था, किन्तु सूरदास के सद्‌चरित्र पर टिप्पणी देने के लिए तथा कुछ अन्य कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हित कथा आगे बढ़ा दी गई है। इसमें से प्रमुख उद्देश्य है, पात्रों का सुधार। हृदय परिवर्तन में प्रेमचन्द का पूर्ण विश्वास है। मृत्यु शय्या पर पड़े सूरदास से क्षमा मांगने के लिए जानसेवक और महेन्द्रकुमार को भेजा जाता है। ताहिरअली, माहिरअली उपाख्यान को भी अन्तिम सोपान पर बैठाया गया है। महेन्द्रकुमार का अन्तिम रूप मुख्य कथा की अन्तिम घटना को प्रस्तुत करता है। सूरदास की प्रतिभा पर किया गया उसका पदाघात और स्वयं मृत्यु प्राप्त करना एक गढ़ी हुई घटना

---

७. रंगभूमि (दूसरा भाग)—पृष्ठ १०७

प्रतीत होती है जो बुरे का बुराई का फल चखाने के हेतु लिखी गई है।

'रंगभूमि' में जानसेवक के पिता ईश्वर सेवक लगभग बीस बार ये शब्द 'प्रभु मसीह मुझे अपने दामन में छिपा लो' दुहराते हैं जो धार्मिक महत्त्व रखते हुए भी शिल्पगत महत्त्व नहीं रखते। उपन्यास के अन्तिम साठ पृष्ठों में पांच पात्रों की मृत्यु दिखाई गई है जो कथा को करुण बनाकर भी उतना प्रभावशाली अन्त नहीं देती जितनी कि गोदान के अन्तिम दृश्य में नायक होरी की एक मृत्यु।

व्यक्ति के व्यक्तित्व पर विचार किए बिना कोई भी आलोचना पूर्ण नहीं कही जा सकती। व्यक्ति ही वह केन्द्र है जिसके द्वारा प्रेरणा पाकर राजनीति, समाज और धर्म प्रस्फुटित होते हैं। 'रंगभूमि में अनेक प्रकार के व्यक्ति विद्यमान हैं इनमें से कुछ वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं तो कुछ वैयक्तिक प्रवृत्तियों में ओतप्रोत हैं।

सूरदास 'रंगभूमि' का सबसे अधिक सशक्त एवं प्रभावशाली व्यक्ति है। इसका चुनाव प्रेमचन्द ने एक ही वर्ग विशेष से किया है—"भारतवर्ष में अन्धे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका बना बनाया नाम है, और भीख मांगना बना बनाया काम। उनके गुण और स्वभाव भी जगत प्रसिद्ध है—गाने बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेष अनुराग, आध्यात्म और भक्ति में विशेष प्रेम उनके स्वाभाविक लक्षण हैं। बाह्य दृष्टि बन्द और अन्तर्दृष्टि खुली हुई।[८]

किन्तु अपने शिल्प द्वारा इसमें कुछ विशेषताएं रखने के कारण इसे वैयक्तिक पात्र बना दिया है। सूरदास के वंश का किसी को भेद मालूम नहीं। अन्धा होने के कारण उसका नाम सूरदास रखा गया है और दीन होने के कारण उसकी वृत्ति भिक्षा मांगना है। इसके साथ साथ हृदयगत विनम्रता तथा सहृदयता उसकी वर्गगत विशेषताएं हैं, इसके आगे सभी बातें व्यक्ति विशेष की बातें है जिनपर विचार करना है।

पहली बात जो सूरदास के बारे में कही जा सकती है वह है उसकी चारित्रिक स्थिरता (Static character)। जीवन के विषय में विषमतम परिस्थिति में भी वह हिमालय की तरह दृढ़ खड़ा रहता है। राजा जनक की भांति वह विदेही है। संसार में रहता हुआ भी संसार की झूठी मान्यताओं का दास बनकर नहीं रहता, उनपर विजय पाकर जीवन यापन करता है। सूरदास का दृष्टिकोण पूर्णतः आस्थावादी दृष्टिकोण है। वह जीवन को एक खेल समझता है और संसार को क्रीडा गृह। न जीत पर मदमस्त होता है, न हार पर निस्तेज।

दूसरी बात जो इसके चरित्र के बारे में अनेक आलोचकों ने की है—वह है सूरदास का आदर्शवाद। कतिपय आलोचकों के मतानुसार वह गांधीवाद का प्रतीक है। राष्ट्रीय जीवन का मशालची है। वैयक्तिक मानापमान और क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठ गया है। कुछ पात्र उसे देवता तक कह डालते हैं किन्तु कथाकार ने उसे इसी धारा का पुत्र मानते हुए मानवीय गुणों तथा अवगुणों का दूत माना है। हृदय परिवर्तन में उसका विश्वास है।

---

८ रंगभूमि—पृष्ठ ६

सूरदास के चरित्र को चित्रित करने के लिए कथाकार ने तीन ढंग अपनाए हैं। प्रथमतः वह स्वयं उसके चरित्र पर टीका-टिप्पणी करते हुए आगे बढ़ता है—"कोई कहता था, सिद्ध था; कोई कहता था, बनैला था; कोई देवता कहता था; पर वह यथार्थ में खिलाड़ी था—वह खिलाड़ी, जिसके माथे पर कभी मैल नहीं आया, जिसने कभी हार नहीं मानी।"

इसके अतिरिक्त विभिन्न पात्र उसकी चरित्र विषयक प्रशंसा करते हैं। नायकराम राजा महेन्द्रकुमार सिंह से कहते हैं—"हुजूर, उस जन्म का कोई बड़ा महात्मा है।" इसके उत्तर में राजा महेन्द्रकुमार कहते हैं—"उस जन्म का नहीं, इस जन्म का महात्मा है।"[9 क.] सूरदास धर्मावतार से राजा साहब को हरा देता है। उसके विचारों में दृढ़ता है। ताहिरअली के मतानुसार—"सूरे को किसी देवता का इष्ट है।" इन्दु के शब्दों में—"वह अपनी धुन का पक्का, निर्भीक, निःस्पृह, सत्यनिष्ठ आदमी है, किसी से दबना नहीं जानता।"[9 ख.] भैरों के विचार में—"वह आदमी नहीं साधु है।"[10]

कथाकार ने सूरदास का मानसिक पतन भी दिखा दिया है। जब सुभागी भैरों की मार से तंग आकर सूरदास की शरण लेती है तब वह सोचता है—"मैं कितना अभागा हूँ। काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरों ने इसे घर से निकाल दिया; मैं रख लूँ तो इसमें कौन सी बुराई है।"[11] यहां पर प्रेमचन्द का चरित्र अन्वेषण द्रष्टव्य है। उन्होंने सूरदास को एक दुर्गुण से लिप्त दिखाकर सामूहिक मानवीय दुर्बलता के प्रतीक के रूप में चित्रित करने के निमित्त साथ ही साथ टिप्पणी दे दी है—"मनुष्य-मात्र को, प्रेम की लालसा रहती है। भोगलिप्सी प्राणियों में यह वासना का प्रकट रूप है, सरल हृदय दीन प्राणियों में शान्ति योग का।"[12] केवल कथाकार के विचार में ही वह सरल हृदय नहीं है। उपन्यास का प्रसिद्ध पात्र इन्द्रदत्त प्रभुसेवक से अंग्रेजी में वार्ता करता हुआ कहता है—"कितना भोला आदमी है। सेवा और त्याग की सदेह मूर्ति होने पर भी घमण्ड छू तक नहीं गया, अपने सत्कार्य का कुछ मूल्य ही नहीं समझता। परोपकार उसके लिए कोई उच्छित कर्म नहीं रहा, उसके चरित्र में मिल गया है।"

"हिम्मत नहीं हारी, जिसने कभी कदम पीछे नहीं हटाए, जीता, तो प्रसन्नचित्त रहा; हारा, तो प्रसन्नचित्त रहा; हारा तो जीतने वाले से कीना नहीं रखा; जीता तो हारने वाले पर तालियां नहीं बजाई, जिसने खेल में सदैव नीति का पालन किया, कभी धांधली नहीं की, कभी द्वन्द्वी पर छिपकर चोट नहीं की। भिखारी था, अपंग था, अन्धा था, दीन था, कभी भरपेट दाना नहीं नसीब हुआ, कभी तन पर वस्त्र पहनने को नहीं मिला; पर हृदय धैर्य और क्षमा, सत्य और साहस का अगाध भण्डार था। देह पर मांस

९. क. रंगभूमि (भाग १)—पृष्ठ ११८

९. ख. वही—पृष्ठ १२९

१०. वही—पृष्ठ ११७

११. वही—(भाग २) पृष्ठ ९८

१२. वही—पृष्ठ १५

न था, पर हृदय में विनय, शील और सहानुभूति भरी हुई थी।"

"हाँ, वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था, एक क्षुद्र, शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं में घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे, और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ये सभी दुर्गुण उसके चरित्र में भरे हुए थे, गुण केवल एक था। किन्तु ये सभी दुर्गुण उस गुण के सम्पर्क से, नमक की खान में जाकर नमक हो जाने वाली वस्तुओं की भाँति, देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—क्रोध सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था, और अहंकार आत्माभिमान के वेष में। और वह गुण क्या था? न्याय प्रेम, सत्य, भक्ति, दर्द, या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।"[13]

प्रभाव की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ न होने पर भी शिल्प की दृष्टि से एकछत्र चरित्र का उत्कृष्ट उदाहरण हम विनय-सोफिया में दृष्टिगोचर होता है। ये दो चरित्र तीनों मुख्य कथाओं में विद्यमान रहते हैं। सोफिया में हमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व के दर्शन मिलते हैं। ईसाई धर्म में इसे कोई आस्था नहीं—इसलिए कि इसे उसका मन और मस्तिष्क श्रेष्ठ नहीं समझते। इसकी जिज्ञासु और आत्माभिमानी प्रवृत्ति कथा में बाह्य संघर्ष का कारण सिद्ध होती है। मान द्रोह करके वह एक आकस्मिक घटना द्वारा इन्दु के घर पहुँचती है, वहीं इसका विनय से साक्षात्कार होता है और साथ ही साथ चारित्रिक विकास भी—

यहाँ प्रसंगवश एक दो पंक्ति मिसेज जानसेवक के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए लिखते हैं। कथाकार प्रेमचन्द की यह चरित्रांकन विशेषता है कि परिस्थिति का सीधा प्रभाव चरित्र पर और चरित्र का स्थायी प्रभाव परिस्थिति पर डालकर आगे बढ़ते हैं। जब मिसेज जानसेवक अग्नि में झुलसी अपनी विद्रोही दुहिता सोफिया को मिलने आती है तो परिस्थितिवश उनका मातृत्व द्रवित हो उठता है, वात्सल्य रस बहने लगता है, सोफिया द्वारा कुँवर भरतसिंह के गुणों का बखान सुनकर वे पुनः ईर्ष्या अग्नि में जलकर कह उठती है—"तुझे दूसरों में सब गुण ही गुण नजर आते हैं। अवगुण सब घर वालों ही के हिस्से में पड़े हैं। यहाँ तक कि दूसरे धर्म भी अपने धर्म से अच्छे हैं।"[14] मिसेज सेवक का यह चारित्रिक परिवर्तन जो एक क्षण में ही दो रूप धारण कर लेता है, शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह कथा में गति लाता है और परिस्थितियों के घात प्रतिघात दर्शाने में सहायक है।

कथाकार ने जीवन की अनेक परिस्थितियों का प्रभाव सोफिया के जीवन चरित्र पर भी डाल दिया है और उसका वर्णन वर्णनात्मक प्रणाली द्वारा किया है। एक दो उदाहरण हम अपने मत की पुष्टियार्थ देने उपादेय समझते हैं। जब इन्दु सोफिया से मिले बिना राजा महेन्द्रकुमारसिंह के साथ चली गई तब सोफिया की मानसिक अवस्था का चित्र कथाकार इन शब्दों में चित्रित करता है—"सोफिया इस समय उस अवस्था में थी,

---

१३ रंगभूमि दूसरा भाग—पृष्ठ १५२
१४ रंगभूमि प्रथम भाग—पृष्ठ ६८।

जब एक साधारण हंसी की बात, एक साधारण आंखों का इशारा, किसी का उसे देखकर मुस्करा देना, किसी महरी का उसकी आज्ञा का पालन करने में एक क्षण विलम्ब करना, ऐसी हजारों बातें, जो नित्य घरों मे होती रहती है और जिनकी कोई परवा भी नहीं करता, उसका दिल दुखाने के लिए काफी हो सकती थीं। चोट खाए हुए अंग को मामूली-सी ठेस भी असह्य हो जाती है।"[१५]

कथाकार ने सोफिया को परिस्थिति विशेष में लाकर खड़ा कर दिया है और यहीं से उसे विनय की ओर झुका दिया है मानो इन्दु को हटाने का एक मात्र उद्देश्य ही विनय-सोफिया रोमांस की मुक्त उद्‌भावना हो। किन्तु—नहीं, अभी नहीं। सोफिया विनय अभिसार से पूर्व ही विनय की सुदूर यात्रा सोफिया के कोमल प्रेमपाश को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए तथा विरहनी नायिका के भावोद्गारों की अभिव्यक्ति हित चित्रित कर दी गई है। विरही सोफी की जीवनी मीरा की भांति धर्मचर्या के एकागी क्षेत्र मे तल्लीन नहीं होती, समाजोन्मुखी वहिर्गत संघर्ष मे रत हो जाती है। उसकी लड़ाई त्रयमुखी चित्रित की गई है। विनय के प्रेम से वंचित वह अपने मन के घात-प्रतिघात सहती है—धार्मिक विचार वैषम्य तथा अंध मातृ भक्ति से विहीन होने के कारण वह चिरायु मिसेज सेवक के कोप का भाजन बनी रहती है। उसकी तीसरी और अन्तिम लड़ाई उसके चिरप्रेमी मि० क्लार्क के साथ होती है।

सोफिया के चरित्र का चरम विकास उसके निराश प्रेम की दारुण अवस्था में है अथवा डाकू वीरपालसिंह की शरण मे रहकर व्यतीत किए कुछ क्षणों में—शिल्प की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उन्मत्त प्रेमघातनी सोफिया रात को सो नही पाती। एक बार आदर्श की आड़ लेकर भावुकता में कहे गए शब्दों पर पश्चाताप करके रात के अन्धेरे में प्रेमी विनय के पत्र को खोजने लगती है किन्तु केवल मात्र निराशा ही पल्ले पड़ती है—उस निराश अवस्था पर चारित्रिक टिप्पणी देते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—"उसकी दशा उस मनुष्य की-सी थी, जो किसी मेले में अपने खोए हुए बन्धु को ढूढ़ता हो, वह चारों ओर आंखें फाड़-फाड़कर देखता है, उसका नाम ले-लेकर जोर-जोर तक पुकारता है, उसे भ्रम होता है, वह खड़ा है लपककर उसके पास जाता है, और लज्जित होकर लौट आता है। अन्त को वह निराश होकर जमीन पर बैठ जाता है और रोने लगता है।"[१६] निराश प्रेम आक्रान्त हो जाता है। सोफिया अपनी सखी इन्दु के दुर्व्यवहार पर, रानी जाह्नवी की कठोरता पर रुद्र रूप धारण कर लेती है। वह आत्म विश्लेषण करके अपने चरित्र पर स्वयं भी प्रकाश डालती है—"मैं अभागिन हूं, मैने उन्हें बदनाम किया, अपने कुल को कलंकित किया, अपनी आत्मा की हत्या की, अपने आश्रयदाताओं की उदारता को कलुषित किया। मेरे कारण धर्म भी बदनाम हो गया, नही तो क्या आज मुझसे यह पूछा जाता—क्या यही सत्य की मीमांसा है।"[१७] वास्तव में यही वह पंक्ति है 'क्या यही सत्य की

१५. रंगभूमि—पृष्ठ १३२।
१६. वही—पृष्ठ १३७।
१७. वही—पृष्ठ १४०।

मीमांसा है जो उसका कायाकल्प करती है। मि० क्लार्क के साथ कुछ क्षणों के लिए गाँठ-गाँठ जोड़ती है। जसवन्त नगर पहुँचती है, वहाँ एक आकस्मिक घटना का शिकार होकर वीरपालसिंह के सम्पर्क में उसका कायाकल्प हो जाता है। वह नारीत्व के नाम का रत्न बन जाती है। उसकी समस्त इच्छाएँ, समग्र क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ समाजोन्मुखी हो जाती हैं। वह विनय को व्यंग भरे शब्द कहकर पुनः सद्मार्ग पर ले आती है। शिल्प की दृष्टि से यहाँ एक बात द्रष्टव्य है। जहाँ पर सोफिया के चरित्र की सार्थकता नहीं रहती वहीं कथाकार उसके द्वारा आत्महत्या कराकर उसकी जीवन लीला समाप्त कर देता है। आत्म-हत्या का परिचय वह अपनी माता को लिखे अन्तिम पत्र द्वारा देती है। जिसकी एक प्रसिद्ध पंक्ति है— 'जब विनय न रहे तो मैं किसके लिए रहूँ।'"[१८] यहीं सोफिया के आत्म बलि-दान का उत्कृष्ट उदाहरण सामने आता है।

कथाकार ने अपने चरित्र विधान में जहाँ सूरदास तथा सोफिया सदृश वैयक्तिक चरित्र अवलम्बी व्यक्तियों की योजना की है वहाँ वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्र भी संजोए हैं। विनय एक आदर्श प्रेमी पात्र है। अपने प्रेम की उत्कृष्टता में उसे स्वयं विश्वास है— "मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, मेरे प्रेम में वासना का लेश भी नहीं है। मेरे जीवन को सार्थक बनाने के लिए यह अनुराग ही काफी है।"[१९] आदर्श प्रेमी की भाँति उसके चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है। और कोरी भावुकता के कारण अन्त।

जानसेवक उद्योगपति है—पूँजीवादी समाज का प्रतीक है। ऐसे लोगों का न कोई धर्म होता है न ईमान। धन ही इनके लिए सर्वस्व है जिसके लिए ये आत्मा तक को बेच डालते हैं। इनका चरित्र कभी स्थिर (Static) नहीं होता, ये अस्थिर (Dynamic) चरित्र के साक्षात् नमूने हैं। जिधर हवा देखी पलट गए। भरतसिंह के पास गए उसका यशगान किया, महेन्द्रकुमार से साक्षात्कार कर उसे गाँठ लिया।

महेन्द्रकुमारसिंह जैसे नायक होने का दम्भ भरते दिखाए गए हैं। जन नायक तो क्या बनेंगे, गृह नायक नहीं बन सके। आजीवन इन्दु से खिंचे रहे। सूरदास से वैमनस्य मोल लिया, ऐश्वर्य के मद में पूर्ण सदैव उसे घृणा की दृष्टि से देखा, उसकी प्रतिमा पर पदाघात किया किन्तु स्वयं उसी प्रतिमा के नीचे दबकर पाश पाश हो गए। कहने को पदलोलुपी नहीं, सम्मान के भिखारी नहीं किन्तु सभी कार्य एक घातक महत्त्वाकांक्षी जीव के इनमें देखे-परखे जा सकते हैं। सेवा का मेवा तुरन्त ही माँग लेने वाले बाह्याडम्बरी भारतीय नेताओं के ये एकमात्र प्रतीक हैं।

रानी जाह्नवी एक आदर्श माता के रूप में चित्रित की गई है जिसमें माँ सीता, शकुन्तला और पद्मिनी के दर्शन किए जा सकते हैं जो मृत पुत्र को देखकर प्रसन्न हो सकती है, विलासोन्मुख जीवन क्रीडा कर रहे पालकी सुत को सहन नहीं कर सकतीं।

मानव चरित्र दुर्बलताओं और योग्यताओं का समूह है। 'रंगभूमि' वह संसार है

---

१८ सोफिया का मिसेज सेवक के नाम पत्र रंगभूमि दूसरा भाग—पृष्ठ ४२

१९ रंगभूमि में प्रभु सेवक से की गई एक वार्ता में प्रकट भावोद्गार भाग १ —पृष्ठ १४४।

जो दुर्बल से दुर्बल और योग्य से योग्य चरित्र प्रस्तुत कर रहा है। यहां कृतज्ञता भी है और कृतघ्नता भी। भलाई भी, स्पष्टता भी, अस्पष्टता भी, कोमलता भी, कठोरता भी। पहला रूप ताहिरअली की सफेद वर्दी में तो दूसरा माहिरअली के काले जामे में पहचाना जा सकता है। एक की भौतिक विपिन्नता दूसरे की आध्यात्मिक विपिन्नता चारित्रिक विषमता का जीता-जागता नमूना पेश कर रहे हैं।

मानवमात्र के स्वभाव की सार्वलौकिक व्याख्या करता हुआ कथाकार एक स्थल पर लिखता है—"कठिनाइयों में पड़कर परिस्थितियों पर क्रुद्ध होना मानव स्वभाव है।"[२०] भला इनसे बढ़कर मनुष्य चरित्र का चित्रकार कौन होगा ?

शिल्प की दृष्टि से विचार विवेचन के अन्तर्गत सबसे पहली वस्तु जो हमें अपनी ओर आकृष्ट करती है—वह है पहले कथाकार का सुधारवादी दृष्टिकोण। प्रेमचन्द की अन्य रचनाओं की भांति 'रंगभूमि' एक ही ढर्रे पर नही चलता इसमे सर्वत्र सुधार एवं हृदय परिवर्तन दृष्टिगोचर नही होता, केवल कतिपय अनिवार्य स्थलों पर कुछ एक पात्रो का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है। सूरदास के परोपकारों को देखकर भैरों की सद्वृत्तियां जागृत कर दी गई है। सोफिया के त्याग और अभिनन्दनीय कार्यो की चर्चा सुनकर रानी जाह्नवी के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है, किन्तु राजा महेन्द्रकुमार अन्त तक बुराई का दामन नही छोड़ते, मि० क्लार्क दमन की नीति नही त्यागते तथा नीलकण्ठ जसवन्त नगर की दुर्दशा बनाए रखते है।

प्रेम के विषय में कथाकार के उज्ज्वल विचार हैं जो विभिन्न पात्रों द्वारा व्यक्त किए गए हैं। प्रभुसेवक से बातचीत कर रही सोफिया कहती है—"प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है, जितना कंचन और कांच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उनमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति मे सम्मान का और प्रेम में सेवा-भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नही है।"[२१] प्रेम में विभोर व्यक्ति की दशा बड़ी विचित्र होती है। चोरी, डाका या हत्या वह सभी कुछ कर गुजरता है। सोफिया विनय के पत्र को चुराने के लिए अर्ध रात्रि को रानी जाह्नवी के कमरे मे घुस जाती है और पकड़ लिए जाने पर उसकी जो दशा हुई, कथाकार ने तत्कालीन वातावरण का शब्द चित्र अत्यन्त सजीव बना दिया है। "वह गड़ गई, कट गई, सिर पर बिजली गिर पड़ी, नीचे की भूमि फट जाती, तो भी कदाचित वह इस महान संकट के सामने उसे पुष्प-वर्षा या जल-विहार के समान सुखद प्रतीत होती।"[२२] विनय सोफिया को विपदग्रस्त परिस्थिति में देखकर पिस्तौल चलाकर हत्या तक कर डालता। शांतमय वातावरण का राग अलापने वाला व्यक्ति उपन्यास के पृष्ठों के पृष्ठ रक्त से लाल बना डालता है।

'रंगभूमि' में सबसे अधिक आकर्षक बात है कथाकार का अपने विचारों को

२०. रंगभूमि भाग १—पृष्ठ २३६।
२१. वही—पृष्ठ १४५
२२. वही—पृष्ठ २३६

सूक्ति रूप म प्रकट करना। उदाहरणार्थ हम चार सूक्तिया दे रहे हैं। ये सूक्तिया कथाकार ने अपने मुख से न कहकर कथा के विभिन्न स्थलो पर विभिन्न पात्रो के द्वारा कहलाई है। यह एक शिल्पगत उन्नति सूचक प्रयोग है जो कथाकार की सब कुछ अपने मुख से कह डालने की प्रवृत्ति के परिवर्तन की सूचना दे रहा है। इन्दु के साथ वार्ता करती हुई साफिया स्वाधीनता विषयक विचार प्रकट करती हुई कहती है—"हमारी स्वाधीनता लौकिक और इसलिए मिथ्या है। आपकी स्वाधीनता मानसिक और इसलिए सत्य है। असली स्वाधीनता वही है जो विचार के प्रवाह मे बाधक न हो।"[२३] यहा पर इस सूक्ति के द्वारा साफिया ने दो धर्मों (ईसाई तथा हिन्दू धर्म) की स्वाधीनता की विवेचना कर डाली है। पहले भाग के चौथे अध्याय म ग्राम वालो के साथ बाणो म छलनी हुआ सूरदास जब भूमि बचने का सकल्प कर साहिरअली की ओर चल देता है तभी उसे मार्ग म दयागिर मिल जाता है उसे मोह, माया, अहकार और क्रोध को त्याग सच्चे धर्म मार्ग पर चलने का उपदेश देता हुआ कहता है—'धर्म का फल इस जीवन म नही मिलता। हम आखे बन्द करके नारायन पर भरोसा रखते हुए धर्म मार्ग पर चलते रहना चाहिए।"[२४] इस एक पक्ति म दयागिर हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध धार्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ गीता का सार दे देता है। तीसरा उदाहरण प्रभु सेवक और कुवर भरतसिंह की वार्ता स लिया जाता है—'व्यवसाय कुछ नही है, अगर नर हत्या नही है। आदि से अन्त तक मनुष्यो को पशु समझना और उनसे पशुवत व्यवहार करना इसका मूल सिद्धान्त है।"[२५] यहा पर प्रभु सेवक ने नई सभ्यता की देन व्यवसाय के अपकार पक्ष पर व्यग्याघात किया है, उसके विचार म व्यवसाय बिना छल, कपट और न्याय हत्या के चल ही नही सकता।

चौथी सूक्ति अग्रेजो की अधिकार लिप्सा और सद्भावना की सूचक है जो क्लार्क द्वारा विनय को दिए गए एक भाषण रूपी शब्दो म से ली गई है। अग्रेजो की राजनीति की मीमासा करते हुए वह कहता है—"आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नही है। ससार का इतिहास केवल इसी एक शब्द आधिपत्य-प्रेम पर समाप्त हो जाता है।"[२६] इस भाति हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि कथाकार विभिन्न पात्रो द्वारा विभिन्न सूक्तिया कहलाकर भाषण दिला कर एक महान कार्य किया है। 'रगभूमि' रूप म उसने एक महाकाव्य की रचना की है जिसम राजनीति, समाज, धर्म, दर्शन और व्यवसाय प्रधान अर्थशास्त्र की मीमासा कर दी है।

इतना होने पर भी प्रेमचन्द 'रगभूमि' म अपने प्रिय आदर्शों, सिद्धान्तो और मान्यताओ की स्वय व्याख्या करने के अवसर को पूर्णत नही त्याग देते। कृतज्ञता की व्यापक क्रियाशीलता पर विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—"कृतज्ञता हमसे वह सब कुछ करा लेती है जो नियम की दृष्टि से त्याज्य है। यह वह चक्की है जो हमारे सिद्धान्तो और

---

२३ रगभूमि—पृष्ठ ६२
२४ वही—प्रथम भाग—पृष्ठ ८६
२५ वही—दूसरा भाग—पृष्ठ १६५
२६ वही—दूसरा भाग—पृष्ठ १८५-१८६

नियमों को पीस डालती है। आदमी जितना ही निःस्पृह होता है, उपकार का बोझ उसे उतना ही असह्य होता है।"[27] कहीं-कहीं कथाकार सूक्ति रूप में जीवन के शाश्वत सत्य को प्रकट करते देखे गए हैं—"नैराश्य ने निद्रा की शरण ली; पर चिन्ता की निद्रा क्षुधावस्था का विनोद है—शान्तिविहीन और नीरस।"[28] ईर्ष्या में तम ही तम नहीं होता, कुछ सत् भी होता है। वे केवल सूक्ति देकर बस नहीं कर देते तद्-अनुकूल वातावरण का सृजन भी कर डालते हैं। ईर्ष्या विषयक ये विचार प्रकट करते ही उन्होंने 'रंगभूमि' में जगधर भैरों की कथा का विकास किया है। भैरों द्वारा सूरदास की जलाई गई झोंपड़ी का जगधर के सद्प्रयत्नों द्वारा पुनःन्यास कराया गया है। ईर्ष्या के अतिरिक्त क्रोध ही एक ऐसा भाव है जो मानव चरित्र को पतनोन्मुख करके औपन्यासिक वातावरण में संघर्ष तथा सजीवता ला देता है। क्रोध की सबल कार्यक्षमता पर व्यंग्याघात करता हुआ कथाकार एक अन्य स्थल पर लिखता है—"मगर क्रोध अत्यन्त कठोर होता है। वह देखना चाहता है कि मेरा एक-एक वाक्य निशाने पर बैठता है या नहीं. वह मौन को सहन नहीं कर सकता। उसकी शक्ति अपार है, ऐसा कोई घातक से घातक शस्त्र नहीं है, जिससे बढ़कर काट करने वाले यन्त्र उसकी शस्त्रशाला में न हो; लेकिन मौन वह मन्त्र है, जिसके आगे उसकी सारी शक्ति विफल हो जाती है। मौन उसके लिए अजेय है।"[29] यहाँ पर क्रोध की अपरिमित शक्ति के साथ-साथ अहिंसावादी मौन व्रत की अपरम्पार महिमा का गान भी कर दिया गया है।

'रंगभूमि' की रचना करके प्रेमचन्द ने किस उद्देश्य की पूर्ति की ? एक शिल्पगत प्रश्न है। वस्तुतः प्रेमचन्द की उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। इसी दृष्टिकोण को सामने रख आपने 'सेवासदन,' 'निर्मला' तथा 'प्रेमाश्रम' की रचना करके एक न एक सामाजिक, नैतिक अथवा धार्मिक समस्या को चित्रित किया है। इधर 'रंगभूमि' इस दृष्टि से इन रचनाओं से कहीं उच्च कोटि की कलाकृति है। इसमें कथाकार ने अखण्ड जीवन ज्योति प्रदीप्त की है। पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन भी हमें 'रंगभूमि' में उपलब्ध होता है। पूंजीवाद पश्चिमी सभ्यता की नई देन है जिसकी विकासकालीन परिस्थितियों का सफल चित्रण 'रंगभूमि' के विशाल पट पर चित्रित कर दिया है। इसके एक लेख में कथाकार ने इस सभ्यता को महाजनी सभ्यता का नाम दिया है। यह केवल शोषण के आधार पर फल-फूल सकती है। 'रंगभूमि' की मुख्य कथा इसका ज्वलन्त उदाहरण है। जानसेवक की उन्नति; सूरदास तथा पाण्डेयपुर निवासियों की अवनति है। जानसेवक का व्यवसाय सूरदास, इन्द्रदत्त के मृत शरीर और सैकड़ों उजड़े शरणार्थियों की आहों पर फैलता है।

'रंगभूमि' में कथाकार ने भारतीय को एक बड़ा संदेश दिया है। जीवन एक खेल है। इसे खेलो। हारो तो घबराओ नहीं, जीतो तो गर्व मत करो। सूरदास की मृत अवस्था

---

२७. रंगभूमि—प्रथम भाग—पृष्ठ १०५
२८. वही—पृष्ठ १४६-१६२
२६. वही—दूसरा भाग—पृष्ठ १३७

के समय दिया गया भाषण इस खेल की पूरी मीमांसा करता है। मृतावस्था में भी वह आशावादी रहता है। आशा और आस्था यही उसका सन्देश है। मरते-मरते वह कह जाता है—"हम हारे, तो क्या, मैदान से भागे तो नही, रोए तो नही, धाधली तो नही की। फिर से खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्ही से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।"[३०]

कितनी बड़ी आशा है और कितना दृढ विश्वास। सूरदास की लड़ाई जानसेवक या चतारी के विरुद्ध लड़ाई नही है—यह लड़ाई पुण्य की पाप के साथ लड़ाई है, शोषित की शोषक के विरुद्ध लड़ी लड़ाई है। इस रूप मे रंगभूमि प्रतीकात्मक महाकाव्य है।

गबन—१९३०

सन् १९३० के लगभग औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से हिन्दी भाषा में तीन महत्त्वपूर्ण उपन्यासों का प्रकाशन हुआ। इनमें से इलाचन्द्र जोशी द्वारा रचित 'लज्जा' और जैनेन्द्र रचित 'परख' विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचनाएं हैं। केवल 'गबन' वर्णनात्मक शिल्प विधि के अन्तर्गत आती है। वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना होने पर भी यह प्रेमचन्द के उपन्यास शिल्प मे सतत विकास की परिचायक है। इसमें प्रेमचन्द ने अपनी दृष्टि नये विषय और नये रूप की ओर केन्द्रित की। विषय की दृष्टि से उन्होंने समाज की अपेक्षा व्यक्ति और व्यक्ति को भी परिवार के परिवेश मे प्रस्तुत किया है। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से अधिकतम घटनाएं बाह्य जगत मे घटित होने के साथ-साथ अन्तर्जगत की नाना लीलाओं पर भी प्रकाश डालती हैं। चरित्र चित्रण की दृष्टि से इस उपन्यास के पात्र दोहरा व्यक्तित्व लेकर चलते हैं। रमा और जालपा एक ओर व्यक्ति रहते हैं, दूसरी ओर समाज मे अपने प्रतिनिधित्व को सार्थक करते हैं। समस्या की दृष्टि से जहा अन्य रचनाओं मे समाज की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं, वहा 'गबन' मे व्यक्ति की आकांक्षाओं से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का चित्रण भी करते हैं। इस संबंध मे एक आलोचक लिखते हैं—"अन्य उपन्यासों मे प्रेमचन्द समुदाय को लेकर चले हैं और वर्ग की समस्याओं पर विचार किया है। 'गबन' की समस्या व्यक्तिगत है और परिवार तक ही सीमित रहती है।"[१]

'गबन' की समस्या को नितान्त वैयक्तिक नही कह सकते। यह ठीक है कि इस रचना मे वे समाज से कुछ हटकर व्यक्ति की ओर उन्मुख हुए, किन्तु व्यक्तिपरक रचना के लिए जिस विश्लेषण की आवश्यकता है, उस प्रकार का विश्लेषण इस वर्णनात्मक शिल्प-विधि की रचना मे उपलब्ध नही है। प्रेमचन्द की वर्णनप्रियता, आदर्शोन्मुखता तथा ध्येयवादिता इस उपन्यास के अन्तिम परिच्छेद मे इतनी बढ गई है कि इसमे प्रस्तुत राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक प्रश्न एक प्रश्नचिह्न बनकर सामने आ गए हैं। आरम्भ के चित्रण और अन्त के दृश्यों मे भी शिल्पगत परिवर्तन दीख पडता है। मनोवैज्ञानिक

---

३० रंगभूमि—भाग दो—पृष्ठ ३७९

१ डॉ० प्रेमनारायण टंडन प्रेमचन्द कला और कृतित्व पृष्ठ—८९

विश्लेपण का सूत्र प्रेमचन्द के हाथ से छूट गया है और वर्णनात्मक घटनाओं की भीड़-सी लग गई है। आरम्भ मे केवल जालपा के आभूषण प्रेम की समस्या को लिया गया है किन्तु अन्त तक पहुंचते-पहुंचते हमें प्रत्येक नारी पात्र, वृद्धा हो या युवती, अशिक्षता हो अथवा शिक्षता, जेवरों के प्रति लालायित नजर आता है। जालपा, रतन और बूढी जग्गो प्रतिक्षण आभूषणों की बाट जोहती दृष्टिगत हुई है। उपन्यास की कथा भी द्विमुखी होकर सामने आई है। 'गवन' की मुख्य कथा रमा-जालपा की दाम्पत्य प्रेमगाथा है जो प्रयाग तक सीमित रहती है, इसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेपण के लिए पर्याप्त अवसर था, किन्तु कथाकार ने जालपा की विरहजनित दशाओं का चित्रण ही पर्याप्त न समझकर कथा को दो भागों में विघटित कर दिया। समाज के विभिन्न रूप दिखाने और वर्णन आधिक्य लाने के लिए कलकत्ता संबंधी विशाल गाथा का आयोजन किया गया है। इस विषय पर विद्वान समालोचक आचार्य वाजपेयी का वक्तव्य प्रस्तुत है—"यदि पूरा उपन्यास प्रयाग की घटनाओं से ही सम्वद्ध रहता तो उसमें रचना संबंधी पूर्णता आ जाती। उसका प्रभाव भी अधिक तीव्र होता और कदाचित मध्यवर्ग की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर तीखा प्रकाश पड़ता। इसी प्रकार यदि केवल कलकत्ते की घटनाओं से ही सम्वद्ध होता, तो वह पूर्णतः राजनीतिक उपन्यास बन जाता और न्याय के स्वरूप पर वहुत कुछ प्रभाव डालता। वैसी स्थिति में एक उपन्यास के वदले दो वन सकते थे। एक मध्यवर्गीय पारिवारिक चित्रण के आधार पर और दूसरा पुलिस के हथकण्डों और न्याय की विडम्बनाओं के आधार पर। पर इन दोनों को एक में मिलाकर प्रेमचन्दजी ने दोनों का प्रभाव घटा दिया।"[1]

इससे सिद्ध होता है कि प्रेमचन्द ने नये विषय के साथ-साथ नया शिल्प प्रयोग भी करना चाहा, किन्तु उसमें आप पूर्ण सफल नहीं हो पाए। यह प्रयोग इनका विश्लेपण की ओर झुकाव मात्र कहा जाएगा। वर्णनात्मक से विश्लेपणात्मक की ओर थोड़ा झुककर पुनः वर्णनात्मकता को प्रश्रय देना इनकी प्रयोगशील प्रवृत्ति का परिचायक दृष्टान्त है। इनके प्रयोगों के संवंध में डॉ० राजेश्वर गुरु लिखते है—" 'वरदान' से लेकर 'मंगलसूत्र' तक प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की रचना में निरन्तर प्रयोगशील रहे हैं। उनका प्रत्येक नया उपन्यास अपने पिछले उपन्यास से स्वरूप में थोड़ा-वहुत भिन्न है। इसका प्रधान कारण यही है कि प्रेमचन्द जहां अपने विषय के क्षेत्र में विस्तार करते रहे है, वहां वे इस विस्तार को उपन्यास की कथा-वस्तु के रूप मे संगठित करते समय उपन्यास के शिल्पविधान को भी अधिकतर 'गवन' में कथाकार ने कथा के वीच में कुछ स्वप्नों की योजना जुटाई है, किन्तु उनका मनोवैज्ञानिक क्रम घटनाओं से नहीं जोड़ा है। जालपा को कुछ स्वप्न आते है किन्तु वे वे सिर-पैर के है। वास्तव में प्रेमचन्द को स्वप्न-विज्ञान (Dram Psychology) का वह ज्ञान नहीं था जो विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के कथाकारों या प्रतीकात्मक शिल्पियों में देखा गया है। उपन्यास की मुख्य घटना रमा का गवन कर कल-

---

१. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ १२४

२. प्रेमचन्द : एक अध्ययन—पृष्ठ २६१

कत्ता भाग जाता है। इस घटना के घटित होने से दो पृष्ठ पूर्व ही कथाकार ने इस ओर संकेत कर दिया है—"जालपा नीचे जाने लगी तो रमा ने कातर होकर उसे गले से लगा लिया और इस तरह भींच-भींचकर उससे आलिंगन करने लगा मानो यह सौभाग्य उसे फिर न मिलेगा। कौन जानता है, यही उसका अन्तिम आलिंगन हो।"[१] इसके पश्चात् कथा दो भागों में विभाजित हो गई है। यहीं से रमा और जालपा का प्रवास काल प्रारम्भ हो जाता है जो लगभग छः मास तक चलता है, यह कथा को दो भागों में विभाजित रखता है।

कलकत्ता की कथा का सूत्रपात करने से पूर्व कथाकार हमें एक प्रसिद्ध पात्र का साक्षात्कार करा देते हैं। यह केवल चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए ही नहीं किया गया है, अपितु कथा-सूत्र की पकड़ को दृढ़ करने के लिए भी किया गया है। रेलगाड़ी में रमा को बचाकर अपनी सद्चरित्रता की छाप मात्र बैठाने के लिए ही देवीदीन यात्रा नहीं कर रहा है अपितु रमा को कलकत्ता में प्रश्रय देकर उसके जीवन-चक्र को नई केन्द्र पर घुमाने के लिए वह सामने आया है। रमानाथ उसके घर आश्रय ही नहीं पाता बल्कि उसके परिवार का एक सदस्य बनकर रहता है। रमा के भागने पर कथा दो भागों में तथा दो दिशाओं में गतिशील होती है, किन्तु कब तक? उसी समय तक जब तक कि परित्यक्ता जालपा कुछ समय के लिए किन्हीं जीवन के कुछ कटु अनुभव प्राप्त करके पति प्राप्ति हित सन्नद्ध नहीं हो जाती और रमा पुलिस के चंगुल में फँसकर झूठी गवाहियों की एक पेशी नहीं भुगत लेता। जालपा के कलकत्ता पहुँचते ही कथा पुनः एक ध्येय की ओर अग्रसर होती है—ध्येय है पति-पत्नी मिलन, जिसके लिए कथाकार ने एक बड़ी शर्त लगा दी है। मानवती जालपा आदर्श पति को स्वीकार करेगी, झूठे, खुशामदी और पतित देशद्रोही मुखबिर पति को नहीं। इसी के अनुसार कथा का विन्यास किया गया है और प्रसादान्त भी।

यहीं प्रासंगिक कथाओं के शिल्पगत महत्त्व पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। प्रासंगिक कथाओं में रतन तथा देवीदीन की दो उपकथाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं। रतन की उपकथा करुण-रस प्रधान है। यह उपकथा भी प्रयाग तथा कलकत्ता दोनों स्थलों की सैर कर आती है और रमा जालपा की आधिकारिक कथा से सम्बन्धित है। रतन का विवाह एक अनमेल विवाह है जो निर्मला की-सी करुणा नहीं रखता। इसका पति बीमार रहता है किन्तु मन ही मन दुःखी है। रतन के प्रति स्नेह रखता भी है, आदर भी करता है। रतन कलकत्ता पहुँचकर जालपा से किया वादा भूल-सा जाती है और इस प्रकार कुछ समय के लिए मुख्य कथा से परे जा खड़ी होती है किन्तु विधवा होकर जब पुनः प्रयाग आती है तब जालपा के साथ दुःख-दैन्य के दिन इकट्ठे काटना चाहती है किन्तु जालपा के कलकत्ता जाते ही फिर अकेली रह जाती है और अपने भतीजे मणिभूषण के दारुण अत्याचारों का शिकार होती है फिर वहीं अन्त में जाकर कथाकार द्वारा स्थापित स्वर्गिक आश्रम में निवास करके बीमार पड़ प्राण दे देती है। हम देखते हैं कि रतन को जबरदस्ती

---

१ गबन—पृष्ठ १३५

इस अन्तिम सोपान तक घसीटा गया है। यदि मणिभूषण के अत्याचारों के तले दबकर उसकी मृत्यु दिखाई होती तो कथा अधिक प्रभावशाली होती, सगठित रहती। 'गबन' के कथानक तथा रतन संबंधी आख्यान के शिल्पगत महत्त्व पर श्री मन्मथनाथ के विचार भी स्पष्ट है—"जब हम इस उपन्यास के कथानक की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हम निश्चय पर पहुंचते हैं कि 'निर्मला' के अतिरिक्त प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास का कथानक इतना सुग्रथित नहीं है। संगठन की दृष्टि से 'निर्मला' और 'गबन' प्रेमचन्द के श्रेष्ठतम उपन्यास है।"[४]

हम उनसे पूर्णतः सहमत है। हमारे मतानुसार प्रेमचन्द की अन्य सभी कृतियों की अपेक्षा 'गबन' और 'निर्मला' का कथा तत्त्व सबसे अधिक सशक्त है। देवीदीन-जग्गो की उपकथा इसलिए महत्त्वपूर्ण हे कि इसने रमा जालपा की अन्तिम कथा में पूर्ण सहयोग दिया है। जोहरा का प्रवेश कथा को एक तीव्र गति प्रदान करता है। और कथा में त्रिकोणिक प्रेम (Tringular Love) उपस्थित कर देता है। कथाकार ने 'गबन' में भी अपनी आदर्शवादिता तथा ध्येयोन्मुख प्रवृत्ति का परिचय देकर कथा को विशेष ढांचे में रखकर मोड़ दिया है। विलासी जोहरा का कायाकल्प कर उसे त्याग, सेवा और श्रद्धा-युक्त प्रेम की मूर्ति बनाकर अन्त में स्थापित आश्रम मे बैठाकर कुछ समय पश्चात् त्रिवेणी की धारा में समाधिस्थ कर दिया है। अन्त का एक अध्याय यथार्थवादी समालोचकों को खटकता है। यदि रमा के बरी होते ही उपन्यास का अन्त हो जाता तो अधिक सुन्दर होता। आगे की कथा को जबरदस्ती ठूंसा गया है।

'गबन' के पात्रो का चरित्र चित्रण परिस्थितिजनित वातावरण के अधिक अनुकूल बन पड़ा है और इस दृष्टि से अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और प्रभावशाली है। व्यक्तिपरक प्रकृति होने के कारण 'गबन' में स्थायी महत्त्व रखने वाले दो ही पात्र है—रमानाथ और जालपा—'गबन' इन्ही की प्रेमकथा है जो केन्द्र में रहकर गतिशील होती है। इनके अतिरिक्त जो भी पात्र है वे इनके सहायक होकर आए हैं। अनावश्यक पात्रो की कल्पना इस रचना में कही भी नहीं की गई। सभी प्रधान पात्र दोहरे व्यक्तित्व से युक्त दीख पड़ते है। रमानाथ इस उपन्यास का नायक है। इसकी शत-प्रतिशत वैयक्तिता सन्दिग्ध है क्योंकि इसमे कुछ वर्गगत चारित्रिक दुर्बलताएं विद्यमान है, जो भारतीय मध्यवर्गीय युवक की यथार्थ स्थिति का पर्दाफाश कर रही है। मिथ्या भाषण और बाह्य प्रदर्शन इसके चरित्र की ही नही भारतीय मध्यवर्गीय युवक के चरित्र की जानी पहचानी बातें है। इतना होने पर भी सहज संकोच की अत्यधिक मात्रा इसके वैयक्तिक चरित्र की उद्घाटक प्रवृत्ति है। क्योंकि हम जानते है कि अधिकतर मिथ्या-भाषी युवक पक्के ढीट और स्वार्थी होते है जबकि रमानाथ ऐसा नहीं है। रमानाथ के चरित्र की यह विचित्रता चारित्रिक शिल्प का तथ्य है जिसे आचार्य नन्ददुलारे भी स्वीकार करते हैं—"प्रेमचन्दजी ने रमानाथ के द्वारा एक विशेष प्रकार का वैचित्र्यपूर्ण चरित्र उपस्थित किया है।"[५]

४. कथाकार प्रेमचन्द—पृष्ठ ४१३

५. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ १२६

मन्मथनाथ गुप्त इस पात्र मे वर्गगत और वैयक्तिक दोनों रूप देखते हैं—"इस उपन्यास का नायक रमानाथ फटीचर बाबू श्रेणी का एक मध्य प्रतिनिधि है। हम यह नही कहते कि रमानाथ केवल एक टाइप मात्र है तथा उसका व्यक्तित्व नही है, उसका व्यक्तित्व है।"[६]

रमा म हम एक साथ विलासिता, कायरता, अदूरदर्शिता, सकोचशीलता, और स्वार्थप्रियता के दर्शन होते है। ऊपर की आमदनी को वह मेहनताना और आत्म चतुरता का करिश्मा समझता है। इसका अधिकतर चरित्र विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा कथाकार ने स्वय चित्रित किया है। परिस्थिति के उतार-चढाव के साथ-साथ उसके चरित्र मे उन्नति और अवनति का अकन होता रहता है। आशका, भय, चिन्ता और हिंसा तो कभी कभी आनन्द की प्रतिमा इसके वदन पर देखी-परखी गई है। सबसे बडी बात जो इसके चरित्र म देखी जा सकती है वह है इसकी चारित्रिक चचलता। यह स्थिर नही है, गति-शील रहता है। जालपा से प्रतिज्ञा कर भावुकता का परिचय देता है। किन्तु डिप्टी साहब की घुडकी सुनकर झट भीगी बिल्ली बन जाता है। अन्त मे इसका जो चारित्रिक परि-वर्तन और उत्थान दिखाया गया है वह कथाकार की ध्येयोन्मुखता का परिचायक है। वास्तव म रमानाथ एक कायर (Coward) व्यक्ति का उदाहरण है जो हिन्दी मे वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यास साहित्य मे अपनी मिसाल नही रखता।

जालपा का चरित्र रमा के चरित्र की अपेक्षा अधिक गतिमय (Dynamic) तथा उज्ज्वल बन पडा है। प्रयाग के एक छोटे से गाव मे पली, लाड और प्यार के संस्कार मे ढली आभूषण प्रिय युवती का रूप धारण कर हमारे सामने आती है। कथाकार ने इसका चरित्र वैयक्तिक रखने के साथ विश्लेषणात्मक रूप म प्रस्तुत किया है। उसकी आभूषण प्रियता का विश्लेषण कर कथाकार लिखता है—"जालपा को गहनो से जितना प्रेम था, उतना कदाचित् ससार की और किसी वस्तु से न था, और उसम आश्चर्य की कौन-सी बात थी। जब वह तीन वर्ष की अबोध बालिका थी, उस वक्त उसके लिए सोने के चूडे बनवाए गए थे। दादी जब उसे गोद मे खिलाने लगती, गहनो ही की चर्चा करती। तेरा दुलहा तेरे लिए बडे सुन्दर गहने लाएगा। ठुमक-ठुमक चलेगी।"[७] बाल हृदय पर पडे ये सस्कार यौवन द्वार पर पहुचकर परिष्कृत हो सकते थे। किन्तु कहा? रमा के मिथ्या गौरव ने तो रही-सही कसर भी मिटा दी और अपने कृत्यो से जालपा की आभूषण प्रियता तथा विलासिता वृत्ति को हवा दी।

विरह की अग्नि म तप्त होकर जालपा का चरित्र निखर आता है। वह किसी भी साचे म ढाली जा सकती है।[८] रमा के जाते ही वह विलासिता का जामा उतार फेंकती है। अपने प्रिय हार को ४०० मे बेचकर पति का ऋण उतारती है। पति को गबन के पाप से बचाती है। विलास की सभी वस्तुओ को गगा की लहरो की भेंट कर आत्मा पर पडे

६ कथाकार प्रेमचन्द—पृष्ठ ४०४-४०५
७ गबन—पृष्ठ २६
८ वही—पृष्ठ २६०

बोझ को हल्का करती है। जालपा का आत्म गौरव पूर्ण रूप से कलकत्ता पहुंचकर ही जाग्रत होता है—पति मिलन पर वह सिहर उठती है। कथाकार ने बड़े सफल ढंग से वह चित्र खींचा है—"उसकी आंखों में कभी इतना नशा न था, अंगों में कभी इतनी चपलता न थी, कपोल कभी इतने न दमके थे, हृदय में कभी इतना मृदु कम्पन न हुआ था। आज उसकी तपस्या सफल हुई।" किन्तु जालपा अधिक समय शिकवे-शिकायतों तथा मान-अभिनय में न बिताकर एक गर्वपूर्ण बात कहती है—"अगर तुम्हें यह पाप की खेती करनी है, तो मुझे आज ही यहां से विदा कर दो।"

कलकत्ता में ले जाकर जालपा के चरित्र को कथाकार ने उज्जवलतम सोपान पर बैठा दिया है। दिनेश की फांसी का समाचार सुनकर वह पति के पाप का प्रायश्चित करने का दृढ़ निश्चय कर लेती है। सहिष्णुता, त्याग, और सेवा वृत्ति को अपनाकर तन, मन, धन दिनेश के परिवार हित समर्पित कर देती है। कथाकार ने जालपा के चरित्र का समस्त विकास एवं परिवर्तन अत्यन्त स्वाभाविक रखा है—रमा तक ने यह स्वीकार किया है कि जालपा के त्याग, निष्ठा, और सत्य प्रेम ने उसकी आंखें खोली है, यही नहीं वह तो जोहरी जैसी वेश्या का कल्याण भी कर डालती है।

जोहरा हमारे सामने एक क्षणिक प्रभाव रखने वाले पात्र के रूप में आती है और वह भी एक वेश्या बनकर। किन्तु कथाकार ने उसके चरित्र को भी गतिशील (Dynamic) बना दिया है और उसके सुधार का कारण उसीके मुख से कहलवाया है—"जिस प्राणी को जंजीरों से जकड़ने के लिए वह भेजी गई है, वह खुद दर्द से तड़प रहा है, उसे मरहम की जरूरत है, जंजीरों की नही। वह सहारे का हाथ चाहता है, धक्के का झोंका नहीं। जालपा देवी के प्रति उसकी श्रद्धा, उसका अटल विश्वास देखकर मैं अपने को भूल गई। मुझे अपनी नीचता, अपनी स्वार्थपरता पर लज्जा आई। मेरा जीवन कितना अधम, कितना पतित है, यह मुझ पर उस वक्त खुला; और जब मैं जालपा से मिली तो उसकी निष्काम सेवा, उसका उज्जवल तप देखकर मेरे मन के रहे-सहे संस्कार भी मिट गए। विलासयुक्त जीवन से मुझे घृणा हो गई। मैंने निश्चय कर लिया, इसी अंचल में मैं आश्रय लूगी।"[६] इस प्रकार से यह चरित्र केवल इसी तथ्य का उद्घाटक बनकर सामने आता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी नारी का नारीत्व पूर्णतः विलुप्त नहीं होता। परोपकार हित वह रुग्ण रतन की सेवा भी करती है। मानवतावाद का परिचायक यह दृष्टिकोण प्रेमचन्द के चरित्र चित्रण की विशेष टेकनीक है।

देवीदीन, रतन, रमेश और जग्गो अन्य पात्र है जो उपन्यास में समय-समय पर उभरकर लीन हो जाते हैं। इनमें से देवीदीन और रतन के चरित्रों के द्वारा कथाकार ने कुछ आदर्शो की रक्षा की है। देवीदीन अर्धशिक्षित होने पर भी परोपकारी और आतिथ्य सत्कारी मानव के रूप में तथा रतन एक सच्ची पतिव्रता स्त्री के रूप मे अंकित की गई है।

'गबन' में कुल मिलाकर चार विषयो पर विचार प्रकट किए गए हैं। इनमें प्रमुख स्थान नारी संबंधी आभूषण प्रेम के विषय को दिया गया है। आभूषण प्रेम को व्यक्ति के

---

६. गबन—पृष्ठ ३२५

लिए ही अहितकर सिद्ध नहीं किया गया अपितु इसे एक सामाजिक बीमारी का रूप दे दिया गया है। कुछ आलोचकों ने तो 'गबन' को गहनों की ट्रेजडी तक कह डाला है। आभूषण प्रेम पर कथाकार ने एक पात्र रमेश के द्वारा एक लम्बा-चौड़ा भाषण भी दिला दिया है जिसका कुछ भाग यहाँ उद्धृत कर देना समीचीन होगा—"बुरा मरज है, बहुत ही बुरा। यह धन जो भोजन में खर्च होना चाहिए, बाल बच्चों का पेट काटकर गहनों की भेंट कर दिया जाता है। बच्चों को दूध न मिले, न सही। घी की गंध तक उनकी नाक में न पहुँचे, न सही। मेवों और फलों के दर्शन उन्हें न हों कोई परवाह नहीं। पर देवी जी गहने जरूर पहनेंगी और स्वामी जी गहने जरूर बनवाएँगे। दस-दस, बीस-बीस रुपये पाने वाले क्लर्कों को देखता हूँ जो सड़ी हुई कोठरियों में पशुओं की भाँति जीवन काटते हैं जिन्हें सवेरे का जलपान तक मयस्सर नहीं होता, उन पर भी गहनों की सनक सवार रहती है। इस प्रथा से हमारा सर्वनाश होता जा रहा है। मैं तो कहता हूँ, यह गुलामी पराधीनता से कहीं बढ़कर है। इसके कारण हमारा कितना आत्मिक, नैतिक, दैहिक, आर्थिक और धार्मिक पतन हो रहा है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।"[10] वास्तव में ये विचार कथाकार के अपने विचार हैं किन्तु इन्हें पात्रमुखोद्‌गारित कराकर उसने शिल्पगत कुशलता का परिचय दिया है।

विचार प्रतिपादन का यह ढंग उसने आगे चलकर भी अधिकतम रूप में अपनाए रखा है। 'गबन' में स्त्री स्वाधीनता तथा उसे पुरुष सम अधिकारों से विभूषित करने के लिए रतन के पति वकील इन्दुभूषण एक लम्बा-चौड़ा भाषण देते हैं, वे रमा से तर्क-वितर्क भी करते हैं जोश में आकर यहाँ तक कह उठते हैं—'जब तक हम स्त्री पुरुषों को अबाध रूप से अपना-अपना मानसिक विकास न करने देंगे, हम अवनति की ओर खिसकते चले जाएँगे।'"[11]

स्त्री स्वाधीनता से सम्बन्धित एक भयंकर समस्या संयुक्त परिवार की समस्या है, जिसमें सरल निष्कपट और परमार्थी प्राणी घुट घुटकर मरने के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं करता। इसमें भी अधिकतर स्त्री ही अधिक पिसती है और विशेषकर वह स्त्री जो विधवा हो जाए। उसके लिए जीवन एक नारकीय अग्नि बनकर सामने खड़ा रहता है जिसमें वह चिता की भाँति चटक-चटककर भुनती चली जाती है। पति की मृत्यु पर शोक में लड़ी रहने वाली रतन जब मणिभूषण के कपट जाल में फँसकर दाने-दाने की मुहताज हो जाती है तब चिल्लाकर कहती है—"न जाने किस पापी ने यह कानून बनाया था। अगर ईश्वर कहीं है और उसके यहाँ कोई न्याय होता है तो एक दिन उसी के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ-बहनें न थीं। तुझे उनका अपमान करते लज्जा न आई। अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती—बहनो किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना।"[12] यथा

१० गबन—पृष्ठ ५१
११ वही—पृष्ठ १०७
१२ वही—पृष्ठ २७४

कार को रतन से ही नहीं रतन सदृश सारे नारी जगत से पूर्ण सहानुभूति है और वह उसे सम्मानित अवस्था में देखना चाहता है।

भारतीय नेताओं की काली करतूतो का पर्दाफ़ाश करने के लिए भी कथाकार ने अपनी ओर से लम्बी-चौड़ी टीका-टिप्पणी की योजना न करके देवीदीन का भाषण दिला दिया है, जिसकी कुछ पंक्तियां पठनीय है—"इन बड़े-बड़े आदमियों के किए कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भांति विसूरने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देशभक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नही आता। उनके घर मे जाकर देखो तो एक भी देशी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढ़े के बनवा लिए, घर का और सामान विलायती है। सब के सब भोग-विलास मे अन्धे हो रहे है।"[१३] इस ढंग से प्रेमचन्द ने समसामयिक नेताओं की यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डलवा दिया है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेमचन्द स्वयं सर्वत्र तटस्थ रहे हैं और इस उपन्यास में मौन व्रत धारण कर लेते है।

आवश्यकता पडने पर ही प्रेमचन्द ने अपनी ओर से आलोचनात्मक टिप्पणियां दी हैं, जिनमें से एक-दो स्थल दृष्टव्य है। रतन के पति की मृत्यु पर मौत की सर्वकाल-जनीनता पर आपने लिखा है—"मानव जीवन की सबसे महान घटना कितनी शांति के साथ घटित हो जाती है। वह विश्व का एक महान व्यंग, वह महत्वाकांक्षाओं का प्रचण्ड सागर, वह उद्योग का अनन्त भण्डार वह प्रेम और द्वेष, सुख और दुःख का लीला-क्षेत्र, वह बुद्धि और बल की रंगभूमि न जाने कब और कहा लीन हो जाती है, किसीको खबर नही होती। एक हिचकी भी नहीं, एक उच्छ्वास भी नहीं, एक आह भी नहीं निकलती। कितना महान परिवर्तन है। वह जो मच्छर के डंक को सहन न कर सकता था, अब उसे चाहे मिट्टी मे दबा दो, चाहे अग्नि चिता पर रख दो, उसके माथे पर बल तक न पड़ेगा।"[१४]

'गबन' तक पहुंचकर प्रेमचन्द का विचार प्रतिपादन अधिक व्यवस्थित, अधिक संयत और व्यंजनामय हो गया है। इसमें उन्होंने नारी की विवशता और मर्यादा तथा सीमाओं के साथ-साथ मध्यवर्ग की दिशा को तोलकर रख दिया है।

गोदान—१९३६

मानव-व्यापारों का व्यापक और सूक्ष्म कथात्मक विवेचन 'गोदान' की शिल्पगत विशेषता है। 'गोदान' में कथाकार अपने को एक बड़ी सीमा तक परोक्ष मे ले जाकर पात्रों को आगे ले आया है। आलोचकों ने इसे निर्विवाद रूप से प्रेमचन्द पुनः उतनी रचना माना है। कतिपय आलोचकों के मत उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है:— ए सरल मेल

"गोदान निर्विवाद रूप से प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कृति है। और चिंतन का परिणाम है, दूसरी ओर इसमें उपन्यास के शिल्प-विधान का डॉ० इन्द्रनाथ

---

१३. गबन—पृष्ठ १७७

१४. वही—पृष्ठ २०३-२०४

मिलता है।"[8]

"गोदान प्रेमचन्दजी की अंतिम और सर्वोत्तम कृति है।"[9]

"औपन्यासिक कौशल प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक है।"[10]

"गोदान ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का महाकाव्य है।"[11]

"गोदान आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है।"[12]

'गोदान' की शिल्प विधि में मूल रूप से कोई नवीनता नहीं है। यह भी वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है किन्तु इसमें प्रस्तुत जीवन की आशाओं और निराशाओं का द्वन्द्वमूलक वर्णन भावी उपन्यास की उत्प्रेरणा स्वरूप समृद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ है। समस्त रचना समाजपरक बहिर्गत संघर्ष के व्यापक चित्रण के साथ विकसित हुई है। सभी प्रमुख पात्रों के बाह्य पक्ष का वर्णन सविस्तार रूप में प्रस्तुत हुआ है। पात्रों की संख्या पचास से भी अधिक है, उनकी मनोभावनाओं का विवरण प्रेमचन्द की प्रौढ़ व्याख्यात्मक शैली का परिचायक है। 'कायाकल्प' में जो शिल्पगत त्रुटियाँ रह गई थीं, उनका निराकरण पूर्ण रूप से 'गोदान' में हो गया है। 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णना तथा अनौचित्यपूर्ण दृश्यों की भरमार है। 'गोदान' की रचना 'रंगभूमि' के ढर्रे पर वर्णनात्मक शिल्प में हुई है, किन्तु इसे अखण्ड जीवन का महाकाव्य बनाने की चेष्टा नहीं की गई, यह दो खण्डकाव्यों के समन्वय का एक सुन्दर प्रयास है। इस दृष्टि से 'गोदान' का विषय जीवन का कोई एक पहलू नहीं है। यह जीवन के दो रूपों का तुलनात्मक अध्ययन है। अतः 'गोदान' के शिल्प विधान पर लगाया गया आरोप कि इसमें दो एकदम अलग अलग लगभग समानान्तर कथाओं को बड़े कमजोर सूत्रों में बाँधने का यत्न किया गया है, न्यायपूर्ण नहीं है।

'गोदान' के वस्तु विधान के शिल्पगत पहलू पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नन्ददुलारे लिखते हैं—"गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है।"[1] इस संबंध में एक अन्य आलोचक लिखते हैं—"गोदान की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक कथा मुख्य कथा से अलग दिखाई पड़ती है और लगता है कि यदि लेखक होरी के ग्राम जीवन की कथावस्तु तक

[illegible] डॉ० राजेश्वर गुरु प्रेमचन्द एक अध्ययन—पृष्ठ २२३

[illegible] आचार्य नन्ददुलारे प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ १३१

[illegible] डॉ० महेन्द्र भटनागर 'समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द—पृष्ठ २१०

[illegible] गंगाप्रसाद पाण्डेय हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ६१

१० [illegible] सम्पादक डॉ० इन्द्रनाथ मदान प्रेमचन्द चिंतन और

११ वही

१२ वही [illegible] साहित्य—पृष्ठ १४८

सीमित रहता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था।"[7] इस संबंध में मुझे डॉ० राजेश्वर गुरु का कथन अधिक तर्क संगत प्रतीत हुआ है। वे लिखते हैं— "एक कथा शहर की है और एक गाव की। और 'गोदान' को। संक्षिप्तीकृत रूप में लाने वालों ने शहर की कथा का अधिकांश अलग करके यह सिद्ध करना चाहा है कि इसके बिना भी कथा के रसास्वादन मे कोई विक्षेप नही पड़ता। उपन्यास शास्त्र की दृष्टि से यह निश्चित है कि 'गोदान' की आधिकारिक वस्तु गाव की कथा है और प्रासंगिक शहर की, लेकिन इस प्रकार के दृष्टिकोण के द्वारा जो दोनों को अलग-अलग और एक को प्रमुख और अन्य को गौण समझने की प्रवृत्ति है, वह उचित नहीं है।"[8] वास्तव में ये दोनों कथाएं एक-दूसरे की पूरक हैं। आचार्य नन्ददुलारे द्वारा आरोपित नागरिक कथा की शिल्पगत अनुपयोगिता संदिग्ध है। उन्होंने नागरिक कथा के समन्वय के दो उद्देश्य बताए हैं—

१. तुलना द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विषमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र बनाना।

२. प्रभाव को तीव्र करना तथा नागरिक पात्रो द्वारा ग्राम में सुधार के प्रयत्न।

मेरे मतानुसार इसका एक तीसरा उद्देश्य भी है, वह है नागरिक जीवन के प्रलोभनों में भोले-भाले कृषको को फसाकर उनकी असारता दिखाना। इन प्रलोभनों के कारण आज ग्राम के ग्राम उजड़ रहे है, कृषक मजदूर बनते जा रहे है और सूदखोरी आदि महाजनी सभ्यता के चिह्न फूट पड़े है। इन सबके मिश्रित प्रभाव को व्यापक रूप में प्रस्तुत करने के लिए ही शहर और गांव की कथाए गुम्फित की गई है। अतः 'गोदान' में दो जीवन रूपो का प्रतिपादन एक नवीन शिल्पगत प्रयोग है। जीवन के कुछ सत्य शाश्वत होते है और सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। ग्राम हो या नगर; शोषित हो व शोषक; सुधारक हो अथवा सुधारपात्र सर्वत्र स्वार्थ का ही प्रभुत्व है। स्वार्थ की मात्रा में अन्तर हो सकता है; और इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दो कथाएं ली गई है। शोषण तथा स्वार्थ का सीधा संबंध महत्वाकांक्षाओ से है, ज्योंही महत्वाकाक्षाएं बढती है, इनकी मात्रा बढ जाती है। होरी, खन्ना, रायसाहब से संबंधित कथाएं इसका प्रमाण है। 'गोदान' की इन दोनो कथाओं में जीवन के इस शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त किया गया है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि शोषण के विभिन्न रूप ही दिखाने थे तो 'गोदान' की रचना भी 'रंगभूमि' के पैटर्न को अपनाकर की जा सकती थी। इसमें भी अखण्ड जीवन को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए था ताकि यह महाकाव्य (Epic) पद पर आसीन होता। परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इसका एक कारण तो यह है कि एक बार अति विस्तृत चित्रपटी (Canvass) पर जीवन-चित्र उतार लेने के पश्चात् पुनः उतनी ही बड़ी पृष्ठभूमि तैयार कर लेना किसी भी बड़े से बड़े कलाकार के लिए सरल खेल

---

७. गोपाल कृष्ण कौल : प्रेमचन्द चिंतन और कला—सम्पादक डॉ० इन्द्रनाथ मदान—पृष्ठ ८६

८. प्रेमचन्द : एक अध्ययन—पृष्ठ २२४

मिलता है।"[९]

"गोदान प्रेमचन्दजी की अन्तिम और श्रेष्ठतम कृति है।"[१०]

"औपन्यासिक कौशल प्रस्तुत उपन्यास में सबसे अधिक है।"[११]

"गोदान ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का महाकाव्य है।"[१२]

"गोदान आधुनिक भारतीय जीवन का दर्पण है।"[१३]

'गोदान' की शिल्प विधि में मूल रूप से कोई नवीनता नहीं है। यह भी वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है, किन्तु इसमें प्रस्तुत जीवन की आशाओं और निराशाओं की द्वन्द्वमूलक वर्णन भावी उपन्यास की उत्प्रेरणा स्वरूप समृद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ है। समस्त रचना समाजपरक बहिर्गत संघर्ष के व्यापक चित्रण के साथ विकसित हुई है। सभी प्रमुख पात्रों के बाह्य आप का वर्णन सविस्तार रूप में प्रस्तुत हुआ है। पात्रों की संख्या पचास से भी अधिक है, उनकी मनोभावनाओं का विवरण प्रेमचन्द की प्रौढ़ व्याख्यात्मक शैली का परिचायक है। 'कायाकल्प' में जो शिल्पगत त्रुटियाँ रह गई थीं, उनका निराकरण पूर्ण रूप से 'गोदान' में हो गया है। 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णना तथा अनौचित्यपूर्ण दृश्यों की भरमार है। 'गोदान' की रचना 'रंगभूमि' के ढर्रे पर वर्णनात्मक शिल्प में हुई है, किन्तु इसे अखण्ड जीवन का महाकाव्य बनाने की चेष्टा नहीं की गई, यह दो खण्डकाव्यों के समन्वय का एक सुन्दर प्रयास है। इस दृष्टि से 'गोदान' का विषय जीवन का कोई एक पहलू नहीं है। यह जीवन के दो रूपों का तुलनात्मक अध्ययन है। अतः 'गोदान' के शिल्प विधान पर लगाया गया आरोप कि इसमें दो एकदम अलग अलग लगभग समानान्तर कथाओं को बड़े कमज़ोर सूत्रों में बाँधने का यत्न किया गया है न्यायपूर्ण नहीं है।

'गोदान' के वस्तु विधान के शिल्पगत पहलू पर प्रकाश डालते हुए आचार्य नन्ददुलारे लिखते हैं—"गोदान उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खण्डों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक दूसरे के जीवन-क्रम से बहुत कम सम्पर्क है।"[१४] इस संबंध में एक अन्य आलोचक लिखते हैं—"गोदान की आधिकारिक कहानी के साथ-साथ प्रासंगिक कहानी भी चलती है। वह है देहात के साथ शहर की कहानी। मालती और मेहता की कहानी। यह प्रासंगिक कथा मुख्य कथा से अलग दिखाई पड़ती है और लगता है कि यदि लेखक होरी के ग्राम जीवन की कथावस्तु तक

---

[९] डॉ० राजेश्वर गुरु : प्रेमचन्द एक अध्ययन—पृष्ठ २२३

[१०] आचार्य नन्ददुलारे : प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन—पृष्ठ १३१

[११] डॉ० महेन्द्र भटनागर : समस्यामूलक उपन्यासकार प्रेमचन्द—पृष्ठ २१०

[१२] गंगाप्रसाद पाण्डेय : हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ६१

[१३] विश्वम्भर मानव, सम्पादक डॉ० इन्द्रनाथ मानव : प्रेमचन्द चिंतन और ...साहित्य—पृष्ठ १४८

[१४] वही

सीमित रहता तो यह उपन्यास शिल्प की दृष्टि से अपने में पूर्ण हो सकता था।"[७] इस संबंध मे मुझे डॉ० राजेश्वर गुरु का कथन अधिक तर्क संगत प्रतीत हुआ है। वे लिखते हैं— "एक कथा शहर की है और एक गाव की। और 'गोदान' को। संक्षिप्तीकृत रूप में लाने वालों ने शहर की कथा का अधिकांश अलग करके यह सिद्ध करना चाहा है कि इसके विना भी कथा के रसास्वादन में कोई विक्षेप नही पड़ता। उपन्यास शास्त्र की दृष्टि से यह निश्चित है कि 'गोदान' की आधिकारिक वस्तु गाव की कथा है और प्रासंगिक शहर की, लेकिन इस प्रकार के दृष्टिकोण के द्वारा जो दोनो को अलग-अलग और एक को प्रमुख और अन्य को गौण समझने की प्रवृत्ति है, वह उचित नही है।"[८] वास्तव में ये दोनों कथाएं एक-दूसरे की पूरक हैं। आचार्य नन्ददुलारे द्वारा आरोपित नागरिक कथा की शिल्पगत अनुपयोगिता संदिग्ध है। उन्होंने नागरिक कथा के समन्वय के दो उद्देश्य वताए हैं—

१. तुलना द्वारा ग्रामीण परिस्थिति की विपमता को स्पष्ट करना और प्रभाव को तीव्र वनाना।

२. प्रभाव को तीव्र करना तथा नागरिक पात्रों द्वारा ग्राम में सुधार के प्रयत्न।

मेरे मतानुसार इसका एक तीसरा उद्देश्य भी है, वह है नागरिक जीवन के प्रलोभनों में भोले-भाले कृपकों को फंसाकर उनकी असारता दिखाना। इन प्रलोभनों के कारण आज ग्राम के ग्राम उजड़ रहे हैं, कृपक मजदूर वनते जा रहे है और सूदखोरी आदि महाजनी सभ्यता के चिह्न फूट पड़े है। इन सबके मिश्रित प्रभाव को व्यापक रूप में प्रस्तुत करने के लिए ही शहर और गाव की कथाए गुम्फित की गई है। अतः 'गोदान' में दो जीवन रूपों का प्रतिपादन एक नवीन शिल्पगत प्रयोग है। जीवन के कुछ सत्य शाश्वत होते है और सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। ग्राम हो या नगर; शोषित हो व शोषक; सुधारक हो अथवा सुधारपात्र सर्वत्र स्वार्थ का ही प्रभुत्व है। स्वार्थ की मात्रा में अन्तर हो सकता है; और इसी अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दो कथाएं ली गई है। शोषण तथा स्वार्थ का सीधा संबंध महत्वाकांक्षाओ से है, ज्योंही महत्वाकाक्षाएं वढती है, इनकी मात्रा वढ़जाती है। होरी, खन्ना, रायसाहव से संवंधित कथाएं इसका प्रमाण है। 'गोदान' की इन दोनों कथाओ में जीवन के इस शाश्वत सत्य को अभिव्यक्त किया गया है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि शोपण के विभिन्न रूप ही दिखाने थे तो 'गोदान' की रचना भी 'रंगभूमि' के पैटर्न को अपनाकर की जा सकती थी। इसमें भी अखण्ड जीवन को प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए था ताकि यह महाकाव्य (Epic) पद पर आसीन होता। परन्तु ऐसा नही किया गया। इसका एक कारण तो यह है कि एक वार अति विस्तृत चित्रपटी (Canvass) पर जीवन-चित्र उतार लेने के पश्चात् पुनः उतनी ही वड़ी पृष्ठभूमि तैयार कर लेना किसी भी वडे से वड़े कलाकार के लिए सरल खेल

---

७. गोपाल कृष्ण कौल : प्रेमचन्द चिंतन और कला—सम्पादक डॉ० इन्द्रनाथ मदान—पृष्ठ ८६

८. प्रेमचन्द : एक अध्ययन—पृष्ठ २२४

नहीं है। दूसरे यदि ऐसा किया जाता तो 'रंगभूमि' का प्रभाव नष्ट होने की आशंका बनी रहती। इतनी महान कृति (रंगभूमि) के प्रति अपने अक्षुण्ण मोह को सरलतापूर्वक नहीं त्यागा जा सकता था जिसके फलस्वरूप प्रेमचन्द ने नई योजना जुटाई और इस योजना के अन्तर्गत दो समाज (ग्राम समाज और नागरिक समाज) की कथाओं में चित्रपटी पर चित्रित किए गए हैं।

अब देखना यह है कि ये दो कथाएं किस अंश में और किस स्थल पर आकर समन्वित होती हैं और किस स्थल पर अलग अलग रहती हैं। ग्रामीण समाज को लेकर चित्रित की गई कथा में होरी धनिया कथानक ही आधारिक है और इसके साथ तीन उपकथाएं जोड़ दी गई हैं—

(क) गोबर झुनिया कथा

(ख) मातादीन सिलिया अवैध संबंध कथा

(ग) लाला-दाहरी-नोखेराम आख्यान

इन तीनों उपकथाओं का सीधा संबंध आधिकारिक कथा से (अर्थात होरी धनिया करुण कथा से) जुड़ा हुआ है। इन तीनों उपकथाओं ने किसी न किसी रूप में होरी धनिया जीवन को प्रभावित किया है, अतएव ये शिल्पगत उपयोग रखती हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त जो उपकथाएं या किस्से गढ़े गए हैं वे उद्देश्यपूर्ति करने के अतिरिक्त कोई शिल्पगत महत्त्व नहीं रखते। जैसे उन्नीसवें अध्याय में सिलिया का सोना की ससुराल में जाकर मथुरा से बातें करना, सोना का उसपर बिगड़ उठना शिल्प की दृष्टि से दोषपूर्ण और कथाकार बुद्धिजनक बातें हैं। झुनिया गोबर उपकथा में झुनिया द्वारा गोबर को सुनाई गई गपड़ू काश्मीरी की उपकथा भी मुख्य कथा पर कोई प्रभाव नहीं डालती। एक आलोचक महोदय तो मातादीन-सिलिया अवैध संबंध कथा को भी शिल्पगत दोष बताते हैं—"मातादीन सिलिया की कहानी होरी और धनिया के चरित्र पर प्रकाश अवश्य डालती है पर वस्तु विकास में इसका विशेष स्थान नहीं है। यह कथा यदि वस्तु से पूर्णतया निकाल दी जाए, तब भी वस्तु-शृंखला शिथिल नहीं होती।"[१]

किन्तु यदि इस दृष्टि से देखा जाए तो गोबर-झुनिया रोमांस दृश्य, धनिया का झुनिया को आश्रय देना, नोहरी की विभिन्न लीलाएं भी महत्त्वहीन सिद्ध होंगी। परन्तु ऐसा नहीं है। ये उपकथाएं जहां एक ओर वस्तु विधान में व्यापकता की परिचायक हैं वहां तीव्रता की द्योतक भी हैं। चौबीसवें अध्याय में सिलिया के भविष्य के विषय को लेकर मातादीन के प्रति किया गया सिलिया के पिता हरखू का रोमांचकारी काण्ड उपन्यास में नाटकीय दृश्य प्रस्तुत कर देता है और उक्त घटना पर कथाकार द्वारा किया गया संक्षिप्त व्यंग्याघात अधजागृत पाठक को पूर्ण चेतन अवस्था में ले आता है। मैंने प्रारम्भ में लिखा है कि 'गोदान' में कथाकार की प्रवृत्ति टीका-टिप्पणी में न रम कर अधिकतर कथा में लिप्त रही है। यहां इसका प्रमाण प्रस्तुत है—"उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुंह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी

---

१ श्री हरस्वरूप माथुर प्रेमचन्द उपन्यास और शिल्प—पृष्ठ १५४

खान-पान, छूत-विचार पर टिका हुआ था। आज उस धर्म की जड़ कट गई।"[१०] सिलिया केवल धनिया का आश्रय ही प्राप्त नहीं करती, आगे चलकर होरी एक बड़ी कठिनाई (सोना के विवाह की समस्या) को हल करने में भी पूर्ण सहयोग देती है। मातादीन-सिलिया की कथा का महत्त्व किसी मात्रा में भी कम नहीं है।

धनिया-होरी की मुख्य कथा अवध प्रान्त के एक छोटे से ग्राम बेलारी से संबंध रखती है। इसमें धनिया-होरी, पुनिया-हीरा, शोभा, गोबर-झुनिया, भोला, दातादीन, मातादीन, सिलिया, नोखेराम तथा पटेश्वरी, झिंगुरी आदि अनेक पात्र समय-समय पर रंगमंच के मुख्य भाग पर आकर कथावस्तु को आगे बढ़ाते हैं। स्वयं धनिया तथा होरी उपन्यास के चौदह अध्यायों में विद्यमान रहकर मुख्य वस्तु-विधान जुटाते हैं।"[११] शायद इसीलिए अधिकतर समालोचकों ने 'गोदान' को ग्रामीण जीवन के अन्धकार पक्ष का महाकाव्य कहा है। किन्तु 'गोदान' केवल मात्र कृषक समुदाय के धुंधले जीवन विकास का उद्घाटक महाकाव्य नहीं है, अपितु हमें इसमें कृषक के अतिरिक्त अन्य वर्गों तथा ग्राम के साथ-साथ नगर के लोगों की अलन्य खण्ड गाथा भी प्राप्य हो गई है। मेहता-मालती तथा 'खन्ना-गोविन्दी' आदि पात्रों तथा नागरिक प्राणियों की खण्डित गाथाएं भी इस रचना में गुम्फित कर दी गई है जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी धनिया-होरी कथा की ओर कभी-कभी झुक रही प्रतीत होती है। मेहता-मालती ग्राम में पहुंचकर होरी आदि कृषक समुदाय से संबंध स्थापित करना चाहते है, किन्तु यह संबंध क्षणिक सिद्ध होता है।

वस्तु विधान के अन्तर्गत नागरिक खण्ड से संबंधित कथा सौष्ठव एवं इसके शिल्पगत महत्त्व पर दृष्टिपात कर लेना भी समीचीन होगा। नागरिक कथा का क्रीड़ा केन्द्र लखनऊ नामक प्रसिद्ध नगर है और इस कथा के वाहक हैं मि० मेहता तथा मालती। इन पात्रों के अतिरिक्त मि० खन्ना तथा गोविन्दी की उपकथा भी समानान्तर चलती है। मिर्जा खुर्शेद, मि० तंखा तथा ओंकारनाथ आदि अन्य पात्र इसमें यथासंभव सहयोग देते हैं। रायसाहब अमरपाल सिंह अपने ग्राम सेमरी में बैठे हुए इन दो कथाओं (नागरिक और ग्रामीण) की ओर बारी-बारी झुकते दिखाए गए हैं। होरी का ग्राम बेलारी उनके इलाके में है और वहां घटित प्रमुख घटनाओं के प्रति वे उदासीन नहीं रह सकते—उधर लखनऊ में उन्हें अपनी मित्र मंडली (मि० खन्ना, मेहता, मिर्जा खुर्शेद, मालती आदि) तथा आमोद-प्रमोद के प्रयासन प्राप्त हैं।

नगर की कथा किसी भी दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ग्राम में तो केवल एक वर्ग (कृषक वर्ग) का ही शोषण दिखाया गया है किन्तु नगर में तो प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक पात्र एक दूसरे को हड़प कर लेने को दौड़ रहे है। पूंजीपति मि० खन्ना के आवरण में भी रायसाहब का शोषण करते नहीं घबराते, उन्हें जी भरकर कमीशन काट कर रुपया उधार

---

१० गोदान (पन्द्रहवां संस्करण, १९५८)—पृष्ठ २५२

११ वही—अध्याय संख्या १, ३, ४, ८, ९, १०, ११, १४, १७, २०, २१, २४, २५, ३६

दिखाते हैं। मि० खन्ना प्रतिपक्ष अपना उल्लू साधने की क्रिया में रत हैं। मिर्ज़ा खुर्शेद के साथ वे शिकार खेलने नहीं जाते अपितु उन्हीं का शिकार करने जाते हैं। धन प्राप्ति हित दो पात्रों को परस्पर लड़वा कर दूर खड़े हो जाना तथा तमाशा देखना और हाथ सेंकना आपके बाएं हाथ का काम है। इधर पंडित ओंकारनाथ सिद्धान्त और आदर्श का राग अलाप कर भी राय साहब के द्वारा फेंके गए पन्द्रह सौ रुपयों पर अपना ईमान बेचकर आत्महनन करते दृष्टिगोचर होते हैं। गोबर आदि पात्र नगर की वायु लगते ही आत्म-केन्द्रित और परम स्वार्थी बन जाते हैं। यहाँ गोबर जो मिर्ज़ा खुर्शेद का आश्रय पाकर चार पैसे जोड़ने के योग्य हुआ, आवश्यकता पड़ने पर उन्हीं को दो रुपया उधार न देकर कृतघ्नता और स्वार्थपरता का परिचय दे देता है। नगर में पहुँचकर झुनिया भी कुछ समय को अपने सास श्वसुर को विस्मृत कर देती है।

नगर की कथा से सम्बन्धित कुछ अध्याय शिल्प की दृष्टि से दोषपूर्ण हैं। विशेषकर पन्द्रहवां तथा बत्तीसवां अध्याय कथागत महत्त्व न रखकर विचारगत महत्त्व रखते हैं। पन्द्रहवें अध्याय में वीमेन्स लीग में मि० मेहता द्वारा दिया गया एक लम्बा भाषण और बीच-बीच में उसपर विभिन्न पात्रों द्वारा की गई टीका टिप्पणी नारी विषयक दृष्टिकोण से परिपूर्ण अध्याय है जिसमें कोई भी घटना घटित नहीं होती। इसी भांति ३२वें अध्याय में मिर्ज़ा खुर्शेद नगर में वेश्याओं की एक नाटक मण्डली बना लेते हैं। मि० मेहता उस पर तर्क वितर्क करते हैं जो दोनों मित्रों की अति भावुकता की परिचायक हैं, कथा विकास की सूचक नहीं। नगर की कथा में सम्बन्धित एक घटना ऐसी है जिसे आकस्मिक कह सकते हैं, वह है मि० खन्ना के मिल में आग लग जाना।

कथा शिल्प की दृष्टि से वे अध्याय जो एक पात्र को लेकर अग्रसर हुए हैं, दोष पूर्ण हैं। बारहवें अध्याय में गोबर की यात्रा का विवरण कोई कथात्मक शृंखला नहीं जोड़ता, उन्नीसवें अध्याय में सिलिया का सोना के घर जाने वाला भी अप्रासंगिक और अनावश्यक विस्तारजनक आख्यान है। शेष कथा चाहे वह गांव की है या नगर की, वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा एक दूसरी से गुम्फित कर दी गई है और अपने व्यापक प्रभाव को अंकित करने में समर्थ सिद्ध हुई है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में मानवचरित्र अपनी समग्रता, सामाजिकता विविधता, विषमता तथा बहिर्गत उलझनों के साथ अभिव्यक्त होता है। गोदान का होरी भी एक ऐसा ही पात्र है। उसकी वर्गगत प्रतीकात्मकता असंदिग्ध है। उसे हम ग्रामीण सामाजिक सभ्यता और रूढ़िगत धारणाओं का पुतला मान कर चलते हैं। वह पहिले कृषक है, फिर पिता, पति या व्यक्ति है। होरी की विशिष्टता एवं विलक्षणता का विवेचन विभिन्न आलोचकों ने इन शब्दों में किया है—"होरी के रूप में उन्होंने भारतीय कृषक को ही मूर्तिमान कर दिया है। जीवन भर परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ किसान अन्त में अपनी करुण कहानी का व्यापक प्रभाव छोड़कर समाप्त हो जाता है। भारतीय किसान की समस्त विषमता होरी में साकार हो उठी है।"[12]

"गोदान का होरी गरीब स्थिति के किसान का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व उस

---

१२ आचार्य नन्ददुलारे—प्रेमचन्द : साहित्य विवेचन—पृष्ठ १४४

वर्ग का व्यक्तित्व है।"[१३]

"इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है होरी। वह भारतीय किसान का प्रतिनिधि है।"[१४]

"होरी का संघर्ष सामाजिक व्यक्तित्व के साथ वैयक्तिक व्यक्तित्व का नहीं है बल्कि सामाजिक व्यक्तित्व का समाज-व्यवस्था के साथ है, जिसमें ज़मींदार एक है तो साहूकार तीन-तीन; एवं शासन-व्यवस्था जिनके संरक्षण के लिए इनकी ही नीति अपनाती है।"[१५]

होरी की समाज एवं धर्म-भीरुता वर्णनात्मक ढंग से चित्रित की गई है। वह सदैव अपना गर्दन शोपकों के पांव तले दबी अनुभव करके भी सी नहीं करता, उन्हें सहलाना उसकी प्रवृत्ति बन चुकी है। चारित्रिक विविधता की भी उसमें कमी नहीं है। वह स्वार्थी भी है और परमार्थी भी। एक क्षण पूर्व किए गए निश्चय अनुसार भोला को ठग कर गऊ ले लेना चाहता है, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे दुखी देख बिना मोल लिए भूसा दे डालता है। हीरा और शोभा को धोका देने के निमित्त दमड़ी बसार से छलपूर्ण सौदा करने वाला होरी धर्म भीरुता के कारण बैल को खोल ले जाने वाले भोला के सम्मुख असहाय एवं निरुपाय खड़ा रहता है। सहनशीलता एवं धैर्य का यह संकेत उसके शील के संकेतक रूप में नहीं अपितु परम्परा और रुढ़ियों की निर्वैयक्तिक सत्ता की स्वीकृति के परिणाम के आधार पर दिया गया है। होरी में किसान के प्रतिनिधित्व को पुष्ट करने के लिए प्रेमचन्द लिखते हैं—"किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी जेब से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भाव-तोल में भी वह चौकस होता है···लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों में फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती दूसरे ही पीते हैं; मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कुत्सित स्वार्थ के लिए स्थान कहां? होरी किसान था और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने न सीखा था।"[१६] होरी के रूप में कृषक समाज की परोपकारी प्रकृति का किया गया यह सामूहिक चरित्र-चित्रण वर्णनात्मक ढंग पर किया गया है।

किन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ है। धनी-मानी कहलाने और समझे जाने वाले शोषक समाज का चित्रण नाटकीय प्रणाली द्वारा कराया गया है। रायसाहब अमरपाल सिंह होरी से वार्ता करते हुए इस समाज के यथार्थ रूप का उद्घाटन करते हैं जो इन शब्दों में अंकित है।

"हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन जानते हो, क्यों? केवल अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए। हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार।

---

१३. श्री बाबूराम विष्णु पराडकर—प्रेमचन्द : कृतियां और कृतित्व सम्पादक डॉ० प्रेमनारायण टंडन—पृष्ठ १५५

१४. श्री विशम्भर मानव—वही—पृष्ठ ११२

१५. डॉ० रामखेलवन पाण्डेय : आलोचना विशेषांक (३३) पृष्ठ १५७

१६. गोदान—पृष्ठ १०

हममें से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी की विधवा बहू निकल जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय, या अपने आसामियों के हाथों पिट जाय, तो उसके और सभी भाई उस पर हँसेंगे, बगलें बजाएंगे। मानो सारे संसार की सम्पदा मिल गई। और मिलेंगे तो इतने प्रेम से, जैसे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं।'[17] इस संवाद द्वारा नाटकीय रूप में शोषक समाज के अवगुणों—स्वार्थ, ईर्ष्या कपट आदि का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

सामूहिक चित्रण का यह रूप प्रेमचन्द की शिल्पगत पकड़ का परिचायक है। जहां भी दो पात्र मिलते हैं, अपने दुखड़े रोने बैठ जाते हैं, किन्तु उनके ये दुखड़े व्यक्ति परक न रहकर समाज-परक हो जाते हैं। इनके द्वारा समाज के खोखलेपन पर पूरा प्रकाश पड़ गया है और उसे यथार्थ रूप में देखा परखा जा सकता है। रायसाहब-खन्ना वार्ता में रायसाहब द्वारा अपनी परेशानियों के साथ-साथ समाज का रूप उद्घाटन करना, रायसाहब ओंकारनाथ वाद विवाद में रायसाहब द्वारा अपने (तथा अपने जैसे सामंतो) के काले कारनामों की सूची देना,[18] तथा रायसाहब बातचीत के प्रसंग में खन्ना का शोषक समाज की रहस्यवृत्तियों का उद्घाटन करना[19] और अन्त में खन्ना का विक्षिप्त अवस्था में सब कुछ कह जाना,[20] शिल्प के क्षेत्र में उत्तम उदाहरण हैं।

होरी, खन्ना, रायसाहब के अतिरिक्त दातादीन भी एक वर्गगत पात्र है और स्थिर (static) चरित्र का उदाहरण है। इस पात्र का चित्रण विश्लेषणात्मक ढंग पर करते हुए कथाकार लिखता है—"दातादीन हार मानने वाले जीव न थे। वह इस गांव के नारद थे, यहां की वहां, वहां की यहां, यही उनका व्यवसाय था। वह चोरी तो न करते थे, उसमें जान जोखिम था, पर चोरी के माल में हिस्सा बटाने के समय अवश्य पहुंच जाते थे। कहीं पीठ में धूल न लगने देते थे। जमींदार को आज तक लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती, तो कुएं में गिरने चलते, नोखेराम के किए कुछ न बनता, मगर आसामियों को सूद पर रुपए उधार देते थे। किसी स्त्री को कोई आभूषण बनवाना है, दातादीन उसकी सेवा के लिए हाजिर हैं। शादी ब्याह करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है, यश भी मिलता है, दक्षिणा भी मिलती है। बीमारी में दवा दारू भी करते हैं, झाड़ फूंक भी, जैसी मरीज की इच्छा हो। और सभा चतुर इतने हैं कि जवानों में जवान बन जाते हैं, बालकों में बालक और बूढ़ों में बूढ़े। चोर के भी मित्र हैं और साहु के भी। गांव में किसी का उनपर विश्वास नहीं है, पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा आकर्षण है कि लोग बार-बार धोखा खाकर भी उन्हीं की शरण जाते हैं।'[21] वास्तव में ऐसे ही पोंगे पंडितो

१७ गोदान—पृष्ठ १३
१८ वही—पृष्ठ ८८
१९ वही—पृष्ठ १७३ १७४
२० वही—पृष्ठ २३२
२१ वही पृष्ठ १२५

के कारण हिन्दू समाज और इस देश की बड़ी भारी हानि हुई है। दातादीन भी किसी शोषक से कम नहीं हैं। वे होरी को मजदूर तक वना डालते हैं।

शोषक वर्ग के प्रतिनिधि रूप में दो पात्र उल्लेखनीय हैं। ये दोनों क्रमशः सामन्त शाही और पूंजीवादी चरित्र के प्रतीक हैं। रायसाहव सेवा और त्याग का ढोंग रचकर कौसल में पहुंच जाते हैं। अपने अवगुणों को विवशता के आवरण में ढकना चाहते हैं। कथाकार ने इनका अधिकतम चित्रण इन्ही की वाणी द्वारा करा दिया है, किन्तु मि०खन्ना के चरित्र पर वह स्वयं प्रकाश डालकर वर्णनात्मक-विधि का प्रश्रय लेता दिखाई पड़ता है—"अन्य कितने ही प्राणियों की भांति खन्ना का जीवन भी दोहरा या दो-रुखी था। एक ओर वह त्याग और जन सेवा और उपकार के भक्त थे, तो दूसरी ओर स्वार्थ और विलास और प्रभुता के। कौन उनका असली रुख था, वह कहना कठिन है। कदाचित उनकी आत्मा का उत्तम आधा सेवा और सहृदयता से वना हुआ था, मद्धिम आधा स्वार्थ और विलास से। पर उत्तम और मद्धिम में वरावर संघर्प होता रहता था। और मद्धिम ही अपनी उद्दण्डता और हठ के कारण सौम्य और शांत उत्तम पर गालिव था।"[२२] किन्तु कथाकार धीरे-धीरे उनके उत्तम को ही मद्धिम पर गालिव कर दिखाता है और यह उसकी ध्येयोन्मुखता का परिचायक है। शिल्प विपयक यथार्थ का द्योतक नहीं।

अव हम स्वतंत्र व्यक्तित्व परिचायक पात्रों का उल्लेख मात्र करेंगे। स्वतंत्र व्यक्तित्व के स्वामी विकास शील होते हैं। ये उपन्यास को कभी कभी अनपेक्षित दिशा में मोड़ दिया करते हैं, जैसे शुरू शुरू के मेहता और मालती कथा के अन्तिम अध्यायो के मेहता-मालती में आकाश पाताल का अन्तर है। विलास-प्रिय, आत्म-केन्द्रित मालती अन्त तक पहुंचते पहुंचते सेवा, त्याग और विश्वजनीन प्रेम की मूर्ति मालती चरित्रगत विकास की सूचक है। नागरिक कथा का यह सब से अधिक सशक्त पात्र है। नागरिक कथा के सभी पात्र इसकी ओर झुके दिखाए गए, अतः नागरिक कथानक इसके सहारे गति पाता है अतएव इस पात्र का शिल्पगत महत्त्व भी वढ़ जाता है। कथाकार ने इसके चरित्र का सक्षेप एक पंक्ति में प्रस्तुत करके रख दिया है—"मालती वाहर से तितली है, भीतर से मधु-मक्खी।"[२३] किन्तु इतना भर लिखकर उसकी तृप्ति नहीं हुई। उसने मालती के वाह्य आपे का चित्रण सविस्तार करके दिखाया है—"नवयुग की साक्षात् प्रतिमा है। गात कोमल, पर चपलता कूट कूट कर भरी हुई। झिझक या संकोच का कहीं नाम नहीं। मेकअप में प्रवीण, वात की हाजिर जवाव, पुरुप मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहां आत्मा का स्थान है, वहां प्रदर्शन, जहां हृदय का स्थान है, वहां हाव-भाव मनोद्गारों पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलापा का लोप-सा हो गया हो।"[२४] मालती का यह रूप पारिवारिक तथा शैक्षिक प्रतिकिया का परिणाम है। मालती का चारित्रिक विकास और

---

२२. गोदान—पृष्ठ २८८-८९
२३. वही—पृष्ठ १५६
२४. वही—पृष्ठ १५६

परिवर्तन मेहता के बुद्धिबल और नम्रता का शुभ परिणाम है अतएव चारित्रिक शिल्प की कसौटी पर खरा उतरा है।

मेहता केवल दर्शन शास्त्र के प्राध्यापक ही नहीं हैं, स्वयं एक श्रेष्ठ विचारक भी हैं। अतः इनकी चरित्र विषयक गठन का विवेचन विचार विवेचन के अन्तर्गत आ जायेगा।

धनिया के चरित्र पर विचार किए बिना हमारा व्यक्तिपरक चरित्र वर्णन अधूरा ही रह जायेगा। वास्तव में यही वह पात्र है जो होरी के साथ ग्रामीण कथानक की वाहक है। इसके बिना होरी का जीवन अधूरा है और होरी के बिना 'गोदान' की सार्थकता ही नहीं। धनिया का चरित्र भी स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखता है। वह होरी की अर्धांगिनी होने के नाते उसकी पूरक ही नहीं है, समालोचक भी है। शोषण का शिकार होने वाले होरी को वह समय समय आकर बचाती है

किसी भी औपन्यासिक कृति में विचार प्रतिपादन विशिष्ट शिल्प के अन्तर्गत किया जा सकता है। आचार्य नन्ददुलारे के मतानुसार यह कार्य उपन्यास के प्रमुख पात्रों द्वारा कराया जाता है। 'गोदान' में प्रेमचन्दजी ने पात्रों को अपने विचारों का वाहक बनाकर नव शिल्पगत अन्तर प्रस्तुत कर दिया है। 'सेवासदन', 'निर्मला', 'रंगभूमि' आदि कृतियों में आप स्वयं विचार प्रतिपादित करते रहे, मुख्य घटनाओं व पात्रों की विवेचना करते रहे हैं। किन्तु गोदान तक पहुंचते-पहुंचते आपने यह काम अपने प्रमुख पात्रों को सौंप दिया है। रायसाहब अमरपालसिंह, मि० खन्ना, मि० मेहता, मालती, होरी, धनिया, गोबर आदि प्रमुख पात्र इन विचारों को वहन किए हैं।

नारी विषयक विचारधारा मि० मेहता के लम्बे-चौड़े भाषणों तथा वाद विवाद में इसी पात्र के मुख से कहलवा दी गई है। एक स्थल पर आप और मिर्जा खुर्शेद को कहते हैं—'मेरे जहन में औरत वफा और त्याग की मूर्ति है जो अपनी कुर्बानी से, अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का अंश बन जाती है। देह पुरुष की होती है पर आत्मा स्त्री की होती है।'[२५]

मि० बी० मेहता वीमेन्स लीग में एक भाषण देते हैं। इसका विषय है 'नारी दायित्व और अधिकार'। यह भाषण शिल्पगत महत्त्व रखता है। कथाकार ने इसका आरम्भ १५६वें पृष्ठ पर कराया है और अन्त पृष्ठ १६५ पर। इस प्रकार से यह सात पृष्ठों में वर्णित है। शिल्प की दृष्टि से इसमें एक भारी अभाव है। भाषण धारावाहिक रूप में प्रवाहित नहीं होता। बीच-बीच में अनेक पात्रों (पं० ओंकारनाथ, मि० खुर्शेद आदि) की टीका-टिप्पणी का शिकार हो जाता है। यह तो ठीक वैसे ही होता है जैसे एक कक्षा में पढ़ा रहे प्राध्यापक का भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों द्वारा टोका जाना, ऐसा होने पर प्राध्यापक कक्षा के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकता। इस भाषण में भी मेहता इसी कारण अपने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाए। प्रेम के विषय तक पहुंचते-पहुंचते वे बहक जाते हैं। और स्वच्छन्द प्रेम को कोरे विलास का साधन तक कह देते हैं।

---

२५ गोदान—पृष्ठ १४७

मिस मालती भी समय-समय पर तर्क-वितर्क करके कथाकार के विचार प्रकट कर रही दृष्टिगोचर होती है। मि० मेहता की उदारता और दानप्रियता पर व्यंग्याघात करती हुई वे कहती है—"तुम किस तर्क से इस दान-प्रथा का समर्थन कर सकते हो। मनुष्य जाति को इस प्रथा ने जितना आलसी और मुफ्तखोर बनाया है और उसके आत्म-गौरव पर जैसा आघात किया है, उतना अन्याय ने भी न किया होगा; बल्कि मेरे ख्याल में अन्याय ने मनुष्य जाति में विद्रोह की भावना उत्पन्न करके समाज का बड़ा उपकार किया है।"[२६] इस भांति समस्त कथा में कथाकार के प्रमुख पात्र विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते दिखाए गए हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि कथाकार पूरी तरह परोक्ष में चला गया। वह कहीं-कहीं अपने विचार प्रकट करने का मोह नहीं त्याग सके। प्रेम के विषय को लेकर कथाकार कहता है—"प्रेम जैसी निर्मम वस्तु क्या भय से बांधकर रखी जा सकती है? वह तो पूरा विश्वास चाहती है, पूरी स्वाधीनता चाहती है, पूरी जिम्मेदारी चाहती है। उसके पल्लवित होने की शक्ति उसके अन्दर है। उसे प्रकाश और क्षेत्र मिलना चाहिए। वह कोई दीवार नहीं है, जिस पर ऊपर से ईंटे रखी जाती है। उसमें तो प्राण है, फैलने की असीम शक्ति है।"[२७] कथाकार यहीं पर बस नहीं कर देता। वह तो प्रेम को उच्चतम सोपान पर पहुंचाकर श्रद्धा का नाम तक दे डालता है—"प्रेम में कुछ मान भी होता है, कुछ महत्त्व भी। श्रद्धा तो अपने को मिटा डालती है और अपने मिट जाने को ही अपना इष्ट बना लेती है। प्रेम अधिकार करना चाहता है, जो कुछ देता है, उसके बदले में कुछ चाहता भी है। श्रद्धा का चरम आनन्द अपना समर्पण है, जिसमें अहमन्यता का ध्वंस हो जाता है।"[२८] इसी प्रेम को श्रद्धा की वस्तु बना कथाकार ने भौतिक जगत से ऊपर की वस्तु बना दिया है। आध्यात्मिकता है, ऐहिकता नहीं; त्याग और परमार्थ है; छल और स्वार्थ नहीं। इसी जाज्वल्यमान वातावरण में मालती-मेहता रोमांस की इतिश्री होती है—मालती का यह संक्षिप्त उत्तर "मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है" (पृष्ठ ३४३) एक अपूर्व प्रेम-जगत की सृष्टि करता है जो इहलौकिक न रहकर पारलौकिक विचार जगत की वस्तु बन गया है, अतएव इहलौकिक शिल्प से ऊपर की वस्तु है।

प्रेम से पूर्व विवाह के बारे मे जो विचार दिए गए हैं वे स्वयं कथाकार ने न कहकर मेहता से कहलाए है—"विवाह को मैं सामाजिक समझता हूं और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को। समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं।"[२९]

दान-प्रथा पर लेखक ने जो दृष्टिकोण अपनाया है उसका विश्लेपण करते हुए एक आलोचक लिखते है—"दहेज प्रथा पर भी लेखक ने अपने दृष्टिकोण को प्रतिफलित

---

२६. गोदान—पृष्ठ ३३४
२७. वही—पृष्ठ ३३५
२८. वही—पृष्ठ ३४२
२९. वही—पृष्ठ ३४४

करने का यत्न किया है कि इस दिशा में यदि लड़कियां स्वयं आगे बढ़े तो यह प्रथा रुक सकती है। माना अपने पिता के भार को हल्का करने का स्वयं यत्न करती है। यह भी स्पष्ट है कि लेखक इस प्रथा को दूर करने के लिए नई पीढ़ी को सजग कर देता है।"[30]

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' शिल्प की दृष्टि से दूसरे महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। इनकी गणना प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों में होती है। इस संबंध में कुछ विद्वानों के मत उद्धृत किए जाते हैं—

क "प्रेमचन्द परम्परा के उपन्यासकारों में कौशिक का नाम सर्वप्रथम आता है। इनके दोनों उपन्यास 'माँ' तथा 'भिखारिणी' को सामाजिक उपन्यास की कोटि के अन्तर्गत रखा गया है जिनमें यथार्थ तथा आदर्श का एक विशिष्ट सम्मिश्रण है।"

ख "प्रेमचन्द स्कूल के दूसरे उपन्यासकार विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' हैं जिनके उपन्यासों में सामान्यतया वे ही कथात्मक प्रवृत्तियां देख पड़ती हैं, जो प्रेमचन्द के उपन्यास में हैं।'

ग "कौशिकजी की कहानी कला में पूर्ण रूप से प्रेमचन्द कला का प्रतिनिधित्व हुआ है।"

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक मतानुसार 'कौशिक' में वे ही शिल्पगत प्रवृत्तियां विद्यमान हैं जो प्रेमचन्द में देखी परखी गई हैं। दोनों ही कथा के सूत्र को सुदृढ़ हाथों से पकड़े रहते हैं। परिस्थितियां तथा पात्रों के चरित्रगत परिवर्तन में दोनों ने ही अत्यधिक मात्रा में हस्तक्षेप किया है। हाँ, कौशिक में वर्णन और विचार की प्रवृत्ति प्रेमचन्द की अपेक्षा कुछ गौण हो गई। प्रेमचन्द की भांति वे समाज, धर्म, राजनीति और नैतिकता की बहुमुखी समस्याओं के चित्रण नहीं देने लगते। इसीलिए आपके उपन्यास प्रचारात्मक या उपदेशात्मक वर्णनाधिक्य से बच गए हैं।

माँ—१९२९

'कौशिक' ने अपने मात्र दो उपन्यासों 'माँ' और 'भिखारिणी' के आधार पर वह ख्याति अर्जित की जो गुलशन नन्दा सैकड़ों उपन्यास लिखकर भी साहित्यिक कला मन्दिर में प्रवेश न पाने और फिल्मी जगत में शोर मचाने के कारण अर्जित करने से वंचित रह गए। 'माँ' में कथाकार कथा के बीच में आकर अंग्रेजी उपन्यासकार फील्डिंग की भांति

---

३० श्री बलदेव प्रसाद : प्रेमचन्द और उनका गोदान—पृष्ठ ४१०-४११

३१ क डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ५६

ख डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में कथाशिल्प का विकास—पृष्ठ ३३४

ग डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल : हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास—पृष्ठ २३०

बोलने लगता है।[२] जैसे—क. "यहां बाबू बृजमोहनलाल का ही परिचय यथेष्ठ है, आगे चलकर पाठक उनके विषय मे स्वयं ही सब कुछ जान लेंगे।"

ख. "अब हम पाठकों का ध्यान एक दरिद्र परिवार की ओर आकर्षित करते है।"

ग. "जहां तक हमारा अनुमान है, यहां आबरू शब्द से सुलोचना का तात्पर्य आत्म गौरव से था।"

कथा के बीच में बार-बार आकर पाठकों को संबोधित करने की यह प्रवृत्ति शिल्प की दृष्टि से आलोचना का विषय बन गई है। कथा पढ़ते-पढ़ते पाठक यत्र-तत्र उपन्यासकार को विद्यमान पाता है और एक आलोचक के रूप में मुख्य-मुख्य घटनाओं और पात्रों पर टीका-टिप्पणी करने लगता है, यह टीका-टिप्पणी ठीक उसी प्रकार की गई है जैसे कौशिक के समकालीन कथाकार प्रेमचन्द और प्रसाद करते रहे हैं। 'मां' के एक प्रसिद्ध पात्र घासीराम के स्वार्थी स्वरूप को लक्ष्य करके स्वार्थ की व्याख्या की गई है—"कभी-कभी परमार्थ में भी गहरा स्वार्थ घुसा होता है। जिसे बड़े-से-बड़े बुद्धिमान सच्चे हृदय से परमार्थ मानने को तैयार हो जाते हैं, जिन बातों में लोगों को दूसरों की भलाई के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता, उनमें भी इतना विकट स्वार्थ होता है कि यदि वह खोलकर रखा जाय, तो स्तंभित हो जाना पड़े। मनुष्य स्वार्थ का पुतला है। घासीराम की उपयुक्त बातें सुनकर कौन कह सकता था कि वह अपनी सन्तान की भलाई नहीं चाहते ? उनकी बातों से स्पष्ट मालूम होता था कि केवल अपने बच्चे को सुखी करने के लिए, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए वह ऐसा कह रहे हैं; किन्तु क्या वास्तव में यही बात थी ? कदापि नहीं। उनका उद्देश्य केवल यही था कि उन्हें आर्थिक सहायता मिलेगी, जिससे वे अपना जीवन आनन्द से व्यतीत कर सकेंगे और उनके सिर से कम-से-कम एक बालक के पालन-पोषण का बोझ उतर जाएगा।"[३] 'मां' का प्रकाशन् १९२९ में हुआ और 'गोदान' का १९३६ में। हम देखते हैं कि यह शिल्पगत प्रवृत्ति प्रेमचन्द 'गोदान' तक न हटा पाए। भले ही कम मात्रा में ले आए। उन्होने 'गोदान' में कृषक समुदाय के स्वार्थी रूप की व्याख्या कर डाली है और फिर अपने पात्र होरी को कुछ ऊंचा उठाने के चिए परमार्थी बना डाला है। भोला से गाय का सौदा करने वाले होरी के विषय को लेकर वे लिखते हैं—

"किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें, सन्देह नहीं। उसकी गांठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते है, भाव-ताव से वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घण्टों चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसीके फुसलाने में नहीं आता; लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन प्रकृति से स्थायी सहयोग है। वृक्षों मे फल लगते हैं, उन्हें जनता खाती है; खेती में अनाज होता है, वह संसार के काम आता है; गाय के थन में दूध होता है, वह खुद पीने नहीं जाती, दूसरे ही

---

२. क. मां—पृष्ठ १४
ख. वही—पृष्ठ ४०
ग. वही—पृष्ठ १११
३. वही—पृष्ठ ५३

पीते हैं, मेघों से वर्षा होती है, उससे पृथ्वी तृप्त होती है। ऐसी संगति में कल्पित स्वार्थ के लिए कहां स्थान! होरी किसान था, और किसी के जलते हुए घर में हाथ सेंकना उसने सीखा न था।"[4]

'मां' का शिल्पगत महत्त्व इसलिए चुन लिया गया है कि समस्त कथा व्यंग्यपूर्ण शैली से आगे बढ़ी है। कथाकार ने व्यक्ति, समाज और आधुनिक जीवन पर एक करारा व्यंग्याघात किया है। जब वह कथा के रूप में यह शिक्षा देता है कि आज भी बड़े-से-बड़ा आदमी अपनी स्वार्थ कामना की पूर्ति के लिए छोटे-से छोटे आदमी के द्वार पर पहुंच सकता है। कौशिक जी लिखते हैं—"स्वार्थ में पड़कर मनुष्य प्रायः वह काम कर बैठता है जो बिना स्वार्थ के वह कभी न करता। ब्रजमोहन अथवा सावित्री से ऐसी आशा कभी नहीं हो सकती थी कि वे एक सामान्य आदमी के घर पर जाएं, चाहे इसके लिए वह आदमी ही प्रार्थना करे। परन्तु आज अपने काम के लिए—स्वार्थ के लिए बिना बुलाए ही जाने के लिए तैयार हैं।"[5]

कथाकार ने चरित्रों को भी व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—"पुरोहित जी विदा हुए। वह मकान से निकलकर थोड़ी ही दूर पहुंचे थे। उसी समय गोकुल प्रसाद उनके पास पहुंचे। कौन गोकुल प्रसाद? वही, बाबू श्यामनाथ के वेश्यागामी मित्र।"[6] चरित्र-अंकन का यह विधान हिन्दी कथा-साहित्य में अपूर्व है। यहां पर "कौन गोकुल प्रसाद?" एक प्रश्न सूचक चिह्न लेकर ही नहीं आया, अपने साथ अनेक प्रश्न लेकर आया है और "वही, बाबू श्यामनाथ के वेश्यागामी मित्र" भी एक ही उत्तर नहीं दे रहा, अपितु सारी कथा के समस्त भूले भटके चरित्रों का भंडा फोड़ रहा है।

'मां' में एक शिल्पगत बात और भी अधिक प्रभावपूर्ण है। वह है कथाकार का अपने को विषय तक ही सीमित रखना। 'मां' में कौशिक जी ने ममतामयी मां और त्यागमयी मां के चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए कथा का जो ढांचा तैयार किया है, उसमें केवल उसीसे सम्बन्धित गिने चुने पात्र और विचार रखे हैं। वे प्रेमचन्द की भांति जीवन और जगत की विविध गुत्थियां सुलझाने नहीं बैठ गए। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जहां प्रेमचन्द में व्यापकता है, वहां कौशिक जी में गहराई है, जहां उनमें पात्रगत विविधता है, वहां इनमें तीव्रता और सूक्ष्मता है।

भिखारिणी—१६३०

'भिखारिणी' को पढ़कर एक और ही बात मानने को मन उत्सुक हो उठता है। इसमें कथाकार कथा और केवल कथा कहने की कामना लेकर अवतरित हुआ है। 'भिखारिणी' में न तो अत्यधिक पात्रों का ही घटाटोप है और न ही विचारों की मालाएं। इस

४ गोदान—पृष्ठ १०
५ मां—पृष्ठ ७१
६ वही—पृष्ठ १६८

उपन्यास में कथा लिखने की विधि अधिक वैज्ञानिक, व्यवस्थित और सुगठित है। यहां केवल एक कथा ली गई है। घटनाएं और पात्र दोनों अंगुली पर गिनाए जा सकते हैं—आदर्शमयी जस्सो, संप्त नन्दू, रूढ़िवादी अर्जुनसिंह तथा श्यामनाथ, रोमांटिक रामनाथ और व्यवहार कुशल ब्रजकिशोर एवं मुग्धा। चम्पा से ही समस्त कथा का निर्माण हुआ है।

इस उपन्यास में कथा कहने के ढंग में भी एक अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जहां पर 'मां' की समस्त कथा कथाकार द्वारा टीका-टिप्पणी सहित कही गई है, वहां 'भिखारिणी' की कथा के कुछ अंश पात्र मुखोद्गारित है। भिखारी, नन्दू अपनी दारुण गाथा स्वयं वाबू ब्रजकिशोर तथा रामनाथ को सुनाता है।[७] कथा इतनी मर्मस्पर्शी है कि सुनाते-सुनाते नन्दू की आंखों से अश्रुधारा वहने लगती है। इस कथा की समाप्ति पर कथाकार ने व्यंगात्मक शैली का प्रयोग किया है। किशोरनाथ से चुटकी लेकर कहता है—"सुनते हो भाई, यदि घर से भागने वागने की आवश्यकता पडे तो सीधे मेरे घर चले आना—वहां तुम्हें किसी वात का कष्ट न होगा।"[८]

विषय के चुनाव में 'कौशिक' जी सदैव सिद्धहस्त रहे है। 'मां' की भांति 'भिखारिणी' का विषय दो चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन न होकर एक ही चरित्र का आदर्शात्मक गठन है। जस्सो के चरित्र को लेकर कथाकार ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि गूदड़ी में भी लाल भरे होते है। अभावग्रस्त जीवन मे पली जस्सो नवयौवन के नाना विलास पाकर भी पथभ्रष्ट नहीं हुई वह अपने पिता को स्पष्ट कह देती है..."पिताजी इस संबंध मे आप मुझसे क्या पूछते है? जिसमे आपको सुख शांति मिले आप वह कीजिए—मेरे सुख दुःख का विचार छोड़ दीजिए। मुझे उसीमें सुख है जिसमे आप सुखी है।"[९]

'भिखारिणी' की कथावस्तु इकहरी है। संक्षेप में यह दो तरुण हृदयों की प्रेम-गाथा है जिसमे पात्र ही कथानक पर छा गए है। पात्रों के चारित्रिक विकास और कथोपकन के द्वारा ही कथा को आगे वढाया है। यह कथाकार के कथा शिल्प के विकास की स्पष्ट सूचना है जिसे स्वीकार करते हुए डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव लिखते है—"परन्तु 'कौशिक' जी की सवसे वड़ी विशेपता है उनके कथोपकथन की चुस्ती। मेरी समझ मे तो संवाद लिखने मे 'कौशिक' जी अपने ढंग के वे जोड़ हैं। इनके उपन्यासों की धारा ही प्रवाहित होती है, उसमे वर्णन तो विरल ही होते है।[१०] हमारे मतानुसार में कथोपकथन शिल्पगत महत्त्व रखते है। इनके प्रयोग से भिखारिणी में इतिवृत्तात्मक तत्त्व कम हो गया है और नाटकीय तत्त्व (Dramatic Element) आ गया है। ये संवाद ही कथा का सूत्र संभाले हुए है और वड़े ही सन्तुलित, संक्षिप्त और कथा प्रवाह को गतिमय करने

---

७. भिखारिणी—पृष्ठ ४२ से ५२
८. वही—पृष्ठ ५४
९. वही—पृष्ठ १७६
१०. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १६३-१६४

वाले हैं।" ये सवाद ही समग्र कथा की आत्मा है।

कथा का गठन भी सुसगठित ढग से किया गया है। कही भी कोई अप्रासगिक घटना नही आई, अनावश्यक वाक्य प्रयुक्त नही हुआ। कथाकार के कथा कौशल का परिचय हम उस स्थल पर मिलता है जहा पर भिखारी नन्दराम अपने पिता से लम्बे समय के पश्चात मिलता है। वह भेंट अत्यन्त नाटकीय ढग से कराई गई है। सायकाल का समय देकर मनोहर प्रात ही ठाकुर साहब को नन्दू के डेरे (वकील साहब की कोठी) पर ले जाता है। यह इसलिए होता है कि कहीं नन्दू भावुकतावश सायकाल कही अन्य स्थान पर न चला जाए, दूसरे वह यह मुलाकात कराकर आकस्मिक भेंट का परिणाम पाठकों तक पहुचाना चाहता होगा। नन्दू किसी कार्यवश बाहर गया होता है, लौटते ही पिता को देख हतप्रभ हो जाता है—उसकी अवस्था को बिना उस परिस्थिति मे पडे कौन प्राणी समझ सकता है।

पिता पुत्र भेंट के पश्चात कथा शिल्प मे एक मोड प्रस्तुत करने वाली घटना बाबू रामनाथ का नन्दू के ग्राम म जाकर रहना है। यही पर रामनाथ जस्सो रोमास अपने उच्चतम सोपान पर पहुचता है। और वही जस्सो अपनी विवशता प्रकट कर कहती है, "हम दोनो एक-दूसरे को भूलने की चेष्टा करें।"[12] नन्दू ये शब्द सुनकर अपने अन्धकारमय भविष्य और यातनामयी जीवनी की कल्पना कर लेता है।

कौशिक के कथा-शिल्प म सबसे बडी बात आपकी आदर्शप्रियता है। आदर्शवादी दृष्टिकोण होने के कारण घटना वैचित्र्य चरित्र चित्रण और विचार दर्शन एक विशेष दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। नन्दू ने पिता का मन दुखाकर यथार्थ पथ पर अग्रसर होकर सोना स जो प्यार किया उसके कारण आजीवन यातनापूर्ण दिन बिताए। अत वह हर जगह इस बात का प्रचार करता फिरता है कि अब किसी मूल्य पर भी मा-बाप का जी न दुखावेगा चाहे पुत्री जस्सो को प्रेम वेदी पर बलिदान ही क्यो न देना पडे।

भिखारिणी मे चरित्र चित्रण के शिल्प विधान मे भी एक अन्तर दृष्टिगोचर है। जहा 'मा' म कथाकार वर्णनात्मक विधि द्वारा पात्रो के चारित्रिक विकास का ढाचा प्रस्तुत करता है, वहा इस रचना म नाटकीय विधि अपनाकर चरित्रो की रूपरेखा दी गई है। रामनाथ, जस्सो और नन्दू समय-समय पर अपने चरित्र पर मनन करते और

---

११ क बाबू रामनाथ हरद्वारी वार्ता से कथा का आरम्भ हुआ है—पृष्ठ १
ख नन्दू और जस्सो वार्ता—पृष्ठ १८-२६
ग ब्रजकिशोर रामनाथ सवाद—पृष्ठ ३३-४१
घ नन्दूराम-मनोहर कथोपकथन —२६-३२
ङ जस्सो रामनाथ प्रेमालाप—पृष्ठ ८७-६०
च जस्सो रामनाथ की अन्तिम बातचीत—पृष्ठ २३४-२६५

१२ भिखारिणी—पृष्ठ १८७

संकल्प विकल्प में डूबते-तैरते दिखाए गए हैं।"[13]

जस्सो एक आदर्श प्रेममयी बालिका है। इस उपन्यास में उसे एक भिखारिणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु उसका हृदय करोड़ों रुपये के मूल्य वाले हीरे से भी बढ़कर है। चम्पा, रामनाथ, ब्रजकिशोर, नन्दू आदि सभी प्रमुख पात्रों के हृदय पटल पर वह एक अमिट स्मृति रेखा छोड़ती हुई आगे बढ़ी है। उसका चरित्र वैयक्तिक होने के कारण सतत गतिशील है। प्रेम राज्य मे सांसारिक रूप में हार खाकर भी वह हार को स्वीकार नहीं करती। उसका प्रेम त्यागमय पथ पर अग्रसर होने के कारण उदात्त कोटि का बनकर चमत्कृत हो उठा है। अपनी सम्पत्ति का दान करके वह एक सर्वोदय समाज की पात्र बनती है उसके दान की प्रतिष्ठा को अत्यधिक गौरवमय बनाने के लिए कथाकार लिखता है—"जस्सो के मुख पर उदासीनता के स्पष्ट चिह्न थे; परन्तु उसकी उदासीनता मे सात्त्विकता थी—रोप तथा क्रोध का लेश मात्र भी नही था।"[14]

ये सब चरित्र सामाजिक और वर्गगत विशेषताओं को प्रस्तुत करते हैं।

जयशंकर प्रसाद

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए श्री जयशंकर प्रसाद के सहयोग को स्वीकार करना अपेक्षित है। प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी रही है। कविता, नाटक, निबन्ध, कहानी और उपन्यास सभी क्षेत्रों में इन्होंने मौलिक विचार और शैली अपना कर इन साहित्यिक विधाओं को नवीनता प्रदान की है। एक आलोचक ने इन्हे व्यक्तिवादी उपन्यासकारों की कोटि मे रखते हुए लिखा है, "प्रसाद की सामाजिक चेतना का अधिक स्पष्ट रूप 'कंकाल' और 'तितली' में परिलक्षित होता है। उन्होंने धार्मिक आडम्बर, सामाजिक विषमता आदि के नग्न स्वरूप को इन उपन्यासों मे अंकित कर व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि का यथार्थ परिचय दिया है। काव्य में उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी परन्तु उपन्यास साहित्य में उनका उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज की वास्तविक स्थिति का उद्घाटन करना है।"[1] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के मतानुसार प्रसाद उपन्यास क्षेत्र में मानव मंगल की कामना का उच्च उद्देश्य लेकर अवतरित हुए। इस कारण इन्होने व्यक्ति चिंतन और विश्लेषण प्रक्रिया को प्रश्रय नहीं दिया अपितु समाजपरक बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अपना कर वर्णनात्मक शिल्प-विधि में ही उपन्यास लिखे हैं। प्रसाद के उपन्यासों में व्यक्ति की गरिमा की अपेक्षा सामाजिक विषमता, धार्मिक यथार्थता, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा राष्ट्रीय आन्दोलन व्यापकता के साथ वर्णित हुए है। इनमें वैयक्तिक विश्लेषण की जगह सामाजिक वर्णन ही मुख्य रूप से उभर आए है, अतः

---

१३. भिखारिणी—रामनाथ—पृष्ठ १०६
वही—जस्सो—पृष्ठ १०७, १७७, ७८, २३५
वही—नन्दू—पृष्ठ ४८

१४. वही—पृष्ठ २०१

१. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ९१

प्रसाद वर्णनात्मक शिल्प विधि के उपन्यासकार कहे जाएंगे, न कि विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को प्रश्रय देने वाले व्यक्तिवादी कथाकार।

कंकाल — १९२९

कंकाल प्रसाद का प्रथम उपन्यास है। डॉ० रामरतन भटनागर इसे नई कोटि की रचना बताते हुए लिखते है, 'कंकाल हिन्दी की किसी उपन्यास परम्परा में नहीं आता। उसकी रचना नवीन नई कोटि की है।'"[1] मेरे विचार मे 'कंकाल' अवश्य ही प्रेमचन्द परम्परा का वर्णनात्मक शिल्प का उपन्यास है। विषय की दृष्टि से यह स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण प्रत्याकर्षण पर अवलम्बित है किन्तु विषय प्रतिपादन विधि विश्लेषणात्मक नहीं है। धार्मिकता की आड मे असामाजिक तथा अनैतिक तत्वो की भरमार के कारण प्रस्तुत उपन्यास म वर्णनाधिक्य हुआ है। प्रेमचन्द और प्रसाद के सामयिक समाज म मूलत कोई अन्तर नहीं है, दोनो द्वारा समाज चित्रण विधि मे भी कोई अन्तर नहीं है फिर इस रचना को किस दृष्टि से नई कोटि की रचना कह सकते हैं? 'कंकाल' मे हम हिन्दू समाज म स्त्रियो की दयनीय स्थिति का विवरण पढने को मिलता है।

कंकाल के वस्तु विधान पर दृष्टिपात करने पर हमे समस्त कथा चार खण्डों मे विभाजित की गई पढने का मिलती है। प्रथम खण्ड मे देव-निरजन किशोरी प्रेम गाथा है। दूसरे और तीसरे खण्ड म कथा का विकास होता है और कुछ उपकथाए कथासूत्र मे पिरोई गई हैं। घटी जितनी चचल है उतनी ही चचलता से उसका प्रवेश कराया गया है। एक ओर वह विजय को लेकर प्रेम चक्र मे घूमती है तो दूसरी ओर बाथम के साथ प्रेम प्रपंच रचती है। शुद्ध कथाशिल्प की दृष्टि से बाथम सबधी उपकथानक असामयिक, अस्वाभाविक तथा अवाछनीय है। जिसके कारण 'कंकाल' का रूप विशृंखल हुआ, उनमे गूजर परिवार गाला बदन सबधित उपाख्यान भी दृष्टव्य है। विशेषकर गाला की मा की आत्म कथा कथानक म ठोस दी गई प्रतीत होती है। इसके बिना कथानक अधिक सघटित एवं व्यवस्थित होता। यही अवस्था श्रीचन्द चन्दा रोमास की है जो वास्तव मे पानी म उठे बुलबुले मे अधिक महत्व नहीं रखता। नवाब की मृत्यु के पश्चात् सघर्ष अपनी चरमोत्न अवस्था को तो पहुच जाता है किन्तु यमुना की गिरफ्तारी विजय का पलायन, मगल की दौड धूप सबधी घटनाओ मे तिलस्मी घटना चक्र की गध आने लगती है। डॉ० रामरतन ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं। 'जिस प्रकार के घटना-सगठन की योजना बाद मे हुई है वह 'चद्रकान्ता' के युग के उपन्यासो की याद दिलाती है। यह योजना इसलिए करनी पडी है कि 'प्रसाद' एक विशेषसिद्धान्त से परिचालित हैं। वह अपने प्रत्येक पात्र को अवैध हीन मानव और कुल भ्रष्ट सिद्ध करना चाहते हैं।'"[2]

सिद्धान्त प्रतिपादन हित कथा सूत्र को अवैज्ञानिक रूप देने के कारण कथा शिल्प पर भारी कुठाराघात हुआ है। इसके पश्चात् चतुर्थ खण्ड म कथा का अवसान होता है और

---

१ प्रसाद साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ १५०
२ वही—पृष्ठ ७२

इस अवसान से पूर्व कथाकार ने कई तथ्यों का उद्‌घाटन कर दिया है जिनमें (तारा-मंगल) की अवैध संतान मोहन का रहस्य उद्‌घाटन प्रमुख स्थान रखता है। अंधा भिखारी नन्दो से उसकी पुत्री घंटी का मिलाप करा कर सरयू में डूब मरता है। हरिद्वार वाली चाची ही नन्दो है। मंगल सरला का पुत्र है और तारा ही यमुना है और उसकी उत्पति देव-निरंजन रामा सहवास से हुई, इसकी पुष्टि भी कर दी गई है।

'कंकाल' की कथावस्तु में सबसे अधिक प्रभावित करने वाली बात है—इसका अन्त। सम्भवतः 'गोदान' और 'संन्यासी' को छोड़कर इतना कलापूर्ण, प्रभावपूर्ण और करुण अन्त अन्य किसी उपन्यास का नही हो पाया है जितना 'कंकाल' का। उपन्यास के अन्त में हम एक ऐसे नर कंकाल को देखते है जिसके शव को फूंकने तक के लिए कोई तैयार नहीं—उसकी बहन तारा तक विवश है और शैशव कालीन मित्र मंगल भी देखता रह जाता है।

'कंकाल' में हमें वर्गगत और वैयक्तिक दोनों तरह के पात्र मिलते है। मंगल एक वर्गगत पात्र है। वह मध्यवर्गीय दुर्बलता तथा विलसिता का प्रतिनिधत्व करता है। उसके चरित्र में द्वैयात्मकता है। उसके विषय में तारा कहती है—"वह पवित्रता और आलोक से घिरा हुआ पाप है कि दुर्बलताओं में लिपटा हुआ एक दृढ सत्य।"[२] उसके चरित्र का बहुरूपियापन इस तथ्य से उद्‌घाटित हो जाता है कि बाहर से सदाशयता और आदर्श-वादिता का रूप धारण करते रहने पर भी वह तारा को गर्भवती बना ठीक विवाह के दिन यह जानकर भाग जाता है कि तारा दुश्चरित्रा मां की संतान है। इस प्रकार के व्यक्तियों की शिष्ट समझे जाने वाले मध्यवर्ग मे कोई कमी नही है। आडम्बर, धार्मिक पाखंड आदि अभाव इस वर्ग की जानी पहचानी बातें है, जिनके सभी रूप मंगल में विद्यमान है। ऐसे ही विजय का चरित्र समाज का कांकालिक रूप है। इसके द्वारा समाज में व्याप्त दुराचार, असमानता और ढोंग का पर्दाफाश हुआ है। विजय का चारित्रिक विकास पूर्ण कलात्मक है। उसमें विद्यमान उच्छृंखलता संस्कारगत है। वह क्रमशः यमुना, घण्टी और गला की ओर वासनात्मक दृष्टि से देखता है। तारा त्याग, प्रेम और संयम की प्रतीक बनकर भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती है।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अधिकतम उपन्यासों के पात्रों का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता। वे उपन्यासकार के हाथों की कठपुतली होते है। 'कंकाल' के पात्र भी कथा-कार के संकेत पर चलते हैं। इस संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"लेखक को कुछ विशेष प्रकार के पात्रों को चित्रित करना था और उसने उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके चरित्र के अभिप्रेत पक्षों का प्रदर्शन किया है। इसके लिए पात्र अनेक स्थानों पर लेखक के संकेत पर घूमते फिरे है। देवनिरंजन, किशोरी, यमुना, विजय, मंगल-देव आदि सुविधा के अनुसार कभी हरिद्वार, कभी काशी, कभी मथुरा आदि स्थानों पर पहुंच जाते है।"[३] 'कंकाल' के पात्र सूत्रवत संचालित हुए है। 'कंकाल' में हमें यत्र तत्र

---

२. कंकाल—पृष्ठ ११५
३. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तवः हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १२२

पात्रो की अन्तर्वृत्तियो का विवरण भी मिल जाता है, वे प्रेमचन्द की भाति पात्र की बाह्य आकृति, वेश भूषा और रूप रंग का वर्णन करने में ही संलग्न नही रहे।

प्रसाद जीवन और जगत के व्याख्याता हैं। अपने उपन्यासो मे इन्होंने पाप और पुण्य, नर और नारी, धर्म और समाज, प्रेम और विवाह आदि शाश्वत विषयो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'कंकाल' म विजय पाप की व्याख्या करते हुए कहते हैं—"पाप और कुछ नही है यमुना, जिन्हें हम छिपा कर किया चाहते हैं उन्ही कर्मों को पाप कह सकते हैं, किन्तु समाज का एक बडा भाग उसे यदि व्यवहार्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है। धर्म हो जाता है।'[4] कितनी सुन्दर व्याख्या है। उन्मुक्त प्रेम पर अपने विचार अभिव्यक्त करता हुआ यह पात्र कहता है—"जो कहते है, अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूं और तुम मुझे, इसम किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्या—मन्त्रो का महत्त्व कितना? मैं स्वतन्त्र प्रेम की सत्ता स्वीकार करता हू, समाज न करे तो क्या।"[5]

व्यक्ति स्वतन्त्रता की इस युग वाणी को प्रसाद ने राजनैतिक पहलू के परिवेश मे प्रस्तुत किया है—"प्रत्येक समाज म सम्पत्ति, अधिकार और विद्या ने भिन्न देशो में जाति, वर्ण, ऊच-नीच की सृष्टि की। जब आप उसे ईश्वरकृत विभाग समझने लगते है तब यह भूल जाते हैं कि इसमे ईश्वर का उतना संबंध नही जितना उसकी विभूतियो का। कुछ दिनो तक उन विभूतियो क अधिकारी बने रहने पर मनुष्य के संस्कार भी वैसे ही हो जाते हैं और वह प्रमत्त हो जाता है। प्राकृतिक ईश्वरीय नियम विभूतियो का दुरुपयोग देखकर विकास की चेष्टा करता है, वह कहलाती है, क्रान्ति। उस समय केन्द्रीभूत विभूतिया मानव स्वार्थ के बन्धनो को तोडकर समस्त भूतहित बिखरना चाहती हैं। यह समदर्शी भगवान की क्रीडा है। इसीलिए भारतवर्ष सर्वसाधारण के लिए मुक्त है, वह वर्णवाद, धार्मिक पवित्रतावाद, आभिजात्यवाद, इत्यादि अनेक रूपो मे फैले हुए सब देशो के भिन्न भिन्न प्रकार के जातिवादो की अत्यन्त उपेक्षा करता है। यही व्यक्ति की राजनैतिक स्वतन्त्रता है।"[6] इस टिप्पणी को पढकर श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय लिखते हैं—"व्यक्ति स्वातन्त्र्य के इस उद्बोधन मे स्त्री-पुरुष का भेद भाव नही पाया जाता सभी पात्र समाज के अभिशाप स सन्तप्त और व्यक्ति के विकास की आस्था से आश्वस्त हैं।'[7]

व्यक्ति विकास, समाज कल्याण, धर्म स्वरूप आदि विषय 'कंकाल' मे वर्णनात्मक शिल्प विधि म प्रस्तुत हुए हैं। प्रसाद ने मानव जीवन लीला का परिवेक्षण करके, जो योजना मूर्त स्वरूप (structure) दिया है। उसके द्वारा व्यक्ति की जातीय संस्कृति, यह योजना वातावरण और जीवन क्रम मे आई मानस-वृत्तिया वर्णनात्मक रूप है। वह अपने पाठक को एक दृष्टि विशेष अपनाने की प्रेरणा देती है।

...ने देने में कारण क्या ...कथा का अवसान हो

---

४ कंकाल—पृष्ठ १०७

५ वही—पृष्ठ १७५, १७६

६ वही—पृष्ठ २१२

७ हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ७१

'तितली'—१६३४

'कंकाल' की भांति 'तितली' भी वर्णनात्मक शिल्प-विधि की रचना है किन्तु इसमें वर्णित जीवन 'कंकाल' से नितान्त भिन्न है। 'तितली में कथाकार ने ग्राम की ओर प्रयाण किया है। धामपुर गांव ही सारी कथा का केन्द्र है। वंजो और मधु अर्थात तितली और मधुवन इसके प्रधान पात्र है। 'कंकाल' में स्त्री-पुरुष की यौन समस्याओं और मानवीय दुर्बलताओ का व्यापक वर्णन प्रस्तुत हुआ है किन्तु 'तितली' में प्रेम के आदर्श और संयत स्वरूप का विवरण पढने को मिलती है। वाटसन द्वारा शैला के वैवाहिक सम्बन्धों का समर्थन करना एक आदर्श संस्कृति का प्रतीक है।

प्रस्तुत उपन्यास की वर्णनात्मकता पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक लिखते है—"इस उपन्यास में वर्णित समाज के अनेक स्तर हैं और इनकी शक्ति एवं दुर्बलता दोनो ही की ओर लेखक की दृष्टि है। विषय चयन की दृष्यि से इस उपन्यास में प्रसाद ने प्रेमचन्द-मार्ग को अपनाया है और ज़मींदार के कर्मचारियों की कूटनीति एवं धाधली, ग्रामीण जनता की सरलता एवं घोर स्वार्थ वृत्ति, गांवो की राजनीति, त्योहार-उत्सव मनाने के ढंग, सम्मलित कुटम्ब की दुर्बलता आदि की झलक दिखाने का प्रयत्न किया है। इसमें ग्राम-सुधार तथा ग्राम-संगठन की ओर भी संकेत है। कविजनोचित उन्मुक्त कल्पना से प्रेरित होकर, एक विस्तृत चित्रपट पर अनेक प्रकार की जीवन-रीतियों के चित्रण के उत्साह में लेखक ने लंदन तथा कलकत्ता जैसे जनसंकुल स्थानों मे अपने पात्रो को ले जाकर मानव समाज के विभिन्न रूपों को देखते दिखाने का प्रयास किया है।"[2] प्रस्तुत प्रबन्धकार के विचार में प्रसाद इस प्रयास में सफल रहे है। उन्होंने 'तितली' मे मानव समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है।

'तितली' की कलात्मकता और शिल्पगत प्रौढ़ता पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक लिखते है—"तितली में प्रेमचन्द के उपन्यासों 'रंगभूमि' 'गोदान' के सभी प्रसंगों का समावेश मिल जाता है, किन्तु सत्याग्रह-आंदोलन का स्पर्श प्रसाद ने नहीं किया। चरित्र-चित्रण, कथावस्तु का विकास और उसका नाटकीय निर्वाह 'तितली' की अलग विशेषता है। पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात का विश्लेषण इसमें प्रेमचन्द से अधिक है...'तितली' मे आज के भारतीय नर-नारी का यथार्थ चित्रण है।"[3] 'तितली' में तितली का चरित्र अत्यधिक प्रभावशाली है। वह हमें 'गोदान' की धनिया की दृढता और 'निर्मला' ...निर्मला की सी सहिष्णुता का परिचय देती है। प्रस्तुत उपन्यास में प्रसाद उपदेशक ... सामने नहीं आए, उन्होने सूक्तियों और व्यंग-चित्रों से काम लिया है।

...यण श्रीवास्तव

...चन्द के पश्चात् प्रतापनारायण श्रीवास्तव तीसरे प्रमुख उपन्यासकार है ...त्मक शिल्पी की भांति जीवन के विस्तृत क्षेत्र का चित्रण विवरणात्मक

...शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १२३

...ा प्रसाद पाडेय : हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ७७

ढंग से किया है। उन्होंने समाज में प्रतिष्ठित उच्च वर्ग की पारिवारिक एवं सामाजिक दशा का वर्णन एक इतिहासकार की तरह से किया है। इन्होंने अपने उपन्यासों में कथा-वस्तु का फैलाव और चरित्र चित्रण का विकास वर्णन-विस्तार की विधि द्वारा किया है। एक एक घटना को लेकर उसकी विशद व्याख्या की गई है और एक एक चरित्र का विस्तार उपयुक्तता की सीमाओं का उल्लंघन कर गया है। आदर्शवादी विचारधारा इनके पात्रों द्वारा वर्णनात्मक शिल्प-विधि से प्रस्तुत हुई है। इनके नीचे उपन्यासों का शिल्पगत अध्ययन उपस्थित किया जाता है।

विदा—१९२८

'विदा' प्रतापनारायण श्रीवास्तव की प्रथम औपन्यासिक कृति है। इसमें सिविल लाइन्स के बंगले में रहने वाले बाबू निर्मलचन्द की कथा है। यह कथा पांच खण्डों में विभाजित की गई है और डा० शिवनारायण श्रीवास्तव इसे वैज्ञानिक बताते हुए लिखते हैं— "विदा में जो सबसे पहली बात हमें आकर्षित करती है वह है इसकी वस्तु का वैज्ञानिक संगठन। नाटक के पांच अंकों की भांति 'विदा' के पांच अंक भी वैज्ञानिक आधार पर किए गए हैं।"[1] कथा को खण्डों में विभाजित करके आगे बढ़ाने का प्रयोग जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' में और कौशिक ने 'मां' में किया है। यह रीति कविता के क्षेत्र में सर्गबद्ध काव्य और नाटक के क्षेत्र में अंक विभाजन के अन्तर्गत प्रयुक्त होती रही है, किन्तु उपन्यास के क्षेत्र में इसके द्वारा कथा की गति की तीव्रता रुक जाती है, अतः यह वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। आरम्भ, प्रयत्न, संघर्ष विमर्श आदि नाटक के शिल्प में सौन्दर्य वृद्धि करते हैं, उपन्यास अबाध गति की अपेक्षा रखता है, इसमें इस प्रकार की संधियों की आवश्यकता नहीं है।

'विदा' में निर्मलचन्द्र-कुमुदिनी दाम्पत्य की लघु कथा को बहिर्गत (Extrovert) जीवन की नाना घटनाओं से आच्छादित करके समाजपरक और वर्णनात्मक बना दिया गया है। इसमें दाम्पत्य की भारतीय एवं पाश्चात्य मान्यताओं का खुलकर वर्णन किया गया है। इसमें आदर्श पुत्र, आदर्श पत्नी और आदर्श प्रेमिका का विशद चित्रण हुआ है। निर्मल एक आदर्श पुत्र है, लज्जा पतिव्रता गृहिणी है, केट एक आदर्श प्रेमिका है। आदर्श के पुतले निर्मल बाबू अपनी माता की सेवा में संलग्न हैं, उनकी पत्नी कुमुदिनी इसी कारण उनसे रुष्ट है और पीहर चले जाने पर विवश हो जाती है, कथा के चतुर्थांश तक दोनों सम्मिलित रहकर वियोग की अनुभूतियां अर्जित करते हैं, यथार्थ के लोक में रह कर भी दोनों आदर्श की बातें सोचते और करते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप उपन्यास की घटनाएं बढ़ गई हैं और यह वर्णनात्मक उपन्यास बन गया है।

कथानक में कुछ आवश्यक मोड़ प्रस्तुत करने के लिए तथा इसे विवरणात्मक रूप देने के लिए कुछ पत्रों की योजना की गई है। उपन्यास के प्रथम खण्ड के आठवें अध्याय में संघर्षात्मक व्यापकता लाने के लिए कुमुद अपने पिता बाबू माधवचन्द्र को

---

१ हिन्दी उपन्यास—विकासकाल : प्रेमचन्द-युग—पृष्ठ २४१

पत्र लिखती है; इसके द्वारा वह क्रोधी पिता के क्रोध को भड़का देती है और प्रतिक्रिया स्वरूप वे उसे अपने पुत्र द्वारा अपने पास बुलवा लेते है। दूसरा पत्र कुमुदिनी की सखी चपला द्वारा उसे लिखा गया है जिसमें उसके अभाग्य के मूल कारण पर खुलकर प्रकाश डाला गया है तथा भविष्य को उज्ज्वल बनाने की प्रार्थना तथा प्रेरणा दी गई है।[2] चपला अपने पत्र में अपनी भावधारा को वर्णनात्मक रूप में उंडेल डालती है। भय, क्षोभ, आशंका और लज्जा की मिली-जुली भावधारा का विशद चित्रण कथानक को बोझीला बना देता है। इस पत्र में इन मनोद्‌गारों का विश्लेपण नहीं हुआ, केवल विवरण दिया गया है। निर्मल-चपला रोमांस कथानक को भारी भरकम बनाने के हेतु नियोजित हुआ है। मसूरी की हरियाली में यह हरा होता है और वहीं इसका अन्त भी होता है। कुमुदिनी द्वारा इस अनैतिक संबंध के पकड़ लिए जाने पर चपला के हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है और केट द्वारा देवदत्त प्रसंग सुनकर उसके मन में सेवा भाव पैदा होता है। यहीं तक घटनाओं का जाल बिछा हुआ है, इसके अनन्तर केट और चपला का विदेश यात्रा का संकल्प और घटनाओ का अन्त है; यह अन्त पूर्ण स्वाभाविक, परिस्थिति अनुकूल तथा शिल्पगत गठन से परिपूर्ण है, किन्तु उपन्यास के मध्य में कतिपय घटनाएं अति विस्तृत हो गई है और आधिकारिक कथा पर छा गई हैं। जान डिक या देवदत्त से संबंधित घटनाएं ऐसी ही है। जान डिक का नाम बदल-बदलकर सामने आना मन को अच्छा लगता है, किन्तु बुद्धि को अखरता है। इसके द्वारा जासूसी उपन्यास के वातावरण की सृष्टि हुई है। रेल में टर्नइम क्लाइव के साथ यात्रा कर रहे महाशय अपने को काक बताते हैं; किन्तु ये विलसन नामधारी जान डिक ही है; ये जान डिक के किस्से स्वयं ही सुनाते है, इनका मुख्य कथा से कोई संबंध नहीं है; ये उपन्यास को वर्णनात्मक बनाने में ही सहायक सिद्ध हुए है। उपन्यास में प्रधानता कथा संगठन और कुतूहल निर्वाह को दी गई है, इसके लिए वस्तु विधान इतिवृत्तात्मक रखा गया है और इसमें तीन परिवारों की कहानी को उठाकर घटनाओं का जाल बिछा दिया गया है।

'विदा' को चरित्र-चित्रण की विधा पर परखें। इसके प्राय: सभी पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है। राय बहादुर माधवचन्द्र बंगलों में रहने वाले भारतीय उच्च वर्ग के प्रतीक है। धन, बल और सम्मान की त्रय में ऐसे मदांध रहते ही है। निर्मल बाबू उपन्यास के नायक हैं और आदर्शप्रिय, त्यागी युवक का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये उपन्यास में स्थिर (Static) रहते है; और तीर्थ यात्रा में केट के सम्पर्क में आकर और मसूरी में चपला के साथ रहकर भी अपने आदर्श से तिल भर नहीं टलते। कुमुदिनी आदर्शोन्मुख दर्पशीला नारी की प्रतीक है। चपला, लज्जा केट, मिस्टर वर्मा और जान डिक अपने-अपने वर्ग की विशेपताओं और अभावों से परिपूर्ण है।

उपन्यासकार ने चरित्र-चित्रण की दोनों विधाओं का प्रयोग करके पात्रों का चारित्रिक विकास किया है। वह स्वयं वर्णनात्मक विधि द्वारा अपने शब्दों में पात्रों की रूप रेखा प्रस्तुत करता है, उनकी तत्कालीन बाह्य-परिस्थितियों का प्रभाव उनके बाह्य कार्य-

---

२. विदा—पृष्ठ ३१८-३२०

कलाप पर दिखला कर उसका उत्थान व पतन दिखलाता है। माधव बाबू का मिथ्याभिमान परिस्थितियों की क्रिया प्रतिक्रिया का शिकार बनता है, वहीं उपन्यासकार स्वयं कुछ क्षणों के लिए पीछे हटकर उसे बोलने देता है—"मैं इसका प्रतिशोध लूंगा। प्रतिशोध घोर होगा कि संसार भय से मेरी ओर देखेगा और सिहर कर पीछे हट जायगा। जो पिता अपनी पुत्री को उसके रक्त में स्नान करावेगा, उसको अनन्त वैधव्य के गहरे गड्ढे में डुबो देगा। उसके सामने पति के शरीर के टुकड़े टुकड़े करेगा और छोटी-छोटी बोटियां करके चील-कौव्वों को खिला देगा, क्या संसार उसको देखकर भय न खावेगा, संसार में हड़कम्प न फैल जायगा? संसार थर्रा उठेगा।"[3]

ऊपर विश्लेषणात्मक पद्धति के चरित्र-चित्रण का उदाहरण दिया गया है, किन्तु उपन्यास में अधिकांश में वर्णनात्मक ढंग से चरित्रों के कृत्यों पर प्रकाश डाला गया है। माधवचन्द्र के क्रोध, निर्मल बाबू के आदर्श और कुमुदिनी के दर्प का चित्रण अधिकांश में स्वयं उपन्यासकार ने ही किया है। वह लिखता है कि माधवचन्द्र अकृत्य को कृत्य कर दिखलाने की क्षमता रखते हैं। निर्मल बाबू सुशिक्षित, सेवा परायण और त्यागी जीव हैं। कुमुदिनी पति के पास जाने में लज्जा, भय, अपमान और आशंका की अनुभूति करती है। वह टूट सकती है, झुक नहीं सकती। मिस्टर वर्मा के चरित्र विकास में वर्णनात्मक के साथ-साथ विश्लेषणात्मक चरित्र विधि के कतिपय प्रयोग देखे गए हैं—"मैं इलाहबाद का ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट हूं। इंगलैंड का सर्टिफिकेट मेरे पास है। सुशिक्षित हूं। म वि वाहित हो सा हूं क्या, कौन जानता है? नहीं मैं अविवाहित हूं। केट तो मर गई, मेरे सिवा इसका रहस्य कोई नहीं जानता।"[4] इस प्रकार के एक दो आत्म विश्लेषणात्मक चरित्रगत प्रयोग आवश्यक ही हैं, क्योंकि इनके द्वारा चरित्र की मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थिति का रहस्योद्घाटन अधिक सफलता से किया जाता है। 'अ वि वा हित सा हूं' मि० वर्मा के ये शब्द उसकी आन्तरिक, द्वन्द्वात्मक मन स्थिति को अधिक स्पष्टता के साथ उद्घाटित करते हैं, यहां पर यदि उपन्यासकार स्वयं मि० वर्मा के विषय में लिखने बैठ जाता कि उसके मन में द्वन्द्व था, आशंका थी, भय था तो वह चमत्कार न आता जो अब आ गया है।

'विदा' में उपन्यासकार का ध्यान सब से अधिक अपने लक्ष्य की ओर केन्द्रित रहा है। प्रेमचन्द परम्परा के लेखक होने के कारण प्रतापनारायण ने उपन्यास की समस्त घटनाओं और पात्रों को अपने आदर्शवादी विचारों के अनुसार मोड़ दिया है। इस उपन्यास में उन्होंने भूतन संयुक्त परिवार की समस्या को उठाया है। इसके विभिन्न रूप दिखाकर स्त्री विशेषकर भारतीय स्त्री के दायित्व और सीमाओं की विशद व्याख्या की है। यह कहीं उपन्यासकार द्वारा और कहीं विभिन्न पात्रों द्वारा सामने आई है। चपला-निर्मल वार्ता द्वारा प्रेम के आदर्श रूप की व्याख्या उदाहरण स्वरूप दी जाती है—"प्रेम का अन्तिम रूप भक्ति है। पहले मनुष्य किसी ओर आकर्षित होता है, यह शुद्ध आकर्षण है, आकर्षण

---

३ विदा—पृष्ठ २६८

४ वही—पृष्ठ १६७

मोह में बदलता है, मोह अनुराग में, अनुराग प्रेम भक्ति में और प्रेम-भक्ति या भक्ति में पाप नहीं होता, सन्देह नही होता, वासना नही होती। केवल असीम, अखण्ड, निस्वार्थ प्रेम होता है।"[५]

पात्रमुखोद्वेलित विचार-धारा शिल्प की दृष्टि से प्रशंसनीय है, क्योंकि यह अधिकतर संक्षिप्त होती है, इसे पढ़कर पाठक ऊबता नहीं है, इससे कथा के स्वाभाविक प्रवाह की गति भी मंद नही पडती किन्तु लेखक द्वारा प्रस्तुत की गई विचार-धारा विस्तृत होती है, कथा घातक होती है और कभी-कभी मन और मस्तिष्क पर भार डाल देती है। 'विदा' में संसार और संसार जनों पर लिखी लेखक की विचारधारा अप्रासगिक और लम्बी तथा मन को ऊबा देने वाली वन गई है।[६]

विकास—१९४१

'विदा' के पश्चात् 'विजय' और इसके पश्चात् 'विकास' का प्रकाशन हुआ। इसमें एक साथ दो कहानियां ली गई है—एक भारतेन्दु-आभा की रोमास भरी कहानी है, दूसरी मालती-कामेश्वर की गाथा है। शिल्प की दृष्टि से दुहरी कथावस्तु की परम्परा प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' द्वारा प्रतिष्ठित हुई है, इसमें अधिकतर कथा दोप रह ही जाता है, क्योंकि कुछ अस्वाभाविक एवं आकस्मिक घटनाएं संयोजित हो जाती है, किन्तु यह वर्णनात्मक शिल्प की कृतियों में प्रायः प्रवृत्ति रूप में स्वीकृत हो चुका है।

'विकास' में अनेक स्थलो पर आधिकारिक और प्रासंगिक कथा का निर्णय करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। भारतेन्दु-आभा की मुख्य कथा अनेक स्थलों पर अपना चमत्कार खो देती है, विशेपकर उन स्थलों पर जव कथाकार प्रेमचन्द की भाति पुनर्जन्म-वाद की घटनाएं देने लगता है, ये घटनाएं प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' से भी वढ़-चढ़कर वर्णित की गई है और मूल कथा से कोई संबंध नहीं रखतीं। एक-एक घटना का उल्लेख अनेक वार हो गया है। डॉ० नीलकण्ठ जव अपनी मृत पत्नी का चित्र देखकर उसे स्मरण करते हैं, तव पूर्वजन्म की व्याख्या करते है। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि उनकी प्रियतमा अवश्य ही इस जन्म में उन्हें मिलेगी। इस विश्वास को सत्य में परिणत करने के लिए कथाकार ने कथा शिल्प में ऐसी घटनाएं गुम्फित कर दी हैं कि पाठक दांतों तले अंगुली दवाने लगता है। दक्षिणी अमरीका में माधवी-नीलकण्ठ भेंट पूर्व नियोजित और उद्देश्य-मूलक है; कथाकार की यह कथा सृष्टि सप्रयास है, स्वाभाविक नही। माधवी डॉ० साहव की पगरज लेने को आतुर हो उठती है, ये घटनाएं कल्पना प्रसूत है, अनुभूति प्रधान नही।

'विदा' से तुलना करने पर 'विकास' के कथा शिल्प मे स्पप्ट अन्तर दृष्टिगोचर होता है। 'विदा' में तीन कहानियां हैं, किन्तु तीनों निर्मल-कुमुदिनी से संवंधित हैं। यहां केवल दो कथाएं है और दोनों भिन्न रहती है। इस संवंध डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव का यह कथन सत्यपरक है—"इस उपन्यास में स्पप्टतः दो कहानियां है, जिनका आपस

५. विदी—पृष्ठ २७४

६. वही—पृष्ठ २८५-८६

म कोई सहज सबध नही है। दोनो पास-पास चिपकाकर रखी हुई हैं।"[7] अमीलिया हुसैनभाई की उपकथा को भी अलग से चलाया गया है, केवल उसकी नायिका अमीलिया का पूर्व सबध भारतेन्दु के साथ जोडकर उसे मुख्य कथा के साथ गुम्फित करने की चेष्टा की गई है। ऐसे ही राजा सूरजबक्श की कहानी एक स्वतन्त्र कहानी है, जिसमें दीवान मातादीन के घुमावदार घटनापूर्ण षडयन्त्र और रखैल अनूपकुमारी के भीषण कार्यक्रमो का विशद वर्णन है। यह सब जासूसी उपन्यास का आंशिक प्रभाव है, जिसे कथाकार नहीं त्याग सका।

उपन्यास की वर्णनात्मकता विविध काल्पनिक घटनाओ की विशदता से स्वय-सिद्ध हो जाती है। उपन्यास का आरम्भ ही एक बडी भारी घटना के साथ होता है, जिसम माधवी का अपहरण और विदेश यात्रा का विस्तृत वर्णन है। आभा-भारतेन्दु प्रेम की गति मुक्त वातावरण का आश्रय पाकर भी मन्द ही रहती है। वह मौन द्रष्टा है। इस मौन के कारण का उद्घाटन अमीलिया द्वारा कराया गया है। अमीलिया द्वारा प्रेरणा और स्वीकृति पाकर ही वह आभा से विवाह करती है। इधर मालती-कामेश्वर दाम्पत्य भी सुखी नहीं है। इस असन्तोष का उद्घाटन अनेक उपकथाओ द्वारा कराया गया है। कामाध सूरज बक्श और महत्त्वाकांक्षी अनूपकुमारी की घटनाओ से एक-तिहाई उपन्यास भर गया है और इस प्रसग मे कुल मिलाकर १११ पृष्ठ काले किए गए हैं, जो उपन्यास की वर्णनात्मकता की श्रीवृद्धि ही करते हैं, मुख्य कथा मे कोई योग नहीं देते। उपन्यासकार ने अनूपकुमारी के अतीत पर प्रकाश डालकर उसे स्वामी गिजानन्द की दूसरी पत्नी अहल्या प्रकट करके दो कथाओ मे सबध स्थापित करने की जो चेष्टा की है, उसमे भी उसे विशेष सफलता नही मिली है।

'विकास' के सभी पात्र वर्गगत हैं। डॉ० नीलकण्ठ आदर्श प्रेमी हैं, मृत पत्नी से भी अनन्य अनुराग रखते हैं। वे अपने सिद्धान्त और विश्वास पर अडिग रहते हैं, ये पात्र भी अपरिवर्तनशील है। अमीलिया मौन भाव से वियोग के क्षणो को व्यतीत करने वाली प्रेमिका है। अनूपकुमारी आदि पात्र महत्त्वाकांक्षी षड्यन्त्रकारी प्राणियो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

विकास म चरित्र चित्रण की अपेक्षा कथा विकास और विचार प्रतिपादन ही अधिक हुआ है। उपन्यासकार ने कही प्रत्यक्ष तो कही परोक्ष विधि से कुली प्रथा और कलुषित स्त्री व्यापार प्रथा पर प्रकाश डाला है। सभी मुख्य घटनाओ तथा पात्रो का सबध इन समस्याओं से है। डीपो वालो द्वारा स्थापित वेश्याओ तथा वेश्या बनाने की पद्धतियों का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया है। विवाह सबध मे आभा के ये विचार पठनीय हैं—'विवाह जीवन का विकास है, और कहीं-कहीं यह जीवन का अन्त भी है विवाह क्या है? प्रेम को चिरस्थायी करने की मुहर का नाम विवाह है। विवाह दो हृदयो के मिलन और उनकी युग्मता का नाम है। इस शब्द मे कितना आनन्द है। सुनते ही हृदय नाचने लगता है, भूख और प्यास कुछ नहीं लगती। यह जीवन की भूख

७ हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ २४६

है, जो एक समय आने पर सबको लगती है।"[८]

विसर्जन—१९५०

शिल्प की दृष्टि से 'विसर्जन', 'विदा', 'विकास' आदि प्रथम कृतियों से भिन्न कोटि का है। इसमें कथाकार स्वयं पीछे हट जाता है और पात्रों को मनन करने और कथा कहने का अवसर प्रदान करता है। जेल की कोठरी में आबद्ध नायक रामनाथ अपने अतीत पर विचार करता है और गत घटनाओं को दोहरा देता है। अज्ञेय कृत 'शेखर एक जीवनी' में भी इस विधि को अपनाया गया है; किन्तु वहां कथा का रूपाकार (form) विश्लेषणात्मक (Analatical) है। 'विसर्जन' का कथाशिल्प वर्णनात्मक (Descriptive) है, अतः यह वर्णनात्मक शिल्प-विधि की रचना है।

वर्णनात्मक शिल्प के कारण कथा-प्रवाह की गति को बीच-बीच में लम्बी विचार-वर्णन-धारा के फलस्वरूप एक धक्का लगा है। प्रथम खण्ड के तीसरे अध्याय में ही उर्मिला-कनक संवाद में कनक अपने विचारों को केवल उर्मिला पर ही प्रकट नहीं करती अपितु पाठक पर ठोंस देती है। पुरुष भी एक मानव है—की पुनर्युक्ति लगभग पांच-छः बार हुई है और इस पर दो पृष्ठ काले कर दिए गए हैं।[९] इतना ही नही, उपन्यास की वर्णनात्मकता की असंदिग्धता तो वहीं सिद्ध हो जाती है, जहां अदालत के दृश्य का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त सारे उपन्यास में मजदूर संघ, पूंजीवादी संगठन आदि का विशद वर्णन हुआ है और अनेक स्थलो पर पाठक के धैर्य की परीक्षा ली गई है।

शिल्प की दृष्टि से बलवन्त, श्रीराम और सेठ साहबदीन से संबंधित उपकथा में आलोचना का विषय है। आधिकारिक कथा से इनका कोई निकट का संबंध नहीं है। ये उपकथाएं उद्देश्य-मूलक हैं। बाप के पापो का प्रायश्चित पुत्रों को किस प्रकार भुगतना पड़ता है, इसे दिखाने के लिए ही इन उपकथाओं की सृष्टि की गई है। बलवन्त ने ऋण लिया और यशवन्त उसे उतारने के लिए सेना मे भरती हुआ। इस वर्णन में वह प्रभाव नहीं है जो प्रेमचन्द के 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' के वर्णनों में प्राप्य है। चन्द्रनाथ के षड्यंत्रों मे जासूसी उपन्यास की चक्करदार घटनाओं की झलक स्पष्ट दिखाई देती है।

श्री प्रतापनारायण ने अन्य उपन्यासों की भांति 'विसर्जन' में भी पत्र-योजना द्वारा विशिष्ट घटनाओं पर प्रकाश डाला है। एक पत्र कनक द्वारा जिलाधीश निक्सन की पुत्री पामीला को लिखा गया है। इसमें पुरुष वर्ग द्वारा नारी वर्ग पर किए गए अत्याचारों का विस्तृत वर्णन है। देवकीनन्दन एक जासूस की भांति छिपकर सब घटनाओं का सिंहावलोकन करके समय आने पर उनका रहस्योद्घाटन करता है।[१०] कुछ घटनाओं के अनन्तर विस्तृत स्वगत कथनों की योजना भी की गई है। अधिकतर ऐसे स्वगत कथन किसी-न-

---

८. विकास—पृष्ठ ७१

९. विसर्जन—पृष्ठ १३-१४

१०. वही—पृष्ठ २४६-४८

किसी समस्या की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए जुटाए गए हैं। पुरुष, स्त्री, प्रेम, विवाह आदि विविध विषयों पर इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, किन्तु इनके द्वारा कथा की गति अबाध नहीं रहती—वर्णनात्मक उपन्यास में इन्हें अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। प्रेमचन्द, प्रसाद, कौशिक आदि वर्णनात्मक कथाकारों की रचनाओं में ऐसे प्रसंगों की भरमार है। इसके द्वारा ही इनकी रचनाओं का कलेवर बढ़ गया है।

विसर्जन के पात्र टाइप हैं, वैयक्तिक नहीं। चन्द्रनाथ एक आधुनिक पूंजीपति का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे अपने विचारों और सिद्धान्तों पर स्थिर रहते हैं। रामनाथ और कनक आदर्शप्रिय प्रतिनिधि पात्र हैं। कनक अपने आदर्शों के आगे बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति को भी हेय समझती है। त्याग, सेवा, साहस और कर्तव्यपरायणता उसमें ही नहीं, प्रत्येक आदर्शप्रिय भारतीय मध्यवर्गीय महिला में इसे परखे जा सकते हैं। रामनाथ अपने आदर्शों की रक्षा हित जेल और मृत्यु दण्ड से भी नहीं घबराता। इन पात्रों में एक न डगमगाने वाली साहसिक प्रतिभा है, स्थिरता है। ये मिट सकते हैं, झुक नहीं सकते।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव में वर्णनात्मक शिल्पी के सभी गुण और दोष विद्यमान हैं। लम्बी लम्बी कहानियां, घूमती फिरती बाह्य घटनाएं, स्थिर (Static) पात्र, विस्तृत भाषण, तर्कपूर्ण सभाषण और उपदेशात्मक कथन इनके शिल्प की कथनीय बातें हैं। इनके विस्तृत वर्णनों के संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"एक और मर्ज लेखक में है, अनावश्यक विवरण देने और अनावश्यक शब्दावली व्यवहृत करने का। वे प्रायः पात्रों का पारिवारिक इतिहास और वंशावली देने लगते हैं। जो कथानक की दृष्टि से अनावश्यक है। इसमें केवल कलेवर-वृद्धि होती है, सौंदर्य-वृद्धि नहीं। उदाहरणार्थ 'विदा' के पृष्ठ ३३ पर निर्मल' के दिवंगत पिता का परिचय। जिस विवरण के साथ उन्होंने वह परिचय दिया है, वह मेरे निकट कागज और रोशनाई के व्यय के अतिरिक्त कुछ नहीं है।'"[11] आलोचक का यह कथन तथ्यपूर्ण है, किन्तु उनके कथानक विस्तार और विवरण-योजना का कारण वर्णनात्मक शिल्प को प्रश्रय देना है। इसके अन्तर्गत कथानक-सौंदर्य चाहे भ्रष्ट हो जाए, किन्तु उसका विवरण एक आवश्यकता के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस विवरण के कारण ही वह इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक रूप (form) ग्रहण करता है।

डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा

डा० वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी उपन्यास जगत में ऐतिहासिक लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से मैं इनकी गणना वर्णनात्मक शिल्प विधि के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में करता हूं। सामाजिक उपन्यास का संबंध वर्तमान समाज से और ऐतिहासिक उपन्यास का संबंध दूरस्थ अथवा निकटस्थ अतीत के समाज और वातावरण से संबंधित रहता है। इनकी तुलना में आंचलिक उपन्यास भी लिया जा सकता है, जिसका सीधा संबंध किसी अंचल विशेष के समाज से जुड़ा रहता है। इन तीनों कोटि

---

११ डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास—विकास काल प्रेमचन्द-युग—पृष्ठ २४६

की रचनाओं में जीवन का विवरण, घटनाओं की इतिवृत्तात्मकता और पात्र-बाहुल्य वर्तमान रहता है। अतः तीनों की वर्णनात्मकता असंदिग्ध और निर्विवाद है।

शिल्प की दृष्टि से ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य जटिल रहता है। इस संबंध में स्वयं वर्मा जी लिखते हैं—"मेरा अनुमान है कि ऐतिहासिक उपन्यास या कहानी लिखने वाले के सामने कुछ अधिक कठिनाइया रहती है। उसे पात्रों और घटनाओं के संबंध में पूरी शोध करनी पड़ेगी, तत्कालीन वातावरण का अपनी आंखों के सामने चित्र बनाए रखना पडेगा और साथ ही आज की कोई समस्या उस समय के वातावरण में रखकर कुछ सुझाव देने पड़ेंगे, परन्तु उपदेशक की हैसियत से नही, न लालबुझक्कड़ की तरह बल्कि केवल सुझाव देने वाले की हैसियत से—मानो शैल गत की बात निभा रहा हो :

उस भविष्य वक्ता की तरह जो मुड़-मुड़कर पीछे की तरफ देखता है। शर्त यह है कि उबटा न ले, ठोकर खाकर गिर न पड़े।

पात्रों के साथ समय और स्थान भी चुनने पड़ेगे। यूरोप के कई ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अधिकतर बड़े कहलाने वाले पात्रों को चुना है···इतिहास के पूरे निर्वाह में जो कठिनाई लेखक को भुगतनी पड़ती है, उसे सर कर लेने पर उसे जो सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है, वह अपार है।"[१]

इस संबंध में एक अन्य आलोचक लिखते है—"ऐतिहासिक उपन्यास, कला की दृष्टि से अतिरिक्त दायित्व की अपेक्षा रखता है। आधुनिक वैज्ञानिक युग ने अपने प्रथम चरण से ही कथा-साहित्य को यथार्थ की ओर और इतिहास को वैज्ञानिकता की ओर मोड़ना प्रारम्भ कर दिया था। इतिहास को वैज्ञानिक बनाना उसकी बहुत बड़ी देन है, किन्तु इससे भी बड़ी देन है वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण जिसके विकास ने पुरातन रूढ़ियों और अन्ध आस्थाओं का प्रायः उन्मूलन ही कर दिया। ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि ने विगत जीवन को ऐतिहासिक परिप्रेक्षण (Historical Perspective) में देखने की प्रेरणा दी, जिससे बहुत ही महत्त्वहीन घटनाएं महत्त्वपूर्ण हो उठी।"[२] इन मतों का सूक्ष्म अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि ऐतिहासिक उयन्यासकार को अधिक सचेत रहकर लिखना पड़ता है। विविध घटनाओं और विभिन्न पात्रों को लेकर उनका पूर्वापर संबंध स्थापित करते हुए उन्हे व्यवस्थित शिल्प में परिकल्पित और शृंखलित करने की प्रक्रिया (Colligation) जुटानी पड़ती है। ऐतिहासिक उपन्यासकार ऐतिहासिक तथ्यों का मूल्यांकन कर अपने शिल्प के सहारे कल्पना द्वारा सत्य को परिचित के स्तर से ऊपर उठाकर भावलोक में ले आता है। वह गत जीवन के राष्ट्रीय आन्दोलनों का सजीव चित्र उतारने का प्रयास करता है। किसी ऐतिहासिक घटना का व्योरा देना उसके लिए साधारण बात है।

---

१. डॉ० वृन्दावनलाल वर्मा : ऐतिहासिक उपन्यास—'समालोचक' —पृष्ठ १६१-६२

२. डॉ० जगदीश गुप्त : इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यासकार 'आलोचना' उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ १७७

किसी दृश्य या पात्र का वर्णनात्मक चित्र प्रस्तुत करना उनकी विशिष्ट शैली है। भौगोलिक विवरण, ऐतिहासिक परम्परागत समाज के रीति-रिवाज और प्राकृतिक सुषमा इन कथाकारों द्वारा अधिकतर वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा संयोजित हुई है। वर्मा ने इतिहास के कंकाल में मांस और रक्त का संचार करने के लिए इस विधि को चुना है। इन्होंने १४वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक युग के ऐतिहासिक काल खण्डों को अपनी रचनाओं का मूल आधार रखा है।

वर्माजी के उपन्यासों की प्रथम शिल्पगत विशेषता है—कथा सौष्ठव तथा वस्तु एवं शिल्प में सन्तुलन। इनके उपन्यासों में घटनाओं का एक जाल-सा बिछा रहता है किन्तु कहीं भी इसके तन्तु जर्जर नजर नहीं आते। वस्तु तथा शिल्प को सुन्दर बनाने वाले दो तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक लिखते हैं—"कथा वस्तु के ढांचे को सुन्दर बनाने में दो तत्त्वों का हाथ रहता है—इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। इतिवृत्तात्मक घटनाओं के मध्य संयोग स्थापित कर कथा को अग्रसर करता है, घटनाएं आरम्भ से लेकर अन्त तक इस सन्तुलन और अनुपात में रहें कि उनका क्रम अटूट रहे और कथा का अन्त उन सब क्रिया-कलापों का तर्क संगत निष्कर्ष जैसा जान पड़े। हृदय स्पर्शी घटनाएं रसात्मक स्थल हैं। इतिवृत्तात्मक और रसात्मक स्थलों पर अनुपातिक प्रकाश डाल कर पाठक के हृदय में वांछित प्रभाव उत्पन्न करने में उपन्यासकार की कला है।"[1] वर्माजी के उपन्यासों का वस्तु विधान इन्हीं दो तत्त्वों से आबद्ध है, अतएव इनके कथा शिल्प में आकर्षण और सन्तुलन आ गया है। उसमें प्रस्तुत संयोगात्मक या दैविक घटनाएं वर्णनात्मक शिल्प विधि की प्रतीक हैं।

वर्मा के उपन्यासों की दूसरी शिल्पगत विशेषता पात्र योजना है। इनके उपन्यासों के अधिकांश पात्र सामंती परिवारों की परम्पराओं के प्रतीक हैं। इनमें हम तद्युगीन राजशाही की समस्त प्रवृत्तियों को सजीव रूप में देख लेते हैं। प्रायः सभी पात्रों का चित्रण वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा संयोजित हुआ है।

वर्माजी की तीसरी शिल्पगत विशेषता वातावरण का निर्माण है। वातावरण के निर्माण में ही कथाकार की वर्णनात्मकता अधिक उभर कर सामने आई है। राजनैतिक उथल-पुथल, सामाजिक गति-विधि, धार्मिक हलचल आदि अनेक युगीन चित्रों को इन्होंने पूर्ण विवरण देकर चित्रित किया है। युद्धों के वर्णन, शिकार के दृश्य, भौगोलिक स्थिति के व्यापक चित्र, प्रेम के उतार चढ़ाव, त्योहार तथा अन्य रीति-रिवाज से भरपूर इनके उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प विधि को सार्थक कर रहे दृष्टिगोचर हो रहे हैं। युद्ध, प्रेम और शिकार वर्णन पर्याप्त लम्बे हैं, और उनमें कथाकार ने पर्याप्त रुचि का परिचय दिया है। *प्रकृति की गोद में* क्रीडामान एक झील का वर्णन देखिए—"वैसी ही लहरें। उसी तरह की आन्दोलित प्रकाश रेखाएं। नीलिमा और तरंगें। पहाड़ियों की गोद में निर्भय नाचने वाली जल राशि। प्रमुदित तरलता। स्वरमय एकान्तता। ढका हुआ सौंदर्य और बंधी हुई उन्मुक्तता। झील पहाड़ों के घर में चंचल-सी जान पड़ती थी। ऊंचे पहाड़

---

१ डॉ० शशिभूषण सिंहल : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—पृष्ठ ३९-४०

के नीचे विस्तृत झील का चित्र बनता है। उसकी लहरों पर ढलते सूर्य की किरणें नाच रही हैं। इस निर्जनता और बंधन में भी सजीवता और गति है। ऐसी ही अन्धकारमयी रात्रि में वेगवती बेतवा नदी का एक चित्र है। नदी के प्रवाह में चहल-पहल है। बड़ी मछलियों के दौड़ने का शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ता है। बीच-बीच में टिटहरी चिल्ला उठती है, वैसे सुनसान है। आकाश में बिखरे हुए तारे वहां प्रकाश के एकमात्र साधन है। पानी पर उनकी कुछ टिमटिमाहट दीख पड़ती है।"[४] वर्मा का यह वक्तृत्व भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि की समस्त विशेषताएं इनके उपन्यासों में वर्तमान हैं। सामाजिक रूढ़ियों पर इन्होंने तीखे व्यंग कसे है, भीषण युद्धों और राजनैतिक षड्यन्त्रों का सतर्क परिस्थिति अनुकूल और विस्तृत वर्णन किया है। मानव स्वभाव और विशेष घटनाओं पर पर्याप्त टीका टिप्पणी की है। इनके वर्णन कौशल के संबंध में एक आलोचक लिखते है—"उन्होंने अपने कथानकों के घटना स्थलों में अनेक बार भ्रमण किया है, उन स्थानों के भग्नावशेषों पर बैठ कर वहां की अतीत घटनाओं को स्मृति के सहारे जगाया है। फलतः उनके वर्णन विश्वासोत्पादकता में अपना जोड़ नहीं रखते। उनकी लड़ाइयां किताबी खिलवाड़ नहीं हैं, उनकी प्रणय लीलाएं, सम्पन्न व्यक्तियों की दिमागी ऐयाशी की उफान नहीं वरन् प्राणों को लेने देने वाली सजीव और स्वाभिमानी व्यक्तियों की जीवन परिस्थितियां है…वर्मा जी की लेखनी में वर्णन की शक्ति, भाव प्रकाशन की कलात्मकता, चरित्र-चित्रण की क्षमता और कथानक की मर्मस्पर्शिता पहचानने के साथ-साथ कहानी में उत्कर्षता लाने की अपूर्व शक्ति है।"[५] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक मतानुसार वर्मा केवल मनोरंजन या मनोविश्लेपण को कोई महत्त्व नहीं देते। अतीत गौरव का यथार्थ वर्णन ही उनका साधन और साध्य है।

गढ़ कुंडार—१९२८

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास-शिल्प को निर्धारित करने के लिए उनकी औपन्यासिक रचनाओं का एक अध्ययन नियोजित किया जाता है। 'गढ़कुंडार' इनका प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें वर्मा ने आरम्भ ही कुंडार की चौकियों के वर्णन इतिहास-परक परिचयात्मक शिल्प-विधि द्वारा किया है, जिसका निर्वाह आद्योपान्त हुआ है। बुन्देलखण्ड में होने वाली चौदहवीं शती की राजनीतिक उथल-पुथल और बुन्देलों द्वारा प्रभुत्व प्राप्त करने की कहानी ही इस रचना का मूल विषय है।'[६] 'गढ़कुंडार' में विषय प्रतिपादन ऐतिहासिक वातावरण अनुकूल कथानक द्वारा प्रस्तुत हुआ है। इसमें तीन कथाओं का संयोजन हुआ है। मुख्य कथा कुंडार के राजकुमार नागदेव के प्रेमाख्यान और खंगार राज्य के पतन से संबंधित है। इसमें नागदेव के सहचर अग्निदत्त के पराक्रम और

---

४. विराटा की पद्मनी—पृष्ठ २१७

५. श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय : हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ १३९

६. झांसी गजेटियर (यूनाइटेड प्रॉविंसेज आगरा व अवध के गजेटियर्स का चौदहवां ग्रन्थ)—पृष्ठ १८८-१८९

आखेट के उदात्त वर्णन सयोजित हैं। दूसरी कथा का नायक अग्निदत्त है, जो अपने प्रणय, अपमान और प्रतिशोध के परिवेश में घूमता चित्रित किया गया है। अग्निदत्त ब्राह्मण है और नागदेव की बहन मानवती दांगी। इनकी प्रेम गाथा के प्रसग मे अन्तरजातीय प्रेम और विवाह की मूल समस्या की व्याख्या की गई है। तीसरी प्रणय कथा तारा दिवाकर के रूप मे प्रस्तुत हुई है। दिवाकर सोहनपाल के सेवक मित्र धीर का पुत्र है, तारा अग्नि-दत्त की प्रिय चाहनी बहन। उस अग्निदिन कनर के पुत्र चाहिए। निराश प्रेमी अग्निदत्त से यह काम सम्पन्न नही होता। अवसर, दैविक सयोग दिवाकर के प्रणय को पल्लवित करने के लिए पुण्य अग्निदान की योजना तैयार करता है। मुख्य कथा का संघर्ष और विनाशमय परिणाम इस कथा के नेपथ्य मे रहा।

'गढ़कुण्डार' मे परिस्थितियाँ बड़ी प्रबल हैं। यही कथा वस्तु का दिशा-दर्शन करती हैं। अग्निदेव की समस्त योजनाएं तथा नागदेव की सब क्रूर लीलाएं परिस्थिति अनुकूल परिवर्तित हुई हैं। अग्निदत्त मानवती का अपहरण किया ही चाहता है कि नागदेव द्वारा पकड़े जाने पर अपमानित होकर और भीषण प्रतीक्षा करता है। हेमवती का हरण न हो सका। बुन्देला द्वारा उसके विवाह का प्रस्ताव कर ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है। इतनी लम्बी कथा पर पूर्ण अंकुश वर्मा के वस्तु एव शिल्प के सतुलन का प्रतीक है। दिवा-कर-तारा प्रेम कथा को कतिपय आलोचक वस्तु सतुलन की दृष्टि से सदिग्ध मानते हैं।[७] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक मतानुसार यह प्रसग वर्णन सौन्दर्य को बढ़ाने वाला सिद्ध हुआ है, साथ ही इसके द्वारा युद्ध म विघ्न उपस्थिति की चेष्टा व्यक्त करके उपन्यासकार ने सत्री तथा बुन्देलो के युद्ध की प्रबल भावना और क्रियाशील वेग को भी रुचिकर बना दिया है। घटनाओ को अध्यायो मे विभक्त करनेवाली विधि श्री प्रताप नारायण श्रीवास्तव के उपन्यासो म भी देखी-परखी गई है।

ऐतिहासिक उपन्यास की सब से बड़ी विशेषता तत्कालीन वातावरण की सृष्टि होती है। 'गढ़कुण्डार' के आरम्भ मे ही कथाकार ने कथा प्रवाह मे तत्कालीन भारतीय वातावरण का सजीव चित्र खींच डाला है। 'गढ़ कुण्डार' का निकटवर्ती मुसलमान साम्राज्य कालपी रहा है। उसी की राजनैतिक अवस्था का चित्रण करते हुए कथाकार लिखता है—'कालपी दो घोड़ो पर सवार होने आ रही है। वह चाहती है कि उधर बलबन को यह विश्वास रहे कि विश्वासघात नही किया जा रहा है और इधर यह महत्त्वाकांक्षा है कि यदि बलबन भी तुगरिल से लड़ाई मे हार गया, तो दिल्ली चाहे जिसके पास जाए, कालपी तो अपने हाथ म बनी रहे। इसलिए कालपी का जमाव मुझे खटके म डाले हुए है। परन्तु अन्नदाता को ठड लग रही होगी। भीतर चलें।"[८] ये शब्द कथा के आरम्भ मे उपन्यास के प्रसिद्ध पात्र हरी चदेल द्वारा राजकुमार नागदेव को कहे गए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथाकार अपने पात्रो अथवा उनके पत्रो द्वारा राजनैतिक अवस्था का चित्रण कराने की कला मे निपुण है। आगे चलकर महाराज हुरमतसिंह का

---

७ डॉ० रामदरशसिंह ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—पृष्ठ ३६
८ गढ़कुण्डार—पृष्ठ २७

विश्वासपात्र विष्णु पांडे दिल्ली पहुंच कर तत्कालीन भारतीय राजनैतिक उल्ट-फेर पर प्रकाश डालता है। यह प्रकाश उसके द्वारा डाला गया है।

भारतीय परतंत्रता का एक प्रधान कारण हिन्दू राजाओं की पारस्परिक कलह तथा जातीय अभिमान-भावना थी। ये लोग सदैव अहमन्यता में पूर्ण रहते थे। वर्मा ने गढ़-कुण्डार में इन राजाओं के मिथ्याभिमान को चित्रित किया है। पुण्यपात पडिहार सरदार को छुटभैया कहने पर वे उन्हें गंवार कहते है—इस पर वाद-विवाद बढ़ जाता है और तलवारें तक म्यान से बाहर निकल आती हैं। ऐसे दृश्यों को चित्रित करके वर्मा ने प्रस्तुत उपन्यास में ऐतिहासिक वातावरण बनाए रखने की पूरी चेष्टा की है। केन्द्र की शक्ति-हीनता पर ये छोटे-छोटे रजवाड़े कितने उछृंखल हो जाते थे—कालपी के आक्रमण द्वारा सिद्ध कर दिया गया प्रश्नोत्तर है।

'गढ कुण्डार' के वातावरण में सचाई, सफाई और सजीवता पाई जाती है। इसका कारण वर्मा की साधना है। उन्होंने 'गढ कुडार' का अधिकांश कुडार के दुर्ग के चारों ओर चक्कर काटकर लिखा है। इसमें वर्णित नदी, झीलें, वन, टीले कथाकार के देखे परखे है। इतिहास तथा भूगोल के अतिरिक्त बुंदेलों तथा खंगारों के आचार-विचार एवं रीति-रिवाजों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान है। इसी कारण 'गढ़कुडार' में युग प्रवृत्तियां अपने सच्चे रूप में सजीवता पूर्ण ढंग से चित्रित हुई है। नागदेव द्वारा हेमवती का अपहरण करने की योजना काल्पनिक नही कही जा सकती। यह युग-प्रवृति की प्रतीक है। चरित्र भी युग के प्रतिनिधि बनकर मुखरित हुए है। नागदेव, हेमवती, सोहनपाल, पुण्यपाल आदि पात्र अपने युग की प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते है, वे अपने निजी सिद्धान्तों के लिए एक-दूसरे के प्रतिद्वन्दी बनते हैं। हेमवती नागदेव को फटकारती है, पुण्यपाल हुरमतसिंह से जूझ पड़ता हैं—यह सब कथाकार की ध्येयवादिता नही है, ध्रुव सत्य है। अधिकतर विवरण युग के अनुरूप ही दिए गए है, केवल दिवाकर-तारा रोमांस के वर्णन काल्पनिक एवं चमत्कारिक है, किन्तु ऐतिहासिक न होने पर भी ये ऐतिहासिक वातावरण में इतने घुल मिल गए हैं कि अस्वाभाविक नहीं लगते।

कथा का पूरा विकास ऐतिहासिक वातावरण की भीति पर हुआ है। बुन्देलों तथा खंगारों की भेद-भाव नीति ही कथा को गति देती है। नागदेव को छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति भेद-भाव की नीति पर दृढ़ रहता है। सहजेन्द्र को नागदेव के घर का भोजन तक स्वीकार नहीं है, फिर विवाह संबंध कैसे स्वीकृत हो सकता है। विवाह संबंध की स्वीकृति केवल एक प्रवंचना है, जिसका भेद उपन्यास के अन्त में स्पष्ट हो जाता है। विवाह, प्रणय आदि गंभीर विषयो पर ऐतिहासिक पात्रों के विचार सामन्ती विचारों के प्रतीक है। नागदेव अपने मित्र अग्निदत्त को कहता है—"यदि उस लड़की के माता-पिता तुम्हारे प्रणय में बाधक है, तो तुम उसको लेकर कहीं चल दो।"[१] साथ ही अग्निदत्त द्वारा अपनी बहन के अपहरण को देखकर नागदेव द्वारा अपनाया विकृत रूप भी सामन्ती शासण-प्रणाली पर प्रकाश डालता है। नागदेव की कथनी और करनी को दर्शाता है।

---

१. गढ़कुण्डार—पृष्ठ २३८

'गढ़कुण्डार' के कथोपकथन पात्र और परिस्थिति अनुकूल रखे गए हैं। अर्जुन की सारी वार्ता बुन्देली भाषा में चलती है। इब्नकरीम और अली शुद्ध उर्दू में बात करते हैं। पात्रों की मनोवृत्तियों तथा परिस्थिति के अनुरूप कथोपकथन का एक उदाहरण दिया जाता है—"अब की दफा का हमला दूसरी तर्ज का होगा। एक दस्ता तो अभी यहीं आता है और इस मन्दिर का तहस नहस करके आग बरसाता है, दूसरा दस्ता सीधा भरतपुर जाएगा और तीसरा दस्ता देवरा के नीचे से कुण्डार पहुंचेगा—अच्छा तो मैं जाता हूं। इंशा अल्लाह ईमान की फतेह होगी। सलाम।"

इब्नकरीम—'सलाम—पाक परवरदिगार ईमान को कभी खानए-खराब नहीं होने देगा।"[10] दोनों पात्रों के कार्य कलाप भी तदनुकूल हैं। अली आक्रमण करता है। इब्नकरीम कुण्डार का नमक खाकर वफादारी का सबूत देता हुआ मौत की भी परवाह नहीं करता। कुण्डार की रक्षा हित उसका बलिदान हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रतीक है।

व्यक्ति का मूल्यांकन शिल्प का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। ऐतिहासिक उपन्यास में हम दो प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं। शुद्ध ऐतिहासिक और काल्पनिक। शुद्ध ऐतिहासिक पात्र अधिकतर वर्ग के प्रतिनिधि रूप में आते हैं। 'गढ़ कुण्डार' के ऐतिहासिक वर्गगत पात्र हैं—हुरमतसिंह नागदेव, मोहनपाल, पुण्यपाल, धीरप्रधान, विष्णुदत्त, सहजेन्द्र, गोपीचन्द तथा हेमवती और मानवती। काल्पनिक पात्रों में अग्निदत्त, दिवाकर और तारा वैयक्तिक चरित्र रखते हैं।

सबसे पहले हम ऐतिहासिक पात्रों को लेते हैं। ये वर्गगत होने के कारण उपन्यास के आरम्भ से लेकर अन्त तक स्थिर (static) रूप में विद्यमान रहते हैं। हुरमतसिंह को ही लें। यह उपन्यास के आरम्भ में एक लड़ाकू, हठी और उदार सम्राट बनाया गया है। मध्य भाग में भी वैसा ही दिखाया गया है। "हुरमतसिंह की अवस्था ढल गई थी और चेहरे पर झुर्रियां पड़ गई थीं, परन्तु शरीर की बनावट नहीं बिगड़ी थी और आंखों से सहज कोप और हठी स्वभाव का लक्षण दिखलाई पड़ता था। एक बात या एक विषय पर स्थिर रहने का अभ्यास भी बहुत दिन से छूट गया था।'[11]

और अन्त में तो उसकी अहमन्यता व आत्माभिमान चरम सीमा को पहुंचे चित्रित किए हैं—"मोहनपाल का पत्रोत्तर पाकर हुरमतसिंह ने कहला भेजा कि विवाह और विवाह का महोत्सव खंगार क्षत्रियों की रीति के अनुसार होगा। हुरमतसिंह अपनी जाति के बड़प्पन को किसी बात में और किसी भांति भी छोटा नहीं करने देना चाहता था।"[12]

नागदेव हुरमतसिंह का पुत्र और राज्याधिकारी होने के नाते उपन्यास का नायक है ऐसी बात नहीं, अपितु समस्त कथा का केन्द्र होने के कारण इस पद पर आसीन है। यह भी वर्गगत पात्र होने के कारण स्थिर रहता है। शिकार, प्रेम, विलासिता और आत्म-

---

१० गढ़ कुण्डार—पृष्ठ ३०५
११ वही—पृष्ठ १३२
१२ वही—पृष्ठ ४०६

भिमान इसकी परम्परागत चारित्रिक विशेषताएं हैं। इसके चरित्र पर अधिक प्रकाश लेखक ने अन्य पात्रों द्वारा ही डलवाया है। एक स्थल पर अपने मंत्री गोपीचन्द से वार्ता करते हुए हुरमतसिंह नाग के चरित्र पर प्रकाश डालता है—"हमारा नाग युवक है, सुन्दर है, पूरा योद्धा है—सामन्तों का पराग है। देखिए, अकेले भरतपुरा की गढ़ी को बचा लिया। सोहनपाल इत्यादि भी लड़े, परन्तु पीछे; और फिर ये लोग तो हमारी प्रजा है।"[१३] इस प्रसंग द्वारा नाग के चरित्र पर प्रकाश तो पड़ जाता है किन्तु यह हमारे सामने एक युवक के चरित्र को स्थूल रूप से ही प्रकट कर पाया है। इसमे नाग के बाह्य आपे का चरित्र ही उद्घाटित हुआ है। नाग के चरित्र पर लेखक वर्णनात्मक विधि द्वारा प्रकाश डालता है। आवश्यकता पड़ते ही उसने ऐसा किया है—"नाग स्वभाव का उद्धत था। बाप के लाड़-प्यार में उसके उद्धतपन को कर्कशता का रूप प्राप्त हो चला था। वह दिलेर था और तलवार चलाने के अवसर का स्वागत किया करता था। सहसा प्रवर्ती था, कष्ट-सहिष्णु और हठी। कटु परिहास करना उसको बहुत पसन्द था, परन्तु वार के उत्तर में वार खाने से वह नही घबराता था। अभिमानी था और उदार। प्रयोजन-सिद्धि के लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय काम में लाने के विरुद्ध न था, परन्तु क्रूरता उसके स्वभाव में न थी। अपने को जाति में बहुत ऊंचा समझता था, परन्तु दूसरों का जाति-गर्व कठिनता के साथ सह सकता था। कभी-कभी सुरा का सेवन करता था।"[१४] इस प्रकार के वर्णनात्मक विधि द्वारा किया गया चरित्र वर्णन हमें यह बताने मे सहायक हो जाता है कि इस पात्र के क्रिया-कलाप आगे क्या रहेंगे। जब हम यह पढ चुकते हैं कि 'प्रयोजन सिद्धि के लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय काम में लाने के विरुद्ध न था।' तब आगे चलकर हेमवती के लिए प्राण को हथेली पर रखकर जब उसके यहा डाका डालता है, (उसको भगा लाने के निमित्त लगाया डाका) हमें कोई बड़ा आश्चर्य नही होता। सब बाते उसके चरित्रानुकूल हैं।

हेमवती भी एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र है। वीर बुन्देलो की यह कुमारी ही इस उपन्यास की नायिका है। इसी के कारण उपन्यास में सघर्ष होता है और खंगारों का पतन। इस चरित्र के उद्घाटन में लेखक अधिक सफल नही हुआ। एक आलोचक लिखते हैं—"हेमवती का चरित्र व्यापकता से चित्रित नही हो पाया है। वह मात्र देश की स्वतन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत है, और अपने पिता के आज्ञानुसार पुण्यपाल को वरण कर लेती है। निश्चय ही, उसके चरित्र का अभिव्यक्तिकरण अधिक सफल नही हो सका है।"[१५]

यदि वह चाहता तो इस चरित्र को अधिक स्थिर, सुन्दर और आकर्षक बना सकता था। सारे उपन्यास में केवल दो ही स्थल है जहा इस चरित्र को उभारा गया है।

---

१३. गढ़कुण्डार—पृष्ठ १२५

१४. वही—पृष्ठ २६-३०

१५. सियारामशरण प्रसाद : वृन्दावनलाल वर्मा साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ ११२

जिस समय कथा में नागदेव इससे प्रणय याचना कर कहता है—"प्राणधन, जीवन की एकमात्र आशा।" तभी वह आत्माभिमान के तेज में चहककर उत्तर दे देती है—"मैं क्षत्रिय कन्या हूँ। बुंदेला हूँ। आप खंगार हैं। जाइए।" इतना सुनकर भी छोटा नाग जब नहीं जाता, तब वह उग्र होकर कह डालती है—"यदि आप यहाँ से नहीं जाते हैं, तो मैं यहाँ से जाती हूँ। बुंदेला कन्या न ऐसी भाषा सुन सकती है। और न सह सकती है और खंगार राजा होने पर भी बुंदेला-कन्या का अपमान करने की शक्ति नहीं रखता।"[16] दूसरे स्थल पर यह पुण्यपाल को स्पष्ट कहती है कि पहले जुझौती को स्वतन्त्र कराइए तब मेरे स्वप्न देखें।

सोहनपाल पुण्यपाल जातीय अपमान के प्रतिनिधि सम्राट हैं। गोपीचन्द, विष्णु-दत्त तथा धीरप्रधान चतुर राजनीतिज्ञों के प्रतीक हैं। इनकी स्वामिभक्ति और दूरदर्शिता ही मुख्य चारित्रिक विशेषता है।

अग्निदत्त, दिवाकर और तारा ये तीन महत्त्वपूर्ण काल्पनिक पात्र हैं जो कथा में रसात्मक तत्त्व की अभिवृद्धि करते हैं। इन तीनों में तारा ही प्रमुख पात्र है। तारा की सुकुमारिता कथाकार की अपूर्व सृष्टि है जिसका अतीव वर्णन वह स्वयं कर डालता है—'तारा विष्णुदत्त की लड़की थी। अग्निदत्त और तारा जुड़वा थे। सूरत-शक्ल बिल्कुल एक दूसरे से मिलती थी। केवल अन्तर यह था कि अग्निदत्त के गोरे रंग में, बाहर घूमने फिरने के कारण साँवलेपन की जरा-सी पुट आ गई थी। तारा का रंग निखरा हुआ था। एक सी आँख एक सी नाक एक सी चेहरे की बनावट। तारा की आँखें शान्त, स्थिर, बड़े बड़े पलकों वाली बड़ी निर्मल थीं। उन आँखों के किसी कोने में छल, कपट या अविश्वास की किंचित छाया भी नहीं मिल सकती थी। शरीर बहुत छरेरा और कोमल था। आकृति ने ऐसी लगती थी, जैसे देवी हो—दुर्गा नहीं, किन्तु ब्रह्ममुहूर्त की अधिष्ठात्री उषा ऋषियों के होम का आशीर्वाद, विष्णु के पुजारियों की पूजा—।"[17] इतना वर्णन पढ़ लेने के पश्चात् हमारे पास तारा के विषय में कुछ भी कह डालने के लिए बहुत कम बच रहता है। हमारे मतानुसार वह साधना की साक्षात् प्रतिमा है। तन्त्र शास्त्रियों द्वारा बताए अनुष्ठान की साधना निमित्त प्रतिदिन कष्ट उठाती है। वहीं दिवाकर का साक्षात्कार कर इसके कोमल हृदय में शाश्वत प्रेम बीज अंकुरित होने लगता है। दिवाकर के सहज त्याग को पाकर यह प्रेम पल्लवित होता है और सब देश के अवसर पर उसके उत्कट त्याग को देख कर यह प्रेम पुष्पित हो जाता है। वह 'मेरे देव' नामक शब्द दिवाकर के हृदय में पिरोकर डाल देती है।

तारा का चरित्र काल्पनिक होने के कारण वैयक्तिक है अतएव गत्यात्मक (Dynamic) है। उपन्यास के आरम्भ की लज्जाशील कोमलांगी तारा को अन्त में पहुँच कर हम एक साहसी युवती के रूप में देखते हैं जो अपने पिता तक की अवज्ञा करके अपने प्रेमी दिवाकर से जेल में मिलने पहुँच जाती है। इसके चरित्र की पराकाष्ठा उपन्यास के

---

१६ गढ़कुण्डार—नागदेव—हेमवती वार्ता—पृष्ठ ३१२-३१३
१७ वही—पृष्ठ १५३

अन्त में दृष्टव्य है, जिसके संबंध में एक आलोचक लिखते है—"उसके चरित्र की महानता तो उस स्थान पर और भी व्यापक रूप में दीखती है जब वह अपने शरीर को अर्द्ध-नग्न कर, काल कोठरी में प्रवेश कर, दिवाकर की रक्षा करती है और उस प्रेमी के ही साथ घने जंगल में विलीन हो जाती है।"[१८]

दिवाकर सा त्यागपूर्ण चरित्र हिन्दी उपन्यास साहित्य में कम ही देखने को मिलता है। 'विराटा की पद्मिनी' के कुंजरसिंह से भी अधिक पवित्र इसका प्रेम है, 'मृगनयनी' के अटल से भी साहसी इसका हृदय है और देवत्व की कोटि को छू जाने वाली इसकी चारित्रिक लीलायें हैं। अग्निदत्त सहसा प्रवर्तिनी और प्रतिक्रियावादी चरित्र है। अभीष्ट सिद्ध करने में सिद्धहस्त है।

विराटा की पद्मिनी—१९३३

'विराटा की पद्मिनी' वर्मा का दूसरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। इसका आधार भी बुन्देलखण्ड है और प्रेरणा स्रोत सन् १७०० में घटित विराटा की पद्मिनी (कुमद) का अमर बलिदान है। इस उपन्यास की रचना 'गढ़कुण्डार' के पैटर्न पर हुई है, अतएव यह बहिर्मुखी है। कुमद कथा की केन्द्र है। उसे ही दृष्टिगत रखकर अनेक युद्ध होते है। नायकसिंह, अलीमर्दान, कुंजरसिह सभी प्रमुख पात्र उसकी ओर उन्मुख है।

कथा शिल्प की दृष्टि से 'विराटा की पद्मिनी' 'गढ कुण्डार' की अपेक्षा अधिक सुगठित है क्योंकि इस उपन्यास की अधिकांश घटनाये पूर्व नियोजित तथा कल्पित है। इतिहास को पृष्ठभूमि के रूप में रखा गया है, उसपर खड़ा हुआ कथा का ढांचा जनश्रुतियों, किम्वदंतियों तथा स्मृतिभ्यास का परिणाम है। आरम्भ से अन्त तक कथा में दो पक्ष रहते है। एकपक्ष कुमुद की प्राप्तिहित युद्ध का आह्वान करता है, दूसरा उसकी रक्षाहित योजनाएं बनाकर युद्ध करता है। रोमांस, युद्ध, राजनैतिक हेर-फेर के वातावरण में कथानक को गति मिली है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से दो प्रकार प्रवाहित हुई है। उपन्यासकार प्रथम सौ पृष्ठों में कथा कह कर इसे रामदयाल, छोटी रानी, गोमती, कुमुद तथा कुँजरसिह के माध्यम से प्रस्तुत करता है। जहां पर राजनैतिक विवरण देने की आवश्यकता पड़ी है, वहीं कथाकार ने लेखनी चलाई है। अन्यथा पात्रों के संवाद ही कथा के वाहक बनते है।[१९] संवाद संक्षिप्त हैं, किन्तु घटनाओं एवं परिस्थितियों पर पूर्ण प्रकाश डालते है। अंतिम सौ पृष्ठों

---

१८. डॉ०सियारामशरण प्रसाद : वृन्दावनलाल वर्मा: साहित्य और समीक्षा पृष्ठ—१३३

१९. रामदयाल-गोमती वार्ता—पृष्ठ १६४-१६८, २०४-२०७, २११-२१४, २७१-२८३

रामदयाल-कुंजरसिंह वार्ता—पृष्ठ २००-२०३
कुंजर-कुमुद वार्तालाप—पृष्ठ २०८-२११, २५५-२६४
देवीसिंह-जनार्दन वार्ता—पृष्ठ २१५-२१६

में कथा के सब से अधिक प्रभावशाली दृश्य की ओर कथा बड़ी तीव्रगति से बढ़ गई है। दांगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अलीमर्दान से टक्कर लेते हैं, उधर देवीसिंह तथा लोचनसिंह प्राणों की होड़ लगाते हैं। कुंजर ने जीवन की बाजी लगाने से पूर्व कुमुद का आशीर्वाद चाहा है। वह भी दबोच का आवरण छिन्न भिन्न करके उसके गले में एक जंगली फूलों की माला डाल देती है। देवीसिंह कुंजरसिंह का वध करता है और अलीमर्दान कुमुद का पीछा कि इतने में मलिनिया फुलवाल्याओं नन्दन वन में—गीत की अन्तिम लय के साथ साथ कुमुद की जीवन लीला और उपन्यास की अन्तिम घटना घटित होती है केवल मात्र कुमुद के गौरवमय बलिदान की स्मृति ही शेष रह जाती है। यह घटना इतने सजीव रूप में प्रस्तुत की गई कि ऐसा लगता है कि इतिहास की ये घटनाएं सामने घटित हों।

'विराटा की पद्मिनी' में अनेक कथा-सूत्र हैं। नायकसिंह अलीमर्दान संघर्ष दैनिक घटना का परिणाम नहीं है अपितु इसका मूल सूत्र तत्कालीन भारतीय राजनैतिक अवस्था की डावाडोल स्थिति है जिसपर कथाकार ने अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला है।[20] नायकसिंह की मृत्यु के पश्चात् राज्य देवीसिंह नामक वीर बुन्देला को मिलता है और कथा सूत्र अनेक शाखाओं द्वारा पकड़ लिया जाता है—देवीसिंह, छोटी रानी और कुंजरसिंह—ये तीनों ही दलीपनगर के राज्य के लिए चिंतित और कर्मशील रहते हैं। नायकसिंह की विक्षिप्त अवस्था का अनुचित लाभ उठा कर जनार्दन शर्मा अपनी कूटनीति द्वारा देवीसिंह को राज्य दिला देते हैं, किन्तु छोटी रानी और कुंजरसिंह इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं, वे जीवन भर दलीपनगर के राज्य को हस्तगत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। दूसरी ओर अली मर्दान इस राज्य को हड़प लेना चाहता है अतएव कथा बहुमुखी रूपधारण कर लेती है। सिंहगढ़ रामनगर स्थानों पर भीषण युद्ध होते हैं।

कुंजर कुमुद प्रेम कथा इस उपन्यास का प्रधान आकर्षण है। युद्ध के अतिरिक्त रोमांस के वातावरण में यह कथा पल्लवित होती है। इनका प्रेम परिस्थिति का परिणाम है। कुंजर अपने सेनापति लोचनसिंह के साथ देवी दर्शन के लिए आता है कि काले खां के साथ युद्ध छिड़ जाता है, इस युद्ध का समाचार जब राजा नायकसिंह को मिलता है तब वे रामदयाल द्वारा कुमुद को अपने विश्राम भवन में पहुंचवाने की आज्ञा देते हैं, यही समाचार जब कुंजर को मिलता है तब वह कुमुद की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाता है। कुमुद के विराटा आगमन पर परिस्थिति कुंजर को भी वहीं पहुंचा देती है और मंदिर के पावन स्थान पर इनका पवित्र प्रेम पल्लवित होता है। इनके प्रेम की सफलता के विषय में श्री सियाराम शरण प्रसाद लिखते हैं—"कुंजर और कुमुद के मौन-प्रेम को हल्के रोमांस के अन्तर्गत परिसीमित नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें भव्यता है, सुन्दर निर्वाह है, शारीरिक सौंदर्य की प्रधानता नहीं, कायिक महत्त्व धार्मिक स्वतन्त्रता की शुद्धता के सम्मुख न्यूनतम में भी नहीं है।"[21]

---

२० विराटा की पद्मिनी—पृष्ठ ५३ ५४, ७२-७३, १५८ ५९

२१ वृन्दावन लाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ १२०

'कुंजर-कुमुद-प्रेम' अवश्य ही मौन रहता है। 'गढ़ कुण्डार' के तारा-दिवाकर समान मुखरित नही होता। इसका कारण है। 'गढ़ कुण्डार' में परिस्थिति दिवाकार और तारा को बोलने का अधिक अवसर देती है। यहां मन्दिर और युद्ध के वातावरण के अतिरिक्त कुमुद का देवीत्व भी उसे अधिक बोलने से वंचित रखता है। 'गढ कुण्डार' में तारा अपने भाई अग्निदेव तथा दिवाकार के पिता वीर प्रधान आदि पात्रों से दिवाकर के विषय में पूछताछ करती है। समय पड़ने पर पिता की अवज्ञा कर दिवाकर से मिलने भी पहुंचती है, किन्तु कुमुद अविक सक्रिय दीख नहीं पड़ता। परिस्थिति उसे स्थिर बनाए है, वह केवल अन्त में ही वलिदान हित हिलती है।

परित्यक्ता गोमती की कथा के मूल मे कथाकार की लक्ष्यवादिता हमें स्पष्ट झलक रही है। इस कथा का कथा-प्रवाह की दृष्टि से इतना महत्त्व नही है जितना नारीत्व के मौन पीड़न (Silent Suffering) प्रदर्शन का। गोमती का विवाह देवीसिंह से होने वाला था, परिस्थितिवश ऐसा नही हो सका—देवीसिंह उसे राजकाज और युद्ध के वातावरण में विस्मृत कर देता है, जो स्वाभाविक है। गोमती के मौन पीड़न के अतिरिक्त कथाकार ने उसे मुग्धा दिखाकर रामदयाल के षड्यंत्रो का वाहक भी बनाया है, जिसमें उसे पूरी सफलता नहीं मिली। गोमती किसी बड़े षड्यंत्र के किसी परिणाम का कारण नही बनती। अन्त में विदग्धा गोमती रामदयाल को प्रणय-याचक के रूप में देखती है, किन्तु निरपेक्ष रहती है और युद्ध में मारी जाती है।

कालपी के सरदार अलीमर्दान की कथा शिल्पगत महत्त्व रखती है। अलीमर्दान का लक्ष्य दलीपनगर की हिन्दु रियासत को नष्ट-भ्रष्ट कर हस्तगत करना-मात्र नही है अपितु सुन्दरता की देवी कुमुद को अपनी विलास सहचरी बनाना है। उपन्यास की अधिकांश घटनाएं अलीमर्दान की क्रियाशीलता का परिणाम हैं। पाली पर अलीमर्दान की चढ़ाई वृद्ध राजा नायकसिंह को युद्ध की अग्नि में धकेलती है। सिंहगढ़ की पहली विजय कुंजर सिंह अथवा छोटी रानी की वीरता का परिणाम नहीं है, अपितु अलीमर्दान की सहायता का निष्कर्ष है। अलीमर्दान की समस्त चेष्टाएं विराटा को जीतने के लिए केन्द्रित नहीं होती अपितु कुमुद ही वह केन्द्र है जिस ओर अलीमर्दान सचेष्ट है—युद्ध उसका लक्ष्य नही है। इसका प्रमाण हमें उस स्थल पर मिलता है जब कुमुद बेतवा में छलांग लगा देती है और अलीमर्दान देवीसिंह के आगे घुटने टेक कर सधि का प्रस्ताव करता है। इस अंतिम दृश्य तक कथा में कौतूहल बना रहता है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार को ऐतिहासिक स्थानों और पात्रो के विवरण देने की आवश्यकता हुआ करती है। 'गढ़ कुण्डार' में तो आरम्भ में ही कुण्डार और उससे समीपवर्ती भू-भाग का विवरण दे दिया है। 'विराटा की पद्मिनी' मे आरम्भ मे पालर का साकेतिक वर्णन किया गया है, किन्तु कुमुद के विराटा आगमन के पश्चात् इस प्रदेश का मनोरम वर्णन किया गया है।[२२] बुन्देलखण्ड में प्रकृति की रमणीयता अपना ही आकर्पण रखती है। प्रकृति के मनोरम रूप की एक छटा देखिए—"बेतवा के पूर्वीय किनारे को

---

२२. विराटा की पद्मिनी—पृष्ठ १५८, १६०

जल राशि छनी हुई चली आ रही थी। अस्ताचलगामी सूर्य की कोमल सुवर्ण-रश्मियां बेतवा की धारा पर उछल-उछल कर हँस-सी रही थी। उस पार के वन-वृक्षों की चोटियों के सिरों ने दूरवर्ती पवन की उपत्यका तक श्यामलता की एक मर्मरस्थली-सी बना दी थी।"[23] वर्मा ने ये वर्णन सांकेतिक रूप में रखे हैं, अतएव ये कथा का अविभाज्य अंग बन गए हैं, न कि कथा शिल्प के अवरोधक।

'विराटा की पद्मिनी' में पात्र-योजना के विषय में वर्मा ने उपन्यास के परिचय में लिखा है, "देवीसिंह, लोचनसिंह, जनार्दन शर्मा, अलीमर्दान इत्यादि नाम काल्पनिक हैं, परन्तु उनका इतिहास सत्य मूलक है।"[24] शेष पात्रों में कुमुद, कुंजरसिंह, नायकसिंह और छोटी रानी आदि पात्र शुद्ध ऐतिहासिक हैं।

कुमुद उपन्यास की प्रमुख पात्र है। इसकी ऐतिहासिकता को उपन्यासकार ने गौरवमय बलिदान द्वारा अमर बना दिया है। शिल्प की दृष्टि से हमको इसके अलौकिक रूप पर विचार करना है। बुन्देलखण्ड के प्रदेश में यह देवी के रूप में विख्यात है, किन्तु उपन्यास में वर्मा ने इसे देवीत्व की कोटि में रखकर भी मानवीय प्रेरणाओं से प्रभावित दिखाया है। कुमुद-गोमती वार्ता तथा कुमुद-कुंजर वार्ता ही इसके सम्पूर्ण चरित्र पर प्रकाश डाल देती हैं। कथाकार को अपनी ओर से कुमुद के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता बहुत ही कम पड़ी है। गोमती और कुंजर दोनों ही उसे देवी के रूप में देखते हैं और 'आप' कहकर संबोधित करते हैं, किन्तु वह दोनों को ही ऐसा करने का निषेध करती है। कुंजर तो उसके देवीत्व से इतना प्रभावित है कि प्रथम दर्शन में ही उसका भक्त बन जाता है, उसके तेजोमय स्वरूप की ओर उसकी आँखें नहीं उठतीं।

कुमुद को अपने अवतार का अभ्यास मात्र है, जिसके कारण वह मौन, चिन्तनशील और रक्तपात पर उदासीनता का रूप धारण करती है, किन्तु साधारण नारीत्व की कुण्ठा, वेदना और चिन्ता के भी वह वशीभूत है। इसका उदाहरण भी हमें सहज में ही मिल जाता है—गोमती की अनुनय विनय पर वह उसे वरदान देती है, "तुम्हारे राजा का राज स्थिर रहेगा। मंदिर बचेगा और अलीमर्दान की जय न होगी। तुम्हें इससे अधिक क्या चाहिए।" गोमती की इच्छा तो पूरी हुई, किन्तु कुमुद की चिन्ता और वेदना बढ़ गई जिसके फलस्वरूप उसने तुरन्त ही रुखाई के स्वर में कहा, "जाओ, सोओ। भविष्य में कभी फिर उस राजकुमार का वर्णन करोगी, तो अच्छा न होगा।"[25]

कुमुद अपने सौन्दर्याभिभूत, किन्तु सच्चे प्रेमी कुंजर के प्रति आकृष्ट है। एक वार्ता में वह अपनी मानवीय मनोभावनाओं को अभिव्यक्त करके कहती है, "अच्छा ऐसा फिर कभी न करना। मैं कोई अवतार नहीं हूं। साधारण स्त्री हूं। हां, दुर्गा मां की सच्चे जी से पूजा किया करती हूं। आप मुझे अवतार न समझें।"[26]

---

२३ विराटा की पद्मिनी परिचय—पृष्ठ २४६

२४ वही—पृष्ठ १४

२५ वही—पृष्ठ ११३

२६ वही—पृष्ठ २६१

कुमुद ने भीषण युद्ध देखा है, अतएव वह हिंसा के मूल कारण की खोज करती है और इस परिणाम पर पहुंचती है कि यह सब रक्तपात उसी के कारण हुआ है। अतः वह आत्महत्या करती है, यदि उसमें देवीत्व का अंश होता तो अपनी रक्षा के अतिरिक्त विराटा की जनता को भी भीषण हत्याकाण्ड से बचा सकती थी। समस्त उपन्यास में एक ही स्थल ऐसा है, जहां उपन्यासकार ने उसके दैविक रूप का चित्र खींचा है। देवी कुमुद का वर्णन करते हुए वर्मा जी लिखते है—"कुमुद चट्टान की टेक पर खड़ी हो गई। ऐसा जान पड़ा मानो कमलों का समूह उपस्थित हो गया हो—जैसे प्रकाश-पुंज खड़ा कर दिया हो। पैरों के पैजनों पर सूर्य की स्वर्ण-रेखाएं फिसल रही थीं। पीली धोती मन्द पवन के धीमे झकोरे से दुर्गा की पताका की तरह धीरे-धीरे लहरा रही थी। उन्नत भाल मोतियों की तरह भासमान था। बड़े-बड़े काले नेत्रों की बरौनियां भौंहों के पास पहुंच गई थीं। आंखों से झरती हुई प्रभा ललाट पर से चढ़ती हुई उस निर्जन स्थान को आलोकित-सा करने लगी। आधे खुले हुए सिर पर से स्वर्ण को लजाने वाली बालों की एक लट गर्दन के पास जरा चंचल हो रही थी। उस विशाल जंगल और नदी की उस ऊंचे चट्टान के सिरे पर खड़ी हुई कुमुद को देखकर कुंजर का रोम-रोम कुछ कहने के लिए उत्सुक हुआ।

वे चट्टान और पठारियां, वह दुर्गम और नीली धार वाली बेतवा, वह शांत भयावना सुनसान, वह हृदय को चंचल कर देने वाली एकांतता और चट्टान की टेक पर खड़ी हुई अतुल सौन्दर्य की यह सरल मूर्ति।

कुंजर ने मन में कहा—अवश्य देवी है। विश्व को सुन्दर और प्रेममय बनाने वाली दुर्गा है।"[२७]

शिल्प की दृष्टि से परखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि जहां भी कुमुद का दैविक रूप आया है, वहां वह वर्गगत पात्र का अभिनय करती है, स्थिर रहती है, बहुत कम बोलती है—भक्तों को वरदान-स्वरूप भस्म अथवा फूल देती है किन्तु; जहां पर इस चरित्र में कथाकार ने मानवीय संवेदनाओं, आवेगों तथा सहानुभूति की स्थापना की है, कुमुद वैयक्तिक बाना धारण करके सामने आती है और मानवीय दौर्बल्य को व्यंजित करने वाली क्रियाएं करती है। कुंजर को उसने पुष्प और भस्म दोनों ही वरदान रूप में दिए है; किन्तु रामदयाल को केवल मात्र भस्म देकर ही चल देती है। तारा की भांति इसने भी प्रेम की वेदी पर बलिदान दिया है। अपने आंचल से जंगली फूलों की माला कुंजर के गले में डालकर मानवीय प्रेम का परिचय दिया है।

कुंजर पद वंचित दासी-पुत्र राजकुमार है। यह ऐतिहासिक पात्र हीनता की ग्रन्थि (Inferiority Complex) का प्रतीक है। लज्जाशील होने के कारण इसका चारित्रिक विकास अवरुद्ध रह जाता है। इसका प्रेम भी मौन प्रेमी का भावोद्‌गार मात्र है, जो बहुत कम प्रस्फुटित हुआ है,—"यदि इन चरणों की कृपा बनी रहे तो मैं संसार-भर की एकत्र सामर्थ्य को तुच्छ तृण के समान समझूं। मुझे कुछ न मिले, संसार-भर मुझे तिरस्कृत,

---

२७. विराटा की पद्मिनी—पृष्ठ २६३

बहिष्कृत कर दे परन्तु यदि चरणों की कृपा बनी रहे, तो मैं समझूँ कि देवीसिंह मेरा चाकर है, नवाब मेरा गुलाम है। संसार भर मेरी प्रजा है।"[१८]

कुंजर की तुलना 'गढ़कुण्डार' के दिवाकर से की जाती है, किन्तु कुंजर में दिवाकर की सहृदयता, बलिदान भावना नहीं है—ईर्ष्या, क्रोध और राज्य लिप्सा उसे मन ही मन दग्ध रखते हैं किन्तु छोटी रानी सम सक्रियता और राजनैतिक पटुता इसमें नहीं है, जिसके कारण वह जीवन भर वंचित ही रहता है। देवीसिंह के प्रति उसका विनाशक रूप उसे ही विनाश के गर्त में डाल देता है।

रामदयाल की रचना औपन्यासिक चरित्र-गठन की परिचायक है। यह चरित्र तत्कालीन वातावरण की उपज है। राजा और नवाब अपनी विलासिता के साधन रूप में ऐसे पात्रों की टोह में रहा करते थे। अलीमर्दान उसे सदैव कोई बड़ा इनाम देने का प्रलोभन देता रहता है। वह भी परिस्थिति और पात्र के अनुरूप अपना रूप बदल कर उनसे बात करता है। नायकसिंह, अलीमर्दान, छोटी रानी और गोमती की समस्त आशाओं और आकांक्षाओं का यही एक केन्द्र साधन है।

रामदयाल, छोटी रानी, अलीमर्दान आदि पात्र वैयक्तिक चरित्र हैं। ये समय और स्थान के अनुसार अपना रूप बदलते हैं और गतिशील रहते हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक उपन्यासकारों की परम्परा में आने वाले दूसरे प्रमुख कथाकार डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। उन्होंने न केवल आलोचना तथा निबन्ध के क्षेत्र में ख्याति पाई है अपितु अपनी विशेष प्रतिभा के कारण सप्तम शती के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक वातावरण को वर्णनात्मक विधि द्वारा औपन्यासिक रूप भी प्रदान किया है। अपने प्रथम उपन्यास में लेखक ने बाणभट्ट के जीवन-संस्मरण प्रस्तुत किए हैं।[१] इस रचना द्वारा लेखक ने पाठक और आलोचक वर्ग को शंकापूर्ण स्थिति में डाल दिया। उपन्यास की भूमिका में यह लिखकर कि कथा की पाण्डुलिपि उन्हें शोण नदी के तट पर भ्रमण करते समय मिली और उन्होंने केवल सम्पादन कार्य किया, भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई। थैकरे के प्रसिद्ध उपन्यास 'हेनरी एसमंड' में भी ऐसा प्रयोग हुआ है। भूमिका के अन्त में मीठी चुटकी द्वारा इस भ्रम की निवृत्ति कर दी गई है। इस संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—'काल्पनिक अंश में द्विवेदीजी पूर्ण रूप से सफल हैं। उनकी कल्पना ने उस समय के वातावरण के पुनर्निर्माण में सहायता दी है।"[२]

बाणभट्ट की —१९४६

'बा[illegible] । आत्मकथा शिल्प की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक

१८ वही पृष्ठ २६०

१ [illegible] १९१[illegible] चारु चन्द्रलेखा अभी 'कल्पना' में धारावाहिक रूप में छपा है।

२ डॉ० [illegible] उपाध्याय कथा के तत्त्व—पृष्ठ १७८

अभिनव प्रयोग है। यह एकमात्र आत्म-कथा ही नहीं है, उपन्यास की नई दिशाओं का प्रतीक है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत आत्म-कथात्मक शैली में लिखा गया एकमात्र उदाहरण है। संस्कृत का प्रसिद्ध कथाकार और अमर गद्य ग्रन्थ 'कादम्बरी' का रचयिता बाणभट्ट ही इस उपन्यास का नायक है। कल्पनातीत वर्णनों से परिपूर्ण कथा का वाहक वह स्वयं बनता है।

बाण की सहज प्रफुल्लित प्रकृति, चित्रग्राहिणी प्रतिभा, कल्पनाप्रवान बुद्धि और असाधारण पाण्डित्य ऐतिहासिक महत्त्व की बातें है। इनके आधार पर एक ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण आचार्य हजारीप्रसाद सरीखे प्रतिभावान व्यक्ति के लिए सहज संभाव्य हो गया। इकहरी कथावस्तु का बाना पहनाकर उपन्यासकार ने इसे संगठित-वस्तु विन्यास (Novel Of Organic Plot) का रूप दे दिया है। समस्त घटनाओं को कलात्मक कौशल के साथ संयोजित किया गया है। इनका निकास और समीकरण एक ही पात्र में से होता हुआ अनेक दिशाओं और पात्रों को अपनी लपेट में संजोए हुए हैं। शृंखला-बद्ध होने के कारण सभी घटनाएं अपने निजी महत्त्व को अक्षुण्ण रखती है।

कविता में गाकर, नाटक में दिखाकर और कथा में कहकर साहित्यकार अपनी अर्जित अनुभूतियों एवं संस्मरणों को वाङ्मय का रूप देता है। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में बाण की जीवनगत अनुभूतियां बाण की वाणी द्वारा कहलाई गई हैं। कथा का मुख्य सूत्र बाण की नाट्य-मण्डली की नायिका निपुणिका से जोड़ा गया है। उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक निपुणिका बाण के साथ एक संरक्षक के रूप में बराबर चलती दिखाई गई हैं। इसके अवसान के साथ-साथ कथा का अवसान हो जाता है; क्योंकि कहने और सुनाने के लिए बाण के पास कोई शेष अनुभूति नहीं रहती।

प्रस्तुत उपन्यास में कथा-रस को अधिक सरस एवं सुग्राह्य बनाने के निमित्त उपन्यासकार ने उदात्त वर्णनों की रचना की है। इनमें से कतिपय वर्णन कल्पना-प्रसूत है, तो कुछ की समता 'कादम्बरी' के मनोहर वर्णनों से की गई है। जहा पर कादम्बरी अथवा अन्य किसी ग्रन्थ से मिलता-जुलता वर्णन दिया गया है, वहां पर नीचे पाद टिप्पणी देकर, उस ग्रन्थ से उद्धृत स्थल का परिचय देकर कथाकार ने ईमानदारी का पूरा-पूरा परिचय दिया है। कथा के आरम्भ में ही बाणभट्ट स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर की धूम-धाम और जलूस का वर्णन करता है, जिसका संक्षिप्त अंश उदाहरणतः दिया जाता है—"कूर्म-पृष्ठ के समान उन्नतोदर राजमार्ग पर एक बड़ा भारी जुलूस चला जा रहा था। उसमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। राजवधुएं बहुमूल्य शिविकाओं पर आरूढ़ थी। साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरण-विघट्टन जनित नूपुरों के क्वणन से दिगन्त शब्दायमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुज-लताओं के उत्तोलन के कारण मणिजड़ित चूड़ियां चंचल हो उठी थीं। इससे बाहुलताएं भी झंकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों को देखने से ऐसा लगता था मानो आकाश-गंगा में खिली हुई कमलिनियां हवा के झोंकों से विलुलित होकर नीचे उतर आई हों। भीड़ के संघर्ष से उनके कानों के पल्लव खिसक रहे थे।······साथ में नर्तकियों का भी एक दल जा रहा था। उनके हँसते हुए वदनों को देखकर ऐसा भान होता था कि कोई प्रस्फुटित कुमुदों का वन चला जा रहा है।

उनकी चचन हार लगाए जोर-जोर से हिलती हुई उनके वक्षोभाग से टकरा रही थीं, खुली हुई केशराशि सिन्दूर बिन्दु पर अटक जाती थी। निरन्तर गुलाल और अबीर के उड़ते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे और उनके मनोरम गान से सारा राज मार्ग प्रतिध्वनित हो उठा था सबके पीछे राजा के चारण और बन्दी लोग विरद गान गाते हुए जा रहे थे।" कथाकार ने यह वर्णन देकर नीचे पाद टिप्पणी में लिख दिया है कि यह वर्णन 'कादम्बरी' के शुकनास के पुत्रोत्सव कालीन भाषा से मिलता-जुलता है।

जिस प्रकार बाण रचित 'कादम्बरी' के वर्णन बेजोड़ और कथा-प्रवाह को गति देने में सहायक सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सभी वर्णन उदात्त कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इनके कारण उपन्यास की कथा की गति कहीं भी रुकती नहीं है अपितु कहीं-कहीं तो ये वर्णन दो घटनाओं को जोड़ने अथवा चरित्र की अपूर्व व्याख्या प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। बाणभट्ट के स्थाण्वीश्वर पहुँचने पर सुचरिता के गृह का वर्णन है। वहीं पहुँचने पर बाण सुचरिता द्वारा उसकी अतीत जीवनी सुनता है। सुचरिता से पूर्व वह इस कहानी के एक अंश को एक वृद्ध से सुन चुका है, किन्तु सुचरिता द्वारा कहानी का वर्णन अधिक सुचारु ढंग से कराया गया है। अपनी कहानी कहते-कहते सुचरिता चैत्र मास की बहार का वर्णन करने लगती है। जितनी मादकता वसन्त ऋतु में है, उससे कहीं बढ़कर इस वर्णन में प्रस्तुत की गई है। प्रांजलता, काव्यात्मकता और प्रवाह से परिपूर्ण यह वर्णन दो घटनाओं को भी जोड़ देता है, दो चरित्रों को मोड़ देता है। डॉ० हजारीप्रसाद के अपूर्व वर्णन-नैपुण्य से प्रतिफलित दो चित्र लिखित-सी मूर्तियाँ समीप से समीपतर हो जाती हैं। सुचरिता को अखण्ड सौभाग्य के रूप में अमितकान्ति की प्राप्ति हो जाती है।

सन्ध्या-वर्णन, मदन-पूजा-वर्णन, नागरिक गृह-वर्णन, जीर्ण गृह-वर्णन, मदन उत्सव-वर्णन, गंगा वर्णन, सुचरिता गृह वर्णन, वसन्त ऋतु-वर्णन, राज सभा का वर्णन, सौरभ ह्रद (सुरहा झील) वर्णन (कादम्बरी के पम्पा सरोवर से तुलनीय) आदि वर्णनात्मक प्रसंग 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' को वर्णनात्मक शिल्प विधान के अन्तर्गत रखने में विशेष सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इस शिल्प-विधि में उपन्यासों में कथा को विस्तारपूर्वक कहने और सुनने की जिज्ञासा अति स्वाभाविक है। निपुणिका-बाण भेंट के अवसर पर बाण उसे आप-बीती सुनाने को उतावला हो जाता है। निपुणिका सम्बन्धी बातें जानने की जिज्ञासा भी उसमें पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है। कृष्णकुमार बाण मिलन अवसर कुमार (कृष्ण कुमार) बाण की कहानी, भट्टिनी की कहानी आग्रहपूर्वक सुनता है। उसे अधिक सुनने की चाह बनी रहती है। तभी तो थककर बाणभट्ट कहता है—"मेरे पास कहने को बहुत कम था, वे सुनना बहुत अधिक चाहते थे।" इसी प्रकार सुचरिता का साक्षात्कार करने पर बाण

३ ... की आत्म-कथा —पृष्ठ ३४

(कादम्बरी में मन्त्री ... गृह वशपायल नामक पुत्र के जन्म अवसर पर जो उत्सव मनाया जाता है, ७ ... , ६७ पृष्ठ पर इसी प्रकार का है।)

४ बाणभट्ट ... —पृष्ठ १८, २०, २६, ३२ ३३, ६२-६३, १०६, १८१ १६०, २१० ... १६८, २६३-६४

भट्ट एक साथ ही उसके तथा विरति वज्र आदि के विषय मे वहुत कुछ सुनकर अपनी नाना चिताओं का समाधान पाता है। उसे अवधूत अवघोर भैरव तथा महामाया की कथा सविवरण पता लग जाती है; साथ ही पाठक के मस्तिष्क में कथा का यथार्थ चित्र स्पष्ट रूप में अंकित हो जाता है।

'वाणभट्ट की आत्म-कथा' आत्म कथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है, अतएव उपन्यासकार को प्रत्यक्ष रूप में पात्रों के विषय में कुछ कह सकने का अवसर ही नहीं मिलता। इसमें परोक्ष-विधि द्वारा पात्रों के भावों, कार्य-कलापों, राग-द्वेपों और विचारों का उद्घाटन किया गया है। पात्र स्वयं ही अपनी वार्ताओं द्वारा एक-दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते रहे है।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि की इस रचना मे चरित्र अंकन करते समय भी अपूर्व वर्णना नैपुण्य का परिचय दिया गया है। निपुणिका द्वारा आयोजित वाण-भट्टिनी सक्षात्कार के समय जिस अतुल सौंदर्य राशि के दर्शन नायक को प्राप्त होते है; उसे शब्द-वद्ध करते हुए वाण स्वयं कहता है—"उसकी धवल कान्ति दर्शक के नयन-मार्ग से हृदय में प्रविष्ट होकर समस्त कलुप को धवलित कर देती थी, मानो स्वर्णमन्दाकिनी की धवल धारा समस्त कलुप-कालिमा का क्षालन कर रही हो। मेरे मन में वार-वार यह प्रश्न उठता रहा कि इतनी पवित्र रूप-राशि किस प्रकार इस कलुष-धरित्री मे सम्भव हुई? निश्चय ही यह धर्म के हृदय से निकली हुई है। मानो विधाता ने शंख से खोद कर, मुक्ता से खीचकर, मृणाल से संवार कर, चन्द्रकिरणों के कूर्चक से प्रक्षालित कर सुधा-पूर्ण से धोकर, रजत-रस से पोंछ कर, कुटज-कुन्द और सिन्धुवार पुष्पों की धवल कान्ति से सजा कर ही उसका निर्माण किया था।......"[५] यह वर्णन भी कादम्बरी के महाश्वेता वर्णन (१३३-१३५) से मिलता-जुलता है।

वाणभट्ट ही इस उपन्यास का नायक है, जिसके वैभव का भावुकतापूर्ण चित्रण ही उपन्यास की विशेपता है। नारी-सम्मान हित स्वप्राणों की आहुति दे देने को तत्पर वाण में आत्म-सम्मान की भावना भी कूट-कूट कर भरी हुई है। भट्टिनी-महामाया कथोपकथन में वाण का संकेतात्मक चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है। भट्टिनी की यह पंक्ति—"मा, भट्ट इस पृथ्वी के पारिजात हैं, इस भवसागर के पुण्डरीक है, इस कंटकमय भुवन के मनोहर कुसुम है।"[६] वाण के समस्त चरित्र का संकेतात्मक उद्घाटन कर देती है। भट्ट के हृदय की पवित्रता और सरलता उसके आवारापन आदि दोपों को वसुधान-कोश के समान ढक लेती है। वाण टाइप न होकर वैयक्तिक चरित्र है, जिसके व्यक्तित्व का प्रसाद परिस्थितियों और मनो-कामनाओं की प्रेरणा के साथ-साथ हुआ है। वह अपने जीवजगत साहसिक कार्यों का विवरण स्वयं देता है।

पात्रों की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण वनाए रखने के लिए उन्हें तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण के अनुकूल गढ़ा गया है। आर्यवर्त के विनाश को

---

५. वाण भट्ट की आत्म-कथा—पृष्ठ २६-२७

६. वही—पृष्ठ १४२

निकट देखकर बाणभट्ट अपने मान अपमान और सिद्धान्तों को तिलांजली देकर महाराजाधिराज हर्ष का दौत्य स्वीकार करता है तथा भट्टिनी को कान्यकुब्ज में सम्मानपूर्वक लाकर राज्यश्री के आतिथ्य का स्वीकार करने का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य सम्भालता है। यद्यपि इस भावुकतापूर्ण कार्य के लिए उसे भट्टिनी के सम्मुख लज्जित होना पड़ा। महाराज हर्षवर्धन के व्यवहार में जो परिलक्षित होता है, वह भी निश्चय ही परिस्थितिजनित ही है। राष्ट्र-प्रेम से अभिभूत होकर कृष्णकुमार सरीखे शठ भी आत्म-परिष्कृति का अवसर पा लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपन्यास के कुछ पात्र वैयक्तिक हैं और गति-शील (Dynamic) प्रकृति के हैं। इसमें पुरुष पात्र ही अधिक है, जो गति-शील हैं। स्त्रियां स्थिर रहती हैं।

'बाणभट्ट की आत्म कथा' में पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्री पात्र अधिक सशक्त और गौरवपूर्ण ढंग से चित्रित किए गए हैं। महामाया, निपुणिका, भट्टिनी और सुचरिता सभी टाइप हैं और अपने-अपने सिद्धान्तों पर अटल रहती हैं। भट्टिनी के विषय में बाण कृष्ण-कुमार से कहता है—"वे हिमालय से भी अधिक महीयसी और समुद्र से भी अधिक गम्भीर हैं।'[7] प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता निपुणिका के बलिदान अवसर पर बाण की अस्त-व्यस्त मन स्थिति को संयत करने के लिए निउना के गौरवपूर्ण चरित्र को इन शब्दों में उद्धृत करती है— 'निपुणिका स्त्री जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी, हमारी जैसी उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी।'[8] त्याग, सेवा और संयम की साक्षात् मूर्ति निपुणिका दृढ़ प्रतिज्ञ थी। अपने को निःशेष भाव से दे देने में ही जीवन की सार्थकता मानती थी, अतएव उसका बलिदान उसकी कथनी और करणी के साम्य का ज्वलन्त उदाहरण है, उसकी चारित्रगत स्थिरता का प्रतीक है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

ऐतिहासिक वर्णनात्मक शिल्प विधि के कथाकारों में आचार्य चतुरसेन विशिष्ट स्थान रखते हैं। परिमाण की दृष्टि से इनसे बढ़ कर उपन्यास रचने वाला अन्य कथाकार विरला ही मिलेगा। इन्होंने चार बृहद् ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें प्रथम 'वैशाली की नगर वधू' का प्रकाशन दो भागों में क्रम से १९४८ और १९४९ में हुआ। इस उपन्यास की वर्णनात्मकता असंदिग्ध है। उपन्यास के ७८७ पृष्ठों में बौद्धयुगीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक परिस्थितियों का व्यापक चित्रण वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा संयोजित हुआ है। भौगोलिक विस्तार देखना हो तो गांधार से लेकर मगध तक फैले वज्जियों, मल्लों एवं शाक्यों के गणराज्यों में देखिए, राजनैतिक ऊहापोह पढ़नी हो तो अवन्ती, कोशल, वत्स एवं मगध के प्रभुत्वशाली सम्राटों के महलों में होने वाले षड्यन्त्रों के विवरण को पढ़िए, नैतिक एवं सामाजिक दशा परखनी हो तो लिच्छवियों के वज्जीसंघ की राजधानी वैशाली की परम्पराओं का अवलोकन कीजिए।

---

७ बाणभट्ट की आत्म कथा—पृष्ठ १०१
८ वही—पृष्ठ ३१०

प्रस्तुत उपन्यास में ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव है, किन्तु पात्रों की यथार्थता एवं ऐतिहासिक रस की उपलब्धि निर्विवाद है। सम्राट विम्वसार, महामात्य वर्षकार, आचार्य शाम्बव्य, कश्यप, विष कन्या, कुण्डली, सम्राट प्रसेनजित, तक्षशिला से शस्त्रों एवं शास्त्रों में पारंगत होकर लौटा सोम, आर्या मातंगी आदि पात्र ऐतिहासिक है, किन्तु इन्हें वर्णनात्मक विधि से प्रस्तुत करने के निमित्त देश-काल में अन्तर डालने वाली सीमाओं से ऊपर रखकर संयोजित किया गया है। मगध केन्द्रीय सत्ता-सम्पन्न राज्य माना जाता था। उसके सम्राट विम्वसार वृद्ध एवं राजनीति के प्रति उदासीन, महत्वाकांक्षाहीन व्यक्ति के प्रतीक है। महा अमात्य वर्षकार कूटनीतिज्ञ, शासन चाहने वाले वर्ग के प्रतिनिधि है। इधर कोशल सम्राट प्रसेनजित विलासी राजवर्ग का प्रतिनिधित्व करते है। वे विदूडभ के षड्यन्त्रों का शिकार होते है। अम्वपाली वैशाली की नगर वधू और कथा की केन्द्र है। उत्तरार्द्ध में सम्पूर्ण कथा उसके सहारे वहती है, जिससे औपन्यासिक शिल्प की वृद्धि हुई है।

प्रस्तुत उपन्यास मे नगर, मधुपर्वोत्सव, आखेट, नारी-लालित्य आदि प्रसंगों के अन्तर्गत लम्बे-लम्बे वर्णन भरे पड़े है। ऐसे प्रसंगों के आते ही मूल कथा परे हट गई है। अनेक घटनाओं को प्रत्यक्ष रखकर उनके प्रसंग का लाभ उठाकर कथाकार तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक तथा नैतिक परिस्थितियो तथा दशाओं की व्याख्या करने लग जाता है। इसके घटना-वाहुल्य पर टिप्पणी करते हुए एक आलोचक लिखते है—"संक्षेप मे इस उपन्यास मे, विविध प्रसंगों की रोचकता के कारण कथा इतनी रोचक तो नहीं होने पाती है, परन्तु घटनाओं का भारी संयोजन जासूसी उपन्यास के कथानक की भांति है।"[1] मेरे विचार में इसके कथा रूप की संक्षिप्तता तथा तत्कालीन राष्ट्रीय चित्रों का आधिक्य ही उपन्यास का प्राण है। इस संवंध में एक-दूसरे आलोचक का मत उद्धृत किया जाता है—"इस उपन्यास के अन्दर मूल कथा का स्थान अत्यन्त गौण है। उपन्यासकार ने तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक परिस्थितियो के चित्रों को अति स्पष्ट रूप में उभार कर रखने का प्रयत्न किया है। इस उपन्यास के द्वारा इस वात पर अच्छा प्रकाश पड़ जाता है कि उस काल में नगर कम और गांव अधिकांश सम्पन्न थे—इस प्रकार पौरोहित्य तथा मन्त्रित्व दोनों के द्वारा देश की सारी की सारी सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था पर ब्राह्मण धर्म का एकमात्र प्रभाव स्थापित करने की योजनाएं नित्य वनती रहती थीं, जिससे देश का वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा था।"[2] आलोचक का यह कथन तथ्यपरक है। प्रस्तुत उपन्यास मे राज्यों और गणराज्यों की तत्कालीन व्यवस्था पर ही विस्तार से प्रकाश डाला गया है। कथा तो उसका साधन वनकर गौण रूप धारण कर लेती है। साध्य तत्कालीन भारत का वर्णनात्मक चित्रण है, जिसमें उपन्यासकार को सफलता मिली है। कथा एक राज्य से संवंधित न होने के कारण अनेक राज्यों एवं राजन्य

---

१. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास—पृष्ठ ३३०

२. डॉ० त्रिभुवनसिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—पृष्ठ १८३

वर्गों की व्याख्या लेकर सामने प्रस्तुत हुई है, जिनके अन्तर्गत युद्धों के मर्मस्पर्शी वर्णन सामने आए हैं। वैशाली के महायुद्ध के वर्णन के विषय में एक आलोचक लिखते हैं—'शास्त्रीजी ने वैशाली के महायुद्ध का जो वर्णन किया है, उससे आधुनिक रासायनिक एवं कृमि युद्ध (Chemical germ warfare) और रथ मूसल, महाशिला रॉकेट जैसे रथों अस्त्रों, विविध प्रकार के टैंकों का आभास उत्पन्न होता है।"[1]

चतुरसेन इतिहास रस के विख्याता थे और इसे दसवाँ रस मानते थे। उन्होंने अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में भी आपने इस दृष्टिकोण को अपनाकर वर्णनात्मक शिल्प विधि में रस व्याप्त किया है।

वर्णनात्मक शिल्प विधि में लिखने वाले ऐतिहासिक उपन्यासकारों में महापंडित राहुल सांकृत्यायन जययौधेय सिंह सेनापति, (मधुर स्वप्न) और डॉ० रांगेय राघव, (मुर्दों का टीला) भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। श्री यशपाल द्वारा रचित 'दिव्या' ऐतिहासिक उपन्यास नाटकीय शिल्प विधि में रखा गया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बेकसी का मज़ार' १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता आंदोलन के विषय पर लिखा गया वर्णनात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास है। इसी विधि में सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'आचार्य चाणक्य' नामक उपन्यास लिखा है। डॉ० यतीन्द्र दुबे द्वारा रचित 'आचार्य चाणक्य' भी इसी परम्परा की रचना है।

आंचलिक उपन्यासकार : नागार्जुन, रेणु, भट्ट

हिन्दी उपन्यास जगत में सबसे अधिक चर्चा आंचलिक साहित्य की हुई है। आज के नये आलोचकों की चर्चा परिचर्चा का विषय आंचलिक प्रयोग है। एक आलोचक लिखते हैं,—'विगत एक दशक में हिन्दी साहित्य के कथा क्षेत्र में मूल रूप में दो प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं। एक है प्रेमचन्द की परम्परा को नये रूप, नये विधान और नये शिल्प के सहारे देश और काल की वर्तमान सीमा के योग्य बनाना और दूसरी है अपने 'व्यक्ति' को समाज पर आरोपित करते हुए, व्यक्ति की सत्ता को सर्वोपरि बनाकर, उसे साहित्य में प्रतिष्ठित करने का यत्न करना : आज के व्यक्तिवादी विघातक साहित्य के विरुद्ध और प्रेमचन्द युग की जर्जर और टूटती हुई परम्पराओं का मोह छोड़कर नये युग के नये आयामों को अपनी समर्थ लेखनी से सामने उभार कर लाने का काम इस तीसरी धारा ने किया है, जिसे 'आंचलिक साहित्य' कह सकते हैं।"[1] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक के मतानुसार आंचलिकता का महत्व प्रवृत्ति तक सीमित है। समाज और व्यक्ति के साथ-साथ अंचल भी उपन्यास साहित्य का प्रतिपाद्य हो है, किन्तु इसके द्वारा किसी शिल्प का आयोजन हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। व्यक्ति चित्रण के आधिक्य द्वारा विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के प्रयोग हुए, किन्तु अंचल विशेष को प्रमुखता देने के कारण किसी नये शिल्प का प्रयोग हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। पर्दा चित भूमियों और अज्ञात जातियों का वैविध्यपूर्ण

---

२ डॉ० जगदीश गुप्त : आलोचना उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ १८१

१ राजेन्द्र अवस्थी तृषित - 'सारिका' अक्तूबर १९६०

चित्रण कर देने से कोई शिल्पगत नवीनता नहीं आ जाती। इसलिए शिल्प के क्षेत्र में आंचलिकता को तीसरी धारा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। नागार्जुन, रेणु और भट्ट प्रवृत्ति आचलिक उपन्यासकारों ने वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाया है।

आंचलिक उपन्यास का शिल्पगत मूल्यांकन करने पर प्रस्तुत प्रबन्धकार को वर्णनात्मक शिल्प-विधि का आधिक्य दृष्टिगोचर हुआ है। आचलिक लेखको द्वारा किसी न किसी जनपद या प्रान्तीय क्षेत्र विशेष का वर्णनात्मक चित्रण प्रस्तुत हुआ है। भीतरी सवेदना या वैयक्तिक कुंठा का विश्लेषण या कथा का प्रतीकात्मक निर्वाह बहुत कम मात्रा में पढ़ने को मिलता है। भाषागत प्रयोग कथाकार की वैयक्तिक रुचि, संस्कार और शैली के परिणाम है। आंचलिकता का सबसे बड़ा दोष व्यक्ति की सत्ता को अधिक महत्ता न देकर समाज के प्रति विषय प्रधान (Objective) दृष्टिकोण अपनाना रहा है। इस नाते भी कोई शिल्पगत नवीनता नही आयी। यह कार्य वर्णनात्मकता को प्रश्रय देकर सिद्ध हुआ है। आंचलिक कथा स्वभावतः सामाजिक है, उसकी सृजन-प्रक्रिया वर्णनात्मक हैं, जिसमें अंचल के समस्त चित्र उतारने की सफलता आचलिक उपन्यासकारो को मिली है।

बलचनमा—१९५२

'बलचनमा' पात्रमुखोद्गीरित आत्मकथा के रूप मे लिखा गया एक आंचलिक उपन्यास है। नागार्जुन की यह रचना वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत आती है। इसमे बिहार प्रांत के दरभंगा जिले के शोषक ज़मीदारों का वर्णन बलचनमा द्वारा वर्णित किया गया है। बलचनमा ही उपन्यास का नायक है, जो दरभंगा के एक निम्न श्रेणी देहाती का पुत्र है। वही अपने जीवन की घटनाओं द्वारा शोषक वर्ग के अत्याचारो का विवरण प्रस्तुत करता है। अपने जीवन की प्रथम स्मृति रूप में ही शोषण का एक वर्णन उसने इन शब्दों में वर्णित किया है—"मालिक के दरवाज़े पर मेरे बाप को एक खंभेली (पतला खम्भा) के सहारे कसकर बांध दिया गया है। जांघ, चूतर, पीठ, और बांह—सभी पर बांस की हरी कैली के निशान उभर आए है। चोट से कहीं-कही खाल उधड़ गई है और आंखों से बहते आंसुओं के टंधार (बहाव) गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए है···चेहरा काला पड़ गया है। होंठ सूख रहे है। अलग कुछ दूर पर छोटी चौकी पर यमराज की भांति छोटे मालिक बैठे हुए है। दाएं हाथ की अंगुलियां रह-रहकर मूछो पर फिर जाती है···"[२]

'बलचनमा' में उस क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा का प्रयोग हुआ है। गाली-गलौच ही नही, साधारण बोल-चाल की वार्ता मे भी क्षेत्रिय भाषा का पुट है। पात्रों के चरित्र वर्णन में बाह्य आकार, रूप, वेश-भूषा आदि का विस्तार पाया जाता है—जैसे, "वह नौकरानी बड़ी मुहफट थी। मलिका इनके मायके की रहने वाली, देखने में खूबसूरत। गोरी और छरहरी। दोनों बाहों पर बांसुरी बजाते हुए बांके बिहारी कृष्ण गोदे हुए थे। ठोड़ी पर बाईं ओर तिल गोदा हुआ था, कपार पर बिन्दी। गरदन में चांदी की मोटी

---

२. बलचनमा—पृष्ठ १

हसली थी। बाहों में बाजूबंद थे, नाक के छेद में सोने का छर (कील) था। कलाइयों में लाह की मोटी मोटी चार चूड़ियाँ बड़ी भली लगती थीं। पैर खाली थे। हाँ, उन पर पीपल के पत्ते की शकल का गोदना गोदा रखा था। चौड़े पाट की साफ साड़ी पहन कर जब वह बाहर निकलती तो और भी खूबसूरत लगती। ढीठ वह इतनी थी कि अकेले में पाकर जाने कितनी दफे इन गालों को उसने चूम लिया था।[3]

जमींदारों के शोषण का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है, जिसकी तुलना 'गोदान' से की जा सकती है। जैसे 'गोदान' में जमींदार और सूदखोर लोग होरी आदि पात्रों के खेत का अन्तिम दाना तक लेकर तृप्त नहीं होते, ऐसे ही बलचनमा की मालकिन बेचारी मिसराइन से उसकी टोकरी बिलकुल खाली करवा लेती है और वह कहती है, "भगवान इनका पेट है कि अगम कुआँ।"[4] यह कोई नई बात नहीं है। जमींदारी का उद्देश्य किसानों को भूमि से वंचित रखने का इतना नहीं है, जितना जीवन को नित प्रतिदिन की सुख-सुविधाओं से दूर रखना।

बलचनमा ने देहाती जीवन के साथ नागरिक जीवन की अनुभूतियाँ भी अर्जित कीं। वह फूलबाबू के साथ पटना जाता है। वहाँ वह विभिन्न राजनैतिक दलों की कार्य-प्रणाली तथा जन-नायकों की जीवनचर्या को अति निकट से देखता है। राधे बाबू की बातें और स्वामी सहजानन्द के भाषण उसने बड़े ध्यान से सुने हैं। जीवन की असाधारण और अप्रत्याशित घटनाओं एवं अनुभूतियों को उसने आत्मसात कर लिया है। उसके चरित्र में असाधारण त्वरा आ गई है जो यथार्थ एवं उपयुक्त पृष्ठभूमि पर आधारित है। आलोचक मानोसिंह के मतानुसार बलचनमा की चरित्रगत त्वरा असाधारण तो है, किन्तु उपयुक्त पृष्ठभूमि से वंचित है। वे लिखते हैं—"बलचनमा के चरित्र में फिर भी आखिर में असाधारण त्वरा आ गई है। जमीन के संघर्ष में जिस प्रकार वह नेतृत्व करता है और बुनियादी बातों की पकड़ जितनी दृढ़ हो जाती है, उसके लिए कुछ और भी उपयुक्त पृष्ठभूमि बनानी चाहिए थी।"[5] प्रस्तुत शोधवेत्ता के मतानुसार यह पृष्ठभूमि पर्याप्त है। 'बलचनमा' एक वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है और इसमें मैथिल परिवेश के जीवन की छोटी से छोटी घटना का चित्रण भी अति विस्तार के साथ किया गया है। नायक की अनुभूतियाँ सीमित नहीं हैं। हर अनुभूति ने उसे एक नया पाठ पढ़ाया है और उसके परिवर्तित गतिशील चरित्र के लिए पृष्ठभूमि तैयार की है। उसमें मानवीय संवेदना पूर्ण रूप में विद्यमान है, किन्तु इसी मानवीय संवेदना का अभाव उसे अपने निकटवर्ती समाज और व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होता है। उसके जमींदार मालिक उसकी सयानी बहन रेवती को छेड़ते हैं, यह घटना उसके लिए अप्रत्याशित नहीं है, क्योंकि वह जमींदारों के पाशविक रूप से परिचित है, किन्तु जब वह भागकर अपनी जान बचाता हुआ फूलबाबू के पास पहुँचता है और उनसे सारी घटना का सार कहता है, वे भी इस मामले

---

३ बलचनमा—पृष्ठ १८-१९

४ वही—पृष्ठ २४

५ मानोसिंह आलोचना—उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ २१०

की अवज्ञा कर देते है, तव उसके पाव तले से धरती खिसक जाती है, यह उसके जीवन की नवीनतम अनुभूति है जो उसके संस्कारों, विश्वासो और सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन ले आती है। उसे क्रान्ति की ओर अग्रसर करती है। वह अपने स्वत्व के लिए मर मिटने को तैयार हो जाता है।

'वलचनमा' मे हमें मैथिल भूमि के रहन-सहन, रीति-नीति, संस्कृति, धर्म, भाषा और लोकगीतों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण पढने को मिलता है। यहां लेखक ने जीवन को उसके यथार्थ रूप में केवल पकड ही नहीं लिया, अपितु उसे वर्णनात्मक शिल्प-विधि की टोन भी दी है। गांव से नगर को वड़ी आशा, आकांक्षा और लालसापूर्ण दृष्टि से ताक रहा व्यक्ति; नगर से गांव को नवीन अनुभूति लेकर लौट रहा आदमी हमे यहां देखने को मिलता है। इसमें स्थानीय (Local) प्रचलित शब्दों, वोलियों, मुहावरों, लोकोक्तियों तथा किम्वदन्तियो का प्रयोग, लोकगीतो का माधुर्य स्थल-स्थल पर जुड़ा हुआ मिलता है। स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते समय लेखक ने एक विशेष वात का ध्यान रखा है, उसने शब्द का अर्थ नीचे रेखांकित कर दे दिया है—जैसे डाकपीन (पोस्टमैन) वरमवध, (ब्रह्मवध) हत्या का पाप।

वावा वटेसरनाथ—१९५४

'वावा वटेसरनाथ' नागार्जुन का वहुचर्चित उपन्यास है। कोई इसे आंचलिक, कोई प्रतीकात्मक और कुछ इसे समाजवादी रचना मानते है। प्रस्तुत प्रवन्ध के लेखक के मतानुसार इस उपन्यास का शीर्षक और आरम्भिक चित्रण ही प्रतीकात्मक है, शेप रचना वर्णनात्मक शिल्प-विधि अनुसार रची गई है। इसमें विहार प्रान्त के दरभंगा जनपद का रूपउली ग्राम अपनी समस्त आंचलिक विशेषताओं के साथ वर्णित हुआ हैं। इसी रूपउली ग्राम में एक वट वृक्ष है जो जनपद मे वावा वटेसरनाथ के नाम से प्रचलित है। इसका आरोपण नायक जैकिसुन के परदादा द्वारा हुआ है, इसीलिए जैकिसुन को इस पर अपार आस्था है और इसे इससे अपार स्नेह है। वट वृक्ष मानव रूप धारण करके जैकिसुन को इस जनपद के इस ग्राम की चार पीढ़ियों की कथा सुनाते है।[1] वट वृक्ष के मानव रूप धारण कर लेने को ही प्रतीक मानना हो तो मान लीजिए, अन्यथा सारी कथा में इस प्रतीक का निर्वाह नहीं किया गया। वट वृक्ष वहुजन हितकारी है, किन्तु किसी रूपक का वाहक नही है। इसके द्वारा कथा कहलाना एक उदात्त कल्पना अवश्य है, किन्तु यह किसी वड़े प्रतीक की योजना नही कही जा सकती।

प्रस्तुत रचना में रूपउली की कथा का पूर्वार्घ जो इसके विगत से संवंधित है, वट वृक्ष द्वारा वर्णित हुआ है, शेप इतिहास का वर्णन, जिसका संवंध वर्तमान से है, जैकिसुन मुखोद्गीरित है। ये दोनों वर्णन कहीं भी सांकेतिक नहीं है। प्रतीकात्मक शिल्प-विधि सांकेतिक भाषा का पहनावा पहनती है, जिसका यहां अभाव है। रूपउली की वस्ती का

---

१. वावा वटेसरनाथ—पृष्ठ १६-१८, १९-२५, ३३, ४५-४७, ५३-५७, ९३-१०५

विवरण, शिव-मन्दिर का चित्रण और ग्रामीणो की श्रद्धा का ब्योरा, ग्रामवासी सोहसियों का वर्णन, जमीदार और उनके गुर्गों की ज्यादतियाँ, अकाल प्रकोप, असहयोग आन्दोलन वर्णनात्मक शिल्प के द्योतक हैं। भूचाल और बाढ़ का ब्योरेवार वर्णन, देवी-देवताओं के प्रति जनता का अन्धविश्वास, पशु-बलि के रोमांचकारी दृश्य, कहीं भी सांकेतिक भाषा में नहीं दिए गए। बरगद के नीचे जुटने और कतिपय निर्णय लेने वाली पंचायतों के विवरण भारी भरकम हैं, व इस रचना को वर्णनात्मक अधिक और प्रतीकात्मक कम कर देते हैं। टुनाई पाठक व दादा जयदेव पाठक के चरित्र का रेखाचित्र नहीं, अपितु पूर्ण विवरण हमें पढ़ने को मिलता है।

जहां तक शोषक का संबंध है वह अवश्य प्रतीकात्मक है। वट वृक्ष भारतीयों की दृष्टि में शान्ति, सुख और समृद्धि का प्रतीक है। इसकी पूजा परम श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सम्पन्न होती है। अपने प्रति जनसाधारण की आस्था को अटूट बनाए रखने के लिए बटेसरनाथ एक स्वप्न का आश्रय लेते हैं, जिसके फलस्वरूप जनता में भक्ति भाव, पूजा-पाठ और अटल श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। टुनाई पाठक और जैनारायण उसे जमींदार से खरीदकर कटवाना चाहते हैं, यहीं से उपन्यास में संघर्ष और वास्तविकता आ जाती है। वट वृक्ष जैकिसुन को स्वप्न की बात बताकर केवल डराना ही नहीं, उसमें सहज सहानुभूति और मानवीय संवेदना भी जागृत करना चाहता है। किसान संगठन इस नवोदित मानवीय संवेदना का परिणाम है। जब जैकिसुन विगत युग की वास्तविक स्थिति से परिचित हो जाता है तब वह वर्तमान युग की गति-विधि का पूर्ण निरीक्षण करता है। बाबा बटेसरनाथ द्वारा बाबा गांधी के कांग्रेस संगठन और असहयोग आन्दोलन में उस देश की राजनैतिक हलचल का विवरण मिलता है। जीवनाथ, दयानाथ और जैकिसुन आदि युवक मिलकर किसान संगठन को दृढ़ बनाते दिखाए गए हैं। उपन्यास के अन्तिम शब्द 'स्वाधीनता—शान्ति—और प्रगति हैं जो साम्यवादी विचारधारा को प्रकट कर रहे हैं।' साम्यवादी विचारधारा का प्रबल समर्थक लेखक बरगद बाबा के अवतारवाद के सिद्धान्त का समर्थक नहीं हो सकता, अतएव उसे वह एक प्रतीक रूप में नहीं, जन आन्दोलन के कथावाहक रूप में अपना रहा है। वह जैकिसुन और अन्य युवकों का पथ-प्रदर्शक है, उनमें क्रान्ति की नई ज्वाला भड़काने वाला है।

'बाबा बटेसरनाथ' में हमें मैथिल प्रदेश की अमराइयों, झील, पोखर, वट-वृक्ष की छाँव और चाँदनी रागपूर्ण प्राकृतिक छटा के साथ वर्णनात्मक शैली में पढ़ने को मिलती है। इसमें अतिवादी व्यक्तिवादी कलाकृति का विश्लेषण या प्रतीकवादी स्वप्नों के संकेत और कल्पनाएं नहीं हैं, ठोस यथार्थ अंचल की जलसंस्कृति, ग्राम, वन, उपवन और ताल की सुखी वायु का शुक्ल और अंधकार पक्ष रूपउली ग्राम के पुरखे—उनके बैर विरोध हास्य रुदन, द्वन्द्व और आस्थाएं तथा युवकों का वामान दृष्टिकोण, उनका बल, उनकी दृढ़ता, उनका तेज मधुर वर्णनात्मक चित्रों से भरपूर रूप में देखने को मिलता है। भाषा की सराजकता भी इसमें 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध' और 'बलचनमा' से कम है। भाषा सरल, आकर्षक और मुहावरेदार है, अनगढ़, अजनबी और भारी भरकम नहीं। इसमें न तो जनपदीय शब्दों का बाहुल्य है, न अरोचक संवाद। भाव अभिव्यंजक शैली में बड़े

गए हैं। गीतों की संख्या भी उपन्यास में कुल दो हैं। 'बाबा बटेसरनाथ' पूरी तरह से प्रतीकात्मक शिल्प-विधान को भले ही न अपना पाया हो, किन्तु एक वैचारिक क्रान्ति का उद्बोधक अवश्य बन गया है। मनुष्य बोलते देखे गए है, प्रेत भी बोलते है, किन्तु वृक्ष का बोलना और ठोस बातें कहना हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में रूप-शिल्प की दृष्टि से नया प्रयोग है।

वरुण के बेटे—१९५७

मछुओं के जीवन से संबंधित उपन्यास हिन्दी साहित्य में कम ही रचे गए है। नागार्जुन के इस उपन्यास में मछुओं के जीवन का यथार्थ चित्रण वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा सम्पन्न हुआ है, कोसी के प्रकोप से त्रस्त अंचल अब अकाल और मलेरिया के प्रकोप से त्रस्त था। गढ़-पोखर सैकड़ों मील का जलाशय मछलियों का अमित भंडार ही इन मछुओं का जीवनाधार था, किन्तु इस पर जमींदारों की एक मात्र सत्ता, इनके जीवन की भी नाना समस्याएं थी। इस समस्या से छुटकारा पाने के निमित्त नागार्जुन ने इस रचना में भी राजनीतिक गति-विधि का सन्निवेश जुटा दिया है और किसान सभा आदि का वर्णन किया है। मोहन के द्वारा दिया गया ओजपूर्ण भाषण वर्णनात्मक शिल्प का ज्वलन्त उदाहरण है।[1] मोहन का यह भाव मैथिली भाखा मे दिया बताया गया है, जो आंचलिकता का द्योतक है। सिंगी, मंगुरी, कवहू, लाल मुह वाली रेहू आदि मछलियों की नामावली और इनको पकड़ने की विधि वर्णनात्मकता की वृद्धि कर रही है। ऊपर टान, हुइयो—बाएं दबके हुइयो,—ढ़ीलरस्सा, हुइ हो वाला गीत न केवल लोक-गीत है, अपितु श्रमिकों को प्रेरणा देने वाला एक आंचलिक प्रयोग भी है, मधुरी-मंगल प्रेमालाप, मधुरी का आदर्श, मंगल का परिवर्तित परिस्थिति को अपनाना, मधुरी की विदाई का वर्णन विशिष्ट जनपद के जीवन की यथार्थ झलक प्रस्तुत करने वाली बातें है। भोला का त्याग, खुरखुन की अलहड़ता, मोहन का तेज प्रस्तुत रचना को दीप्ति प्रदान कर रहे है, मैथिली के मधुर गीत' जिनगी भेल पहाड़, उमिर भेल कासन नइ फेऽलइ फेकऽआहे मोर दिलचन (जीना हुआ मुश्किल, जवानी हुई घातक, न डालो, न डालो ओ मेरे दिल के चाद—पृष्ठ २२) मन को गुदगुदा देने वाले आंचलिक प्रयोग है, जो राजनैतिक हलचलो के साथ-साथ मन की पीड़ा के चित्र प्रस्तुत करते है।

दुखमोचन—१९५८

वर्णनात्मक शिल्प-विधि की इस रचना में आंचलिकता के साथ-साथ सार्वदेशिक स्थिति का विवेचन भी उपलब्ध होता है, गांव की गुटबन्दी केवल टमका कोइली की गुटबन्दी नही है, देश के नाना गांवों की यथार्थ स्थिति है। इसी गांव का पला हुआ मुसीबतो का मारा दु:खमोचन एक टाइप पात्र है जो कही और भी उपलब्ध हो सकता है। नित्या बाबू जैसे परम्परा के पुजारी देश में करोड़ों की संख्या में विद्यमान हैं। टमका कोइली की पंचायत

---

१. वरुण के बेटे—पृष्ठ ३९

देश की अन्य पंचायतों से किसी अर्थ में विभिन्न प्रकार की नहीं है। जात-पांत का टंटा, खानदानी घमण्ड, दौलत की धौंस, अशिक्षा का अंधकार, लाठी की अकड़, नफरत का नशा और परम्परा का बोझ इसी पंचायत की विरासत नहीं कही जा सकती। सेवा, त्याग और आदर्श की अग्नि दुखमोचन को अति मानव बनाने में समर्थ होती है। नये युग के नये आयाम और नई स्फूर्ति उसमें प्रतिपल विद्यमान रहती है। उपन्यास की सब घटनाएं उसे केन्द्र में रखकर वर्णित हुई हैं। आग लगने की घटना उसे उसके आदर्शों से नहीं गिराती। वह सच्चा जन-सेवक बनकर गांव के सुधार की योजनाएं तैयार करता है। उपन्यास का अन्त ग्राम में कन्या पाठशाला के निर्माण और उसमें ग्राम के सबसे वृद्ध पूर्वज बौनू चाचा द्वारा ध्वजारोहण और छात्रा द्वारा गाए 'वन्दे मातरम्' गीत द्वारा होता है। 'दुखमोचन' का अन्तर नागार्जुन के अन्य उपन्यासों से इसके चरित्र-प्रधान और सार्वदेशिक होने में है। इस रचना में आंचलिकता कम होती गई। साम्यवादी विचारधारा भी गौण हो गई है।

मैला आंचल—१९५४

'मैला आंचल' की प्रसिद्धि का मात्र कारण हिन्दी कथा साहित्य में आंचलिक चित्रण के अभाव की पूर्ति माना जाता है। इसमें भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित बिहार प्रान्त के पिछड़े ग्राम मेरीगंज का वृहद वर्णन मिलता है। अतः शिल्प की दृष्टि से अध्ययन करने पर मैंने इसमें वर्णनात्मक शिल्प-विधान की समस्त विशेषताएं देखी हैं। रेणु ने इस रचना में मिथिला के इस अंचल का, बिहारी ग्राम्य जीवन का अल्प शिक्षित निम्न वर्ग की भावनाओं, समस्याओं और कुण्ठाओं का एक व्यापक चित्र अंकित किया है।

'मैला आंचल' की समस्त घटनाएं मेरीगंज की जनता से सम्बन्धित हैं और पूर्णिया जिले की सीमाओं में आबद्ध रहती हैं। उपन्यास के आरम्भिक पृष्ठों में इस जिले के ग्रामों का संकेतात्मक वर्णन करने के पश्चात् रेणु की तूलिका मेरीगंज पर आकर केन्द्रित हो गई। मेरीगंज का वर्णन इन शब्दों में अंकित हुआ है—"ऐसा ही एक ग्राम है मेरीगंज। रौतहट स्टेशन से सात कोस पूरब, बूढ़ी कोशी को पार करके जाना होता है। बूढ़ी कोशी के किनारे किनारे बहुत दूर तक ताड़ और खजूर के पेड़ों से भरा हुआ जंगल है। इस अंचल के लोग इसे 'नवाबी तड़बन्ना' कहते हैं। किस नवाब ने इस ताड़ के वन को लगाया था, कहना कठिन है। लेकिन वैशाख से लेकर आषाढ़ तक आसपास के हलवाहे-चरवाहे भी इस वन को नवाबी कहते हैं। तीन आने लबनी ताड़ी, रोक साला मोटर गाड़ी। अर्थात् ताड़ी के नशे में आदमी मोटरगाड़ी को भी सस्ता समझता है। तड़बन्ना के बाद ही एक बड़ा मैदान है, जो नेपाल की तराई से शुरू होकर गंगाजी के किनारे खत्म हुआ है। लाखों एकड़ जमीन। वन्ध्या धरती का विशाल अंचल ..."[1]

मेरीगंज में स्थित मेरीगंज कोठी का इतिहास भी विवरणात्मक है जिसमें मि० डब्लू० जी० मार्टिन की पत्नी की बीमारी और मार्टिन के मलेरिया सेन्टर तथा अस्पताल

१ मैला आंचल—पृष्ठ ६

खोलने के प्रयत्नों के वर्णनों की भरमार है। इसके पश्चात् मेरीगंज में बसने वाली राजपूत, कायस्थ और ब्राह्मण टोलियों का वर्णन है। राजपूतों और कायस्थों के पुश्तैनी झगड़े ठाकुर रामकिरपालसिंह और विश्वनाथ प्रसाद को मुख्या बनाकर प्रस्तुत किए गए हैं। इन लोगों की पंचायत में भी गुड़-गोवर के दृश्य देखने को मिलते है। मठ पर गांव भर के मुखिया इकट्ठे हो जाते हैं और सभी अपनी-अपनी बात पहले कहने को तैयार दीखते हैं, परिणामस्वरूप सब एक साथ बोलते हैं और मूल विषय दबकर रह जाता है। बालदेव कालीचरन आदि पात्रो को भाखन (भाषण) देने का विशेष शौक है। महन्त की रखेल लक्ष्मी भी इसी कोटि (Category) मे आ जाती है। भावुकतावश वह यथार्थ परिस्थितियों तथा विचित्र घटनाओं का विवरण देने के लिए लम्बे-चौड़े भाषण दे डालती है। इन पात्रों के भाषणों में बिहारी ग्रामीण जनता की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं तथा रीति-रिवाजों आदि का वर्णन अति विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है।[२]

प्रस्तुत उपन्यास की कथा दो भागों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में हमें कोई व्यवस्थित, संतुलित, शृंखलाबद्ध कथा नहीं मिलती। नीरस, अवांच्छित खण्ड चित्रों को पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन उबने लगता है। इस खण्ड में राष्ट्रीय आन्दोलनों की व्याख्या, धार्मिक मठों के आडम्बरों की चर्चा, ग्रामीण जनता के मनोद्‌गारों का वर्णन अति विस्तार के साथ प्रस्तुत हुआ है। किसी भी उत्कृष्ट कलाकृति में समाज-चित्रण प्रस्तुत करते समय एक विशेष सीमा तक संतुलन की आवश्यकता रहा करती है, किन्तु 'मैला आंचल' में इस संतुलन का अभाव है। पूर्वार्ध में ग्रामीण उत्सव, रीति-रिवाज, धार्मिक आडम्बर, राजनैतिक उथल-पुथल, सोशलिष्ट आंदोलन, गाने-बजाने के विस्तृत वर्णनों ने उपन्यास का आकार ही बढ़ाया है, कथाशिल्प का सौष्ठव नष्ट कर दिया है। इसी खण्ड में सन् ४२ के स्वतंत्रता आंदोलन से लेकर स्वराज्य प्राप्ति तक का उतार, चढ़ाव, जनक्रान्ति में एक ग्राम विशेष का योगदान दर्शाया गया है। दूसरे खण्ड में कथा अपेक्षाकृत संतुलित एवं संयत हो गई है। सुराज (स्वराज्य) प्राप्ति का उत्सव, नृत्य-वादन और संक्षिप्त भाषण द्वारा सम्पन्न हो जाता है, इसी खण्ड में कमला डॉक्टर प्रशान्त रोमांस अपने चरम सोपान पर पहुंचता है। कमला के गर्भ रह जाता है और सामाजिक मर्यादा का पालन करने के लिए डॉक्टर कमला के साथ विवाह की हां कर लेता है। गर्भ का समाचार सुनकर कमला के पिता तहसीलदार की मनोदशा का वर्णन भी यथार्थ, मर्मस्पर्शी और पाठक के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न कर देने वाला है। यहां कथा में उभार तथा संतुलन दृष्टिगोचर होता है। पूंजीपतियों के प्रति पुलिस का पक्षपात और कालीचरण जैसे साहसी देशभक्त को कारावास आदि प्रसंगों का वर्णन सामाजिक यथार्थ का उद्‌घाटक तो है ही, साथ ही वर्णनात्मक शिल्प-विधि का परिचायक भी है।

'मैला आंचल' को पढ़ते समय पाठक प्रति क्षण अपने को पूर्णिया जिले के गोहान

---

२. मैला आंचल—पृष्ठ २९-३० लक्ष्मी का भाखन, धार्मिक विषय पर कालीचरण का भाषण—पृष्ठ ३१-३२, बालदेव का भाषण राजनैतिक विषय पर—पृष्ठ २३५

में विद्यमान पाता है और वहा की ग्रामीण परिस्थितियों एव घटनाओं से इतना अधिक परिचित हो जाता है जितना कि एक इतिहास का विद्यार्थी किसी विशेष प्रदेश की ऐतिहासिक एव भौगोलिक परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त कर लेता है। इस विषय में डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव लिखते हैं—"रेणु ने ग्राम्य जीवन की प्रत्येक गति-विधि, सफलता-दुर्बलता, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य को एक वैज्ञानिक की तटस्थता से आकने का प्रयत्न किया है। मानव स्वभाव की जटिलताओं, कुण्ठाओं, आचरण की असंगतियों, सामाजिक एव वैयक्तिक सदाचार के बीच वैषम्य आदि के चित्रण में मनोविश्लेषणात्मक कला का उत्कृष्ट रूप मिलता है।"[1]

प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को डा० श्रीवास्तव के कथन का अन्तिम अंश मान्य नहीं है। यह ठीक है कि रेणु ने ग्राम-जीवन की प्रत्येक गतिविधि को अपनी तूलिका द्वारा आक कर दिखाने का उत्तम प्रयत्न किया है, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि इस रचना में मनोविश्लेषणात्मक कला का उत्कृष्ट रूप मिलता है। वास्तव में 'मैला आचल' एक वर्णन प्रधान रचना है। इसकी कथा, इसके पात्र और इसका समस्त वातावरण तथा समस्याएं समाजोन्मुखी हैं और उनके बाह्यरूप का वर्णनात्मक परिचय ही पाठक को प्राप्त होता है। घटनाओं की सूक्ष्म स्थितियों का अन्वेषण, पात्रों की क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण और समस्याओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन रेणु ने इस रचना में कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया है। यहा तो मेरीगंज की ही बात उठाई गई है, उनकी परिस्थितियां, वहा के जमींदारों के कुकर्म, वहा की निम्न वर्गीय सामाजिक दशा, धर्म के ठेकेदारों के काले कारनामें, जगली जाति के उपद्रवों के वर्णन द्वारा इतिहास ही पाठक के पल्ले पडता है, कमला-प्रशान्त को लेकर जो थोडा-बहुत अन्वेषण हुआ है, वह भी डा० प्रशान्त कुमार की सेवा-प्रधान सामाजिक प्रवृत्तियों के आधिक्य के कारण वैयक्तिक विश्लेषण का विषय बन जाने से वंचित रह गया है। मनोविश्लेषणात्मक रचना के लिए रचना का वैयक्तिक होना अनिवार्य है। 'मैला आचल' एक सामाजिक उपन्यास है, अतएव इसमें मनोविश्लेषण के अधिक अथवा रूप का देखना मरुभूमि में जल की कल्पना करना है।

'मैला आचल' के पात्र भी वैयक्तिक नहीं हैं, वे टाइप हैं और स्थिर हैं। वे या तो क्रूर, नाना भांति के अत्याचार करके मौज मनाने वाले जमींदार हैं, या मठों में रहकर भोली भाली ग्रामीण जनता की भोली बुद्धि और अंध श्रद्धा के बल पर ऐश करने वाले मठाधीश सेवादास तथा महन्त रामदास, फिर जमींदारों के अन्याय की शिकार अनेक जातियों तथा उपजातियों में बटे गौण पात्र आते हैं जो एक विशेष स्थल की रूढ़ियों, विश्वासों और सिद्धान्तों से कुम्हड़े की भांति चिपके हुए दर्शाए गए हैं। इनमें बावनदास सरीखे स्वप्न प्रेमी, उदारचित्त, किन्तु निराहत, त्रस्त प्राणी भी हैं और बालदेव जैसे गिरगिट की भांति रग बदलने वाले अपने को नेतागिरी के चक्कर में घुमाने वाले पात्र भी हैं। डॉक्टर प्रशान्त कुमार के चरित्र में गाधीवादी आदर्शों की स्थापना की गई है। आज के भौतिकवादी युग में जब साधारण युवक-वर्ग नगर के चकाचौंध का भरपूर आनन्द उठाना

---

१ हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३६८

ही अपने जीवन का चरम-लक्ष्य समझता है, तब गांधीजी की विचारधारा से प्रभावित ग्राम्य-जीवन को अपनाने और जन-सेवा करने को तैयार डॉक्टर प्रशान्त कुमार का चरित्र रोग को इस प्रकार चित्रित करता है—"वह लोक-कल्याण करना चाहता है···

भारत माता ग्राम्य वासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आंचल···

जिन्दगी की जिस डगर पर वह बेतहाशा दौड़ रहा था, उसके अगल-बगल आस-पास कही क्षण भर सुस्ताने के लिए कोई छाव नहीं मिली।"[४] डॉक्टर के साथ-साथ कालीचरन के चरित्र में भी देवत्व की कल्पना की गई है। डॉक्टर दृढ़ प्रतिज्ञ भी है, वह कहता है—"ममता ! मैं फिर काम शुरू करूंगा। यही, इसी गाव में। मैं प्यार की खेती करना चाहता हूं। आंसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहावेगे। मैं साधना करूंगा। ग्राम्यवासिनी भारत के मैले आंचल तले। कम से कम एक ही गाव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कराहट लौटा सकूं, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूं······"[५] संक्षेप यह कि सब के सब चरित्र भी वर्णनात्मक शैली में उद्घाटित हुए है।

इस आंचलिक उपन्यास में प्रादेशिक भाषा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। उपन्यास का समस्त वातावरण स्थानीय बोली, स्थानीय गीत तथा स्थानीय सकेतों से आच्छादित है। प्रादेशिक सूक्तियों के कुछ नमूने देखिए—"बनियां का कलेजा धनियां" "आज शोशलिष्ट लोग शोक सभा करने गए। एक भी आदमी सभा में नहीं गया। अब लोग शभा का अर्थ समझ रहे है···हुं, कोई बात हो तो फुच्च से शभा—।" प्रस्तुत उपन्यास में अनेक स्थलों पर पूर्णिमा की स्थानीय बोली की अनेक ध्वनियां ज्यों-की-त्यों रखी गई है। जिसके कारण पाठक वर्ग का बहुतांश उपन्यास की थीम को समझ लेने पर भी इस कृति का पूर्ण आनन्द उठाने से वंचित रह गया है। जैसे—

"ओ···होय ! नायकजी।
विकटा (विदूषक) आया भीड़ में हंसी की पहली लहर खेल जाती है।
"ओ ! होय नायक जी।"
"क्या है ?"
"अरे फतंग-फतंग क्या बज रहे हैं ?"
"अरे मृदंग बज रहा है। यह करताल है, यह झाल है।"
"सो तो समझा। यह घडिंग-घडिंगा, गन पतगंगा क्या बजाते है ?"
....
धिन ताक धिन्ना धिन ताक धिन्ना।
"ओह। उत्तरहि राज से आयेल हे नटुकवा कि आहे मैया

४. मैला-आंचल—पृष्ठ १८३-८४
५. वही—पृष्ठ ४२५

कि आहे मैया सरोसती हे परथमे बन्दौनि हे तोहरा
हमहू मूरुख गंवार कि आहे मैया
सरोसती, भूलल आखर जोड़ि के आहे मैया
कंठे ली हे बास"[6]

इस उदाहरण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि भोजपुरी मिथिला और बंगला का जानकार ही इस उपन्यास को पूरी तरह समझ सकता है और इसमें रस ले सकता है। गीत खण्ड भी कम नहीं हैं, अनेक स्थलों पर—

"धिन्ना धिन्ना धिन्ना तिन्ना तिन्ना
धिक तक धिन्ना, धिन तक धिन्ना।"

'डिन्ना डिना अथवा डिना डिना'

पढ़कर भी पाठक ऊबने लगता है। होली के पर्व का वर्णन चार-पांच गीतों की योजना के कारण विस्तृत भी हो गया है और पाठक के धैर्य का परीक्षा स्थल भी बन गया है, किन्तु वर्णनात्मक शिल्प-विधि का उपयोग यदि इस प्रकार के प्रयोगों से पूर्ण हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, व्यापकता तो इस शिल्प का प्राण समझिए।

परती परिकथा—१९५७

'परती परिकथा' रेणु की दूसरी औपन्यासिक रचना है। यह भी एक आंचलिक उपन्यास है। आंचलिक उपन्यास में किसी ग्राम, अंचल अथवा सीमित क्षेत्र विशेष को लेकर वहां की जनता के रहन सहन, वेश भूषा, बोल-चाल और स्वभाव तथा संस्कृति का समग्र रूप से चित्रण पूर्ण विवरण के साथ प्रस्तुत किया जाता है। 'मैला आंचल' में पूर्णिया जिले के मेरीगंज और 'परती परिकथा' में परानपुर ग्राम को केन्द्र रूप में प्रस्तुत करके रेणु ने बिहार के इस क्षेत्र विशेष का वृहद् वर्णन कर डाला है। 'मैला आंचल' की भांति यह भी वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचना है, जिसके प्रारम्भिक पृष्ठ परानपुर की परती भूमि के वर्णन में रंग गए हैं।

परती भूमि के वर्णन का नमूना इस उपन्यास की प्रथम पंक्तियों में दृष्टिगोचर होता है—"धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती। धरती नहीं, धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई हैं—बालू चरों की पंक्तियां। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तट तक, पूर्णिया जिले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भूभाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है। सम्भवतः तीन-चार वर्ष पहले इस अंचल में कोसी मैया की यह महाविनाश लीला हुई होगी। लाखों एकड़ जमीन को अचानक लकवा मार गया होगा। एक विशाल भू-भाग, हठात् कुछ से कुछ हो गया होगा। कथा होगी अवश्य इस परती की भी। व्यथा भरी कथा वन्ध्या

---

६ मैला आंचल—पृष्ठ ६६

धरती की···"[1] और इसी परती धरती की, इसके निवासियों की, उनके विश्वासों तथा सिद्धांतों की कथा वर्णनात्मक शिल्प में प्रस्तुत हुई। परती के निकटस्थ ग्राम परानपुर को ही लें—यह समस्त कथा का केन्द्र है। इसका वर्णन इन शब्दों में हुआ है, "परानपुर बहुत पुराना गांव है···१८८० साथ में मि० बुकानन ने अपनी पूर्णिया रिपोर्ट में इस गांव के बारे में लिखा है—"पुरातन ग्राम परानपुर। इस इलाके के लोग परानपुर को सारे अंचल का प्राण कहते हैं। अक्षरशः सत्य है यह कथन। गांव से पश्चिम में बहती हुई दुलारीदाय की धारा तीन ओर विशाल प्रान्तर, तुण-तरु शून्य लाखों एकड़ बादामी रंग की धरती··· गांव की आबादी है—करीब सात-आठ हजार। विभिन्न जातियों के तेरह टोले हैं। मुसलमान टोली छोटी है, पचास घर रह गए हैं अब। परानपुर की पुरानी प्रतिष्ठा की रक्षा आज भी ये सामूहिक रूप से करने की बात सोच सकते हैं।···बहुत उन्नत ग्राम है परानपुर, प्रत्येक राजनैतिक पार्टी की शाखा है। धार्मिक संस्थाओं के कई धुरन्धर धर्म-ध्वजी इस गांव में विराजे हैं।"[2]

परानपुर का ही नहीं, इस गांव के पश्चिमी छोर पर स्थित परानपुर स्टेट की हवेली का वर्णन भी विस्तार के साथ किया गया है। इसके साथ-साथ लैंड सर्वे सेटलमेंट के सिलसिले में ग्राम-वासियों की अधीरता, एक-एक इंच भूमि के लिए सिर तोड़ चेष्टा, पंचायत, मुकदमेबाजी आदि सामाजिक दशा का ब्योरेवार विवरण उपन्यास को वर्णनात्मक बनाने में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है। राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी वर्णनों का आधिक्य है। कांग्रेस, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट जगह-जगह शोर मचाते दृष्टिगोचर हुए हैं। पाकिस्तान बन जाने पर समसुद्दीन की पैंतरेबाज़ी, लुत्तो की लीडरी के लिए दौड़-धूप, मकबूल की कलाबाजी, भूमिहार टोली के मनमोहन बाबू की चाची के अन्ध विश्वास कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप में राजनीति, जातिवाद और धार्मिक भावों तथा विश्वासों की व्याख्या हित जुटाए गए प्रयत्न हैं, जो अपने उद्देश्य में (उपन्यास को आंचलिक वर्णन का रंग देने में) पूर्ण सफल हुए हैं। एक स्थान पर हमे लुत्तो रंगमंच पर खड़ा होकर राजनैतिक भाषण देते हुए दिखाया गया है तो दूसरे स्थान पर जितेन्द्र से टक्कर लेने के लिए जनता को भड़काने के निमित्त प्रयत्नशील चित्रित किया गया है। इसी तरह सुवंश-लाल एक ओर समाज-सुधार और बीमा के कार्य में तत्पर दर्शाया गया है, दूसरी ओर मलारी-प्रेम में विभोर दृष्टिगोचर हुआ है। इस प्रकार के चित्रण ने ही इस रचना को आंचलिक बनाया है, जहां सामाजिकता के साथ-साथ वैयक्तिकता उभर आई है। 'परती परिकथा' में वर्णित जितेन-लुत्तो संघर्ष केवल भूमिधर और भूमिहीन का वर्गमूलक संघर्ष ही नही हैं; इसमें क्षेत्रीय पुरुष के मन का विरोध अपनी चरम सीमा को छूकर पाठक के मन को भी छू गया है। लुत्तो पग-पग पर जितेन का विरोध करता है, किन्तु जितेन जो उसके मन के घाव की पीड़ा को समझता है, उसे क्षमा करता है। विरोध, ईर्ष्या और क्षमा के ये उदाहरण सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक और आंचलिक बन गए हैं।

---

१. परती परिकथा—पृष्ठ १

२. वही—पृष्ठ १४-२१

'परती परिकथा' की एक और विशेषता है। 'मैला आँचल' की अपेक्षा इसकी घटनाओं तथा पात्रों में अधिक तारतम्य है। पात्र-बहुल और घटना-बहुल तथा वर्णन-प्रधान हो जाने पर भी यह रचना अत्यधिक एकाग्रचित्त होकर लिखी गई प्रतीत होती है। उपन्यास के दो भाग हैं। पहले भाग में जितेन्द्र ही कथा का केन्द्र है और उसकी कथा का वर्णन कथाकार द्वारा तृतीय पुरुष शैली में हुआ है, किन्तु दूसरे भाग में जितेन्द्र के पिता के संस्मरण डायरी शैली द्वारा उद्घाटित हुए हैं। इतना कहने से मेरा तात्पर्य यही है कि इस रचना में रेणु की पहली रचना की अपेक्षा अधिक तारतम्य है, यह नहीं कि यह रचना पूर्णरूपेण शृंखलाबद्ध कथा को लेकर अग्रसर हुई है। वास्तव में आँचलिक चित्रण प्रस्तुत करने के लिए तथा समाज चित्रण करने के लिए क्रमबद्ध कथानक और कथा-सौष्ठव का सामंजस्य एक दुःसाध्य कार्य है, जिसे नागार्जुन आदि उपन्यासकारों ने ही पूरा किया है। उनका 'बलचनमा' उपन्यास उत्तम पुरुष शैली में रची गई एक सफल शृंखलाबद्ध कथानक वाली रचना है। कथा कहना रेणु का उद्देश्य ही प्रतीत नहीं होता, वे तो आँचलिक वर्णन का लक्ष्य मान कर चले हैं। जितेन्द्र-ताजमनी, भुवनलाल-मलारी आदि की कथाएँ जीवनकथा से अधिक जीवन-वर्णन बन कर सामने आई हैं, किन्तु फिर भी इनमें 'मैला आँचल' का डॉक्टर प्रशान्त-कमला आख्यान से अधिक उभर आया है।

'परती परिकथा' पूर्णिया जिले के जीवन को चित्रित करने वाला एक महाकाव्य है। इसमें परानपुर की जनता की जीवनी वर्णित हुई है। कोसी-योजना के इतिहास का विवरण, परानपुर वासियों के जलसे-जलूस, स्त्रियों की गाली-गलौज, पंचायत के दृश्य, यात्राओं, नाटकों, सकीर्तनों और लोकगीतों के वर्णन इस अंचल की समकालीन, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं नैतिक भावनाओं तथा धारणाओं के प्रतीक हैं। परानपुर हवेली के आहाते में पहुँचते ही पाठक नई घटनाएँ, नये वर्णन और नई बातें ही नहीं पढ़ता अपितु नई भाषा भी सीखता है, "आँख मूँद कर गुरु का सुमर रहा है शायद !

हु-उ-ऊ! रघु ने गुरु मन्त्र गुनगुनाया। मूसी सारंगी ने गुरु मन्तर के सुर पर मोटी कारी गरी की—हुँ-हुँ-उ-हूँ-हुँ-ऊ। ड्रिप-टि-रि-रि-रि-रि-रि हुय-हुय-हुय-हुय-हुरं-रं-र-रं !! घू-घू-घू-घू-घू-घू-रं-रं-हुप-हुम-हुप-हुँ हुँ-हुँ-हुँ !![1]" इसके अतिरिक्त 'परती परिकथा' के समस्त लोकगीतों की भाषा पूर्णिया की जनता की भाषा के रूप में प्रस्तुत हुई है। जैसे—रे-सरदार-रे-सरदार की दरकार की दरकार कु-हु-कु-कु-कु कु-हू-कु-कु।

'परती परिकथा' के पात्रों में एक दृढ़ता एवं स्थिरता परिलक्षित होती है। सभी पात्र अपने-अपने विश्वासों, सिद्धान्तों पर स्थिर दृष्टिगोचर होते हैं। जितेन्द्र उपन्यास का नायक है, सच्चरित्र, दृढ़संकल्प, उदार, विनम्र, त्यागी जीव है। नगर के राजनीतिक कुचक्रों से छटपटा कर ग्राम लौटता है, किन्तु परानपुर वासियों के स्वार्थों, अन्धविश्वासों तथा संकीर्णता को देख कर और भी दुःखी होता है। उसके इस दुःख को देख कर उसके

---

१ परती परिकथा—पृष्ठ १६०-६१

चरित्र के सबंध में इरावती कहती है—"यह जितेन्द्र है। छोटा नागपुर की पहाड़ियों में भटकने वाला भावप्रवण प्राणी। बात-बात में जिसका आत्म-विश्वास पहाड़ी झरने की तरह कलकल कर उठता था। शक्ति की सुन्दरता से आलोकित मुखमण्डज, मानव प्रीति से भरपूर स्वस्थ आत्मा। समाजमुखी, उदार मन। परानपुर हवेली की तंग कोठरी में कैद करके अपने को किस अपराध का दण्ड दे रहा है, यह ?..."[४] जितेन्द्र से भी दृढ़ ताजमनी और मलारी पाठक को रोचकता प्रदान करने में अधिक समर्थ सिद्ध हुए है। ताजमनी जितेन्द्र की प्रियतमा एवं रक्षिता ही नहीं, प्रेरणा भी है। मलारी सुवंशलाल जैसे उच्चवर्गीय प्राणी को अपनी चरित्रगत दृढता के कारण आकर्षित करके, बालगोबिन के प्रश्नों का दृढ़ता के साथ उत्तर देकर अपनी निर्भयता, सच्चरित्रता एवं बौद्धिकता का परिचय देती है।

परती परिकथा की पात्र बहुलता का परिचय डा० शिवनारायण श्रीवास्तव ने इन शब्दों में अंकित किया है,—"उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त दर्जनों अन्य स्त्री-पुरुषों के सजीव रेखाचित्र उपन्यास में वर्णित है। जमींदार का कारिन्दा मं० जलधारीलाल, जमादार पखारनसिंह, जितेन्द्र के पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र के खवास लरेना का पुत्र लुत्तो, जो गांव का नेता है और जो जितेन्द्र को गांव से भगा कर ही छोड़ेगा, सबसे बड़ा महाजन रोसन बिस्वां, गांव का नारद गरुड़ धुज झा, कतरनी की तरह जीभ चलाने वाली गंगा काकी, गांव की घुरघुगनी सामबत्ती पीसी, नए-नए शब्द तथा विलक्षण विचार प्रकट करने वाले गांव के सिनिक भिम्मल मामा, 'रोडूल' बनाकर ही काम करने वाले वीरभद्र बाबू सभी अपनी-अपनी विशेष आकृतियों, चेष्टाओं, वेषभूषा, बोली बानी तथा स्वभाव-संस्कार में सामने घूम जाते हैं।"[५] दिलबहादुर मीत (कुत्ता) आदि भी आंचलिक पात्र हैं।

सागर, लहरें और मनुष्य—१९५५

उदयशंकर भट्ट की इस रचना के शीर्षक को पढ़ते ही आभास होता है कि यह रचना अवश्य प्रतीकात्मक है। उपन्यास के कवर पर लिखे ये शब्द—"इस उपन्यास में लेखक ने समुद्र को वाणी दी है, लहरों से बातें की हैं और दी है सदियों से खोई मछलीमारों की आत्मा पहचानने की आंखें" न केवल पाठक की उत्सुकता बढ़ाते हैं, अपितु उसे रचना को विचारप्रधान मान कर पढ़ने की प्रेरणा भी देते हैं। उपन्यास पढ़ जाने पर उसे सदियों से सोई मछलीमारों की मनोस्थिति का ज्ञान तो अवश्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु सागर को दी गई वाणी और लहरों की बातों का संकेत कम ही मिलता है। स्वप्नों, रूपकों और संकेतों की योजना इस रचना में अल्प मात्रा में जुटाई गई है। अधिकतर विस्तार और विवरण से काम लिया गया है, अतः यह रचना प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना नहीं कही जा सकती, शिल्प की दृष्टि से यह वर्णनात्मक उपन्यास है, विषय की दृष्टि से आंचलिक।

---

४. परती परिकथा—पृष्ठ ४२६
५. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ४०१

बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे मछुआरों के गांव वरसोवा के प्राकृतिक वर्णन के साथ उपन्यास का आरम्भ होता है। इसके उपरान्त मछुओं के अर्ध विकसित परम्परावादी जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है। प्राचीन रूढ़ियों से जड़ित इस जाति में एक ऐसी नवयौवना की कहानी को प्रधानता दी गई है, जो थोड़ा पढ़ लिखकर मत्स्यगंधा बनने का स्वप्न देखती है। उसके अति महत्त्वाकांक्षी मन को वरसोवा का समस्त वातावरण घुटा-सा, पिछड़ा सा, दम तोड़ता-सा प्रतीत होता है। यह नवयौवना उपन्यास की नायिका रत्ना है। इसकी अनुभूतियां, इसकी महत्त्वाकांक्षाएं, इसकी धारणाएं सब वर्णनात्मक विधि द्वारा प्रस्तुत हुई हैं। ये अनुभूतियां और महत्त्वाकांक्षाएं श्री इलाचंद्र जोशी के प्रसिद्ध उपन्यास 'सुबह के भूले' की नायिका गिरिजा के अनुभवों से पूर्ण सामंजस्य रखती हैं। गिरिजा थोड़ा पढ़-लिखकर बम्बई का एक शानदार फ्लैट देखकर ही अपने घर के सारे वातावरण को विजातीय, नीरस और निर्जीव कह देती है। रत्ना को भी वरसोवा का अपना घर उसका गन्दा, मैला कुचैला, मिट्टी, लोहे, चीनी के बरतन, सब उबकाई लाने वाले और बम्बई चकित, भ्रमित और विस्मित कर देने वाली लगती है। दोनों उपन्यासों में मध्यवर्ग तथा धनीमानी माने जाने वाले समाज का चित्र अति व्यापक और वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत हुआ है। वर्णनात्मकता का एक उदाहरण देखिए —

"वरसोवा का जीवन, वहां के निवासी जैसे जंगल के रहने वाले हों। विज्ञान के इस चमत्कार में भी हम आदिम रूप से आगे नहीं बढ़े हैं। वही पुराना मछली मारने का काम। वही पुराना रहने का ढंग। पुराने मकान, पुराने विचार, पुरानी बातें। उसने इतना पढ़ा है तो क्या मां की तरह मछली मारकर मार्केट में जाकर बेचने के लिए। ये बड़े आकाश चूमने वाले मकान, उनका वैभव, रहन सहन का ढंग, मोटर गाड़ी, हवाई जहाज, बागों की सैर, नये-नये फैशन के कपड़े, ये एक से एक सुन्दर गहने, जिन्हें पहन कर कुरूप भी सुन्दर लगने लगे, क्या उसके लिए नहीं है? स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की कमर में हाथ डाले नाच रहे थे, चिपटे चिपटे। कहां यह, कहां वरसोवा।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास में कथात्मकता, वर्णनात्मकता और पात्र बहुलता है। उपन्यासकार ने सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और रूपकों से काम न लेकर स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णनों का संयोजन किया है। उसने सागर को विराट शक्ति का प्रतीक अवश्य माना है, किन्तु सागर-तटवासियों की मनोर्मियों को सांकेतिक रूप न देकर विवरण-प्रधान बना दिया है। उसका झुकाव कथा की रोचकता की ओर अधिक रहा है, जिसके परिणामस्वरूप उसने [illegible] यशवन्त रत्ना, माणिक दुर्गा, बलीकर-मालती, जागनाइटा, सारिका मास्कर [illegible] दि रोमांस जोड़ियां गढ़कर खड़ी कर दी हैं। पात्र बहुलता के कारण चरित्रों का स्वाभा[illegible] विक विकास नहीं हो पाया है। यशवन्त का प्रतिक्रियावादी भयंकर रूप, रत्ना और मा[illegible]क दोनों की हत्या कर डालने को उद्यत रूप अति शीघ्र सुधारवादी, कार्य प्रेमी और [illegible] भावुक समाज सेवक में परिणत हो जाता है। उपन्यास में [illegible] का व्यक्तित्व [illegible] अधिक उभरकर सामने आता है। वह आरम्भ रचनाओं से

---

१ सागर, लहरें और मनुष्य—पृष्ठ १०६-१०७

मुक्त, प्राचीन परम्पराओं की भक्त और पुरुष वर्ग पर आधिपत्य एव अनुशासन रखने वाली स्त्री है। रत्ना एक प्रयोगात्मक चरित्र है, जिसमें हमें क्रमशः सरलता, बुद्धिमता, उत्सुकता, भावुकता, मानसिक पतन, मनोद्वन्द्व और अन्त में आत्मबल के दर्शन होते हैं। उपन्यासकार की दृष्टि उपन्यास द्वारा रत्ना के चरित्र को विभिन्न कोणों से दर्शाने पर ही अधिक केन्द्रित रही है; इसलिए उसने उसे विभिन्न परिस्थितियों और वातावरण में ले जाकर नव्य अनुभूतियां अर्जित करने के लिए ढीला छोड़ दिया गया है, जिसके फल-स्वरूप वर्णनात्मकता बढ़ती गई और सांकेतिकता गौण होती गई और अन्त तक पहुंचते-पहुंचते प्रतीक का चिह्न ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। उसमें गति है, व्यक्तित्व है, प्रतीक नहीं।

माणिक की प्रतीकात्मकता भी संदिग्ध हो उठी है। वह मध्यवर्गीय मान्यताओं का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। वह केवल मानसिक रूप से जर्जर, आर्थिक रूप से शिथिल, सांस्कृतिक दृष्टि से खोखले व्यक्ति का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उसमें न व्यक्तित्व है, न प्रतीक बनने का सामर्थ्य। उसके संबंध में लेखक लिखता है—"वह उन लोगों में था जो वैभव के छोटे रूप को अपनाकर खुश होते हैं। चटक-मटक को ही वास्तविकता समझते हैं। उसी से वे अपने को बड़ा मानते है। बस मे ठसक से बैठकर मोटर वाले लोगों से होड़ करते है। अल्प-ज्ञान-मंडित माणिक अपने को किसी से कम नहीं मानता था। सिनेमा जिसके आनन्द-वैभव की चरम सीमा है, साधारण धुले कपड़े पहन और गले में गजरा और सिर में तिली का तेल लगाकर ब्रिलियेण्टाइन से होड़ करते है।"[२] ऐसे पात्र प्रति-निधि रूप में अन्य उपन्यासों में भी मिल सकते है। जोशी रचित 'प्रेत और छाया' के एक पात्र भुजौरिया की भांति इन्हे भी रत्ना द्वारा पैसा कमाने से मतलब है, नैतिकता, मान-अपमान, लज्जा गुणों आदि को ये लोग बेचकर खा जाते है।

नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वावलम्बी बनने की विचारणीय समस्या को भी प्रतीकात्मक रूप में नही रखा गया। रत्ना की अनुभूतियों और सारिका के प्रवचनों द्वारा इस गम्भीर समस्या का समाधान रत्ना को विभिन्न घटनाओं के लम्बे चक्र में घुमाकर वर्णना-त्मक शिल्प-विधि द्वारा प्रस्तुत किया है। अभी तक जन साधारण में अपरिचित, असामान्य, सागर तट वासियों की यह आंचलिक गाथा वर्णनात्मक शिल्प-विधि का विशिष्ट नमूना है। इस अर्थ में कि इसमे जहां एक ओर वरसोवा की संस्कृति, संस्कार, सभ्यता, स्वभाव और भाषा को मनोरंजक वर्णनात्मक शिल्प के चौखटे में फिट किया है, वहां क्षेत्रिय सीमा के आवरण को उतार फेंका है। इस दृष्टि से डॉक्टर त्रिभुवनसिंह इसे आंचलिक उपन्यास नहीं मानते। वे लिखते है—"आंचलिक उपन्यासों के लिए एक निश्चित भूखण्ड की सीमा को ही आधार के रूप में स्वीकार किया गया है, पर 'सागर, लहरें और मनुष्य' मे कथानक का फैलाव उस सीमा को पार कर गया है और यदि इस नियम का कड़ाई के साथ पालन किया जाए तो यह आंचलिक उपन्यास नहीं ठहरता।"[३] 'मैला आंचल' जैसी आंचलिकता इसमें नही है।

---

२. सागर, लहरें और मनुष्य—पृष्ठ १७५

३. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—तृतीय संस्करण—पृष्ठ ३७२

प्रस्तुत उपन्यास आंचलिक है या नहीं, इसके विशद् विवेचन में न पड़कर हम तो यह देखना है कि यह प्रतीकात्मक है या नहीं। इस रचना में केवल एक स्वप्न है जो संवेदनात्मक या प्रतीकात्मक है। रत्ना का मन पढ़ाई से उचट जाता है। उसे अपनी याती है और अन्तमन में एक संघर्ष की अनुभूति होती है। वह एक आदमी को देखती है जो बरसोवा की ओर न जाकर अथाह सागर की ओर बढ़ने का संकेत करता है।[४] यह अथाह सागर जीवन अनुभूतियों की गहराई का प्रतीक है जो रत्ना को धनकुबेर की नगरी बम्बई के सम्पर्क में आकर सेठ साहब के साथ, शंकर और वकील साहब द्वारा प्राप्त होती हैं। ये अनुभूतियाँ और परिस्थितियाँ भी रत्ना के दृढ़ संकल्प और स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नहीं दबा पातीं। वह कानों नारी की उस परम्परा को बनाये रखती है, जिसमें लड़की पुरुष की दासी नहीं, अधिकारी है। वह अपनी सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन है, आर्थिक विषमता के प्रति निराश है, किन्तु मानसिक और बौद्धिक रूप से स्पष्ट और सचेत है। यशवन्त की विरक्ति, डाक्टर पाण्डुरंग का आदर्शवाद अन्त में उसके जीवन को एक दिशा देते हैं। बम्बई की चकाचौंध का विशद् वर्णन और उसके प्रति रत्ना की घोर आसक्ति उपन्यास को वर्णनात्मक बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। पात्र बहुलता के कारण भी उपन्यास में वर्णनात्मकता की वृद्धि हुई है और कुछ पात्रों के चरित्रांकन में शिथिलता भी आ गई है। उपन्यासकार ने आगन्या को बरसोवा के मजदूरों की दबी चेतना का प्रतीक बनाना चाहा, किन्तु वासी, रत्ना और यशवन्त के विशद् वर्णन और नारी समस्या के विवरण प्रस्तुत करने की उमंग में उसे ऐसे पात्रों का ध्यान नहीं रहा। शंकर जैसे गुण्डों की धमकियाँ भी निसार होकर रह गईं और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते खुले सागर की विराट शक्ति, लहरों के उन्मुक्त गीत, मनुष्यों की कोमल भावनाएँ बम्बई की चकाचौंध विवरण में लुप्त हो गईं।

यशपाल

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास के अन्तर्गत सामाजिक ऐतिहासिक, आंचलिक परम्परा के उपन्यासों का मूल्यांकन कर लेने के पश्चात् भी एक कोटि के उपन्यास रह गए हैं। इस कोटि के अन्तर्गत समाजवादी या मार्क्सवादी रचनाएँ आती हैं। यह शुद्ध रूप से वर्णनात्मक हैं। समाजवादी दृष्टिकोण मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर आधारित है। मार्क्सवाद भौतिक जीवन दर्शन है जो भौतिक वस्तु को प्राथमिकता प्रदान करता है और जिसके अनुसार यह मनुष्य का चेतन नहीं है जो उसके अस्तित्व का निर्णायक है अपितु इसके विपरीत उनका सामाजिक परिवेश है जो उनके चेतन का निर्धारण करता है।[1]

४ सागर, लहरें और मनुष्य — २५-२६

1 "Marxism is a materialist philosophy It believes in the primacy of matter It is not the consciousness of man that determines their existence, but on the contrary, their social existence that determines their consciousness."

—Ralaph Fox "The Novel and the People" P 59 60

हिन्दी में मार्क्सवादी सिद्धान्तों की चर्चा प्रगतिशील लेखक संघ के अस्तित्व में आने पर हुई। इस संघ का प्रथम अधिवेशन पेरिस में सन् १९३५ में हुआ। भारत में उसके दूसरे वर्ष डॉ० मुल्क राज आनन्द और सज्जाद जहीर के प्रयत्न से इस संघ की शाखा खुली और प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में उसका प्रथम अधिवेशन हुआ। कतिपय, आलोचक प्रगतिवादी तथा प्रगतिशील साहित्य में भेद करते है। उनके मतानुसार मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र का नाम प्रगतिवाद है और आदिकाल से लेकर अब तक की समस्त साहित्य परम्परा प्रगतिशील है।[२] इन दोनों का मतभेद प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय नहीं है।

प्रस्तुत प्रबन्धकार के मतानुसार यशपाल समाजवादी या प्रगतिवादी चिंतनधारा को अपनाने वाले प्रगतिशील वर्णनात्मक शिल्पी है। इन्होंने अपने उपन्यास साहित्य में मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग की परिवर्तित मान्यताओं तथा अवस्थाओं का चित्रण वर्णनात्मक विधि से किया है। एक आलोचक इन्हें प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा का लेखक बताते हुए लिखते है—"यशपाल प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के समर्थ कथाकार है। अपने उपन्यास के माध्यम से युग-जीवन और उसके संघर्षो को आकलित करने का प्रयत्न किया है। एक कथाकार के रूप में यशपाल का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़कर सामने रखता रहा है। इसके लिए आप में एक यथार्थवादी कलाकार की सिसगता, और संयम भी पर्याप्त है। आप अपने यथार्थवाद में प्रेमचन्द की तरह आदर्श का नहीं, रोमांस का संयोग करते है, जो सब जगह सफल नहीं हुई है।"[३] 'दादा कामरेड' आपकी पहली औपन्यासिक रचना है जिसमें राजनीति और रोमांस की कथा को समाजवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से यशपाल के सभी उपन्यास प्रेमचन्द के उपन्यासों की भांति सोद्देश्य है। उनका शिल्प विधान उद्देश्य से प्रभावित है।

दादा कामरेड—१९४१

'दादा कामरेड' की कथा बारह अध्यायो में विभाजित की गई है। प्रत्येक अध्याय में नई कथा दी गई है और उसी के आधार पर उसका नामकरण किया गया है। दादा और कामरेड इसका अन्तिम अध्याय है। कथा का आरम्भ साधारण जासूसी कथा के ढर्रे पर किया गया है। 'दुविधा की रात' नामक पहले अध्याय में यशोदा के पति अमर नाथ सोने की तैयारी में है, समाचार पत्र पढ़ रहे हैं। यशोदा गृहस्थी के दैनिक धंधो से निपट कर बिजली का बटन दबाना ही चाहती है कि क्रान्तिकारी हरीश हाथ में पिस्तौल लिए आ धमकता है। अत्यन्त भयप्रद स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह रात वास्तव में यशोदा की परीक्षा रजनी है जिसे कौतूहल, जिज्ञासा, संशयात्मक वातावरण में प्रस्तुत किया गया है।

'नये ढंग की लड़की' में हरीश—शैल रोमांस की स्वतंत्र कथा वर्णित है। 'केन्द्रीय

२. डॉ० नामवरसिंह: आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां—पृष्ठ ५७
३. श्री शिवदानसिंह चौहान: हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—पृष्ठ १६६

सभा में आतंकवादियों की कार्यप्रणाली का विशद् चित्रण है। मजदूर का घर में शोषित वर्ग की दयनीय स्थिति का अवलोकन कराना ही यशपाल के सम्मुख एकमात्र ध्येय रहा है।

'तीन वर्ष' में संघर्ष के बहुमुखी रूप दर्शाए गए हैं। एक ओर उत्तेजित दादा और बी० एम० के प्रयत्न हैं, दूसरी ओर शैल बाला और हरीश की परिस्थितियाँ हैं जो उपन्यास में प्रवाह, तेजस्विता और आकर्षण उत्पन्न कर देती हैं।

'मनुष्य' नामक अध्याय में भी कथा पीछे पड़ गई है। 'मजदूर का घर' नामक अध्याय की भांति यहाँ भी कतिपय परिवर्तित नैतिक मान्यताओं की बात ही उठाई गई है। हरीश शैल के साथ मसूरी पहुँचता है, अपने जीवन के गत अध्याय में से सांकेतिक परिचयात्मक गाथा सुना कर सात वर्ष पूर्व हुए विवाह की बात भी कहता है। प्राचीन मर्यादा की अवहेलना सूचक उसकी यह पंक्ति—"मैं कुछ भी न करूँगा... मैं केवल जानना चाहता हूँ, देखना चाहता हूँ कि स्त्री कितनी सुन्दर होती है? मैं स्त्री के आकर्षण को पूर्ण रूप से देखना चाहता हूँ। ... तुम्हें बिना कपड़ों के देखना चाहता हूँ"—(पृ० १३८) जैनेन्द्र के हरिप्रसन्न की वाचलता की ही अनुवृत्ति है।

'गृहस्थ' में अमरनाथ के रूप में पुरुष की संदेहात्मक प्रवृत्ति तथा नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रश्न को उठाया गया है। 'पहेली' में गर्भनिवारण आदि विषयों पर लम्बे लम्बे भाषणों की योजना की गई है। इस प्रकार यशपाल ने अपनी कला को कतिपय सिद्धान्तों के प्रचार का साधन बना लिया है। यहाँ उनकी उद्देश्यप्रियता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। 'न्याय' नामक अध्याय में हरीश द्वारा दिलाए गए भाषण क्रान्तिकारी कथा की लक्ष्य सिद्धि के साधन बन गए हैं।

चरित्रों की उद्भावना भी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर की गई है। शैल बाला इस उपन्यास की नायिका है। शैल का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक विशिष्ट विचार की पूर्ति हित उद्घाटित हुआ है—विचार है—स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की संभावना?

'दादा कामरेड' में कथाकार ने स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व, उन्मुक्त प्रेम और अनियन्त्रित जीवन व्यवहार का प्रश्न शैलबाला के चरित्र द्वारा प्रस्तुत किया है। शैल एक नए ढंग की लड़की है। नारी के अधिकारों की रक्षक और उसकी स्वाधीनता की प्रबल प्रचारक के रूप में वह हमारे सामने आती है। जिस स्त्री को पुरुष समाज अब तक सम्पत्ति रूप में देखता रहा है उसे वह सम्बोधित करती है—"हो रहो किसी के, या कर लो किसी को अपना का क्या मतलब। जहाँ स्त्री का कुछ शेष नहीं रह जाता। यदि स्त्री को किसी न किसी का बनकर ही रहना है तो उसकी स्वाधीनता का अर्थ ही क्या हुआ?"[1]

शैल को भारतीय स्त्री का पत्नी रूप भी स्वीकृत नहीं है। उसके मतानुसार संसार भर की अच्छाई एक ही व्यक्ति में संगृहीत होना सम्भव नहीं और मनुष्य हृदय का संचित स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर लुटा देना भी हितकर नहीं है।

---

१ दादा कामरेड—पृष्ठ ५५

शैल बाला कुमारी होकर हरीश के द्वारा प्रस्तुत गर्भ को सस्नेह स्वीकार कर आधुनिक समाज और नैतिक परम्परा का व्यंग भाजन बनती है, किन्तु धैर्य, वीरता और अडिग विश्वास के साथ समस्त आरोपों का प्रत्युत्तर दादा को दे देती है—"दादा जोत कभी नहीं बुझती······हम चलेंगे, जोत को जारी रखेंगे······मुझे ले चलो।"[२]

हरीश का चरित्र भी कम आकर्षक नहीं है। स्वातंत्र्य संग्राम में हंस हंस कर बलि होने वाले नायकों का प्रतिनिधि यदि किसी को कह सकते हैं तो 'दादा कामरेड' के हरीश को। मृत्यु का उसे कोई भय नहीं है—एक बार यशोदा द्वारा पहचाने जा कर वह कहता है—"तुम समझती हो, मैं जान बचाने के लिये भागता फिरता हूं···मैं उन लोगों से एक दफे फैसला करूंगा।"[३]

हरीश के रूप में क्रांतिकारी के दो रूप देखे जा सकते है—हिंसात्मक क्रांति और आतंक फैलाने वाले मार्क्सवादी युवक क्रान्तिकारी का स्थिर (Static) रूप और अहिंसात्मक क्रान्तिकारी तथा त्यागमयी वृत्ति वाला गांधीवादी रूप। उपन्यास के नायक दादा के अटूट सहयोगी हरीश पहले रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह रूप वर्णनात्मक न होकर संकेतात्मक चित्रित किया गया है। सुल्तान हरीश का परिवर्तित नाम ही नहीं है, रूप भी है। लाहौर में मजदूरों की विपन्नता उसके हृदय में अहिंसात्मक क्रांति की शक्ति संचित करती है। वह दिन-रात यही सोचता है कि आकाश में गरजने वाली बिजली की तरह मजदूरों की शक्ति क्रांति के तार मे कैसे पिरोई जाए। यही हरीश का परिवर्तित रूप है जो स्थिर न रह कर गत्यात्मक है।

हरीश का चरित्र परिस्थितियों का दासत्व स्वीकार नहीं करता। बी० एम० और दादा के विरोध तथा सरकार की कड़ी दृष्टि से बचकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। विभिन्न विषयों पर उसके अपने स्वतंत्र विचार हैं, जिन्हें वह परिस्थिति व वातावरण के अनुकूल सशक्त शब्दों में अभिव्यक्त करता है। अदालत में उसका दिया हुआ भाषण गोर्की के 'मां' के प्रसिद्ध पात्र पवेल के भाषण सम ही प्रभावपूर्ण है।

'दादा कामरेड' का वस्तु विन्यास और व्यक्ति योजना समाजोन्मुखी होने के कारण वहिर्मुखी शिल्प विधान के अन्तर्गत रखी जायगी। इसमें राजनीति, सामाजिक मान्यताएं, आर्थिक अवस्था, प्रेम तथा औचित्य का प्रतिपादन किया गया है जो वस्तु प्रधान है, न कि शिल्प प्रधान।

देशद्रोही—१९४३

देशद्रोही मे जीवनगत अनुभूति और कल्पना का समन्वय करके कथावस्तु संयोजित की गई है। कथा का विकास 'दादा कामरेड' के ढर्रे पर होता है। उपन्यास की प्रारम्भिक 'अजानी अंधेरी राह' में ही कौतूहल अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गया है—फौजी डॉक्टर खन्ना को कुछ वजीरी न जाने किस लोक की सैर कराते है। आगे चलकर

---

२. दादा कामरेड पृष्ठ—२२८

३. वही—पृष्ठ २०३

'समय का प्रवाह' में खन्ना के अतीत पर प्रकाश डाला गया है। समस्त कथा को उपशीर्षक देकर अध्यायों में वर्णित किया गया है। इस रचना में कथा 'दादा कामरेड' की अपेक्षा सुगठित नहीं हो पाई किन्तु दो-तीन अध्यायों में ही अपने पूर्ण उभार पर आकर बैठ गई है। क्रम से 'अपने की चाह' नामक अध्याय सर्वाधिक प्रभावपूर्ण है।

'अपने की चाह' में यशपाल ने सशक्त औपन्यासिक अभिव्यक्ति का परिचय दिया है। इसमें कथाकार ने एक भाव को पकड़ कर उसके सभी पहलुओं और समस्त सीमाओं का चित्रण किया है। एक ओर डाक्टर खन्ना अपनी विवाहिता राज के बारे में अधिक-से अधिक समाचार पाने के लिये इच्छुक दिखाए गए हैं, दूसरी ओर राज की बहन चन्दा है, जिसे खन्ना के जीवित रूप की कल्पना मात्र से पुलकन प्राप्त होती है। बहन के भविष्य की चिंता में उसकी मानसिक अवस्थाओं का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। खन्ना-चन्दा भेंट उपन्यास की नाटकीय घटना है, जिसमें एक ओर करुणा का स्रोत बहाया गया है, दूसरी ओर क्रीड़ा-भरी रोमांस की उद्भावना की गई है।

आठ दिनों के सम्पर्क और सहवास के बाद एक दिन डॉ० खन्ना चन्दा से कहते हैं—"जीवन दीप किसीका नहीं था हो गया, हो गया।" कथाकार ने स्वयं अगली पंक्तियों में खन्ना के शब्दों के प्रभाव को स्पष्ट किया है—"चन्दा के उस वाक्य के पहले भाग ने नश्तर के चुभने की-सी पीड़ा दी। पिछले भाग ने नश्तर के घाव से पीड़ा के कारण निकल जाने जैसी सान्त्वना।"[1] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि 'देशद्रोही' में घटनाओं का चित्रण ही नहीं है उनका विश्लेषण और व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है। इस संबंध में सुरेशचन्द्र तिवारी लिखते हैं—"कथानक में लम्बे वर्णनों द्वारा सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है और दूसरे कथा के प्रवाह में कहीं-कहीं बाधा पहुँची है। ये वर्णन उपन्यास-कला की दृष्टि से नीरस हैं। यशपाल ने चित्रों में रेखाओं से काम न चलाकर आवश्यकता से अधिक रंग भरने का प्रयास किया है।"[2] मेरे विचार में इस प्रकार के वर्णनों का संयोजन वर्णनात्मक उपन्यास में शिल्प की दृष्टि से एक आवश्यकता बन गया है। प्रेमचन्द, प्रसाद और कौशिक के उपन्यासों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। इसके द्वारा ही समाज और जीवन के व्यापक रूप का चित्रण संभव होता जाता है। ये वर्णन ही इन कलाकारों में व्यापकता तत्त्व के पोषक हैं। इनके कारण ही इन उपन्यासों में तेजस्विता, सूक्ष्मता और गहराई का अभाव रह जाता है।

डॉ० खन्ना इस उपन्यास का नायक है। इसे एक क्रान्तिकारी भ्रमणशील प्रगतिवादी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से यह एक टाइप चरित्र है। देशद्रोही की घटनाएं और परिस्थितियां डॉ० खन्ना के वर्गगत पात्र बने रहने में बाधक सिद्ध हुई हैं। उसके चरित्र का विकास लेखक ने जिस दिशा में ले जाना चाहा है—बेबस विवशता के कारण वह उस दिशा में खिसक कर दूसरी दिशा की ओर वह निकला है। कथा के पूर्वार्द्ध तक खन्ना जीवन की कुछ अनुभूतियां संचित करके रूस आदि देशों में भ्रमण कर भारत

---

१ देशद्रोही—पृष्ठ २२६

२ यशपाल और हिन्दी कथा-साहित्य—पृष्ठ ९८

लौटता है। यहां राजनैतिक विचार-धारा का प्रचार ही उसके जीवन का मूल उद्देश्य है। वह अपने चरित्र पर दृढ़ रहना चाहता है, किन्तु उपन्यास के उत्तरार्द्ध की घटनाएं उसके वर्गगत चरित्र को वैयक्तिक रूप प्रदान करती है। चारित्रिक विकास की दृष्टि से यह एक विपर्यस्त (Pervert) की अवस्था है।

खन्ना एक राजनैतिक पार्टी का कर्मठ नेता बनकर भारत लौटता है किन्तु सैक्स, वासना और कामेच्छा ही उस पर छा गई है। स्त्री-पुरुष के उन्मुक्त प्रेम और मुक्त-मिलन में उसका दृढ़ विश्वास है। इसीलिए वह नि.संकोच चंदा से प्यार की भीख मांगता है और उसके प्यार का आश्रय पाकर ही जीवन शक्ति जुटा सकता है। परिस्थिति उसे यह अवसर भी प्रदान कर देती है—उसे चंदा का प्यार मिलता है, किन्तु यह प्यार असामाजिक हैं, अतः संघर्ष-मूलक है। खन्ना के जीवन का अन्त प्रेम के कारण नही इस प्रेम-जनित संघर्ष के कारण होता है जिसमें चंदा के पति राजाराम की चिन्ता, आशका और अन्तिम उग्र रूप द्रष्टव्य है।

वैयक्तिक बन जाने के कारण खन्ना का चरित्र स्थिर न रह कर गत्यात्मक (Dynamic) बन जाता है।

चंदा इस उपन्यास की नायिका है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की समस्त घटनाएं इसी के आस-पास घूमती है। चदा के चरित्र का उद्घाटन करते समय यशपाल 'दादा कामरेड' की शैल को नही भूले हैं और चंदा की परिस्थितियों की चिन्ता न करते हुए भी उसका समस्त चारित्रिक विकास शैल के अनुरूप कर दिखाया है।

मनुष्य के रूप—१९४९

'दादा कामरेड' तथा 'देशद्रोही' और 'दिव्या' के ही ढर्रे पर 'मनुष्य के रूप' की रचना हुई है। इसका विषय भारतीय नारी है। समस्त कथा दस अध्यायों में विभाजित की गई है। प्रत्येक अध्याय का नामकरण उसमें प्रतिपादित विषय के अनुकूल किया गया है। इस उपन्यास का कैनवास पहली कृतियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत है।

'मनुष्य के रूप' वर्णनात्मक शिल्प विधान के अन्तर्गत आता है। इसमें एक नारी पात्र (सोमा) की कथा को विभिन्न परिस्थितियो में चित्रित किया गया है। सोमा की समस्त जीवनी सामाजिक परिस्थितियो के आधीन होकर चलती है, उसे क्रमशः धनसिंह, बेरिस्टर सरोला, बरकत और पुतली वाला की वश्यता स्वीकार करनी पड़ती है। परिस्थितियो के घात-प्रतिघात मनुष्य के बदलते हुए रूप को उसके यथार्थ रूप से कहीं अधिक परिवर्तित रूप में प्रकट करते है। कथा में अन्तर्मुखी द्वन्द्व अधिक नही उभर पाए है, क्योंकि उपन्यासकार का उद्देश्य सोमा की बहिर्गत परिस्थितियों को चित्रित करना था।

सोमा के जीवन में आई समस्त घटनाएं स्वाभाविक नही है। धनसिंह से अलग करने के लिए ही दोनों को बैजनाथ में सिपाही के हाथो सौंप दिया गया है। थाने पहुंच कर धनसिंह की वही दशा दिखाई गई है जो पुलिस द्वारा पकड़े गए चोर की हो, किन्तु सोमा का रोना तथा दूसरी प्रकार के अभिनय करना, पुलिस को द्रवीभूत कर लेना, अस्वाभाविक बातें हैं। तत्कालीन पुलिस अपने अति पाशविक रूप के लिए प्रसिद्ध रही है। इसके पश्चात्

अदालत की कारवाई शीघ्र समाप्त करा दी गई है। धर्नसिंह को जेल सोमा को नई परिस्थिति मे डाल देने के लिए दिखाई गई है। जेल से छूटने पर वह पुन सोमा को प्राप्त करता है, किन्तु एक कत्ल के अभियोग से भयभीत हो फरार हो जाता है, तब परिस्थितिया सोमा को बैरिस्टर सराला के निकट आने का अवसर देती है। 'प्रतिष्ठित लोग' नामक अध्याय मे उनका रोमास अपने पूरे यौवन पर पहुच जाता है। बरकत-सोमा सामीप्य की कथा भी परिस्थिति जनित है। सराला के मा-बाप जब अनुभव करने लगते है कि उनके परिवार म सोमा की स्थिति सीमा से ऊपर हो उठी है तो उसे घर से निकल जाने पर बाध्य कर देते हैं। वह परवश होकर बरकत के साथ बम्बई पहुच जाती है।

सोमा-बरकत कथा परिस्थिति के प्रभाव की उत्तम कथा है। वही सोमा जो कभी बरकत की प्रार्थना "सरकार जरा गरीबो का भी ख्याल रहे" पर त्योरी चढाकर कहा करती थी—"क्या कहना है, जो कहना है साहब से कहो," अनेक बार उसके तिरस्कार का भाजन बनती है। 'मरण का मूल्य' नामक अध्याय मे बरकत सोमा को डटकर मारता है, अवांछित गालियां देता है। यहीं एक प्रश्न उत्पन्न होता है। इस दारुण परिस्थिति मे भी सोमा बरकत के साथ क्या रही। इसका उत्तर भी उपन्यास मे ही दे दिया गया है। सोमा के लिए प्रमुख समस्या जीवन-यापन की समस्या है। वह नारी है और नारी को एक आश्रय की आवश्यकता रहती ही है। भले ही वह आश्रय उसके मनोनुकूल हो अथवा प्रतिकूल।

'पुन परिचय' म धर्नसिंह को मुख्य कथा मे बरबस लाया गया है। वह सोमा सुलतीवाला रोमास की कथा सुनकर आग बबूला हो उठता है, मरने-मारने को तैयार हो जाता है किन्तु परिस्थितिवश उसके स्थान पर भूषण की मृत्यु दिखाई गई है। यह भूषण कौन है?

भूषण एक राजनैतिक दल (साम्यवादी दल) का कर्मठ सदस्य है। 'भद्र समाज' नामक अध्याय म इसका परिचय लाला ज्वाला सहाय के परिवार के वर्णन के साथ दिया गया है। ज्वाला सहाय की पुत्री मनोरमा का भूषण से प्यार है, किन्तु यहा राजनैतिक परिस्थितिया दोनो के प्रेम अभिनय म बाधक हैं। भूषण द्वारा दी गई प्रेम की परिभाषा मार्क्सवादी परिभाषा है—"और सब चीजो की तरह जीवन मे प्रेम की गति भी द्वन्द्वात्मक है। प्रेम जीवन की सफलता और सहायता के लिए है, यदि प्रेम बिल्कुल छिछला और चिपला रह तो वह केवल वासना-मात्र बन जाता है और यदि जीवन मे प्रेम या आकर्षण का संयम विवेक से न हो तो वह जीवन के लिए घातक भी सिद्ध हो सकता है। जल को देखती हो, इसमे से उष्णता बिल्कुल निकल जाए तो वह बर्फ बन जाता है, उसमे गति नहीं रहती। उष्णता एक सीमा मे अधिक बढ़ जाए तो वह भाप बनकर उड जाता है।"[1]

मनोरमा का मन खिन्न रहता है क्योंकि वह अपने भाई सरोला तथा सोमा को उन्मुक्त प्रेम के ... म विचरण करते हुए देखती है। उसकी परिस्थिति भिन्न है।

1 . . ९६

भूषण की ओर से उसके प्रेम को प्रोत्साहन नहीं मिलता। वह मुनलीबाला से विवाह करती है, किन्तु परिस्थिति उसे 'अपनी-अपनी राह' में पुनः भूषण के निकट ले आती है। मनोरमा मुक्त वातावरण में विचरण करने का अवसर पाती है, किन्तु भूषण की मृत्यु उसकी सब योजनाओं पर पानी फेर देती है। उसकी मानसिक अवस्था की जर्जर दशा के साथ-साथ कथा समाप्त हो जाती है।

'मनुष्य के रूप' में दस अध्यायों में से आठ में सोमा की कथा है। इसलिए यही उपन्यास की नायिका है। 'गृहस्थ की मरीचिका' में मनोरमा की ही कथा है, मालिकों की अदला बदली में धनसिंह से सबंधित घटनाएं तथा राजनैतिक परिस्थितियों की विपद चर्चा है, जिनका कथा से कम संबंध है, सिद्धान्तों की व्याख्या ही की गई है। फौजियों के रहन-सहन और नारियों के प्रति दुर्व्यवहार का चित्रण भी मिलता है। छोटी छोटी घटनाएं विस्मृत हो जाती हैं, क्योंकि उनका मुख्य कथा से संबंध नहीं जुड पाया। उपन्यास को यथार्थवादी कृति बनाने के लिए जो अश्लील वाक्यावली प्रयुक्त हुई है, वह भी आलोचना का विषय है। बम्बई में साम्यवादी पार्टी के दफतर का ब्यौरा भी अनावश्यक है।

सोमा उपन्यास की नायिका है। विधवा होने के नाते इसे भी आरम्भ में एक प्रतीक पात्र के रूप में संयोजित किया गया है, किन्तु कथाकार उसके चरित्र को इतना गतिशील बना डालता है कि वह प्रतीक पात्र से दूर हटकर वैयक्तिक बनती दृष्टिगोचर होती है। 'प्रतिष्ठित लोग' में उनके द्वारा किया किया गया समस्त अभिनय वैयक्तिक पात्र की सशक्त लीला है। वरकल के सम्पर्क में रहकर वह पुनः दीन-हीन-पराधीन नारी का प्रतीक बन जाती है और अभिनेत्री के रूप में वैयक्तिक रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार उसका जीवन दो रूपों को लेकर विकसित होता है। जब वह परिस्थितियों के आगे झुक जाती है, तब एक दीन-हीन अबला दिखाई देती है और जब परिस्थितियों से ऊपर उठती है तब वैयक्तिक विशेषताओं से सुसज्जित हो जाती है। अन्त में तो वह यह सिद्ध कर देती है कि वह अशिक्षित इसलिए नहीं थी कि उसमें क्षमता नहीं थी, बल्कि इसलिए कि उसे उचित अवसर न मिला।

सोमा सुन्दरी है, चतुर भी है। नवीनता के प्रति उसके हृदय में जिज्ञासा के साथ-साथ उसके साथ तादात्म्य की उत्कृट इच्छा भी है। अवसर का लाभ उठाकर वह नृत्य, गीत, अभिनय आदि कलाओं में पारंगत हो जाती है। मनुष्य के कितने रूप हो सकते हैं, यह उसके चरित्र द्वारा उद्घाटित किया गया है—मनोरमा चिंतन का विषय बनाकर मनन करती है—"आदमी क्या है और उसके कितने रूप हो सकते है। एक दिन भूषण सोमा को 'धर्मशाला' में कुत्तों के भय से कांपती हुई बकरी की सी अवस्था में लाया था। धनसिंह के लिए इसका जान देना, पुलिस के भय से इसका गर्भपात, इसका बाजार जाने से डरना। भैया की उसपर ज्यादती। बड़ी भाभी का अत्याचार। आज यह दुनिया को अंगूठा दिखा रही है···।"[२] लेखक ने इस उपन्यास में भी अपने अन्य उपन्यासों के पात्रों की भांति एक प्रतिनिधि पात्र को अन्तिम सोपान तक पहुंचाने से पूर्व वैयक्तिक रूप दे दिया है।

---

२. मनुष्य के रूप—पृष्ठ ३२१-२२

गुरुदत्त

आधुनिक हिन्दी उपन्यासकारों में सबसे अधिक ख्याति अर्जित करने वाले उपन्यासकार श्री गुरुदत्त हैं। शायद ही कोई पुस्तकालय हो, जिसमें आपके द्वारा लिखा एक सेट या एक दर्जन उपन्यास न हों। गुरुदत्त अनुभूति और भाव पक्ष के साथ-साथ वस्तु तत्त्व तथा चरित्र चित्रण के उपासक हैं, शिल्प कौशल आपके लिए गौण बन जाता है। अपनी एक भेंट में आपने मुझे बताया—"शिल्प तो कारीगरी है जो बहुत उपकारी होते हुए भी वास्तविक चीज नहीं है। वह तो साधन है, कथ्य को निखारने का साधन, साध्य उसे कैसे स्वीकारा जाए। उपन्यासकार के मन बुद्धि और आत्मा को व्यवस्थित करना होता है, अतएव उसे स्वयं स्वाध्याय करना चाहिए। इनके स्रोत का पता लगाना चाहिए। जब उसके विचार निश्चित, स्थिर और परिपक्व हो जाएं, तभी लेखनी उठानी चाहिए। इनके स्रोत का पता लगाना चाहिए। वस्तुत उपन्यास कम आयु में लिखने आरम्भ नहीं करने चाहिए। जब उपन्यासकार पैंतालीस वर्ष का हो जाए, तब उसे लेखन कार्य आरम्भ करना चाहिए। जब उसके विचार निश्चित, स्थिर और परिपक्व हो जाएं, तभी लेखनी उठानी चाहिए। जब बुद्धि स्थितप्रज्ञ अवस्था को प्राप्त करने लगे, तब समझो लेखनी उठाने का समय आ गया। इससे पूर्व अनुभव अर्जित किए जाओ। मैंने लाहौर में एम० एस-सी० पास करके डिमॉन्स्ट्रेटर का कार्य किया। लाला लाजपतराय के नेतृत्व में राजनीति का अध्ययन किया, फिर वैद्य बना और क्रान्तिकारी भी। सन् २१ के आन्दोलन में भाग लिया। अध्ययन अभी भी तीन चार घंटे नियमित रूप से करता हूं और बिना लिखे तो मानो मन को शान्ति ही नहीं मिलती। गांधी दर्शन में मेरी कोई आस्था नहीं। वे अहिंसा के नाम पर समझौता कर लेते थे।[1]

श्री गुरुदत्त ने प्रचुर मात्रा में जो उपन्यास लिखे हैं, उनमें विचार पक्ष ऊपर उभर आया है। वस्तु स्थिति यह है कि वस्तु सगठन, शिल्प और शैली की ओर उनका ध्यान कम हो गया है। शिल्प को तो उन्होंने उपकारी मानते हुए भी अवास्तविक, औपचारिक तथा द्वितीय श्रेणी की चीज माना है। वैयक्तिक मत एवं विचारणा को ही आप प्रमुख तत्त्व मानते हैं। इसीलिए आप अपने शिला जैसे दृढ़ विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए ही कथा साहित्य की सर्जना कर रहे हैं। अपने प्रसिद्ध उपन्यासों—'उमड़ती घटाएं', 'एक और अनेक', 'कला', 'गंगा की धारा' और 'गुंठन' में आपने भारतीय राजनीति के बदलते परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों को उठाया है और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने उपन्यासों की कथाओं तथा पात्रों द्वारा समाज की शाश्वत समस्याओं विवाह, प्रेम, अनैतिक संबंध, नारी स्वतन्त्रता, जारज सन्तान आदि पर विस्तार के साथ विचार किया है और उनका इतिवृत्तात्मक रूप प्रस्तुत करने के कारण आपके उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प विधि के अन्तर्गत आते हैं।

कला—१९५३

'कला' कला के मूल प्रश्न को लेकर लिखा गया वर्णनात्मक शिल्प-विधि का

---

१ श्री गुरुदत्त से उनके औषधालय पर भेंट वार्ता—दिनांक २५ ५-६८

अन्यतम उपन्यास है। यहाँ सृजन की मूल प्रेरणा कला के प्रति उपन्यासकार के मन में उभरे वे प्रश्न हैं जो जब तक उसकी बुद्धि और आत्मा को घेर लेते प्रतीत होते हैं। कथा नायक सुमन एक भावुक कवि है जो अपनी कला को ढूंढने के लिए लक्ष्यहीन यात्रा पर चल पड़ता है। इस यात्रा में उनकी भेंट विद्याधरी नामक एक प्रौढ़ नर्तकी से हो जाती है, जो उसे दीन-हीन अवस्था में देखकर भी इसलिए अपने साथ बम्बई ले आती है कि उनसे गीत बनवाए तथा अपना स्थायी सहवासी बना ले। सुमन को अपनी जीवन सहचरी की तलाश अवश्य है किन्तु वह इस प्रौढ़ा में न अपनी प्रेरणा का स्रोत पाता है, न जीवन की तृप्ति। उसकी दृष्टि विद्याधरी के घर में पली एक जारज कन्या इन्दु पर पड़ती है और उसमें उलझ कर रह जाती है। शेष कथा फिल्मपट पर आए दृश्यों जैसी होकर भी नाटकीय नहीं बन पाई, इतिवृत्तात्मकता के आधिक्य ने इसे वर्णनात्मक बना दिया। गुरुदत्त वर्णनात्मक शिल्पी बन कथा के सूत्रों को दृढ़तापूर्वक पकड़े हैं।

कथा का मुख्य सूत्र सुमन-इन्दु प्रेम और प्रेम जनित व्यवहार है, पर इसके परिप्रेक्ष्य में जो अन्य प्रसंग आए हैं, मुख्य रूप से जॉनी-सुमन प्रसंग तथा नुनाई-सुमन प्रसंग, ये आधुनिक युग में प्रेम की जटिलता के परिचायक हैं। सुमन के जीवन में विद्याधरी, इन्दु, जॉनी, नुनाई ये जो चार स्त्री पात्र आते हैं, ये आधुनिक भारतीय जीवन की बदलती सामाजिक और नैतिक अवस्था पर खुलकर प्रकाश डालते हैं। सीता-सावित्री की पुण्य भूमि पर वेश्याओं का जाल फैल जाना, पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का दुराव के साथ अपने पंजे में भारतीय जन-मन को जकड़ लेना और कला का सौदा होना, वे मूल प्रश्न हैं जो उपन्यास के लगभग हर पृष्ठ पर उभरे हैं। सुमन की कविताओं में भारतीय संस्कृति तथा कला की स्पष्ट छाप है।[२] वह विद्याधरी के घर रह कर मात्र जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति और मान-सम्मान चाहता है। कला का पारिश्रमिक लेना पाप समझता है, कला का अपमान समझता है। कला को आत्मा की वस्तु बताते हुए इन्दु से वह कहता है—"कला के विषय में क्यों का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। वह मनुष्य प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु है। मनुष्य की प्रकृति क्यों ऐसी बनी है, कहना कठिन है। क्यों मनुष्य प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में भगवान के भजन में लीन होना चाहता है, इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। वास्तव में मनुष्य प्रकृति ही ऐसी है। इसी प्रकार स्वरों का एक विशेष प्रकार का संग्रह, क्यों एक विशेष प्रकार के उद्‌गार उत्पन्न करता है, यह युक्ति का विषय नहीं।"[३] मानसिक शान्ति और कला की खोज में भटके सुमन को महात्मा जी उत्तर काशी में कहते हैं—"भागवान की माया में वे पदार्थ कला का विषय हो सकते हैं, जो शाश्वत सौंदर्य के हैं। अर्थात महापुरुषों के मन और आत्मा। छोटे दर्जा के प्राणी, जिनमें सौंदर्य केवल शरीर का ही है, इतने कम काल के लिए सुन्दर रहते हैं कि उनके लिए निर्माण की हुई कला स्वयं छोटी वस्तु रह जाती है। छोटों की संगत में कोई बड़ा

---

२. कला—पृष्ठ १० से १५, २२, २३, २७, ३१, ४१ से ४२, ४४ से ४६, ४९ से ५१, ७३, ९९, १०६, ११०, ११४, १४४, १४५,

३. वही—पृष्ठ ४९

नहीं बन सकता।"[४]

सुमन का जीवन वृत्तान्त वर्णनात्मक है। उसकी भटकन, उसकी विचारणाएं और सामाजिक परिस्थितियों म भारी विषमता है। इसीलिए वह कहीं एक स्थान पर टिक नहीं सका। वह अपने को भाग्य रूपी नदी मे एक छोटी सी नौका मानने वाला भाग्य-वादी पात्र है। उसके जीवन वृत्तान्त से सम्बद्ध उसकी प्रेमिका इन्दु का जीवन सूत्र बडा रोमांचक एवं कुतूहलवर्धक है। इन्दु के अपने पिता से सहवास का प्रसग एक भारी भर-कम प्रश्नचिह्न लेकर अवतरित होता है। इस प्रकार के सम्पर्क का परिणाम क्या है? इन्दु को जब यह ज्ञात हुआ तो वह दुःखी, क्षुब्ध और स्तब्ध हो आत्महत्या तक के लिए तैयार हुई। इस प्रसग द्वारा लेखक आज के जीवन मे फैली अनैतिकता और अवैध सबधो की विभिन्न स्तरो पर विभिन्न रूपो और आयामो में विस्तार के साथ चर्चा का विषय बना गया है। कही स्वय, कही सुमन, कहीं इन्दु और कहीं स्वामी जी इस प्रश्न पर सविस्तार समूत्र उद्घाटन करते चलते हैं। विद्यार्थी जीवन मे यौन इच्छाओ का वेग और पश्चिमी सस्कृति का अनुकरण करते हुए हमारे युवक-युवतियों का इसपर कोई नियत्रण न रखी कारना ही समस्या का मूल कारण है। फिल्मी आकर्षण और समसामयिक गीतो के माध्यम से भी नई पीढ़ी कुछ मानसिक तनावों और खिचावो की अनुभूति कर पथ भ्रष्ट होती है। कथाकार ने जॉनी के द्वारा आधुनिकाओं के रहन-सहन, बोलचाल, हाव-भाव, सस्कार और सभ्यता को सशक्त अभिव्यक्ति दी है, जो सुमन के नकारने पर भी उसपर अपने जादू का डोरा फेंकती जाती है और एक बार उससे विवाह के लिए हां कहलवा कर विवाह पूर्व ही सहवास का प्रस्ताव रख देती है।

इन्दु के जीवन म उभरी असगतियां परिवेश जनित हैं। वे विद्याधरी के घर पलने, सेठ की रखैल बनने और फिल्मी ससार के सम्पर्क में आने का परिणाम हैं। इन्दु के प्रसग को लेकर ही कथाकार की सृजन प्रक्रिया क्रियाशील हुई है। जब इन्दु को पता चला कि वह जारज सतान है, तब उसे अपने जीवन की सार्थकता मे ही अनास्था उत्पन्न हो गई। कुशल कथाकार ने उसके चेहरे के उतार चढ़ाव व मानसिक स्थिति का यथार्थपरक चित्रण कर आधुनिकता के नाम पर प्रेम सबधो पर एक मीठी चुटकी लेते हुए कहला दिया— "मुझको यह भी पता चल गया कि अनजाने में एक और पाप हो गया है। तुम अपने पिता की पत्नी भी बन गई हो। यह एक अति विकट समस्या है। इस अवस्था मे इस घोर अना-चार का प्रायश्चित करना अत्यावश्यक है। सेठजी तो साधु हो जाने के लिए घर से भाग जाने वाले थे और सुना कि तुम समुद्र मे डूब मरने की बात कह रही हो।"[५]

आत्महत्या भी समस्या का समाधान नहीं, इस सबध में उपन्यास की पात्रा मन्दा-किनी ने कह दिया कि आत्महत्या कर इस ससार से बाहर जा सकोगी क्या? इसी प्रसग के अन्तर्गत उपन्यासकार ने पुनर्जन्म का प्रश्न उठाया है। वस्तुत कथाकार का लक्ष्य कथा लिखना प्रतीत नहीं होता। कथा के माध्यम से पुनर्जन्म की वकालत करना आभासित

---

४ कला—पृष्ठ २६०

५ वही—पृष्ठ १५६

होता है। पूर्व जन्म के पाप के कारण ही सुमन के माता-पिता पुत्र सेवा से वंचित रहते हैं; पूर्वजन्म में प्रेम के कारण इन्दु-सुमन प्रेम और विवाह होता है, परन्तु उसमे किसी पाप के कारण सुमन भटकता है और इन्दु महान त्याग और तपस्या करने पर ही सुमन को प्राप्त करती है।

गुण्ठन—१९५५

गुरुदत्त के प्रत्येक उपन्यास की रचना सांस्कृतिक आवश्यकताओ के द्वारा हुई है, किन्तु 'गुंठन' संस्कृतियों और व्यक्तियों का मिलन विन्दु है। इसमे सामाजिक आस्था को (आदर्श) तथा पारिवारिक व्यावहारिकता (यथार्थ) को एक विन्दु पर ला खड़ा करने का महान कार्य लेखक ने किया है। प्राचीन संस्कृति के परिवेश में पला परिवार भी नए टाइप के व्यक्ति को जन्म दे सकता है, यह विनोद की जीवनी से स्पष्ट हो जाता है। यह एक संस्कृति के ह्रास होने की भयावह स्थिति है जिसकी सुरक्षा हित श्री गुरुदत्त दत्त-चित होकर परिवर्तित हो रहे युग धर्म को पुराने आयाम मे ले आने का प्रयत्न अपने कथा-साहित्य द्वारा करते है। 'गुंठन' का व्योवृद्ध नायक भगवतस्वरूप भारतीय संयुक्त परिवार की संस्था में अडिग आस्था रखता है और इसे भारतीय संस्कृति का आधार स्तम्भ मानते हुए सभी पात्रों को इसके प्रति श्रद्धा रखने की प्रेरणा देता है, जवकि उसी का पुत्र विनोद और पुत्र वधू नलिनी निर्धारित मान्यताओ के प्रति द्रोह कर नई संस्कृति (पश्चमी संस्कृति) को अपना कर जीवन की कशमकश तथा तनाव की अनुभूति करते है।

'गुंठन' में श्री गुरुदत्त वर्णनात्मक शिल्प-विधि को अपनाते हुए अन्य पुरुष शैली में इस उपन्यास की सर्जना करते हैं। कथा का सूत्र दृढ़तापूर्वक पकड़ कर वे एक समाज-सुधारक वन कही स्वयं तो कहीं पात्रों द्वारा उपदेश देने और दिलाने की पूरी सुविधा प्राप्त किए है। 'गुंठन' में एक ओर संयुक्त परिवार के परिप्रेक्ष्य में घटनाओं और पात्रों को घुमाया गया है, दूसरी ओर इससे विच्छिन्न हुए पात्र और घटनाएं टूटे परिवार में उत्पन्न व्यापक विस्फोट के प्रमाण है। 'परिवार क्या होना चाहिए' इस विषय को लेकर लिखा गया उपन्यास लक्ष्योन्मुखी होगा, इस पर दो मत नहीं हो सकते। इसमे जीवन की व्याख्या के साथ साथ जीवन की समीक्षा का समावेश इसकी लक्ष्योन्मुखी प्रवृत्ति का परिचायक है। उपन्यास की कथा, घटना और पात्र उपन्यासकार की लक्ष्यप्रियता का शिकार हुए हैं। जिन पात्रों में सुवह के भूले सायं को घर आकर संयुक्त परिवार में आस्था प्रकट करने की चाहना है, वे सुखी है—जैसे नलिनी और कान्ता, पर वे पात्र जो विश्रृंखल परिवार के पोपक वने रहना चाहते है विनोद की भान्ति अंत में जाकर दो वार पागल होते हैं। विनोद पहली वार उस समय पागल हुआ जव क्लव में जाकर जुआ खेलते और साथियों को धोका देते रंगे हाथों पकड़ा गया और गर्वनर की सिफारस पर रिहा तो हो गया किन्तु नौकरी से अलग कर दिया गया और दूसरी वार उस समय जव संयुक्त परिवार में रह कर घुटन, ऊव और तनाव सहते सहते निराश हो गया। नलिनी-विनोद संवंधित कथा कहीं द्रुत तो कहीं मंद गति से बढ़ी है, जवकि सुरेश-कान्ता गाथा की गति पहाड़ी नदी की तरह तूफानी ही वनी रही। इसमें संयोजित दुर्घटनाएं भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उभरी हैं।

सुरेश के पिता रामस्वरूप को उसके पड़ोसी रामशरण ने मूर्ख बनाया और वह अपने ही कमठ, त्यागवान, शीलवान पुत्र से लड़ पड़ा। वास्तव में उपन्यासकार अपनी कथा और घटनाओं के द्वारा यह बताना चाहता है कि मनुष्य के जीवन में संयुक्त परिवार की जो महिमा है, वह अपार है और अपने सगे जितने हितैषी हो सकते हैं, अन्य लोग नहीं। सुरेश रामस्वरूप विवाद में वकील प्रसंग द्वारा भी यही सिद्ध कराया गया है।

'गुंठन' के पात्र जीवन की एक विशेष स्थिति के उद्घाटक हैं। भगवत स्वरूप, सुशीला, भूषण, सुरेश, कान्ता तो आदर्शवादी और आस्थावादी हैं ही, कथाकार मीनाक्षी, नलिनी, रामशरण और उसकी पत्नी को भी संयुक्त परिवार संस्था का उपासक बनाने में सफल हो गया है। मात्र अपवाद विनोद है जो नई शिक्षा तथा अफसरशाही की दासता के परिणामस्वरूप इसकी बुराईयों का वाहक बना है। वह भी जीवन की उस स्थिति का उद्घाटक है जिसमें नई शिक्षा और पश्चिमी संस्कृति हमारी नई पीढ़ी को नष्ट कर उसका सत्यानाश करते हैं।

विचार प्रतिपादन अधिकतर उपन्यासकार प्रत्यक्ष विधि द्वारा प्रस्तुत करता है। उपन्यासकार ने कथा का आरम्भ करने से पूर्व एक विचार प्रस्तुत किया है—"किसी माता-पिता के लिए जीवन की सबसे अधिक आनन्दप्रद घड़ी वह होती है, जब वे अपनी सन्तान को स्वस्थ, सुन्दर, सुखी और सब प्रकार से सम्मानित देखते हैं। एक सम्राट की भांति, जो प्रजा को धन धान्य से सम्पन्न, सुख-सुविधा से युक्त और निर्भय देखता है, वे भी अपनी सन्तान को देख वैसा ही सुख अनुभव करते हैं। वे जानते हैं कि यह उनके जीवन भर के परिश्रम का फल है। ये हैं, जो वे निर्माण में सफल हुए हैं। ये सुन्दर हैं, सबल हैं, स्वस्थ हैं, सुखी हैं और लोक में सम्मानित हुए हैं, ऐसा विचार ही उनको आनन्दित करने में पर्याप्त है।'[६] भगवत किशोर में अपनी इस विचारणा को प्रतिष्ठित करते हुए आगे वे कथा का आरम्भ करते हैं।

'गुंठन' में विचार पक्ष कथा और चरित्र चित्रण की अपेक्षा प्रबल है। कथा में कहीं अस्वाभाविकता, असंगति, विशृंखलता भले ही आ गई हो, पात्रों का चारित्रिक विकास भले ही सदिग्ध हो, परन्तु विचार पक्ष अत्यन्त पुष्ट है। संयुक्त परिवार के टूटने पर भारत में जो स्थिति उत्पन्न हुई है, उस पर कथाकार खुल कर प्रकाश डालता है। पति-पत्नी में दुराव, दोनों का आय के साधनों को बढ़ाने के लिए घर से निकलना, बाहर के वातावरण में पुरुष का पर-स्त्रीगामी बनना, स्त्री के सतीत्व पर आंच आना, दोनों की अन्तश्चेतना में तनावात्मक स्थिति उत्पन्न होना शाश्वत समस्याएं हैं जिन पर कथाकार की दृष्टि गई है। भगवत्स्वरूप का पुत्र विनोद विशृंखल परिवार का कायल बन नई विचारणा का प्रचारक है तो उन्हीं का दूसरा पुत्र भूषण संयुक्त परिवार का कायल। विनोद विवाह से पूर्व नलिनी से प्रेम करता है और विवाहोपरान्त दोनों एक ही छत के नीचे रहते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं। भूषण विवाह से पूर्व मीनाक्षी के स्पर्श को वासना, पाप और अनैतिकता की संज्ञा देकर उसे भारतीय परिवार की महिमा बताते हुए उस परिवार

---

६ गुंठन—पृष्ठ १

में सम्मिलित होने से पूर्व उसके परिवेश को समझने और तदनुसार अपने को उसके लिए मन, कर्म, वचन से तैयार करने की प्रेरणा देते हुए कहता है—"जैसे किसी समाज में रहने के लिए उस समाज का आचार-विचार अपनाना पड़ता है, वैसे ही किसी परिवार में रहने के लिए उस परिवार के जीवन प्रकार को स्वीकार करना होगा है। ''मन कलुषित होने पर परिवार की भावना टूट जाती है। एक परिवार में रहने के लिए परस्पर स्नेह, सहानुभूति और सहयोगिता चाहिए।"[७] हिन्दू समाज की मूलभूत बात पर स्वामी शिवानन्द बताते हैं कि विचार की स्वतन्त्रता और व्यवहार पर स्मृति का नियंत्रण ही इसकी रीढ़ है। हिन्दू समाज और हिन्दू परिवार त्याग, तप और आध्यात्मिक मूल्यों को प्रश्रय देने के कारण श्रेष्ठ है और श्री गुरुदत्त उसके उपासक है। वे अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र-सर्वत्र हिन्दू संस्कृति की वरीयता को प्रश्रय देते है।

आखिरी दांव—१९५०

'आखिरी दांव' और 'अपने खिलौने' लिख कर भगवती बाबू ने 'चित्रलेखा' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' द्वारा अर्जित ख्याति को ठेस लगाई। 'आखिरी दांव' में लेखक ने फिल्मी संसार का वर्णन प्रस्तुत किया है, परन्तु यह वर्णन सस्ते रोमांस और स्वच्छन्दतावादी प्रेम के वक्र-जाल में फंस कर रह गया। कथानक में बिखराव, अस्वाभाविक प्रसंग एवं ह्रासोन्मुख दांव-पेंच ही अधिकतर हैं। मानवीय संवेदना और आधुनिकता की चुनौती का इसमें नितान्त अभाव है। नायक रामेश्वर का जुए में सब कुछ हार कर सामाजिक विभीषिका का शिकार होना और बम्बई जाकर फिल्मी संसार की सैर करना अलफ-लैला के किस्सों की याद दिलाता है। उधर नायिका चमेली का अपने पति के शोषण से तंग आकर बम्बई भाग निकलना और एक युवक द्वारा ठगे जाना फिर रामेश्वर से भेंट तिलस्मी कौतूहल और मनोरंजन की वृद्धि तो करते हैं, परन्तु वे सामाजिक चेतना, जीवन की जटिलता और मानवीय संवेदना अथवा दार्शनिकता के उस परिवेश की पृष्ठभूमि तैयार नहीं करते जिसकी आशा पाठक 'चित्रलेखा' के लेखक से करता है।

चमेली का बम्बई में पान की दूकान खोल लेना एक नवीनता अवश्य है, परन्तु यह उपन्यासकार की वह मौलिक उद्भावना नहीं जो सजग बौद्धिक वर्ग के हृदय को भिगो सके। चमेली के जीवन की घटित अनुभूतियां व संचित अनुभूतियां सामान्य ही हैं, विशिष्ट नहीं। उसके रूप-यौवन पर मुग्ध बम्बईया समाज एक अति साधारण बात है, जिसे उपन्यासकार सहज ढंग से वर्णनात्मक शिल्प में संयोजित करता तो सफल रहता, किन्तु फिल्म व्यवसायी सेठ शिवकुमार द्वारा चमेली के जीवन में प्रवेश को नाटकीय रूप देने की लेखक की चेष्टा कुचेष्टा बन कर रह गई। इससे लेखक की प्रतिष्ठा को आंच लगी है। एक ओर चमेली सफल अभिनेत्री बनने के प्रयास में संलग्न है, दूसरी ओर सेठ शिवकुमार के प्रेम चक्र में घूमती है, तीसरी ओर रामेश्वर को अपना आराध्य मान मनोद्वन्द्व की अनुभूति करती है। इन तीनों रूपों में उपन्यासकार न वर्णनात्मक शिल्प को प्रश्रय दे सका, न नाटकी-

७. गुंठन—पृष्ठ १६०-१६१

यता ला पाया और न विश्लेषणात्मक शिल्प का आश्रय लेकर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का मार्मिक चित्र ही खींच सका। चमेली एक वेश्या बन कर रह गई। सेठ ने उसे न केवल अपनी वासना तृप्ति का शिकार बनाया, अपितु दूसरे सेठों को चक्र में डाल कर उसका आर्थिक शोषण भी करना चाहा। अन्त में सेठ की हत्या और चमेली की मृत्यु दोनों विडम्बनापूर्ण प्रतीत होती हैं जो उपन्यास को एक सस्ते फिल्मी रोमांस या जासूसी कथा साहित्य की सूची में जोड़ सकते हैं, एवं यथार्थपरक या आदर्शोन्मुख शिल्प संयोजित रचना बनने से वंचित रख देती हैं।

अपने खिलौने—१९५७

'अपने खिलौने' पढ़ कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यह उपन्यास एक खिलौने से अधिक नहीं जो पढ़ने ही टूट खिलौने का प्रभाव पाठक पर छोड़ता है।

उपन्यास का आरम्भ जितना आकर्षण लिए है, अन्त उतना ही अधिक विकर्षण। उपन्यासकार ने आरम्भिक पृष्ठों में नायिका मीना और उसके परिवार का वर्णनात्मक चित्र स्वयं प्रस्तुत किया है। जैसे—"जी, तो मैं मीना का नख-शिख बखान कर रहा था न। हां, नाक नुकीली और सुडौल। होंठ लिपस्टिक से लाल, इसलिए बिम्बाफल आदि की उपमा बेकार, दांत मोती जैसे। जब हंसती है, बिजली-सी कौंध जाती है। कद न बहुत ऊंचा, न बहुत नीचा, यही जिसे हम मझोला कद कह दिया करते हैं, यानी पांच फुट से कुछ निकलता हुआ। शरीर न हाड़ मांस का ढांचा और न मुटापे से थलथल, यही जिसे हम गठा हुआ इकहरा बदन कह सकते हैं और उम्र ..."[1] और भी ठीक इसी विधि का चरित्र चित्रण—"ठीक चार बजे अशोक गुप्ता की कार पोर्टिको में रुकी। अशोक गठे हुए बदन का, मझोले से कद का नवयुवक था। उसकी अवस्था प्रायः चौबीस-पच्चीस साल की रही होगी। रंग सांवले से कुछ खुलता हुआ, यानी जिसे हम गेहुंआ रंग कह दिया करते हैं। चेहरा न लम्बोतरा न गोल, न सुन्दर न बेडौल, यानी बिल्कुल साधारण। नाक-नक्शा ठीक। क्लीन शेव, बाल बड़े-बड़े और घुंघराले। महीन खादी का चूड़ीदार पाजामा ...।"[2] ये वर्णनात्मक चरित्र चित्रण अपना ही आकर्षण लिए हैं। परन्तु जिस साज सज्जा से उपन्यास आरम्भ हुआ, मध्य और अन्त के वर्णन ने इस पर प्रश्न-चिह्न लगाया।

कल्पित, भावुकतापूर्ण और अस्वाभाविक घटना क्रम ने उपन्यास के कथ्य और शिल्प को खोखला बना दिया। उपन्यास में वीरेश्वरप्रताप का आगमन एक अलौकिक चमत्कार लिए हुए है। इस पात्र से संबंधित घटनाएं उपन्यास में घटना कुतूहल की वृद्धि-मात्र करती हैं। अशोक मीना के प्रति मुकात्र कोमल प्रेम का एक उदाहरण है, परन्तु मीना वीरेश्वरप्रताप रोमांस तथा अन्नपूर्णा-वीरेश्वरप्रताप प्रेम आधुनिकता की चुनौती का प्रखर रूप देने के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। रामप्रकाश का कला भारती के नाम पर सांस्कृतिक

१ अपने खिलौने—पृष्ठ ४
२ वही—पृष्ठ १४

केन्द्रों को खोलने का प्रयास आधुनिक भारतीय जीवन में कला और संस्कृति के नाम पर नवयुवकों की कलाबाजियों का द्योतक है। ये संस्थाएं वैयक्तिक हितों की पोषक अधिक हैं, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन की उन्नायक कम।

उपन्यास में प्रदर्शनी भवन में गृहमन्त्री वीरेश्वर के भाषण वर्णनात्मक शिल्प के उद्घाटक है। परन्तु कैंरा-वीरेश्वर रोमांश और दिलवर किशन जख्मी के शेर—जैसे 'मैं हुस्न से हूं आजिज, मैं इश्क से हूं हारा' इस रचना का सबसे दुर्बल पक्ष है। इस रचना में भगवती बाबू ने जख्मी के गीत पदों में लगता है अपने गीतिकार कवि के मन की उमस निकाली है जो इस रचना की औपन्यासिकता पर भारी प्रश्नचिह्न है। लखनऊ मे जख्मी का सुधाकर, स्वच्छन्द आदि साहित्यकारों के बीच चहकना एक चिड़ियाघर का दृश्य प्रस्तुत करता है।

लखनऊ में कला भारती की स्थापना का दृश्य तो उखड़ा-उखड़ा है ही, शैंदा और चेट्टियार का मिल कर जख्मी को इटारसी से आगे चल कर अलग करना, नागपुर पहुंचते-पहुंचते चेट्टियार का अपने असली ढंग में आना और मीना पर हाथ साफ करनेकी योजना बनाना, वर्धा पर जख्मी को विदा कर देना भी ऐसे दृश्य है। वह सब नाटकीय ढंग से करना चाहा, परन्तु उपन्यासकार इस प्रसंग में नाटकीयता लाने मे बुरी तरह असफल हुआ है। जख्मी के द्वारा कोई विरोध न होना और उसके होश गुम दिखा देना किसी फिल्मी दृश्य में तो सम्भव है, उपन्यास या मानवीय जीवन में यह घटना अप्रत्याशित और अस्वाभाविक मानी जाएगी। इस पर भी मीना और अन्नपूर्णा का जंजीर न खींचना और कोई विरोध प्रदर्शित न करना एक ऐसी अनहोनी घटना है जिसे लेखक किसी रूप मे भी जस्टीफाई नहीं कर सकता। वल्हाशा की ओर बढ रही द्रुतगति वाली गाड़ी मे मीना की घबराहट और अन्नपूर्णा की कठोरता, चारित्रिक कोमलता या दृढता का कोई विशेष प्रभाव पाठक के मन पर नहीं छोड़ती। रामास्वामी का व्हिस्की पीना, अन्नपूर्णा का विरोध, फिर रामास्वामी का शराब के नशे में अनाप-शनाप बकना तथा अन्नपूर्णा का गोली चला देना और चारों का वल्हाशा मे हवालात में बन्द हो जाना तथा उधर बम्बई में मीना तथा अन्नपूर्णा को तलाश करते हुए अशोक तथा रामप्रकाश का शराब पीकर रेलवे प्लेटफार्म पर झगड़ पड़ना और सिपाहियों का उन्हें सार्जेण्ट आप्टे के पास ले जाना, फिर वीरेश्वरप्रताप द्वारा उनकी रिहाई उपन्यास मे एक जासूसी औपन्यासिक रचना-विधान को प्रश्रय देती है। इनके द्वारा वैचारिक अन्वेषण, दार्शनिक गवेषणा या सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा नैतिक चिन्तन के अन्वेषण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ये सब घटनाएं उपन्यास को नितान्त हल्के स्तर का बना देती है। जख्मी का बिना टिकट रेल में यात्रा करना, टिकट चेकर के प्रश्न पूछने पर शेर-ओ-शायरी मे उससे वार्ता करना यथा—

> टिकट कटा था, मगर हमने कर दिया वापस,
> अभी तो, आया है सेहरा में तेरा दीवाना। (पृष्ठ २१७)

उपन्यास के हल्के स्तर को और नीचे पटक देने वाली बातें हैं। जहां तक संवाद योजना एवं वातावरण सृजन का प्रश्न है, वहां हमें और भी अधिक निराश होना पड़ता

है। वीरेश्वर-कैंग सवाद म रोमानी वातावरण का प्रयास भी असफल रहा है, यथा—मैं धन्य हो गई मेरे आराध्य मेरे देवता पृष्ठ ६१। प्रमोक-मीना वार्ता अत्यन्त साधारण और बचकानी लगती है, रामप्रकाश-अन्नपूर्णा वार्तालाप मे गम्भीरता के लिए कहीं गुजाइश नही रखी गई। पार्टी मे मीना का सबको प्रभावित करने का स्वर फीका पड गया और इसमे वातावरण रसहीन हो गया। अपने खिलौने को हम Romantic Novel of Adventure) की सज्ञा दे सकते हैं, यह सामाजिक उपन्यास की कोटि मे नहीं रखा जा सकता। जग्गी भेड और सोदेबाजो की आधुनिक सामाजिक सरचना और आर्थिक दृष्टिकोण से प्रभावित मानव वृत्ति की दासता की कहानी की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

अन्तर्द्वन्द्वात्मक चित्रण का उपन्यास मे कहीं कोई स्थान नही। उपन्यास के सब पात्र बाह्यद्वन्द्व की भूमिका निभाने के लिए तैयार किए गए खिलौने हैं जो उपन्यासकार द्वारा कठपुतली की भांति उछल-कूद कर लुक-छिप जाते हैं। लगता है आमोद प्रमोद, छल कपट और एक-दूसरे को नीचे धकेलना ही इन पात्रो के जीवन का लक्ष्य है। और इन पात्रो मे 'चित्रलेखा' जसी तार्किकता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। सभी पात्र अपने-अपने दृष्टिकोण की विषमता म उलझे हैं और अपने-अपने अस्तित्व और प्रगति एव प्रणय की समस्या मे सलग्न हैं। उपन्यास का खलनायक वीरेश्वरप्रताप एक ऐसा खिलौना है जिस पर केरा, मीना और अन्नपूर्णा सभी लट्टू हैं। पर जहा वह खिलौना है, वहा खिलौना गढने वाला शोहदा भी है, जो लिली, मीना और अनेक रमणियो रूपी खिलौनो से खेल, उन्हें तोड भाग जाना चाहता है, पर अन्त म भाग्य की विडम्बना का शिकार होकर लिली द्वारा स्वय तोड दिया जाता है, जब उसकी कलई खुलती है।

उपन्यासान्त म पात्रो के चरित्र-विकास, कथावस्तु के सन्तुलन और उपन्यासकार के पूर्वनिश्चित उद्देश्य मे कभी भारी असगति और बिखराव आ गया है। जैसे जग्गी की काली करतूत (अपने स्वार्थ के लिए मीना और अन्नपूर्णा दोनो को दो फिल्मी आवारो के सुपुर्द कर देना) पर भी मीना और अन्नपूर्णा का उसकी ओर उपेक्षा की दृष्टि न दिखाना, अन्नपूर्णा व मीना का एक ही व्यक्ति (वीरेश्वर) पर मुग्ध भाव होने पर भी स्त्रियोचित ईर्ष्या के स्थान पर एक-दूसरा को अपना परम हितैषी मान पहलू-दर-पहलू जीवन-यात्रा करना और तीसरे सास्कृतिक कला केन्द्रो के अधिक विकास मे मानवीय सवेदना और लगन के महत्त्व का शिलान्यास रखने के स्थान पर या इन सस्थाओ के सस्थापकों की सामाजिक, वैयक्तिक और नैतिक दुर्बलताओ का इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रस्तुत करने के स्थान पर मात्र पात्रों को प्रेम लीला के पक्ष को उछाल कर भगवती बाबू ने 'अपने खिलौने' को मात्र अपने मन बहलाव का साधन तो बना लिया है, इसके द्वारा औपन्यासिक शिल्प या कलात्मकता का उत्कर्ष वे प्रस्तुत करने से वचित रह गए जो आगे चलकर 'भूले बिसरे चित्र' म उपलब्ध होता है इस प्रबन्ध की परिधि रूपी लक्ष्मण रेखा से बाहर की वस्तु है।

राजेन्द्र शर्मा

'ईसा' श्री राजेन्द्र शर्मा का दूसरा उपन्यास है। इनका पहला उपन्यास 'कायर' विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचना है अतएव उसकी विवेचना अगले अध्याय मे की

जाएगी। आपने अपनी एक भेंट में मुझे बताया कि शिल्प साधन है, साध्य नहीं। अपनी उपन्यास योजना के विषय में आपने कहा—"मैं उपन्यास कोई पूर्व निश्चित योजना बना कर, नहीं लिखता हूं। 'कायर' पहले कथा-संग्रह 'पत्ते-हरे-पीले' की अन्तिम कथा 'राग-विराग' का ही विस्तार है। लेखन इतना स्वाभाविक धर्म बन गया है कि आस-पास का वातावरण उस पर हावी नही हो पाता। 'कायर' लिखते समय मेरी छोटी बच्चियां कभी-कभी पीठ पर भी आकर कूदती और खेलती रहती थी, फिर भी इससे लेखन में या शिल्प में कहीं कोई व्यवधान नही आ सका। एक प्रवाह में लेखनी स्वतः बढ़ती चलती है और एक अदृश्य दैवी शक्ति उसका नियंत्रण करती है। 'कायर', 'हेमा' के बाद लिखे अपने दो उपन्यासों में जो एक बार लिख दिया उसमे कोई हेर-फेर फिर नही किया।"[१]

हेमा—१९५४

'कायर' के दो वर्ष पश्चात् छपी 'हेमा' वर्णनात्मक शिल्प-विधि की रचना है। उपन्यासकार ने कथा सूत्र अपने हाथ मे रखते हुए एक नये विषय से हिन्दी पाठक का साक्षात्कार अपने इस दूसरे उपन्यास में कराया है। यह शायद हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसकी नायिका मात्र सात वर्ष की अवस्था मे पाठक के सामने आती है। उपन्यास का आरम्भ भले ही पाठक के लिए आकर्षक न हो, परन्तु ज्यों ही वह कथा के मध्य में प्रवेश करता है, उसे बहिर्मुखी घटनाओं का जाल अपनी ओर आकर्षित करने लगता है। सात वर्ष की भोली-भाली बालिका हेमा का स्वभाव और व्यवहार पाठकीय आकर्षण का केन्द्र बनने लगता है। और फिर मध्यावस्था का अवसान कथा-सोपान की चरम सीमा का केन्द्र बन जाता है। अपनी ही सृजित कथा के प्रति कथाकार तटस्थ नही रह पाता। हेमा का अपहरण और अपहरण जनित परिस्थितियां एवं घटनाओं के प्रति वह अनासक्ति को त्यागपूर्ण आस्था के साथ चित्रित करने का दायित्व निभाता है।

हेमा का अपहरण, नये परिप्रेक्ष्य में उसकी छटपटाहट, रेवा की दयालुता, सेठ मगनलाल के साथ वृन्दावन मे उसे नये वातावरण मे ढालने का प्रयत्न, जमुना साक्षात्कार से घबरा कर रेवा-सेठ का हेमा को दिल्ली ले आना, सेठ द्वारा उसे गोद लेकर अपने सूने आंगन को आबाद करने का प्रयत्न, श्यामा का विरोध और अन्त में सेठ मगनलाल का उसे सम्पादक विश्वेश्वर बाबू के पास छोड़ आना द्रुत-गति से घटित घटनाएं है। ऐसा आभासित होता है कि इन्हें लिख रहा लेखक थका-सा, टूटा-सा, बिखरा-सा लिखने बैठ गया है, किन्तु उपन्यास के अन्तिम तीस पृष्ठ जमकर शांत मनःस्थिति मे लिखे गए प्रतीत होते है। तभी इन पृष्ठों के कथा शिल्प मे गठन एवं उभार आ गया है। विपिन का विवशता से भरा चेहरा और सम्पादक से विनय कि वे उसे बम्बई न भेजे किन्तु सम्पादक का उसे बम्बई भेज कर नई परिस्थिति एवं पृष्ठभूमि तैयार करना, विपिन की पत्नी अलका का पुत्री हेमा के वियोग में घुट-घुटकर मरना और मृत्यु के समय विपिन की जेब में पांच रुपया के नोट का अभाव, उसके लॉकेट बेचकर अन्तिम संस्कार करने के दृश्य पर्याप्त करुणा एवं

---

१. श्री राजेन्द्र शर्मा से भेंट-वार्ता दिनांक २८-५-६८

वर्णनात्मकता लिए हैं। अन्तिम पृष्ठों की कथा अल्प-सूत्रों होने पर भी सशक्त है। यह उपन्यासकार के परिपक्व शिल्प का उदाहरण है।

कुशल शिल्पी ने इस रचना में मानव चरित्र के मात्र ऊपरी स्तर को छूकर ही अपने धर्म की इति-श्री नहीं समझ ली। हेमा के रूप में अपने एक अछूते पात्र को लेकर उस पर अधिकारपूर्ण रूप से लिखा है। हेमा के अपहरण के पश्चात् उसकी छोटी-से-छोटी हरकत का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उसका रेवा के चंगुल से भाग निकलने का प्रयत्न, बुढ़िया की छड़ी से उसकी पिटाई, उसका अपने करुण रूप और रुपहली वार्ता द्वारा रेवा को मोहित कर गंदे वातावरण से बाहर निकल जाने की योजना की पीठिका तैयार करना और वृन्दावन पहुंचते ही नये वातावरण में खो जाने की चेष्टाएं बाल मनोविज्ञान के चितेरे दृश्य हैं। स्पष्ट हो जाता है कि कथाकार बाल मनोविज्ञान के तत्वान्वेषण और परीक्षण की प्रक्रिया में पूर्ण रूप से सफल हुआ है, तभी तो वह इस पात्र का संचालन सहज रूप में प्रस्तुत कर सका। श्री शर्मा ने हेमा का मात्र कुशलपूर्वक संचालन ही नहीं किया, उसका पूर्ण निरीक्षण परीक्षण और गति-विधि का अन्वेषण भी किया है। उन्होंने मूल समस्या को पकड़ स्पष्ट कर दिया है कि हेमा के अपहरण का दायित्व किस पर? भोली आठ वर्षीय हेमा पर या उसके संरक्षकों पर? सरक्षकों पर इसका दायित्व डालते हुए उपन्यास में लिखा गया है—"जिन बच्चों को मां-बाप कठोर अनुशासन में रखते हैं, वे तनिक सा दुलार पाते ही मां-बाप को भूल भी जाते हैं।"[1] ये शब्द सुनते ही हेमा के पिता विपिन को लगा कि उसके कलेजे को तेज चाकू से छलनी कर दिया गया हो। मनुष्य अपने जन्म के बुरे कर्मों का फल कभी-कभी इसी जन्म में इसी धरा पर भोग लेता है। विपिन की बम्बई की जीवनी इस दार्शनिक विचारणा का ज्वलन्त उदाहरण है।

'हेमा' का विचार पक्ष भी प्रौढ़ है। उपन्यासकार ने बच्चों की समस्या को लेकर यह उपन्यास लिखा है। बच्चे संस्कार अनुरूप बनते या बिगड़ते हैं। उपन्यास का प्रथम वाक्य 'ओम श्री राधायनम' हेमा के हृदय-पट पर अंकित हो चुका है। राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी उसकी उज्ज्वल चारित्रिकता का निर्माण कर चुकी है। वह वेश्या के घर जाकर डरी अवश्य, किन्तु उस वातावरण के प्रति हृदय में घृणा भी उसने की और उससे उबरने का उपाय सोचा। अन्त तक वह उच्च मन सात्विक विचारों की बालिका बनी रही। 'हेमा' के विचार पाठक के मन में भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था जागृत करते हैं, जहां पश्चिम का शोर, फैशन की होड़ और वस्त्रालय में भी नशीली गंध नहीं, उस वातावरण के प्रति अनासक्ति और उसमें त्राण की चाहना रेवा, हेमा दोनों में सम रूप से विद्यमान है।

'हेमा' की शैली भावपक्ष एवं सहज है। लेखक का गद्य प्रसंगानुसार गम्भीर, भाव-प्रवण और प्रवाहपूर्ण बनता गया है। जैसे—'और तब अलका की सोनापुर यात्रा आरम्भ हुई। विपिन लड़खड़ाते पैरों से अरथी को कंधे पर उठाये चला जा रहा था। चारों ओर खड़े मकान, मोटर ट्राम, विक्टोरिया, आने वाले, जाने वाले सब जैसे उसकी दृष्टि में

---

१ हेमा—पृष्ठ ११२

पत्थर थे, निर्जीव थे, निष्प्राण। और चारों ओर कुछ था तो वह थी अलका। मानो कह रही हो—'अब तुम मेरे साथ-साथ थोड़े ही जाओगे।' विपिन बाहर से जड़ है, सूखा, उदास। और भीतर से जैसे अश्रुओं का तालाव उमड कर उसे गीला कर रहा है, जिसकी तरलता मे भी अग्नि है, लपटें है और लपटों ने जब अलका की देह को अपने में लपेटना आरम्भ किया तो पार्टी वालों को विपिन ने दो-दो रुपया देकर विदा कर दिया।"[३] देखी भाव-प्रवणता। एक विशाल नगरी, मगर सब अपरिचित और पाषाण हृदय। जहा अरथी को कंधा देने वाले भी भाड़े के हों। यह जीवन की विडम्बना नहीं तो क्या है, जिस पर लेखक ने अधिकारपूर्ण ढंग से लिखा है।

मन्मथनाथ गुप्त : बहता पानी—१९५५

पाश्चात्य देशों की तुलना में भारतवर्ष मे राजनैतिक चिन्तना तथा क्रान्तिकारी विचारों से परिपूर्ण उपन्यास कम ही लिखे गए। इसमें प्रेमचन्द, गुरुदत्त और यशपाल के अधिकांश उपन्यासों में राजनैतिक विचार, संघर्ष और क्रान्ति के विभिन्न रूपों का वर्णन हुआ है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में श्री मन्मथनाथ गुप्त और श्री भैरवप्रसाद ने सामाजिक जीवन को आधार बनाकर वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास रचे हैं। श्री गुप्त का प्रथम उपन्यास 'बहता पानी' जेल से मुक्त हुए नायक सव्यसाची की क्रान्तिमूलक विचारणाओं को प्रतिपादित करने वाला उपन्यास है। इस का आरम्भ सव्यसाची के जेल में प्रवासकालीन स्मृतियों तथा जेल से छूटने पर रेल यात्रा मे सहयात्री महिला धर्मशीला के प्रथम परिचय और घनिष्टता के साथ होता है। धर्मशीला सव्यसाची को पुत्र सम स्नेह देना चाहती है, परन्तु वह इस एकाकी, आकस्मिक स्नेह को सहज ही स्वीकार करने में हिचकता है। उसे इस देश की चिन्ता अधिक है और इस बात पर खेद है कि सन् ४२ की क्रान्ति ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर जो सांघातिक प्रहार किया था, सन् ४७ की स्वतन्त्रता मिलने पर राजनैतिक लूट-खसोट के कारण उसका ढाचा बुरी तरह छिन्न-भिन्न होकर भू-लुण्ठित होने लगा। भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली, मगर सामाजिक क्रान्ति की दिशा में वह एक इंच आगे न बढ़ सका। उसे नौकरी, सुविधा, साधारण जीवन का मोह अपनी ओर आकृष्ट नही करता वरन् साधना, तप और क्रान्ति का जीवन प्रिय है। देशहित और विश्वहित के लिए वह अपने पूर्व क्रान्तिकारी परिचित वैद्यनाथ के साथ मिलकर एक 'विप्लवकारी संघ' की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य सामाजिक रूढ़ियों के प्रतिक्रियावादी तत्त्वों तथा धार्मिक अन्धविश्वासों का उन्मूलन करना है।

सव्यसाची की सामाजिकता और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का व्यास व्यापक है। इसे उपन्यासकार ने अपने उद्देश्यपूर्ति का आधार बनाने के निमित्त वर्णनात्मक शिल्प-विधि का आश्रय लेकर उसकी अनुभूतियों, विचारणाओं और अपने प्रचार में एक सन्तुलन लाने का प्रयास किया है, किन्तु अपने इस प्रयास में वह आंशिक रूप में ही सफल हो सका है। उपन्यास में जितने विचार और मूल्य आए है वे आरोपित दृष्टिगत होते है, वस्तु गठन

---

३. हेमा—पृष्ठ १७३

से कहीं भी उनका सहज संबंध स्थापित नहीं हो पाता। नायक सव्यसाची क्रान्तिकारी मनोवृत्ति का उन्नायक है। जेल से छूटते ही वह दृढ संकल्प करता है कि चाहे कुलीगिरी कर लेगा किसी का आश्रय न लेगा, इसी विचार के फलस्वरूप धर्मशीला का यह प्रस्ताव कि उसके लडके का संरक्षक व अध्यापक बनना स्वीकार कर ले, ठुकरा देता है। काशी आने पर व्यर्थता की अनुभूति कर धर्मशाला में, फिर अस्पताल और फिर धर्मशीला के अनुनय पर उसके निवास स्थान पर पहुंच जाता है। सुजाता परिचय पर उसपर मुग्ध होता है, परन्तु विवाह विरोधी विचारणा का समर्थक होने के नाते उसे पहले ठुकरा देता है फिर अपने ही संघ के चार साथियों की प्रार्थना पर भवानन्द के स्थान पर स्वयं सरला से विवाह कर लेता है। विवाह के समय मंत्र उच्चारण भी कर लेता है। उसका परिस्थितियों से समझौता उपन्यास पर एक भारी प्रश्नचिह्न है। एक ओर वह सरला का तिरस्कार कर उसे रसिकलाल के पास भेजकर मौनव्रती और क्रान्तिकारी होने का ढिंढोरा पीटता है तो दूसरी ओर सुजाता के लौट आने पर उससे भी विवाह कर प्रतिक्रियावादियों का अगुआ बनता है। क्रान्तिकारी की कथनी और करनी समानधर्मा होती है, परन्तु सव्यसाची की वाणी और कर्म में भारी अन्तराल है।

क्रान्तिकारियों के लिए चिन्तन-स्वाधीनता और भावुकता पर बौद्धिक नियन्त्रण एक अनिवार्य शर्त है, परन्तु इस उपन्यास में एक वैद्यनाथ को छोड़कर शेष क्रान्तिकारी कथाकार की शिथिल कथा सरणी पर से फिसलते हुए चिन्तना तथा स्वाधीनता के नाम पर असामाजिक तत्वों तथा भावुकता के शिकार हुए हैं। सव्यसाची के पश्चात् सुजाता को ही लीजिए। वह लाहौर में लौटते ही क्रान्ति लाना चाहती है, निक्को से मिलती है उसके वेश्या बनने के कारणों को ढूंढती है और अन्वेषण के आधार पर पत्र पत्रिकाओं में लेख भेजती है, किन्तु यही सुजाता किन्हीं परिस्थितियों में पड़कर भावुक सशक्त नारी बन जाती है। यौन-व्यापार की परम विरोधी यह पात्र हरिकिशन की प्रेम विनती में बहककर यौन-वृत्ति की शिकार हो जाती है। वह यौन प्रवाह में इस गति से बहने लगती है कि एक ओर अपनी पुण्यशीला माता धर्मशीला की मृत्यु पर छोटे भाई को सान्त्वना तक देने के लिए काशी नहीं पहुंचती, दूसरी ओर यौन-व्यवस्था और प्रेम में अन्तर नहीं कर पाती। जब वह गर्भवती होती है, तब द्वन्द्वात्मक बोध की अनुभूति करती है। यह द्वन्द्वात्मक बोध दो पात्रों की व्यक्तिगत समस्या नहीं है, सामाजिक प्रश्न है। इसकी बड़ी ट्रेजेडी यह है कि यौन क्षेत्र में स्त्री का सर्वनाश कर पुरुष अपने को निश्चिन्त, उत्तरदायित्वहीन और सहज समझ लेता है, जबकि स्त्री के सम्मुख जीवन की विकटतम स्थिति होती है। आवारा हरिकिशन सुजाता से जब सुनता है कि उसे उसके द्वारा गर्भ रह गया, तब कोई आश्चर्य, कोई चिन्ता, कोई आशंका उसने अनुभव नहीं की। भीषण ट्रेजेडी तो यह कि उसके भरणपोषण के लिए अपने ऊपर कोई दायित्व वहन करने के मूल प्रश्न को ही नकार दिया। विवाह प्रस्ताव को गद्‌गद् भावुकता की संज्ञा दी और अपने तर्क पर बौद्धिकता का आवरण डालते हुए ये शब्द कहे—'देखो सुजाता, तुम मेरे घर आकर रहो, बच्चा यहीं पैदा हो। तुम्हारी यह कैसी धारणा है कि सरकारी दफ्तर में जाकर एक खानापूरी करने के लिए कह रही हो, जिसमें न तुम्हें फायदा है, न मुझे, न बच्चे को। हम जो हैं,

सो ही रहेंगे, वह भी जो होगा, सो होगा।"[1] हरिकिशन के ये शब्द समाजवादी विचारणा के प्रतीक है। पर इनसे किसी भी पात्र या समाज के उपकार होने की सम्भावना नहीं। सुजाता की ट्रेजेडी का प्रमाण है। इस उपन्यास में राजनीतिक रोमांस की परिकल्पना की गई है। पर सभी राजनीतिक चेतना के प्रतिनिधि सव्यसाची, सुजाता, हरिकिशन बुरी तरह विफल हुए है। राजनीति के नाम पर क्रान्ति और रोमास के क्षेत्र में स्वच्छन्द यौन संबंध की समस्या को उभारने के लिए श्री गुप्त को घटनाओं को आकस्मिक मोड़ देना पड़ा है और पात्रों को एक विशेष सांचे में ढाला गया है, जिसके फलस्वरूप गुप्त का लक्ष्य कथा या चरित्र-चित्रण नहीं रह गया, मात्र अपने विचारों का प्रचार रह गया है। वैद्यनाथ नामी क्रान्तिकारी खिरनी नाम की एक साधारण अशिक्षित युवती को अपने साथ ले आया है। नगर मे और इस उपन्यास में इस पात्र की कोई उपयोगिता नहीं, किन्तु श्री मन्मथ-नाथ की वैचारिक टिप्पणियों के लिए यह पात्र परम सहायक सिद्ध हुई। इसे लक्ष्य कर वे टिप्पणी कर गए—"सभ्यता की ठीक नाक के नीचे शिक्षा के गढ़ शहरों में जो सैकड़ों तरुण जीवनों का नाश हो रहा है, हजारों खिरनिया है। उनका क्या ? एक-आत्र खिरनी तो नहीं।"

"यही क्रान्तिकारी मनोवृत्ति है। क्रान्तिकारी खण्डशः दुनिया का उद्धार नहीं करना चाहता। एक दुःख से सैकड़ों दुःखों की चिन्ता में पड़ जाता है, एक की दवा खोजने के लिए निकलकर वह सबके लिए सजीवनी की तलाश करता है। एक प्रदीप से वह सन्तुष्ट नही होता, वह रात को एक अविच्छिन्न दिवाली कर देना चाहता है। समय के आगे रहता है। इसी मे उसके जीवन की ट्रेजेडी है।"[2]

वैचारिक टिप्पणियां मात्र लेखक ने ही स्वयं प्रस्तुत नही की। अवसर पड़ते ही वह पात्रों को भी कलम पकड़ा देता है। नायक सव्यसाची काशी मे गगा तट पर बैठ बहते पानी का साक्षात्कार कर टिप्पणी करता है—"हमे ऐसा मालूम होता है कि हम जो गंगाजी को, अनीश्वरवाद की लपेट में आकर सब गौरव तथा पवित्रता से वचित कर एक साधारण नहर या नदी में परिणत करने की कोशिश कर रहे है, यह अन्त तक सफल नहीं होगी, शायद यह सफल नहीं ही होगी··· आधा देश उसकी नदियों तथा नहरो से सीचा जा रहा है, उस पर नाव खेकर और मछली पकड़कर हजारों लोग प्रतिपालित हो रहे हैं, हमारा आधा इतिहास उसी के किनारों की घटना है। क्या इन सारी बातों का धर्म के अतिरिक्त कोई महत्त्व नही है ? क्या इसका एक सहजात महत्त्व तथा पवित्रता नही है ? जिस कारण से राइन जर्मनों के निकट, वालगा रूसियों के निकट, नील नदी मिस्रियों के निकट पवित्र है। उसी कारण से गंगा हम लोगों के निकट पवित्र रहेगी। इसमें धर्म की कोई बात नहीं है। धर्म ने तो बल्कि गंगा की इस सहज पवित्रता का शोषण कर युग-युग से मनुष्य के मन पर अपना जादू फैला रखा है। रूप, रस, गन्ध, वर्ण, जीवन, प्रेम, मृत्यु में, जहां भी जो कुछ आकर्षण है, धर्म ने उसी को अपने मतलब के लिए दोहन कर

१. बहता पानी—पृष्ठ १७४
२. वही—पृष्ठ ५८

अपने को पुष्ट बनाया है।"[1]

इस उपन्यास में दृष्टि न परिवेश पर केन्द्रित हुई, न व्यक्ति पर, तभी तो घटनाओं की वाह्यात्मकता में भी बल नहीं तथा पात्र भी सक्षम नहीं। कोई बड़ा राजनीतिक आन्दोलन उपन्यास फलक पर नहीं उभर पाया। 'सामाजिक विप्लवकारी संघ' की मात्र एक उपलब्धि है—सेवादल की एक छोटी टोली को ग्राम के स्थान पर लेखक पृष्ठ ११२ पर लिख गया कि सेवादल का अब अधिक दिन दिल्ली रहना नहीं है। इसी प्रकार पृष्ठ ७० पर लिखता है कि लाहौर न केवल पंजाब में, बल्कि भारतीय शहरों में एक विशेषता रखता है। सन् पचपन में छपे उपन्यास में इस प्रकार की भारी भूलें पाठक के मन को कचोटती है। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध क्रान्तिकारी की कलम से सामाजिक यथार्थ का यह चित्रण उखड़ा-उखड़ा ही रह गया है। यथार्थ जीवन-बोध की अनुभूति से सम्पन्न लेखक की कलम से इस प्रकार की साधारण सर्जना पाकर हमें निराश होना पड़ा।

उपेन्द्रनाथ अश्क

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासकारों में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम उल्लेखनीय है। अधिकांश आलोचकों ने इनकी गणना प्रेमचन्द परम्परा के यथार्थवादी लेखकों में की है। कतिपय आलोचकों के मत उद्धृत किए जाते हैं—"उपेन्द्रनाथ अश्क भी प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकार हैं।"[1]

" प्रेमचन्द का-सा सूक्ष्म निरीक्षण एवं यथार्थ जीवनानुभव लेकर उपेन्द्रनाथ अश्क अवतरित हुए।"[2]

"'गिरती दीवारें' उनका अपेक्षाकृत प्रौढ़ उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचन्द की परम्परा का यह एक अभिनव स्वरूप सा जान पड़ता है।"[3]

कुछ आलोचक अश्क को नई कोटि का उपन्यासकार बताते हैं—'अश्क ने अपनी उपन्यास कला को यथार्थवादी रूप देने का प्रयास किया है और 'गिरती दीवारें' यथार्थवादी कसौटी पर परखा गया है और इस उपन्यास में यथार्थवाद व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन से प्रभावित है।'[4]

"अश्कजी के उपन्यासों में यथार्थ की प्रवृत्ति वैज्ञानिक सीमा पर नहीं पहुंची है। परन्तु उनके उपन्यास भी मध्यवर्गीय समाज की गति-विधि को विशेष दृष्टि से ही चित्रित करते हैं। उनके उपन्यासों में उक्त समाज के ऐसे पहलू आए हैं जिनमें निष्क्रियता, उद्देश्यहीनता और हल्के विषाद की छाया पड़ी हुई है। इन रचनाओं के पढ़ने पर हम समाज के

---

१ बहता पानी—पृष्ठ ६०-६१

१ शिवदानसिंह चौहान — हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—पृष्ठ १६८

२ शिवनारायण श्रीवास्तव — हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३३६

३ गंगा प्रसाद पांडेय — हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ ३

४ डॉ० सुषमा धवन — हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १८७

ऐसे चित्र मिलते हैं जिनमें यथार्थता हो सकती है, परन्तु इनके पढ़ने पर हमारे मन में ऐसी भावनाएं उत्पन्न नहीं होती जैसी प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़कर होती है, स्वस्थ, उल्लास-पूर्ण और विकासोन्मुख ।"[५]

मैंने अश्क के तीन उपन्यास पढ़े हैं। 'सितारों का खेल' 'गिरती दीवारें' और 'बड़ी-बड़ी आंखें ।" ये तीनों यथार्थवादी परम्परा के हैं या आदर्शवादी इस ओर मेरी दृष्टि नहीं गई। शिल्प की तुला पर परखने पर मुझे ये तीनों वर्णनात्मक शिल्प से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर हुए हैं। 'गिरती दीवारें इनका बहुचर्चित उपन्यास है अतः उसके आधार पर इनकी वर्णनात्मकता सिद्ध की जाती है।

गिरती दीवारें—(१६४७)

'गिरती दीवारें' अश्क का दूसरा उपन्यास है। ७०० पृष्ठों का यह वृहद् उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प-विधि में रचा गया है। उपन्यासकार के शब्दों में यह निम्न मध्यवर्ग के युवक की अन्दर और बाहर की उलझनों को दर्शाने के लिए लिखा गया, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को इसमें अन्तर्जीवन से कई गुणा अधिक बाह्य जीवन और जगत की घटनाएं, समस्याएं और पात्रों की नाना लीलाएं वर्णनात्मक शिल्प-विधि मे ही पढ़ने को मिली है। उपन्यासकार ने आरम्भ में तीस पृष्ठ की लम्बी भूमिका लिखकर अपना दृष्टिकोण, शिल्प विषयक विचार, आलोचकों के प्रतिवाद प्रस्तुत किए हैं। उसके कथनानुसार पैटर्न (शिल्प) को खोजने में उसे साधना करनी पड़ी, किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि 'गिरती दीवारें' शिल्प की दृष्टि से फिर भी कोई मौलिकता प्रस्तुत नहीं कर पाया। उपन्यास के अन्त में दो समालोचनाएं भी संयोजित हैं। इनमें से एक शिवदान सिंह चौहान ने और दूसरी शमशेर बहादुर सिंह ने लिखी है। शिवदान सिंह लिखते हैं—"अश्क के उपन्यास में न लम्बी-चौड़ी सैद्धान्तिक बहसे है, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग। उसमें साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने सम्पूर्ण सजीव वातावरण की रूप-रस-गन्धमय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है, यही उसकी विशेषता है।"[१] प्रस्तुत प्रबन्धकार के विचार में यही उसकी असफलता है। अश्क के पास कोई सिद्धान्त नही जिसका वे प्रेमचन्द की भांति वर्णन करते, कोई जीवन दर्शन नहीं जिसका विश्लेषण संभव होता। शिवदानसिंह 'गिरती दीवारें' को विशाल रूपक के रूप में देख सकते हैं, किन्तु मुझे तो इसमें कोई प्रतीक योजना भी नहीं मिली। इस उपन्यास में या तो घटनाएं ही घटनाएं हैं या चेतन और उसके निकटवर्ती परिवार तथा समाज के सदस्य जो अनुभूतियों और स्मृतियों की पूर्ति मात्र हैं। चेतन का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। 'गोदान' के होरी, 'बलचनमा' के बलचनमा तथा 'दबदबा' के दीवान रामदायल की तुलना में वह नगण्य है। उसका क्रन्दन नीरव एवं प्रभाव शून्य है। इसके वातावरण में भी सजीवता नहीं है, अश्लीलता है जो एक सड़ी-गली फिल्मी तस्वीर की भांति नवोदित युवक के मन

५. अचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य—पृष्ठ४४-४५
१. शिवदानसिंह चौहान : गिरती दीवारें (आलोचना—पृष्ठ ६६६)

में हल्के रोमांस की सृष्टि अधिक करती है, यथार्थ समाज की प्रमिट रेखा कम खींचती है। उपन्यास का प्रत्येक दसवां पृष्ठ अश्लील वर्णनों से भरा है। उपन्यास का नायक कुन्ती चन्दा, नीला, प्रकाशो, केसर, मन्नी की ओर वासनात्मक दृष्टि से देखता है।"[2] नलके पर पानी भरने के लिए आई प्रकाशी को वह भींच लेता है, चन्दा से विवाह हो जाने पर उसके स्वस्थ पहलुओं पर, काम और यौन संबंधों पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। बीमारी मे सेवा करने आई नीला का उसने चुम्बन लिया है। केसर को पकड़कर कमरे में पलंग पर डालकर भी नपुंसकता का प्रदर्शन किया है।

उपन्यास का आरम्भ वर्णनात्मक शिल्प विधि द्वारा हुआ है। जालन्धर नगर के बस्ती गुजां और शीतला मन्दिर का वर्णन विवरणात्मक है। इसके पश्चात् चेतन के परिवार का पूरा ब्योरा दिया गया है। उपन्यास में अनेक स्थलों पर जहां संकेत से काम लिया जा सकता था, वर्णन प्रस्तुत हुए हैं। एक स्थल पर चेतन अपने मित्र को पत्र लिखकर संकेत रूप में बताता है कि चन्दा से उसकी सगाई हो गई किन्तु इतना भर लिखकर उपन्यासकार को सन्तोष नहीं हुआ। उसने लिखा—"वहां जो कुछ हुआ उसका विवरण यद्यपि चेतन ने उस पत्र में नहीं किया पर वह कुछ यों है ....।"[3] यहां कथा के बीच में कथाकार सीधे प्रवेश कर गया है। इस दृष्टि से इन्हें प्रेमचन्द, प्रसाद और कौशिक की परम्परा से अलग नहीं रखा जा सकता। चेतन के जीवन का दूसरा छोर लाहौर से बंधा है। इसमें उसके महत्त्वाकांक्षी जीवन का विशाल वर्णन हुआ है। चेतन के जीवन की तीसरी धारा शिमला में प्रस्फुटित होती है जो आदि से अन्त तक वर्णनात्मक है। उपन्यास के मध्य में अनेक स्थलों पर उपन्यासकार प्रवेश करता है। यौन के विषय को लेकर वह लिखता है—"हमारी इस निम्न मध्यवर्गीय संस्कृति में जब यौन सम्बन्धी किसी बात का ज्ञान युवा लड़की-लड़के के कानों के पास तक ले जाना पाप समझा जाता है तो अपने सहज ज्ञान द्वारा केलिरत पशु पक्षियों को देख, अपने ही तरह के अपने से अज्ञानी मित्रों या झूठे बाजारी वैद्य-हकीमों से सुन-सुनाकर, या फिर छिपे-छिपे कोकशास्त्र की तरह के ग्रन्थ पढ़-पढ़ाकर उन युवकों की वासना समय से पहले चाहे जाग जाती हो, पर सेक्स का उचित ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता।"[4] विज्ञापनों के महत्त्व पर कथाकार ने खुलकर प्रकाश डाला है।

'गिरती दीवारें' के चरित्र उपन्यासकार द्वारा वर्णित हैं। चेतन के पिता पंडित शादीराम, उसके भाई डॉ० रामानन्द और कविराज रामदास के चरित्र का गठन एवं विकास प्रभावशाली है। चेतन दुर्बल चरित्र-नायक है किन्तु जोशी के नन्दकिशोर, जैनेन्द्र के श्रीकान्त व अज्ञेय के शेखर से कहीं नीचे है। न उसका कोई जीवन दर्शन है, न व्यक्तित्व। उपन्यासकार ने उसके जीवन को चक्रव्यूह की भांति घुमाया है। अनेक स्थलों पर उसे आध्यात्मिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु उसकी आंतरिकता का सूक्ष्म अन्वेषण

---

२ गिरती दीवारें—पृष्ठ १११, १६५, १८२, २५०, ३११, ४४५
३ वही—पृष्ठ १४५, १४८
४ वही—पृष्ठ ३६८, ३६९

अप्राप्य रहता है। उसके व्यवहार में अशिष्टता है, स्वभाव में छिछोरपन है और विचारों में अपरिपक्वता। उसके तथा उसके परिवार के सभी सदस्यों के चरित्र पर पूरा प्रकाश उपन्यासकार द्वारा डाला गया है।[५] लेखक द्वारा चित्रित शादीराम और चेतन के चरित्र के दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते है—' पंडित शादीराम स्वभाव से क्रूर थे, कठोर थे और अत्याचारी भी उन्हें कहा जा सकता। पर इसके साथ ही उनके मन में कहीं-न-कही उदारता और कोमलता भी यथेष्ठ मात्रा में दवी पड़ी थी। इसी कोमलता के कारण वे अपने शत्रु को माफ कर देते थे, और इसी कोमलता के कारण जब किसी दिन अथवा निकट सम्बन्धी की वेवफाई उनके मर्मस्थल पर चोट पहुंचाती थी तो वे बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो पड़ते थे।"[६]

"चेतन के जीवन की ट्रेजेडी उसकी यही भाव-प्रवणता और उससे जनित क्षोभ था। यदि अनजाने में उससे स्वयं छल बन आता तो दूसरे ही क्षण अपने छल को जानकर आत्म-ग्लानि से उसका हृदय भर जाता। निम्न मध्यवर्ग मे जो 'मोटी खोल' पैदा होती है—जो मान-अपमान को सह जाती है। और विना महसूस किए झूठ बोलती है खुशामद करती हैं, रिश्वत लेती हैं, देती है, और धोखा-फरेब करती है, वह चेतन के पास न थी।"[७]

इस प्रकार के अनेक चारित्रिक वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है। विश्लेषण का अवसर मिलने पर भी उपन्यासकार इस विधि से कन्नी काटकर आगे वढ़ गया है। एकस्थल पर नीला का चरित्र अंकित करते हुए लिखा है—"किन्तु नीला आग थी।" उसे लेकर चेतन के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती है। किन्तु उपन्यासकार उस द्वन्द्वात्मक स्थिति का विश्लेपण न करके चेतन द्वारा अनन्त को लिखे गए पत्रों में चारित्रिक वर्णन प्रस्तुत कर गया है। "और नीला"[८]—यह लिखकर भी चारित्रिक विश्लेपण नहीं किया गया। ऐसे अचूक प्रसंगों को लेखक की भूल माना जायगा। उसका वर्णनात्मक विधि के प्रति आग्रह कहा जाएगा। इस संबंध में एक आलोचक ने ठीक कहा है—"चेतन को केन्द्र मानकर उस जीवन की केन्द्रानुग तथा केन्द्रातिग परिस्थितियो का विशद चित्रण उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य जान पड़ता है। कला कला के लिए की तरह यह वर्णन कहीं-कहीं केवल वर्णन के लिए जान पड़ता है।"[९] उपन्यास के अन्तिम सोपान पर जी. सिह के संगीत कॉलेज का वखान, हर वल्लभ के मेले का विवरण ड्रामेटिक क्लब के वर्णनात्मक किस्से न केवल उपन्यास की आकार वृद्धि करते है अपितु उपन्यास की वर्णनात्मकता का प्रमाण भी जुटाते है। जालन्धर की वस्ती गुंजां, लाहौर का चंगड़ मुहल्ला तथा रूल्टू भट्टा का समाज उपन्यास

---

५. गिरती दीवारें—पृष्ठ ४७, ६१, ७१, ११४, १६६, २०२, २१०, २३१ ४६५, ४८८, ५१८, ६१०

६. वही—पृष्ठ २१०

७. वही—पृष्ठ ४८८-८६

८. वही—पृष्ठ— २३१

९. गंगाप्रसाद पाण्डेय : हिन्दी-कथा साहित्य—पृष्ठ २२

का व्यक्तिपरक नहीं, सामाजिक चिन्तना और वातावरण से भरपूर कर देते हैं। उपन्यास में चेतन से अधिक चेतन का निकटवर्ती समाज निखरा है। अत मैं उस आलोचक के इस कथन से सहमत नहीं— 'वास्तव में उपेन्द्रनाथ अश्क व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं, जिनकी उपन्यास कृतियों में व्यक्तिगत जीवन घटना, व्यक्तिगत चरित्र, व्यक्तिगत जीवन दर्शन अथवा व्यक्तिगत जीवन समस्या का निरूपण सर्वोपरि होता है।'[1] मेरे मतानुसार व्यक्तिवादी उपन्यासकार अवश्य विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को अपनाता है, जिसका अश्क में नितान्त अभाव है। उन्होंने सामाजिक व्यापकता को अपनाया है, वैयक्तिक गुहा की गहनता में जाने से इन्कार कर दिया है।

इन्दुमती—१६५०

'इन्दुमती' सेठ गोविन्द दास रचित वर्णनात्मक शिल्प विधि का उपन्यास है। इसे मैं दान प्रतिशत समाजोन्मुखी राजनैतिक उपन्यास मानता हूं। इसमें लेखक ने ६३४ पृष्ठों में भारतीय कांग्रेस के स्वतन्त्रता आंदोलन की खुलकर चर्चा की है। सेठ जी का ध्यान राजनीति के साथ-साथ भारतीय समाज के नारी वर्ग की ओर भी केन्द्रित रहा है। इन्होंने उपन्यास की कथा नायिका इन्दुमती को केन्द्र में रखा है और उसके माध्यम से स्त्री वर्ग की स्वतन्त्रता तथा समस्याओं को बहिर्मुखी रूपाकार (Extrovert Form) देकर उसकी कोमल भावनाओं, आवश्यकताओं तथा सिसकियों को वाणी दी है।

उपन्यासकार ने उपन्यास में वे ही घटनाएं और विचार जुटाए हैं जिनका सीधा संबंध या तो इन्दुमती की जीवनी से है या फिर भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास से है। प्राचीन काल से ही स्त्री-पुरुष संबंध के परिप्रेक्ष्य में स्त्री प्रेम साहित्यकारों का प्रिय विषय रहा है। स्त्री-प्रेम के अन्तर्गत स्त्री की भावदशा की अन्तर्दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण सेठजी का इष्ट प्रतीत नहीं होता, उन्होंने इन्दु की विचारणा को बहिर्मुखी बनाते हुए वहीं स्वयं तो कहीं अन्य पात्रों द्वारा स्त्री समाज की वर्तमान यथार्थ परिस्थितियों का कच्चा चिट्ठा इस उपन्यास में खोलकर रख दिया है। उपन्यास का आरम्भ लेखक की इस टिप्पणी के साथ होता है—"विश्व में निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है। जो अपने को ही केन्द्र मान, सब कुछ अपने लिए करता है, संसार की समस्त वस्तुओं को अपने आनन्द के लिए साधन मानता है उसी का जीवन सुखी और सफल होता है।"[1] इस टिप्पणी के साथ ही उपन्यास का अन्त भी होता है।[2] इस विचारणा के साथ ही कथा घूमती है और जीवन की हर विषम परिस्थिति में नायिका इन्दुमती इन शब्दों का स्मरण करती है।[3]

---

१० डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १२३
१ इन्दुमती—पृष्ठ १
२ वही—पृष्ठ ६३४,
३ वही—पृष्ठ ५५, ६२, १०३, १६२, १७५, ३२४, ४५३, ४६६, ५११, ५४५, ५६६, ५४१, ६२६, ६०७, ६२०

'इन्दुमती' मात्र स्त्री-पुरुष के संयोग-वियोग की कहानी नही है, यह भारतीय समाज और राजनीति की समस्याओं पर विचार भड़काने वाली कलाकृति है। इस दृष्टि से वर्णनात्मक शिल्प-विधि का यह उपन्यास उद्देश्यनिष्ठ है। उद्देश्य है भारतीय नारी में व्यक्तित्व का निर्माण करना, जिसमे कथाकार एक बड़ी सीमा तक सफल हुआ है। उपन्यास मे अधिकतर वे घटनाएं संयोजित हुई हैं जो पाठकीय आकर्षण रखती है, वे विचार दिए गए है जिनसे कथा की गति में माधुर्य बढ़ा है। उपन्यास की कतिपय घटनाएं तोड़ी-मरोड़ी आभासित होती है, जैसे त्रिलोकीनाथ का इन्दुमती की ओर से निराश हो डॉक्टरी पास करके सेवा कार्य में लग जाना, ललित मोहन की मृत्यु पर प्लाट का समाप्त-प्राय लगना, इन्दु का वीरभद्र की ओर झुकाव पर आकस्मिक रूप से आग लगने की दुर्घटना पर उसका गिरफ्तार हो जाना, फिर इन्दु का भारत पर्यटन तथा अमरीका जाकर शशिबाला बन हॉलीवुड पहुंचना, वहां मुरलीधर की ओर आकृष्ट होना आदि घटनाएं एक ओर आकस्मिक, अस्वाभाविक, काल्पनिक और विशृंखल लगती है, परन्तु दूसरी ओर ये कथाकार के सामाजिक आदर्शों की पूर्ति करती है। नारी-मंगल की कामना से अभिभूत लेखक अपनी इन घटनाओं और कथा के द्वारा उपन्यास मे एक नैतिक संसार उड़ेलने का प्रयास करता है। इसमे किसी को कुछ आकस्मिक और आशा से ऊपर लगे तो इसकी उसे चिन्ता नहीं। नई पीढ़ी के लिए एक नैतिक आदर्श (Code) देना वह अपना धर्म समझता है। लगता है उसने श्री एच० लेगेट के इन शब्दों को आत्मसात कर लिया है—"कतिपय उपन्यासकार प्रत्येक युग में कुछ नैतिक दशाओं को अथवा परिवर्तित नैतिक मान्यताओं को पाठक पर थोपते ही है; इसलिए नही कि वे कोड रुचिकर हों अथवा नवीनता लिए हों, वल्कि इसलिए कि विशेष रूप से पहिले वे कोड विषयक नई स्थापनाओं से पाठक को परिचित करा सकें तथा दूसरे पाठक से उनका तादात्म्य स्थापित कर उसे इस अवस्था तक पहुंचा सके जिसमें वह उसका प्रशंसक बने या उसे आकर्षक माने।"[४]

'इन्दुमती' का कथानक निर्माण सेठ गोविन्द दास के साथ-साथ पात्र इन्दुमती के अधीन हो चला। उसका समूचा जीवन, उसके जीवन की प्रमुख घटनाएं, उसके कार्य-व्यापार अपने आप में वस्तु-विन्यास है। इन्दुमती की चरित्र स्थापना तथा नारी की करुण गाथा विषयक विचारणा में ही कथा सूत्र विकसित, संगठित और समन्वित हुए।

---

4. "Besides the expression of Codes interesting for their novelty or unexpectedness, a few novelists in every age more or less deliberately set out to impose fresh Codes or, *more particularly*, modifications of existing Codes upon their generation, not by advocating them, but, in the first place, by familiarizing their readers with them, and secondly by associating such provocative notions with characters whom the reader cannot but admire or find attractive."

"The Idea of Fiction." P. 76

आकार की दृष्टि से कदाचित् इन्दुमती 'रंगभूमि' जितना विस्तृत उपन्यास है। इसका रूपाकार बहिर्मुखी, शिल्प वर्णनात्मक है। 'इन्दुमती' की जीवनी पहले समाजोन्मुखी, फिर राजनीतिक, फिर व्यक्तिपरक होते हुए अन्त में विश्वजनीन बनी। विधान की दृष्टि से इसमे वर्णनात्मकता की प्रचुरता है, कथा शिल्प की दृष्टि से इन्दु की जीवनी के चार भाग हैं। पहले भाग मे वह एक षोडशी के रूप मे कॉलेज प्रवेश कर नये परिवेश की अनुभूतियां अर्जित करने वाली मुग्धा है। दूसरे भाग मे वह ललित मोहन के सम्पर्क मे आई, रोमांस और प्रेममय जीवन को जीने वाली नायिका है। तीसरे खण्ड म वह वास्तविक तथा क्रियात्मक संघर्ष की प्रथम वेला भोग रही युवती के रूप म हमारे सामने आती है। चौथे और अन्तिम सोपान म उसका जीवन संघर्ष कहीं बहिर्मुखी, कहीं अन्तर्मुखी बन समाज, नैतिकता तथा राजनीति के आरोह अवरोह मे निहित है। कथानक की यह व्यापकता समाजोन्मुखी राजनैतिक उपन्यास की विशेषता मानी जाएगी जो वर्णनात्मक शिल्प मे इतिवृत्तात्मक रूप ग्रहण करती है।

'इन्दुमती' बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की विविधमुखी भारतीय समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इसमे नारी जीवन की सामाजिक समस्याएं भी हैं भारतीय दासता की राजनैतिक समस्याएं भी हैं। इन्दुमती की विवाह नाम की संस्था मे कोई आस्था ही नहीं है, मगर वही इन्दु त्रिलोक को देख कर उसकी ओर आकृष्ट होती है, ललित मोहन को प्रथम दृष्टि म प्रेम कर बैठती है और उसकी मृत्यु पर वीरभद्र के साथ सहवास के लिए आतुर दिखाई गई है—यह कैसी विडम्बना है और यह सब 'विश्व मे निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है'—की आड मे पल्लवित होता है। उपन्यासकार ने सतीत्व, पत्नीत्व और मातृत्व पर नये नये प्रश्नचिह्न लगाए हैं। वह इन्दुमती के नैतिक एवं मानसिक पतन पर उसकी चिन्तना मे नाना प्रश्न उभारता है। वही इन्दु जो देवी थी, सीता-सम पवित्र थी—एकदम वीरभद्र को देख पागल हो उठी और सतीत्व पर व्यंगाघात कर वह उठी—" घृणित से घृणित जन्तु। और ऐसे मजदूर करें मेरी आलोचना एक उच्चात्मा की एक पवित्रात्मा की ऐसी गन्दी आलोचना पर पर मैं उच्च, पवित्र अब भी रही हू क्या ? पवित्र ? क्यो नहीं क्यो नहीं ? मैंने मैंने विवाह संस्था पर कभी विश्वास ही नहीं किया। समाज मे पहले विवाह था ही नहीं। फिर ऐसा समय भी था जब एक नारी कई नरो और एक नर कई नारियों के साथ रहते थे। कैसी पतिपरायणता ! कैसा पतिव्रत ? ललितमोहन के बाद मैंने किसी के साथ विवाह इसलिए नहीं किया, मैं किसी के साथ इसलिए नहीं रही, कि वैसा शारीरिक सम्पर्क किसी से रखना मुझे पसन्द न था। अब अब अगर वीरभद्र मुझे पसन्द है तो पर पार्वती जो है इससे क्या ? पार्वती के रहते भी वह वेश्याओं के पास जाता है। साहित्य मे भी जार नायक और परकीया नायिका का जितना वर्णन है ...[५]

अवैध प्रेम पर आदर्शवादी लेखक इससे अधिक और लिखना भी क्या ? सेठ

---

५. इन्दुमती—पृष्ठ ६१४

गोविन्ददास लोक मंगल में आस्था रखने वाले साहित्यकार हैं। अपनी इन्दुमती में उन्होंने एक भारतीय नारी के भावों और विचारों की ऊहापोह दिखाई है। सतीत्व में अनास्था दर्शाने वाली यही नायिका पवित्र प्रेम की पुजारिन रही है। इसके ललितमोहन के प्रति शुद्ध आकर्षण और प्रेम की व्याख्या सेठ गोविन्ददास इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—'दो सच्चे प्रेम पात्रों के प्रेम सम्भाषण के समान खुले हृदय का वार्तालाप कोई भी दो व्यक्ति किसी भी विषय पर नहीं कर सकते···एक-दूसरे में विलीन किए बिना कोई सच्चे प्रेम-पात्र हो ही नहीं सकते···इन्दुमती और ललितमोहन के हृदय कपाट सदा इसी समीर का आनन्द उठाने के लिए खुले रहते। फिर वे दोनों अक्षरों, शब्दों और वाक्यों के सिवा एक मूक भाषा में भी प्रायः बातें किया करते थे। वे बातें होतीं जो वाणी द्वारा तो न कही जातीं, पर हृदय में उठतीं और वाणी द्वारा न कहे जाने पर भी वे एक-दूसरे की समझ में आ जातीं। ऐसे मूक सम्भाषणों में अनेक बार दोनों की आंखें अधखुली रहतीं, ओंठ भी अधखुले रहते और अधखुले ओंठों पर एक विचित्र प्रकार की मुस्कराहट रहती···

"प्रेम मार्ग ऐसा मार्ग है जिसके पथिक अपने पथ पर उसे सदा नया समझते हुए चल सकते हैं। एक ही बात को बिना उसकी नवीनता नष्ट किए बार-बार कह सकते हैं, एक ही कृति को बिना ऊबे निरन्तर कर सकते हैं।···

"दोनों अपने प्रेम को, अपने सुख को, इस दुनिया के वर्तमान युगलों से ही नहीं, लेकिन भूत के सारे दम्पतियों से भी श्रेष्ठ मानते और फिर इसी दुनिया के नहीं, पर स्वर्ग के, त्रिलोकी के; तथा चौदह भुवनों के युग्मों से बढ़ कर···केवल इस देश के नहीं, पर सारे संसार प्रेमी युगुलों का प्रेम इन्हें अपने प्रेम के आगे तुच्छ दीखता। सावित्री और सत्यवान, उर्वशी और पुरुरवा, सीता और राम, नल और दमयन्ती, राधा और कृष्ण, सुभद्रा और अर्जुन, शकुन्तला और दुष्यन्त, शीरीं और फरहाद, लैला और मजनू, वामिक और अजरा, सोहनी और महीवाल, हीर और रांझा, ससी और पुन्नू, ट्रायलस और क्रेसिडा, डान्टे और बीट्रिस, हीरो और लियान्डर, रोमिओ और जूलियट, फर्डिनेन्ड और मिरान्ड आदि हरेक के प्रणय में इन्हें कोई न कोई दोष दीखता।···

"दोनों के संगम की यह प्रेम धारा लहलहाती, छलछलाती, उछलती और अठखेलियां करती हुई बह रही थी।"[५] इस प्रकरण में कथाकार ने प्रेम की व्याख्या एक वर्णनात्मक शिल्पी की भांति जुटा दी है। इतना ही नहीं अवसर मिलते ही वे प्रेमचन्द की भांति किसी भी घटना के घटित होने पर अपनी ओर से टिप्पणी करना नहीं भूलते। ललितमोहन की असाध्य बीमारी पर उन्होंने लिखा—"ललितमोहन की बीमारी अब उस स्थिति को पहुंच गई थी जहां कष्ट की अपेक्षा मानसिक क्लेश अधिक हो जाता है। इस अवस्था में मनुष्य की हालत शायद पशु से भी अधिक खराब हो जाती है। मनुष्य में कल्पना करने की शक्ति होती है, पशु में नहीं।···चूंकि पशु में कल्पना की शक्ति नहीं होती अतः उसका मानसिक क्लेश कष्ट के परिमाण से बढ़ने नहीं पाता।"[६]

---

५. इन्दुमती—पृष्ठ २३४-२३७

६. वही—पृष्ठ ४४५

इन्दुमती की सबसे अधिक मार्मिक घटना अवधविहारी तथा ललितमोहन की मृत्यु के घटित होते ही सेठ जी लिखते हैं—"मृत्यु निष्क्रियता की सबसे बड़ी प्रतीक है। वह मृतक को तो निष्क्रिय बना ही देती है, किन्तु जिस गृह मे उसका आगमन होता है, वहा भी निष्क्रियता का राज्य हो जाता है। मानसिक घाव भरने का सबसे बड़ा चिकित्सक समय है।"[७]

सेठ गोविन्ददास ने विचार प्रदर्शन का काय मात्र अपने हाथ मे ही नहीं पकड़े रखा। जहा उन्होने अवधविहारी की मृत्यु पर स्वय टिप्पणी की, वहा मृत्यु के सबध मे प्रधान पात्रा इन्दु, त्रिलोकी, ललित आदि से भी कहलवाया। अवधविहारी की अकाल मृत्यु देख उसकी पुत्री इन्दु कहती है—"तो क्या यही मृत्यु है। पर पर किया क्या है इस मृत्यु ने? आत्मा आत्मा निकल गई शरीर मे से! पर कैसी कैसी आत्मा? कोई चीज भी तो न दीखी निकलती हुई। आत्मा? कहा की आत्मा? ढकोसला है, बड़े से बड़ा ढकोसला। जिस तरह मशीन चलते-चलते रुक जाती है, उसी तरह शरीर की मशीन भी रुक जाती है। दिल की धड़कन बन्द हो गई है यह शरीर क्या है? असख्या 'कोषों' कोषाओं' (सेल्स) का ही तो सग्रह है न? एक-एक कोष मे असख्यो 'परमाणु (एटम) होते हैं वैज्ञानिक इतना धन खर्च करके भी इतनी छोटी सी बात (मृत्यु पर विजय) नही कर सके।"[८]

ललित मोहन की मृत्यु विषयक विचारणा यह है—"एक दिन सबको जाना है, मैं भी जा रहा हू आज मरते-मरते भी मैं यही मानता हू। जीवन अस्थायी वस्तु है। अमर तो कोई रहता नही। हा, इस अस्थायी जीवन की अवधि कभी लम्बी रहती है और कभी छोटी, लेकिन जीवन मे जो पूर्णता का अनुभव कर पाते हैं, उन्हे मैं धन्य मानता हू। मृत्यु के समय यह भावना शायद बड़ी प्रदीप्त प्रबल रहती है कि जीवित रहते हुए जो कुछ किया है उसके किस अश को मृत्यु मार न सकेगी।"[९] ललित मोहन से अधिक वैज्ञानिक मीमासा त्रिलोकीनाथ प्रस्तुत करते हैं—'मृत्यु से आप ही डरते हैं, ऐसा नही है, सब डरते हैं। फिर जिस मृत्यु का भय कहते हैं, वह यथार्थ मे मृत्यु का भय न होकर जीवन का भय होता है। आखिर मृत्यु क्या है? कोई वस्तु सर्वथा नष्ट नहीं होती, उसका रूपान्तर होता है, यही विज्ञान कहता है। सारी सृष्टि ईश्वरमय है, यह वेदान्त कहता है। अन्तर इतना ही है कि विज्ञान इस तत्त्व को जड कहता है, वेदान्त चैतन्य, पर वैज्ञानिक उस तत्त्व को अपने किसी यन्त्र से न देख सके हैं, न जाच और न कभी देख सकेंगे, क्योंकि पार्थिव साधनों से जो जो पार्थिव नहीं है, वह कैसे देखा और जाचा जा सकता है।"[१०]

सेठ गोविन्ददास ने इस रचना मे प्रेम, विवाह, सतीत्व और मृत्यु आदि शाश्वत

---

७ इन्दुमती—पृष्ठ ३३६

८ वही—पृष्ठ ३३२ ३३३

९ वही—पृष्ठ ४४१-४४१

१० वही—पृष्ठ ४५५-४५६

प्रश्नों के अतिरिक्त कुछ नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याएं भी उठाई है। नैतिक समस्या के अन्तर्गत इन्दुमती के वैधव्य और सन्तान इच्छा की वलवती प्रश्नावली आती है। इन्दुमती कदाचित् हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमे कृत्रिम गर्भाधान के प्रश्न को लेकर विचार किया गया है। एक लेख का संक्षिप्तीकरण करते हुए सेठ जी इस संबंध में लिखते हैं—"कृत्रिम गर्भाधान वह क्रिया है जिससे स्त्री वर्ग के प्राणियों में पुरुष वर्ग का वीर्य (Sperm) विना शारीरिक संपर्क के पिचकारी द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। कृत्रिम गर्भाधान का आधुनिक प्रयोग संसार के लिए एकदम नवीन वस्तु है और मानव उत्पत्ति में इसका प्रयोग कुछ लोगों के विचार से मानवी उन्नति की पराकाष्ठा है तो कुछ लोगों के विचार से ईश्वरीय प्रकोप का आमन्त्रण···।"[११] कथाकार ने कृत्रिम गर्भाधान को एक विचार रूप में मात्र चर्चा का विषय वनाकर ही इतिश्री नहीं कर दी अपितु इन्दुमती के मन में में इस संबंध में जिज्ञासा और आस्था उत्पन्न कर इससे उत्पन्न समस्याओं का सफल प्रयोग भी किया है। इन्दुमती विवाह शीर्षक संस्था में अनास्था रखने तथा स्वयं के व्यक्तित्व को सर्वोपरि मानने वाली नायिका कृत्रिम गर्भाधान धारण कर मयंक मोहन को जन्म देकर अनेक छोटी-मोटी समस्याओं को आमन्त्रित कर लेती है। सबसे पहली प्रक्रिया उसके श्वसुर पर हुई, जिन्होंने इस घटना को सुनते ही उससे संबंध तोड़ लिया। समाज के कटाक्षाघात न मात्र उसे अपितु उसकी सन्तान को जीवन भर सहने पड़े। पति-सम्भोग फलस्वरूप उत्पन्न न होने के कारण न उसका लगाव मयंक के प्रति हुआ, न मयंक ने उसे मा रूप में आदर दिया। वजीरअली का यह कहना कि विज्ञान एक स्त्री मे सन्तान को प्रतिष्ठित कर सकता है मगर जज़बात (मनोभाव) नही, अक्षरशः सत्य है। आधा उपन्यास इस कृत्रिम प्रयोग के फलस्वरूप उभरी समस्याओं से भरा पड़ा है। इन्दुमती के व्यक्ति और समाज मे सघर्ष होता है यह वहुमुखी संघर्ष है, उसके अन्तर्मन में द्वन्द्व और वीरभद्र के प्रति झुकाव होता है, यह अन्तर्मुखी संघर्ष है। सब प्राप्य होने पर भी इन्दुमती का मानसिक पतन एक प्रश्नचिह्न है। कृत्रिम गर्भाधान आधुनिकता की चुनौती रूप में चित्रित है और उसका एकाकी जीवन मानवीय सवेदना से भीग गया है। इस दृष्टि से कथाकार ने इन्दुमती के उत्तरांग जीवन के जो विवरण दिए है वे आधुनिकता की चुनौती और मानवीय संवेदना का अद्भुत मिश्रण लिए है। सेठ जी ने इन्दुमती के मानसिक पतन के माध्यम से उसे देवी वनने से वचा लिया, साथ ही स्त्री में जो काम-भावना, यौन आचार की मौलिक आवश्यकता है उसका चित्रण भी आपने कर दिया है। पार्वती की कथा के प्रसंग द्वारा उसने वनिता आश्रम में हो रहे व्यभिचार का पर्दाफाश किया है। पार्वती इन्दु से कहती है—"वहन, वनिता आश्रम में कुछ ही दिन में उस जीवन को मै अपने जीवन की तरह व्यतीत न कर सकी। तुम यह कल्पना भी नहीं कर सकती कि वनिता आश्रम किस कुचक्र के केन्द्र हैं। वे भाग्य और परिस्थिति की सतायी स्त्रियों के लिए शरण के स्थान नहीं, किन्तु लोभी, झूठे, व्यभिचारी समाज के मनोविनोद के अड्डे हैं।"[१२]

११. इन्दुमती पृष्ठ—४६८
१२. वही—पृष्ठ ८०६

राजनीति का समावेश 'इन्दुमती' के रचनाकार की सबसे बड़ी उपलब्धि है। भट्टजी ने अपने उपन्यास शिल्प में कथा, घटना और चरित्र विकास की अपेक्षा विचार और अनुभूति को अधिक प्रश्रय दिया है। भारतीय कांग्रेस के इस उपन्यास ने सन् १९१९ के अमृतसर अधिवेशन से लेकर सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन तक की राजनीतिक घटनाओं का इतिहास ही लिख दिया और वह भी रोचक कथा के माध्यम से।'' नायिका इन्दुमती स्वयं कांग्रेस की सक्रिय सदस्या है। वह कौंसिल की मेम्बर चुनी जाती है। उसके पति ललित मोहन का जेल जीवन की यातना के कारण बीमार होकर शहीदों की गिनती में शुमार होता है। 'इन्दुमती' में मात्र कांग्रेस के स्वतन्त्रता आन्दोलन की भूमिका, संघर्ष और विचारधारा का इतिहास ही वर्णित नहीं हुआ, अपितु मजदूर संगठन, सोशलिस्ट आन्दोलन का विवरण भी दे दिया गया है।

'इन्दुमती' की रचना करके भट्ट जी ने किस उद्देश्य की पूर्ति की? एक विचारणीय प्रश्न है। वस्तुतः भट्ट जी आस्थावादी लेखक हैं। भारतीय संस्कृति में आपकी अगाध श्रद्धा है। 'इन्दुमती' द्वारा आपने भारतीय समाज की शक्ति, विचारधारा और समस्या का परिचय हमें दिया है। स्त्री स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के विवरण, पुरुष स्त्री संबंध, नैतिक प्रश्न, सामाजिक समस्याएँ और राजनैतिक प्रश्नों को लेकर कथाकार ने समग्र जीवन को प्रतिष्ठित करने का जो प्रयास किया है उसके कारण 'इन्दुमती' एक महाकाव्य के पद पर आसीन होता है। इतनी बड़ी चित्रपटी (Canvass) पर एक वृहद् जीवन चित्र उतार लेना सहज नहीं। कथाकार ने भारत के सब प्रमुख नगरों लखनऊ, कानपुर, दिल्ली, बम्बई, मद्रास, जयपुर, जालन्धर, बनारस आदि का वर्णन कर इसे वर्णनात्मक शिल्प का आकार दिया है।

यज्ञदत्त शर्मा

वर्णनात्मक शिल्प विधि के उपन्यासकारों में श्री यज्ञदत्त शर्मा एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके उपन्यासों में देश की परिवर्तित सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है। इन्हें समाज के बहिर्मुखी संघर्ष का चित्रण ही इष्ट है। इनके उपन्यासों में प्रस्तुत पात्र आमने-सामने आकर वार्ता करते हैं। घटनाएँ मन में नहीं, बहिर्जगत में वर्तमान रहती हैं, द्वन्द्व अन्तर्मुखी नहीं रहता है। अतः इनके उपन्यासों में वर्णनातिरेक रहता है, विश्लेषण के लिए यहाँ कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। समाज वर्णन में आप पर्याप्त स्वच्छन्दता बरतते हैं। चरित्र चित्रण में विस्तृत विवरण जुटाते हैं। विचार प्रदर्शन का जाल आपने अधिक नहीं बुना, तभी आप प्रेमचन्द या यशपाल की भाँति उपदेशक या प्रचारक बनने से बच सके और कथा शिल्प के प्रति अधिक जागरूक रहे, चरित्र चित्रण पर अधिक बल दे सके। जहाँ विचार प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी, कुछ पात्रों को आगे करके आपने काम ले लिया। यथार्थ जीवन की

---

१३ इन्दुमती—पृष्ठ १९, २४, १०८-१०, १३६-४०, २५०, २५५-६४, ३२७, ३५४-६७, ३९३, ४८४ ८६, ५२०, ५६६, ८१३-१६, ८३४

विभीषिका को अंकित करना आप बखूबी जानते हैं।

'विचित्र त्याग' इनका पहला उपन्यास है। 'दो पहलू'—१९४० में कथाकार वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा अहिंसात्मक तथा हिंसात्मक क्रांति पर एक प्रश्नचिह्न लगाता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति हित किए गए आन्दोलन का व्यापक चित्र इसमें देखा-परखा जा सकता है। 'इन्सान' इनका बहुचर्चित उपन्यास है, इसमें हिन्दू-मुसलमान एक्य कैसे स्थापित हो, इस प्रश्न पर विचार किया गया है। इसके पश्चात् 'निर्माण पथ', 'इंसाफ', 'चौथा रास्ता', 'भुनिया की शादी', 'मधु', 'परिवार', 'महल' और 'मकान' का प्रकाशन हुआ। ये सभी वर्णनात्मक शिल्प की रचनाएं हैं। आपने उपन्यास साहित्य में शिल्प के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए मुझे बताया—"शिल्प उपन्यास साहित्य का एक विशेष अंग है क्योंकि साहित्य सृजन शिल्प का ही तो एक अंग है। यदि साहित्य में से शिल्प को निकाल दिया जाए तो साहित्य का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो जाए, फिर तो इसकी सम्पूर्ण विधाओं का स्पष्टीकरण करना ही सम्भव न होगा। विधाओं का मूलाधार शिल्प ही तो है। मानवीय विश्लेषण के अन्तर्गत विचारकों ने इसे दो भागों में विभक्त किया है। एक अन्तर्जगत का विश्लेषण, दूसरे बहिर्जगत का विश्लेषण। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो अन्तर्जगत का विश्लेषण बहिर्जगत के विश्लेषण की छाया मात्र है। मानव के चेतन मन और अवचेतन मन में जो विचार और भावनाएं उद्वेलित होती है उनका विकास बहिर्जगत की यथार्थवादी परिस्थितियों के बिना सम्भव नहीं। किसी समय का यथार्थ ही कालान्तर में अचेतन और अवचेतन विचारों और भावनाओं का प्रेरक बनता है। जिन विचारों और भावनाओं को भूतकाल में मानव अपने मस्तिष्क में स्थान देकर वर्तमान में उनका चिन्तन करता है, वे सब वर्तमान यथार्थ में उपलब्ध रहते हैं, इसलिए मानसिक विश्लेषण की जो प्रक्रियाएं कुछ लेखक अपने चित में व्यक्त कर नवीन कल्पना का स्रोत प्रवाहित करने की बात सोचते हैं, वे यथार्थ को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यथार्थ ही वास्तव में मानवीय प्रेरणा का वह मूल आधार है, जिसके अन्दर भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी विचार और उसकी कल्पनाएं निहित रहती हैं।"[1]

अन्तर्जगत के विश्लेषण को बहिर्जगत के विश्लेषण की संज्ञा देने वाले श्री शर्मा अपने उपन्यास साहित्य में, अपने को बहिर्जगत की नाना लीलाओं तक सम्बद्ध रखते हैं। अपने 'भुनिया की शादी', 'रंगशाला' और 'दबदबा' शीर्षक अन्यतम उपन्यासों में आप वर्गगत पात्रों को चुन कर उनके हाथों में कथा सूत्र देने को उत्सुक दीख पड़ते हैं। हिन्दी में चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने का श्रेय यदि किसी कथाकार को दिया जा सकता है तो वह सर्वप्रथम श्री यज्ञदत्त शर्मा को दिया जाएगा। इनके चरित्र-प्रधान उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प-विधि में रचे गए है।

भुनिया की शादी—१९५२

'भुनिया की शादी' प्रेमचन्द परम्परा का वर्णनात्मक शिल्प-विधि का लघु उपन्यास है। यह दातादीन नामक एक निम्नवर्गीय किसान के जीवन की करुण गाथा है,

१. लेखक की यज्ञदत्त शर्मा से एक भेंट-वार्ता—दिनांक २८-५-६८

जिसकी समता 'गोदान' के होरी से की जा सकती है। जहाँ होरी के जीवन संघर्ष के दो स्तर हैं—एक पारिवारिक दूसरा सामाजिक वहाँ दातादीन का जीवन द्वन्द्व भी द्विमुखी है वह अपने पुत्र चन्दू के प्रमाद एवं निकम्मेपन से क्षुब्ध है। सामाजिक स्तर पर साहूकार के शोषण तथा उसके पुत्र के अपमान का कोपभाजन बनता है। प्रतिदिन पारिवारिक एवं सामाजिक विषम परिस्थितियों में भी वह संघर्ष करता है, असफल होता है, किन्तु उसकी विफलता चरित्र की दुर्बलता या अक्षमता का प्रतिफलन नहीं, बल्कि परिवेशजन्य विवशताओं के कारण है। दातादीन सामान्य किसान होते हुए भी असामान्य व्यक्तित्व रखता है। सहनशीलता, धैर्य, साहस उसके असाधारण व्यक्तित्व के संकेतक हैं। वह सामाजिक पारिवारिक परिवेश में अभियान करते हुए आर्थिक जकड़ की कठोरता में जकड़ा जाता है। चन्दू की अयोग्यता और पिशाचता उसे कभी निश्चेष्ट कभी सचेष्ट करती है। एक बार अपने पुत्र को पुलिस के चंगुल से बचा लाकर वह सुख की साँस लेना चाहता है किन्तु दुष्ट चन्दू ने कर्त्तव्य, दायित्व शब्द कहीं पढ़ा ही नहीं, अतएव डकैती करता पकड़ा जाकर जब दस वर्ष का कारावास पाता है, तब दातादीन के लिए एकाकी जीवन संघर्ष का मार्ग खुल जाता है। जीवन संघर्ष में उसकी हार होती जाती है, मगर वह गिर गिर कर उठता है और विजय पाना चाहता है। 'रंगभूमि' के सूरदास की भाँति उसका जीवन संग्राम महत्त्वपूर्ण है।

चन्दू घर से भागता है तब सातवें दिन घर आने पर उसके उपलक्ष्य में पण्डित का जीमन होता है। चन्दू डकैती के अपराध में पकड़ा जाता है तब उसे छुड़ाने के लिए दातादीन वकील पर सैकड़ों रुपये व्यय करता है। वह होरी की भाँति अपने परिवार के लिए टूटता है। कथाकार दातादीन के जीवन को वर्णनात्मक शिल्प द्वारा ब्यौरेवार प्रस्तुत करता है। उसका जीवन परिवृत्त ही नहीं, बल्कि पूर्व निश्चित और नियन्त्रित है, सामाजिक परिस्थितियाँ, आर्थिक संकट और पारिवारिक क्लेश उसे कहीं सीमित, कहीं विकसित करते चले हैं। जब उसका घर और धरती बिकने लगती है तो उसके मन पर ठेस लगी। उसकी इस दशा का वर्णन कथाकार इन शब्दों में करता है—"आज उसे लगा कि मानो वह घर उसका नहीं था, उसमें बंधे बैल उसके नहीं थे, फिर जब संध्या को वह जगत गया तो उसे लगा कि वे लहलहाते दो खेत जिनमें जीवन भर दातादीन अपना पसीना बहाता रहा था, जिनकी मिट्टी के कण-कण के साथ उसने अपने हाथ में खाद को रगड़ कर उसे उपजाऊ बनाया था, अब उसके नहीं थे। दातादीन खेत के किनारे खड़े होकर रो पड़ा सारा संसार काला हो गया, अंधकारपूर्ण, निराशापूर्ण।"[1] साहूकार का पुत्र उसे मिटा देने में कोई कसर नहीं छोड़ता। वह उसके घर की एक-एक वस्तु चर्खा, कठौती, तवा, पतीली, चिमटा तक ले जाता है। पर वह टूटकर भी टूटता नहीं, अपनी पत्नी और पुत्रवधू रमधनिया की सहायता से नया घर बना लेता है। दातादीन का महत्त्व, उसके संघर्ष और उस संघर्ष की चेतना में निहित है। वह अपनी चारित्रिकता के विकास की निर्बाध चरमता के कारण पाठक के हृदय में अपने प्रति जो सहानुभूति जगाने

---

१ झुनिया की शादी—पृष्ठ ६२

की क्षमता रखता है, वह हिन्दी उपन्यास की एक उपलब्धि है। सामाजिक व्यक्तित्व की व्याप्ति का जो रूप प्रेमचन्द के होरी के पश्चात् श्री शर्मा के दातादीन में मिलता है उस पर हिन्दी उपन्यास के पाठक को सदैव गर्व रहेगा। सचमुच होरी और दातादीन निम्न-वर्गीय सामाजिक चेतना के दो जगमगाते तारे हैं जिनकी सवेदना पाठक के मर्म को संस्पर्श कर उसमें काव्यात्मक माधुर्य का सृजन करती है।

रंगशाला—१९५६

यदि शिल्प-विधि के शास्त्रीय मानदण्ड से श्री यज्ञदत्त शर्मा के उपन्यास-साहित्य की परीक्षा की जाए तो इनकी गणना प्रेमचन्द स्कूल के लेखकों में ही होगी। परन्तु इनकी उपन्यास कला और शिल्प में जो पाठकीय आकर्षण है वह हिन्दी के बहुत कम प्रेमचन्द परम्परा के लेखकों में दिखाई दिया है। जहां श्री उपेन्द्रनाथ अश्क और मन्मथ-नाथ गुप्त असफल हुए, वहां आप अपने निर्दोष कथा-प्रवाह और प्रभावोत्पादक पात्रों के स्वाभाविक जीवन विकास द्वारा अपनी वर्णनात्मकता में सहजता ले आने के कारण पाठकों की रुचि का मूल केन्द्र बन गए। यज्ञदत्त के उपन्यास चित्रण प्रधान वातावरण की सर्जना करते हैं। इन्होंने स्वभाव वैचित्र्य तथा चारित्रिकता की सहज विकास यात्रा को प्रदर्शित करना अपने उपन्यास साहित्य का लक्ष्य माना है।

इनके प्रसिद्ध उपन्यास 'रंगशाला' में पाठक का ध्यान उपन्यास की नायिका सरोज तथा शठनायक संकटाप्रसाद पर केन्द्रित हो जाता है। वह दिल्ली की प्रसिद्ध नर्तकी है, पर किसी से लाख रुपया मिलने पर भी किसी के घर नृत्य करने नहीं जाती, जिसे उसका नृत्य देखना होता वही सिर के बल उसकी रंगशाला की ओर पग बढ़ाता। वह समाज में वेश्या पुत्री मानी जाती है और स्वामी ज्ञानानन्द तो उसे एक विचित्र बीमारी मान कर जब तब उससे बच कर चलने का उपक्रम रचते हैं। पर वह नर्तकी क्यों बनी। यह बताना उपन्यासकार का नहीं, उन पात्रों का कार्य है जिन्हें सरोज, ब्रह्म-चारी और अन्य पात्रों के रूप में उपन्यासकार समय-समय पर पाठक के सामने लाया है। उसका नर्तकी बनना सामाजिक विषम परिस्थितियों का प्रतिफल है। निस्संदेह सरोज उपन्यास की रीढ़ से कम नहीं, लेकिन उपन्यास का लक्ष्य मात्र उसकी बहिर्गत जीवन-लीला का उद्‌घाटन ही नहीं है अपितु स्वतंत्रोत्तर भारत की राजनैतिक हलचल के परि-प्रेक्ष्य में स्वार्थी और अवसरवादी सेठों, राजनीतिज्ञों और संकटाप्रसाद जैसे अपना उल्लू सीधा करने वाले नेताओं की विभिन्न चालों का पर्दा-फाश करना है।

उपन्यासकार उन घटनाओं, प्रसंगो और कथाओं में विशेष रुचि लेता दृष्टिगोचर नहीं होता जिनकी वह रचना कर रहा है, उसकी रुचि का मुख्य केन्द्र वे पात्र हैं जिनके कारण ये घटनाएं घटित हो रही हैं। 'रंगशाला' की कथा अत्यन्त अल्प पर मार्मिक है। संक्षेप में यह सरोज को रंगशाला में आने वाले उन पात्रों की द्वन्द्वात्मक गाथा है जो सभी सरोज को पा लेने के लिए लालायित है। परन्तु श्री शर्मा के पात्रों का द्वन्द्व अन्तर्द्वन्द्व नहीं; जहां कुण्ठा हो, कुढ़न हो, ईर्ष्या हो या फिर स्वयं को तिल-तिल विश्लेषित कर जीवन को विभीषिका रूप में प्रकट करने की चाहना है। इन पात्रों का द्वन्द्व बहिर्मुखी

और स्पष्ट है। स्वामी ज्ञानानन्द रूढ़िवादी साधु समाज के प्रतीक हैं, जिन्हें नारी स्वतंत्रता, हिन्दू कोडबिल आदि नवीनताओं से चिढ़ है। ठाकुर राजबहादुर हर क्षण गिरगिट की भांति रंग बदलने वाले राजनीतिज्ञों के प्रतिनिधि हैं जिनका कार्य सुरा और सुन्दरी का सेवन करना है। ब्रह्मचारी आनन्दप्रकाश इन्हें कलयुगी कर्ण के नाम से स्मरण करते हैं। सेठ गूदड़मलजी की दृष्टि में हर मर्ज की दवा रुपया है। वे कभी स्वामी ज्ञानानन्द जी को एक-दो लाख देकर सन्तुष्ट कर देते हैं, कभी धूर्त मकटाप्रसाद को रुपया देकर खरीदना चाहते हैं। एक वकील साहब हैं जो पचास वर्ष की आयु में विवाह कर प्रेमचन्द के वकील तोताराम का स्मरण कराते हैं, पर एक अन्तर के साथ, तोताराम जितने सरल हैं, ये उतने ही धाघ। उपन्यास के सबसे सशक्त पात्र हैं मन्त्री मकटाप्रसाद जो कूटनीतिज्ञता में अपने को चाणक्य का ही प्रगतिवादी अवतार मानते हैं और वकील साहब को सदैव मात देने की योजना बनाते रहते हैं। इनकी घटना पर टिप्पणी देते हुए उपन्यासकार ने लिखा है—"इस समय दोनों के मस्तिष्क की दशाएं पृथक्-पृथक् थीं। वकील साहब सोच रहे थे कि उन्होंने एक धाहक पटा लिया और मन्त्री जी समझ रहे थे कि उन्होंने सौ रुपयों में वकील साहब का घर द्वार सब खरीद लिया। वकील साहब को अपनी सूझ-बूझ और दुनियादारी के ज्ञान पर इस समय गर्व था और स्वामी ज्ञानानन्द की संकुचित बुद्धि और मन्त्री जी की गुणग्राहिता पर उनके मन में आनन्द की लहर उठ रही थी।"[1]

उपन्यासकार ने समस्त घटनाओं का संबंध समाज सुधार के पुनीत लक्ष्य को सामने रखकर किया है। इसके लिए उन्होंने वर्णनात्मक शिल्प का आश्रय लेकर पात्रों और घटनाओं में संधान प्रस्तुत करते हुए, पात्रों के चारित्रिक पतन, उत्थान और विकास-क्रम को निर्धारित किया है। स्वामी ज्ञानानन्द एक ओर विश्व से परे निर्लिप्त दिखाए गए हैं दूसरी ओर उन्हें मान प्रतिष्ठा की भूख है। जेल से लौटने पर भव्य स्वागत पाकर वे गद्गद् हो गए और ब्रह्मचारी आनन्द प्रकाश के सरोज के पास चले जाने तथा शठ मकटा प्रसाद द्वारा बेला के अपहरण पर दुखी हुए। मन्त्री के इस आचरण की भर्त्सना प्रायः सभी पात्रों ने की। पर ठाकुर राजबहादुर जैसे पात्र भी हैं जो इस घटना में रस लेते हैं और रस को बांट कर अपना भाग चाहते हैं। ठाकुर मन्त्री होड़, जो मुख्य रूप से बेला को लेकर चलती है उपन्यास आकर्षण का मुख्य केन्द्र है। परन्तु इस परिप्रेक्ष्य में समस्त कथा पढ़कर यही स्पष्ट होता है कि उपन्यासकार को कथा कहना इतना इष्ट नहीं जितना चरित्र वैचित्र्य का उद्घाटन करना। उसकी कला का मूल उद्देश्य चरित्र चित्रण है जो वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। मन्त्री संकटाप्रसाद के विषय में विभिन्न पात्र ये मत रखते हैं—

"उसने मेरे जीवन की शान्ति भंग कर दी। यह संकटाप्रसाद का बच्चा बहुत बड़ा धूर्त निकला। (स्वामी ज्ञानानन्द)

"मन्त्री जी का चरित्र बहुत ठोस है और प्रगतिशील भी। स्वार्थ मन्त्री जी की नस नस के अन्दर भरा हुआ है। उनका कोई भी कार्य जीवन में ऐसा नहीं होता, जिसमें

---

१ रंगशाला—पृष्ठ १२८

स्वार्थ न हो। यों स्वार्थ मानव मात्र का स्वभाव है, परन्तु जब यह मनुष्य को अन्धा बना देता है, तब मनुष्य मनुष्य नहीं रहता।" (ब्रह्मचारी आनन्द प्रकाश)

"मंत्री जी! आदमी चाहे धूर्त्त ही सही परन्तु बुद्धि के दैत्य है।" (सरोज)

"बस भर पाए मंत्री संकटाप्रसाद से। ऐसा जहरीला सर्प निकला ब्रह्मचारी जी कि बस क्या कहूं? मुझे तो उसने ऐसा डंक मारा है कि जीवन भर याद रखूंगा।"[२] (ठाकुर राजबहादुर)

पर चूंकि श्री यज्ञदत्त शर्मा समाज सुधार में विश्वास रखते हैं अतएव उन्होंने उपन्यास के अन्त में इस पात्र का कायाकल्प प्रस्तुत कर दिया है। लगभग सभी पात्र मंत्री के वाक्-चातुर्य, व्यवहार कुशलता के कायल है। जब नाटक होता है और सेठ गूंदडमल तथा आचार्य किशनचन्द अपने काले कारनामो का चिठ्ठा खुलते देख बौखला कर नाटक का अभिनय बन्द करा देते हैं, तब मंत्री राजघाट पर अभिनय करा कर सब की सहानुभूति का अदृश्य प्रभाव ग्रहण कर लेता है।

'रंगशाला' में श्री शर्मा ने राजनीति के नाम अपना अपना घर भर विलासिता की रंगशाला में प्रवेश करने वाले अधुनातम राजनीतिज्ञो तथा उनके तलवे सहला कर रातों-रात ख्याति प्राप्त कर लेने वाले नेताओं का भण्डाफोड़ करने तथा उनकी कथनी-करनी के अन्तर को स्पष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया है। ऐसा करने में यत्र-तत्र उनकी लेखनी तथा शिल्प की सीमाओं का उल्लंघन भी कर गई है-जैसे सरोज ज्ञानानन्द विवाद का आरम्भिक रूप पाठक के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न करता है, वह बिना किसी तर्क के या घटना के शान्त हो जाता है। उपन्यासकार का ध्यान धर्म और सुधार के नाम पर स्वामी ज्ञानानन्द की चरित्र मीमांसा करना भी रहा है। हिन्दू कोड विरोध संबंधी विचारणा का प्रचार सन् ५०-५४ के बीच जिस तीव्र गति के साथ हुआ था, उपन्यास में वह पूर्ण रूप से नहीं उभर पाया। इसमें तो लेखक कहीं स्वयं, कहीं दूसरे पात्रों द्वारा विभिन्न पात्रों के शील, स्वभाव, व्यवहार और विचारों की आलोचना करते हुए चरित्र के विकास और चारित्रिक समस्याओं के महत्त्व पर खुलकर प्रकाश डालता गया है।

'रंगशाला' में लेखक ने एक उल्लेखनीय और यथार्थपरक पात्र की सृष्टि संकटाप्रसाद के रूप में की है जो जीवन की हर भटकन से कुछ पाता है, हर सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति और समाज को उल्लू बनाने की कला मे सिद्धि प्राप्त करता है और यह वह एक अदम्य आत्मविश्वास के साथ करता है। उसने जीवन जिया है। शान के साथ, गर्व के साथ दिल्ली के प्रतिष्ठित समाज में उसने जो स्थान बनाया, वह अपना शिक्षक स्वयं है, बनकर बनाया। वस्तुस्थिति यही है कि आज की विषम सामाजिक परिस्थितियों में ऐसे अवसरवादी, स्वार्थी व्यक्ति ही पनप रहे है। इस दृष्टि से यह तथ्यपरक, यथार्थोन्मुखी मध्यवर्गीय बौद्धिक वर्ग के उस वर्ग का प्रतिनिधि है जो जीवन की विषम राह में अपना मार्ग स्वयं बनाना जानता है। संकटा प्रसाद मानव भी है, दानव भी। सरोज और बेला की पुत्री की संज्ञा देने वाला यह दुष्ट उनके लिए मन के एक कोने मे कोमल स्थान भी

---

२. रंगशाला—पृष्ठ २०५, २१५, २५२, २१३

रखता है, परन्तु अति बौद्धिकता और उन्नति के शिखर पर चढ़ने की लालसा के कारण प्रेम प्रस्ताव रखने का सुयोग कम ही पाता है। श्री शर्मा के उपन्यासों में इस लौकिक प्रेम प्रस्तावों की वह भूमि नहीं है जिस पर अन्य उपन्यासकारों के नायक नायिका नट बन नाचते हैं। अपने उपन्यास-साहित्य में उन्होंने आदर्शवाद के आग्रह को नहीं त्यागा है।

दबदबा—१६५८

'दबदबा' एक चरित्र प्रधान उपन्यास है। वर्णनात्मक शिल्प-विधि का अधिकांश उपन्यास-साहित्य कथा प्रधान या वातावरण एवं विचार प्रधान रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'दबदबा' इस दृष्टि से एक अपवाद है यह दीवान रामदयाल के दबदबे की वर्णनात्मक गाथा है। उपन्यास का प्रत्येक पृष्ठ रामदयाल के चरित्र पर प्रकाश डाल रहा है। उपन्यास का प्रारम्भ वर्णनात्मक विधि द्वारा हुआ है और प्रथम पृष्ठ पर ही रामदयाल का चरित्र अंकित कर दिया है। उदाहरणस्वरूप कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। मेरठ-पुलिस लाइन का ठाठ हिन्दुस्तान के सब जिलों की पुलिस लाइनों से निराला है। यहाँ के अफसर भी शौकीन हैं और सिपाही भी। अफसरों और सिपाहियों में आपसी मेल मुहब्बत भी कमाल की है। क्या मजाल जो यहाँ का कोई अफसर अपने किसी मातहत सिपाही को आँच आ जाने दे या कोई सिपाही अपने अफसर की हुक्म अदूली करे

"सिपाही भी एक से एक जोरदार और रंगीला है, लेकिन रामदयाल जरा अफसरों के ज्यादा सिर चढ़ा है ज्यादा मुँह लगा है। आजकल किसी खास कारगुजारी के लिए उसे लाइन सुपुर्द कर दिया गया है, लेकिन एस० पी० से लेकर अपने ऊपर के दीवान तक, उसे याराना नजर से देखते हैं।"[1]

रामदयाल का चरित्र ही उपन्यास का प्राणतत्त्व है। सारी कथा उसके चारों ओर चक्कर काटती रहती है। यह उपन्यास दो भागों में लिखा गया है। दोनों भागों के शिल्प में अन्तर है। उपन्यास के प्रथम भाग में कथाकार ही कथा सूत्र पकड़ कर पात्र संचालन करता है। दूसरे भाग में उसने पात्रों के व्यक्तित्व को स्वतन्त्रतापूर्वक उनके द्वारा उभरने की पूर्ण छूट दे दी है। प्रथम भाग में उपन्यासकार द्वारा रामदयाल के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है, इस मत की पुष्टि-अर्थ कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

"जब वह पुलिस-चौकी पर तैनात था और शहर के खास चौरासे पर उसकी ड्यूटी रहती थी, तो वह एक रईस आदमी था, बीड़ी नहीं, वह सिग्रेट पीता था, एक पैसे का नहीं, दो पैसे का पान खाता था, हर ताँगे वाला उसे सलाम करके निकलता, हर गुण्डा उसके नाम से थर्राता था, उससे याराना रखने के फिराक में रहता था। रामदयाल अपने को मेरठ का बादशाह समझता है। उसकी नाखुशी से यहाँ बसना, उसकी शान के खिलाफ है।"[2]

"रामदयाल ने आज तक किसी का नखरा बरदाश्त करना नहीं सीखा।"[3]

1 'दबदबा'—पृष्ठ १
2 वही—पृष्ठ ७
3 वही—पृष्ठ १०

"रामदयाल भी अपने पास आने वालों की इच्छा को खूब समझता है। किसी का ज़रा सा काम कर देने से पहले उसके बदले में अपने दस काम निकाल लेने की कला में वह माहिर होता जा रहा है।"[४]

"रामदयाल की खूबी यही है कि उसके झगड़े उससे आगे बढ़ने नहीं पाते। फिर मिल बांटकर खाने का वह शुरू से हामी रहा है। खुदगर्जी को इस मामले में वह जरा भी पास तक फटकने नहीं देता। पैसे को हाथ का मैल समझता है।"[५]

वर्णन की कला में यज्ञदत्त अतुलनीय हैं। रामदयाल के दीवान बनते ही वे केवल रामदयाल के बढ़ गए रुतवे और शक्ति का संकेत मात्र नहीं देते, अपितु दीवानगी की से शक्ति का संक्षिप्त वर्णन कर देते हैं—

"दीवान एक अफसर का ओहदा है, जिस पर बैठने का हुक्म पाकर रामदयाल का दिल न जाने आसमान में कहां से कहां पहुंच गया।"

"दीवान रोजनामचे का मालिक होता है। उसके हाथों में खुदा की कलम होती है। उसके लिखे को खुदा के फरिश्ते ही बदल सकते हैं। दुनिया की अदालतों के लिए वह खुदा का फरमान माना जाता है।"[६]

इस प्रसंग में प्रेमचन्द अवश्य ही एक छोटा-मोटा भाषण दे डालते, किन्तु यज्ञदत्त के हाथों में पड़कर यह प्रसंग अपने संक्षिप्त वर्णन और टिप्पणी के कारण अधिक खिल उठा है, इसे पढ़कर ऊब उत्पन्न नहीं होती, उपन्यासकार इतना भर लिखकर पुनः मुख्य पात्र की जीवनी लिखने में जुट गया है, इस दृष्टि से शर्मा की औपन्यासिक कला प्रेमचन्द कहीं आगे बढ़ गई है।

'दबदबा' में लेखक ने रामदयाल के चरित्र के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला। उसमें चरित्रगत दुर्बलताएं विद्यमान हैं, किन्तु व्यक्तित्व उसका निखरा हुआ है। उसके दबदबे के कारण मेरठ में उसके बिना हिलाए पत्ता भी नहीं हिलता। उसके एक संकेत पर सेठ दामोदर प्रसाद सरीखे सम्पन्न व्यक्ति कद कर लिए जाते हैं और बिना रिश्वत लिए बन्धन में पड़े गरीब मुक्त कर दिये जाते हैं। दारोगा करीम बेग का तबादला उसके कारण होता है। एस० पी० और कलक्टर के घर में उसकी पहुंच और धाक है। एस० पी० हामिदअली-रामदयाल संघर्ष में पराजय हामिदअली की ही होती है। एक बार वह रामदयाल से समझौता भी कर लेता है, किन्तु कलक्टर से उसकी झूठी शिकायत कर समझौता तोड़ने का दण्ड भी पाता है। वह बदनाम कर दिया जाता है और उसका तबादला हो जाता है।

उपन्यासकार के अतिरिक्त दूसरे पात्र भी रामदयाल के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। एक स्थल पर रामप्यारी से वार्ता करता हुआ करीमखां कहता है—"रामदयाल और तेरे यहां आएगा। तेरा दिमाग तो खराब नहीं हो गया है। तेरे हुस्न का जादू राम-

४. दबदबा—पृष्ठ ११
५. वही—पृष्ठ १३
६. वही—पृष्ठ ४४

दयाल पर नहीं चल सकता। वह जितना रहमदिल इंसान है उतना ही संगदिल भी है। तूने उसे गलत समझा है। किसी भी आदमी को वह एक बार ही परख कर देखता है, दो बार नहीं।'[७] अनेक स्थानों पर रामदयाल अपने विषय में स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है। दामोदर से वार्ता करता हुआ वह कहता है—"अपनी बेइज्जती के सामने मैं पागल हो जाता हूं दामोदर प्रसाद। फिर सोचने-समझने के लिए कोई बात नहीं रहती मेरे पास। मैं दो टूक बात करने वाला आदमी हूं।"[८] "अपने से ज़िद बांधने वाले को मिट्टी में मिलाने का इरादा लेकर मैं ज़िन्दगी में आज तक चला हूं।"[९]

रामदयाल के इस वक्तव्य की पुष्टि दूसरे पात्रों द्वारा हुई है—"वह जानते थे कि दीवान रामदयाल किसी बात का एक बार इरादा करने के पश्चात् उसे बदलना नहीं चाहते। अपने इरादे से एक इंच भी इधर-उधर होना उसने उन्हें कभी ज़िन्दगी में नहीं देखा।"[१०] ये करीम खां के विचार हैं। रामदयाल के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुए उपन्यास के अन्त में लेखक लिखता है—"शेरदिल इंसान था वह। असली मर्द था और अपने वायदे को पूरा करने में अपने को मिटा देने वाला था। इंसान की कद्र करने वाला ही उसकी कद्र कर सकता है।"[११]

चरित्र चित्रण के व्यापक वर्णन के अतिरिक्त उपन्यास में सामयिक अवस्था का विवरण भी प्रस्तुत हुआ है। पुलिस जीवन में व्याप्त अवगुणों से तो यह उपन्यास भरा पड़ा है। पुलिस कर्मचारियों का प्रतिदिन शराब पीना, रिश्वत के नये-नये ढंग ढूंढना, वेश्याओं द्वारा प्रतिदिन जश्न मनाना अंग्रेज़ी शासन में चली आ रही व्याधियां हैं जिनका विस्तृत वर्णन किया गया है। सन् ४२ की जनक्रांति का व्यापक चित्र भी पाठक देख ही लेता है और सन् ४७ के नवोदित संस्कारों से भी भली भांति परिचित हो जाता है। रामप्यारी का रामेश्वरी बनना नव जागरण का प्रतीक है।

'दबदबा' के प्रथम भाग के कथानक, चरित्र-चित्रण और वातावरण में पर्याप्त प्रवाह है। इसका कारण उपन्यासकार का कथा एवं पात्रों पर पूर्ण अधिकार है। दूसरे भाग में उपन्यासकार ने एक नवीन शिल्प प्रयोग किया है। उसने प्रथम भाग के सब पात्रों का साक्षात्कार किया है, उनसे बातें की हैं और उन्हें अपने विषय में स्वयं ही सब कुछ कहने की छूट दी है। एक आलोचक ने इसे शिल्पगत दोष कहा है। वे लिखते हैं—"उपन्यास में जो दोष है वह है इसका कथा-शिल्प। कथा शिल्प का अभिप्राय कथा से नहीं है। कथा तो उपन्यास की अत्यन्त सुगठित और क्रमिक है पर कथा की योजना उपन्यासकार का स्वयं उपन्यास का पात्र बन बैठने की इच्छा के कारण अत्यन्त विशृंखल हो उठी है।"[१२] प्रस्तुत प्रबंधकार के मतानुसार रामदयाल के रिटायर होने पर मूल कथा ही

७ दबदबा—पृष्ठ १३
८ वही—पृष्ठ २७
९ वही—पृष्ठ २७७
१० वही—पृष्ठ ३६७
११ वही—पृष्ठ ३९६
१२ डॉ० त्रिभुवनसिंह हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—पृष्ठ ४२

समाप्त हो गई है, केवल अन्य पात्रों का विवरण देने के लिए कथा आगे बढ़ाई गई है जिसमें प्रवाह की गति अति मन्द पड़ जाती है। पात्र प्रत्येक परिच्छेद मे सामने आ-आकर अपनी-अपनी उक्तियां कहते है, उनके पास विचार तो है, कथा नही है। जीवन अनुभूतियों के विवरण तो है, जीवन रस की पूजी नही, उसका स्रोत तो रामदयाल के वृद्ध होते ही शुष्क हो जाता है। कहीं उपन्यासकार रामदयाल के साथ साथ अलीगढ पहुंचकर कासिम मिर्जा की कथनी सुनता है, कहीं रेल के डिब्बे मे नेता पडित रामखिलावन से भेंट कर दावतों के वर्णन सुनता है। उपन्यासकार का अत्यधिक पात्रों के बीच रहना पाठक के मन में ऊब उत्पन्न कर देता है। पर सब मिलाकर एक प्रभाव, चरित्रगत प्रभाव की जो अमिट रेखा यज्ञदत्त शर्मा अपने उपन्यासों में खीच गये है, वह बहिरन्तरमुखी उपन्यास की एक उपलब्धि मानी जाएगी।

चौथा अध्याय

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास

श्री इलाचन्द्र जोशी रचित 'लज्जा' से लेकर श्रीमती उषा देवी रचित 'नष्ट नीड' तक हिन्दी उपन्यास मे जो विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचनाए उपलब्ध हुई है, उनका विवेचन इस अध्याय मे किया जाएगा। आधुनिक हिन्दी के विश्लेषणात्मक उपन्यास का विवेचन करने से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस शिल्प की मूलाधार प्रवृत्ति मनोविज्ञान का अध्ययन प्रस्तुत किया जाए और वर्णनात्मक शिल्प-विधि से इसका अन्तर स्पष्ट किया जाए। वर्णनात्मक शिल्प विधि की रचनाओ मे कथा निबन्धन (Plot Treatment) तथा चरित्र अकन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसके साथ-साथ समाज चित्रण, युग चेतना, और राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक समस्याओ को साकार अभिव्यक्ति मिलती है। पात्र-प्राचुर्य तथा वैविध्य भी बढ़ा हुआ उपलब्ध होता है, जबकि विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचनाओ म कथा तत्त्व का महत्त्व तो घट ही गया, पात्रो की सख्या भी कम हो गई और उनकी अन्तस् विपयक आनुभाविक, व्यजनाओ को कुशलतापूर्वक विश्लेषित किया गया। समाज का व्यापक वर्णन इन उपन्यासो मे कम हुआ है, इसका स्थान व्यक्तिवादी जीवन दर्शन ने ग्रहण किया है। वैयक्तिक पात्रो की वैयक्तिक समस्याओ का सूक्ष्म चित्रण ही विश्लेषणात्मक शिल्पी को अभिप्ट है।

उपन्यास शिल्प के इस अन्तर के सबध मे एक आलोचक लिखते है—"विभिन्न कारणों से आधुनिक उपन्यास ने वस्तु-तत्त्व के महत्त्व को गौण कर दिया है। एक ओर यह प्राकृतिकता की ओर अग्रसर होता है और कथानक के विस्तार को अनुभव के प्रतिकूल समझता है, तो दूसरी ओर चरित्र अथवा स्वभाव पर बल देकर और व्यक्तित्व तथा वैयक्तिक विशेषताओ पर विश्वास रख कर उसने वस्तु रचना के कष्टदायी व्यापार को दूर कर दिया है।"[1] नया उपन्यासकार हमे कथा नही बताता, वह तो चरित्रो की मानसिकता म प्रवेश कराकर उसकी गतिविधि दिखाता है। उपन्यासकार नहीं, पात्र हमारे सन्देह को

---

1 'The modern novel for Various reasons minimizes the importance of the plot. On one hand it follows the naturalistic lead and considers the elaborations of plot false experience on the other hand with its emphasis upon character or whimsey, and its emphasis upon charm and mannerism it aviods the painful business of plot construction Carl H Grabo "The technique of Novel" p 29 30

निवारण करते हैं। कथाकार नही, जीवन स्थिति एवं घटक ही स्वत. बोलने लगते हैं।

वर्णनात्मक शिल्प-विधि के प्रायः सभी उपन्यासकारो का ध्यान समाज के बहिर्मुख रूप पर केन्द्रित रहा है। इस दृष्टि से वह समाज और व्यक्ति के बहिर्जीवन और बहिर्लीलाओं को देखने, परखने और उनकी व्याख्या करने मे ही अपनी सारी शक्ति लगा देता है। समाज सुधार की प्रगति उसकी दृष्टि का केन्द्रबिन्दु होती है। विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के कथाकार की दृष्टि समाज की अपेक्षा व्यक्ति पर केन्द्रित होती है, फलस्वरूप वह उसके अन्तर्जीवन की गतिविधि के विश्लेषण में जुट जाता है। उसमें विशुद्ध आत्मनिष्ठता (Pure Subjectivity) प्रवेश कर लेती है। आत्मनिष्ठ पात्र अन्तर्प्रयाण (Inward journey) की दिशा में अग्रसर होकर व्यक्ति के अन्तर्मन की पूरी गवेषणा कर डालते हैं। उपन्यास शिल्प में वर्तमान इस अन्तर के विषय में एक दूसरे आलोचक लिखते हैं—"जेम्स ज्वाइस और वर्जियां वुल्फ जैसे उपन्यासकारों में एक विशेष क्षण की हलचल को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस हलचल की पुनर्विजय, या चेतना प्रवाह की गति का दृढ़ सूत्र अपने स्रष्टा के साथ रहना इन प्रभाववादी परम्परा के उपन्यासकारों की विशेपता है। नई यथार्थवादी—अन्तर्प्रयाण शिल्प-विधि का यह उच्चतम सोपान चिह्न है।"[2] विश्लेपणात्म शिल्प-विधि का लेखक अपने अन्तर्प्रयाण की इस यात्रा में वैयक्तिक जीवन के क्षण-क्षण के भावोत्थान-पतन तथा विचारणा का आलेखन मात्र करता है, अतः विद्वान आलोचक का अन्तर्प्रयाण-शिल्प-विधि से तात्पर्य अवश्य ही विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का पर्यायवाचक माना जा सकता है।

मनोविज्ञान मन की क्रियाओं का विज्ञान माना गया है। मन की क्रियाएं अपरिमित हैं अतः मनोविज्ञान द्वारा उपन्यास की विषयवस्तु जुटाने की कोई कमी नहीं है। प्रेम, घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि मनोभावों के घात-प्रतिघात के आधार पर स्थूल वर्णन द्वारा किसी भी उपन्यास को मनोवैज्ञानिक पुट दिया जा सकता है, यह मत आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत नही रहा है। अब मनोविज्ञान ने अन्य विज्ञानों की भांति उन्नति कर ली है, अतः मन की अवस्थाओं की बात नये कोण से कही जा रही है। इसे चेतन, अचेतन और अर्धचेतन तीन भागों मे विभाजित किया जा चुका है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न सम्प्रदाय बन चुके है। स्वप्न, दिवा स्वप्न और संस्मरणों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। अतः वैज्ञानिक अध्ययन से पुष्ट मनोविज्ञान ही विश्लेषणात्मक विधि के उपन्यासों का आधार स्तम्भ बना है; साधारण मनोविज्ञान तो प्रेमचन्द, प्रसाद आदि कथाकारों के वर्णनात्मक उपन्यासों में भी उपलब्ध हो जाता है।

2. Sensation at a particular moment-becomes most important thing for novelists like James Joyace aud Virginia woolf. The victory of this Sensation or stream of consciousness remains with the author of this impressionistic school of novelists. This may be called the hall mark of the new realistic technique—turning inward.

Sinsir Chattopadhiaya : The Technique of the modern English Novel P. 79

फ्रायड, युग आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिष्ठित अवचेतन की क्रियाओं का चित्रण वैशेषिक उपन्यासकारों ने किया है।

मनोवैज्ञानिकों ने मन के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की तीन विधियां मानी हैं—

१ अन्तःप्रेक्षण विधि (Introspection)
२ बाह्य निरीक्षण विधि (Observation)
३ प्रयोग विधि (Experimental method)

विश्लेषणात्मक उपन्यास में अन्तःप्रेक्षण-विधि को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें पात्र अपना विश्लेषण स्वयं करता है। यह विधि अधिक वैज्ञानिक भी है, क्योंकि मन में जो बात किसी विशेष समय में होती है उसका तथ्यपरक ज्ञान अपने से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को नहीं हो सकता, दूसरे के मन की व्याख्या का तो केवल अनुमान किया जा सकता है।

अन्तःप्रेक्षण-विधि का विकसित रूप फ्रायड द्वारा प्रतिष्ठित मनोविश्लेषणात्मक विधि में प्रकट हुआ। फ्रायड ने मनोविश्लेषणात्मक विधि को समझने के लिए चार शब्दों का प्रयोग किया है—

१ अचेतन मस्तिष्क (Unconcious mind)
२ लिबिडो (Libido)
३ दमन (Repression)
४ इडिप्स-ग्रन्थि

फ्रायड ने मन की तीन स्थितियां मानी हैं। चेतन, अचेतन और अवचेतन। अचेतन की कल्पना फ्रायड की बड़ी भारी देन है। फ्रायड के मतानुसार अचेतन मन की शक्ति असीम और विस्फोटात्मक है। मानव मस्तिष्क का तीन चौथाई भाग इसी अचेतन की परिधि में बद्ध रहता है। यही उसके चेतन स्वरूप को परिचालित करती है।

चेतन और अवचेतन के मध्य में अर्धचेतन मन माना गया है। यह अवचेतन की भांति बिल्कुल अज्ञात नहीं होता। अर्धचेतन के माग से ही अवचेतन की संचित अनुभूतियां चेतन मन तक आती हैं। फ्रायड ने चेतन और अवचेतन के मध्य एक प्रहरी (Censor) की कल्पना कर डाली है, यह प्रहरी अवाछनीय विचारों का माग बन्द रखता है। दमन (Repression) की क्रिया के साथ-साथ निरोध (Supression) की क्रिया भी महत्त्वपूर्ण है। ज्ञात रूप में की गई रोकथाम को उसने निरोध (Supersssion) का नाम दिया है।

दमित काम वासना फ्रायडियन मनोविज्ञान में विशिष्ट स्थान रखती है। इसे ही उसने 'लिबिडो' नाम से पुकारा है। यह बड़ी शक्तिशाली है और बाहरी जीवन में अपनी अभिव्यक्ति चाहती है। इसी के द्वारा स्वरति (Self Libido) तथा परात्मक रति (Objective Libido) पैदा होती है। इडिप्स ग्रन्थि की कल्पना फ्रायड की मौलिक देन है। इसके अनुसार मनुष्य में कामग्रन्थि का जन्म शिशु अवस्था से ही हो जाता है। यही ग्रन्थि चेतन मन को नियन्त्रित करती है।

फ्रायड ने अहं भाव के भी दो रूप बताए हैं—अहं (Ego) और सुपर अहं (Super Ego)। इनमें से अहं (Ego) को व्यक्तित्व का चेतन अंश बतलाया है और सुपर अहं (Super Ego) को अन्धा और प्राणघातक कहा है। इसके कारण व्यक्ति के चेतन व्यवहार में विकृति उत्पन्न हो जाती है। मानव मन की विचित्रताओं के लिए कुछ पारिभाषिक शब्द दिए गए हैं। इनमें आरोपण (Projection), तादात्म्यीकरण, (Identification), स्थानान्तरीकरण (Transference) और बद्धत्व (Fixation) व उदात्तीकरण (Sub-limition) अधिक प्रसिद्ध हुए है। आरोपण की प्रक्रिया तो मानव मात्र मे विद्यमान है। मनुष्य अपने दोषों को छिपाता और दूसरों के गले मढ़ता आया है, यही मनोवृत्ति आरोपण कहलाती है। तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया में मानव दूसरो के दोष अपने ऊपर ले लिया करता है। स्थानांतरीकरण में मनुष्य एक व्यक्ति से संबंधित ईर्ष्या, घृणा या प्रेम को दूसरे पर लाद दिया करता है। बद्धत्व की अवस्था में व्यक्ति एक स्थिति विशेष से चिपक कर रह जाना चाहता है। दमित वासनाओं से छुटकारा पाने के लिए जो क्रिया प्रयुक्त होती है, वह तादात्म्यीकरण कहलाती है।

आधुनिक विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास साहित्य में स्वप्नों तथा दिवा-स्वप्नों की चर्चा भी चल पड़ी है। सबसे पहले फ्रायड ने ही यह सिद्ध किया था कि कोई भी स्वप्न व्यर्थ नहीं होता, अपितु चेतनावस्था की संचित अनुभूतियों का निद्रा अवस्था में अप्रत्याभिज्ञान ही होता है। स्वप्न का उद्गम अवचेतन मन है किन्तु उनका वस्तु-विधान चेतनावस्था की जीवनानुभूतियां ही हैं। स्वप्न पर सबसे अधिक कार्य फ्रायड के शिष्य स्टेकेल (William Stekal) ने किया। फ्रायड के ही एक शिष्य एडलर ने वैयक्तिक मनोविज्ञान की स्थापना की, जिसमें हीनता की ग्रंथियों को प्रधानता दी उसने लिबिडो को काम मूलक मानने से इंकार कर दिया। युंग ने वैश्लेषिक मनोविज्ञान पर कार्य कर इसे दार्शनिक परिभाषा दी। उसने अचेतन के दो रूप बताए—वैयक्तिक अचेतन व समस्त अचेतन। उन्होंने मनुष्य को इस बात से परिचित कराया कि अवचेतन केवल व्यक्ति के जन्म काल की चीज नही है; वह युग-युग की मानवीय भावनाओं की थाती है। युग ने वैयक्तिक अवचेतना की अपेक्षा समस्त अथवा सामूहिक अवचेतन को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उसके मतानुसार अवचेतन की अन्ध शक्तियों के सन्तुलन के लिए आध्यात्मिक शक्ति को जाग्रत रखने की आवश्यकता है।

युंग का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक आधार पर मनुष्य को दो कोटियों में विभाजित करने वाला सिद्धांत है। ये दो कोटियां हैं—

१. वहिर्मुखी मानव
२. अन्तर्मुखी मानव

युंग के मतानुसार वहिर्मुखी मनुष्य सदैव प्रसन्नवदन दीख पड़ता है, वह संसार के कामों में उत्साह एवं रुचिपूर्ण ढंग से योग देता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारशील और कल्पनात्मक वृत्ति वाला होता है। सामाजिकता की अपेक्षा उसमें वैयक्तिक प्रवृत्तियां अधिक होती हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत जर्मनी के गेस्टाल्ट सम्प्रदाय की जानकारी

भी आवश्यक है। इसके अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान स्वत ही प्राप्त नहीं हो जाता। वह दूसरी वस्तुओ की सापेक्षता म ही सम्भव है। इस मत के अनुसार ससार की हर चीज मे सम्पूर्णता नामक भाव की अवस्थिति होती ह। पूर्णता ही वास्तविकता है। खण्ड भ्रम है। गस्टाल्टवाद की विशेष देन ह—प्रतिभ ज्ञान (Intution), इसम किसी रहस्यमयी शक्ति द्वारा अचानक ही कोई विचार मस्तिष्क मे कौंध जाता है जो हमारी समस्याओं को हल होता है।

वाटसन ने मनोविज्ञान के क्षेत्र मे एक नई दिशा देखी। १९१४ मे उसकी पुस्तक (Behaviour) प्रकाशित हुई। उन्होंने उसमे बताया है कि मनोविज्ञान मानव के अतमन में चलती रहने वाली प्रक्रिया नही है। वह मनुष्य के बाह्य आचरण, शारीरिक प्रक्रियाओं एव अनुभूतियों पर मनन करने वाला शास्त्र है। आगे चलकर वाटसन ने अपनी पुस्तक मे शिशु मनोविज्ञान सबधी सिद्धान्त भी दिए है। जिनमे भय, क्रोध और प्रेम वृत्ति को प्रधान्य दिया है। अन्त म वाटसन का 'आचरणवाद' वातावरणवाद में परिणत हुआ।

मैकडूल ने मूलभूत मानसिक तत्त्वो (Instincts) को बताकर उनकी सख्या बारह स्थिर की। सहज प्रवृत्तिया परिवर्तित होकर भावगत हलचल (Sentiments) बन जाती हैं। य मनुष्य जीवन के समस्त कार्यकलाप इन मनोभावो (राग, द्वेष, क्रोध आदि) के अनुसार चलत हैं।

मनोवैज्ञानिक रचनाओ मे 'काम्पलेक्स' (Complex) का विशेष स्थान है। कभी-कभी केन्द्रीय प्रेरको के कुंठितान्तरित हो जाने से जो रागात्मक अनुभव, विचार और इच्छाए बनती हैं इन्ह ही, 'काम्पलेक्स' (Complex) कहते हैं। साधारणत लिबिडो के हर स्थायीकरण के पीछे कोई न कोई 'काम्पलेक्स' रहता है। फ्रायड, एडलर आदि मनोवैज्ञानिको ने अधिकाश काम्पलेक्सो का अचेतन माना है। इसमे अन्तर्निहित अचेतन इच्छाए हमारे चेतन नैतिक आदर्शों से टकराती हैं। इसके द्वारा हमारे दैनिक व्यवहार और चिन्तन मे परिवर्तन होता रहता है।

'काम्पलेक्स' दो प्रकार के होते हैं—स्वस्थ और अस्वस्थ। मनोवैज्ञानिक रचनाओ म अधिकतर अस्वस्थ 'काम्पलेक्स' (Morbid) का ही अधिक विश्लेषण हुआ है। आत्म-क्षुद्रता (Inferiority complex) से ग्रस्त व्यक्ति अपने भीतर हीनता की भावना की अनुभूति करता हुआ सामाजिक व्यवहार मे सकोच, कार्यक्षमता की लघुता दर्शाता है। इस प्रकार का प्राणी चिन्तन आदि ज्ञानात्मक व्यापारों मे सलग्न रहकर प्रगति करता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि अपने अभावो, चिन्ताओ, समस्याओ तथा दोषों मे उलझा व्यक्ति अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा अपने प्रत्यक्ष सज्ञात्मक (Perceptual) दृष्टि-कोण को बदल डालता है, जिससे वह ससार भर को गलत समझता है। श्री इलाचन्द जोशी ने 'प्रेत और छाया' मे एक ऐसे पात्र पारसनाथ के 'काम्पलेक्स' का विश्लेषण एव अन्वेषण प्रस्तुत किया है। कुछ काम्पलेक्स व्यक्ति मे अक्षुण्ण रूप मे वतमान रहते है। ये व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण या ध्वस करते रहते हैं। 'काम्पलेक्स' सस्कार, वातावरण, चेतना के साथ-साथ परिवर्तित होकर व्यक्ति के दृष्टिकोण को भी परिवर्तित करते हैं। विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यासो में इनका आधिक्य है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास में सबसे अधिक चर्चा असन्तुलित व्यवहार वाले अप्रकृत (Abnormal) चरित्रों की हुई है। असन्तुलित व्यवहार करने वाले पात्र आत्म रुचि को प्रश्रय देकर अपने परिवेश में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की रुचि एवं इच्छा की अवहेलना करने लगते हैं—जैसे जोशी के प्रसिद्ध उपन्यास 'संन्यासी' का नायक नन्द-किशोर, शान्ति, जयन्ती आदि पात्रों की सतत अवहेलना करने के कारण अप्रकृत (Abnormal) कहलाता है। ऐसे पात्र अपने भीतर सतत तनाव (Tension) अनुभूति करते हैं। उसकी नैतिक आकुलता (Moral anxity) का उद्गम-स्थान (Super Ego) रहता है। अहं (Ego) में पाप या अपराध-भावना से ओतप्रोत रहती है। अप्रकृत पात्र मानसिक रोगों (Psychoneroses) के शिकार होते है। युंग के मतानुसार इनका प्रादुर्भाव व्यक्ति अचेतन (Personal unconscious) और उसमें शामिल हुए अनुभवों से होता है।

इस विधि के उपन्यासों में कुछ दर्शन प्रधान विश्लेपण की रचनाएं भी प्राप्य हैं जो जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि लेखकों द्वारा रचित है। इनमें उपन्यासकार अपने विशिष्ट दृष्टि-कोण को प्रतिपादित करता है। हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान के अनुसार उपन्यास इसलिए स्थायी साहित्य नहीं है कि वह उपन्यास है बल्कि इसलिए कि उसके लेखक का एक अपना जबरदस्त मत है जिसकी सच्चाई के लिए उसे पूरा विश्वास है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का यह सर्वोत्तम रूप है। उपन्यासकार, उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमे वैयक्तिक दृष्टि-कोण न हो।"[1] इस दृष्टि से विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि का उपन्यासकार केवल सर्जक ही नहीं, विचारक भी है।

इलाचन्द जोशी

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि की योजना हिन्दी उपन्यास साहित्य की एक युगान्त-कारी घटना है। इलाचन्द जोशी इस विधि के अग्रदूत है। शिल्प की इस नवीनता के कारण ये अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक वर्णनात्मक विधि के उपन्यासकारों से असम्पृक्त होकर नव शिल्प-विधि रचनाकारों की श्रेणी में आगे आ गए हैं। इनकी एक-दो रचनाएं वर्णना-तक शिल्प-विधि में भले ही लिखी गई हों, किन्तु प्रमुख उपन्यास विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि में रचे गए हैं। इस मत की पुष्टियार्थ दो आलोचकों के विचार उद्धृत किए जाते है—"मध्यवर्गीय संस्कृति अपने ह्रासोन्मुख काल में अतिशय अन्तर्मुखी और वैयक्तिक हो जाती है। यह वर्ग अपनी संस्कृति और सभ्यता के रोगों का निदान समाज की नाड़ी देखकर नहीं करता, वल्कि व्यक्ति-विशेष के अन्तर्मन के दारा एक्सरे अपना नुस्खा पेश करता है। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में इसे मनोविश्लेपणात्मक प्रणाली कहते हैं। जैनेन्द्र में यह प्रणाली बहुत कुछ अस्पष्ट और अनिदिष्ट है। इस पद्धति को औपन्यासिक चोला पहनाने का ऐतिहासिक श्रेय इलाचन्द जोशी को है। इस पद्धति के अनुसार व्यक्ति के सारे कष्ट, अप्रसन्नता, निराशा, मलिनता आदि किसी न किसी कुण्ठा के कारण उत्पन्न

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ६

होते हैं। ये कुण्ठाएं व्यक्ति के अवचेतन मन में अव्यक्त रूप से छिपी रहती हैं। जब कोई न्यूरोटिक चरित्र अपनी कुण्ठाओं का रहस्योद्घाटन कर लेता है तब वह रोग मुक्त हो जाता है। जोशी के उपन्यासों में क्लिनिकल प्रयोग का प्राय यही रूप दिखाई देता है।"[1] "हिन्दी उपन्यास में मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रथम प्रयोक्ता इलाचन्द्र जोशी हैं। यद्यपि 'घृणामयी' नामक इनका उपन्यास १९२९ ई० में ही निकला था किन्तु सन्यासी (१९४१) के द्वारा ही इन्हें वास्तविक ख्याति मिली और इनकी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उभर कर सामने आई।"[2]

वर्णनात्मक शिल्प विधि का उपन्यासकार मानव जीवन का व्याख्याकार बनकर सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक ऐतिहासिक, आंचलिक अथवा आर्थिक घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण प्रस्तुत करता था। जोशी के मतानुसार वर्तमान युग की सब से बड़ी आवश्यकता उपन्यासकार के लिए शिल्प के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक विधि को अपनाने की है। वे लिखते हैं—'वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियों में भीषण रूप से चल रहा है, जिस प्रकार बाह्य जगत में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, इसलिए उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृत पात्रों का विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है।"[3] जोशी केवल यह लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गए, उन्होंने इसे रचनात्मक रूप में अपने उपन्यास साहित्य में अभिव्यक्ति भी दी। उन्होंने अपने उपन्यास साहित्य में मनोविकारग्रस्त, अहं से ग्रस्त, अति बुद्धिवाद से पीड़ित पात्रों के असाधारण कार्यकलाप, मानसिक ग्रन्थियों की वैचित्र्यपूर्ण चेष्टाएं तथा आत्म लघुता (Inferiority Complex) की भावना से उत्पन्न प्रचण्ड विकृतियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जोशी ने आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं का गहन अध्ययन करके लिखा है—"फ्रायड, युग और एडलर ने मनोविज्ञान से संबंधित कुछ ऐसे नए सिद्धान्तों की खोज की जिसने मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक प्रचण्ड क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर दी। इन नए सिद्धान्तों में सब से प्रमुख बात अवचेतन मन संबंधी खोजें हैं।"[4] जोशी मनोविश्लेषण को एक शिल्प विधि के रूप में अपनाते हैं और आत्मकेन्द्रित, अहंवादी, असामाजिक व्यक्तियों के अवचेतन का अन्वेषण प्रस्तुत करते हैं। इस अन्वेषण एवं विश्लेषण विधि में वे युग के निकट होते हुए भी आगे बढ़ गए हैं। इस तथ्य को स्वीकृत करते हुए वे कहते हैं—"युग के मत का भाष्य मैंने अपने ढंग से किया है। मेरे मत से यह सिद्धान्त फ्रायडियन अवचेतन के सिद्धान्त से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। पर मैं अपने निजि अनुभवों से एक-दूसरे ही सिद्धान्त पर पहुंचा हूं। मेरे मत से मानवीय मन का विभाजन केवल दो या तीन खंडों में नहीं किया जा सकता। मनुष्य का मनोलोक

---

१ बचनसिंह आलोचना—उपन्यास विशेषांक 'मध्यवर्गीय वस्तु तत्त्व का विकास'—पृष्ठ १३१

२ शिव नारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ २६३

३ इलाचन्द्र जोशी विश्लेषण—पृष्ठ ८९

४ वही—पृष्ठ १०१

केवल सचेत अर्द्धचेतन मन तथा अवचेतन मन तक ही सीमित नहीं है। वह असंख्य स्तरों में विभक्त है, जिनमें से अधिकांश स्तर साधारण चेतना की अवस्था में हमारी अनुभूति के लिए अज्ञात रहते हैं।...अन्तस्तल में निहित कौन स्तर कब और क्यों उठकर तूफान मचा देगा, इसका कोई भी निश्चित नियम नहीं है। पर इतना संभव है कि यदि अन्त-र्जीवन का अध्ययन उचित रूप से करने का अभ्यास डाला जाए, और उसके विश्लेपण की समुचित विधि का ज्ञान हो जाए तो यह जाना जा सकता है कि किस विशेप मानसिक तूफान के अवसर पर किस विशेप कोटि के स्तर की कौन विशेप प्रवृत्तियां ऊपर हो उठी है। इस ज्ञान का फल यह देखा गया है कि वे व्यक्तिविनाशी अथवा समाजघाती तूफानी प्रवृतियां हमारे मन की संतुलित अवस्था में कोई विकार या विभीपिका उत्पन्न नही कर सकती। साहित्य में मनोविश्लेपण का मैं यही महत्त्व मानता हूं।'[५] जोशी ने मनोविश्ले-पण के महत्त्व को स्वीकार करके अपने उपन्यासों में दुर्बल चरित्र नायको की योजना की। इसे उन्होंने अपने उपन्यासों की विशेपता रूप में स्वीकार किया है। इसका कारण एक ओर मनोवैज्ञानिक यथार्थता है, दूसरे आधुनिक परिस्थितिया जो व्यक्ति को वैयक्तिक और अन्तर्मुखी बनाती हैं। दुर्बल नायक का चरित्र-चित्रण कथाकार से सूक्ष्म विश्लेपण की अपेक्षा रखता है। इस संबंध में जोशी का कथन है—"दुर्बल नायक का चरित्र-चित्रण करने में बहुत बारीक कला की आवश्यकता होती है, पर तथा कथित 'सशक्त' और क्कि-जोटिक पात्र के चरित्र-चित्रण में साधारण कला द्वारा भी अच्छा वातावरण तैयार किया जा सकता है।'[६]

जोशी के मतानुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व की निर्मात्री शक्ति अन्तर्प्रकृति है जो एक धधकते हुए अग्निकुण्ड के समान है। इसमें असंख्य मूल प्रवृत्तिया वर्तमान रहती है। यह अन्तर्प्रकृति हमें 'लज्जा' के पात्र लज्जा और राजन में, 'संन्यासी' के नन्दकिशोर, जयन्ती और शांति में तथा 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ, नन्दिनी, मंजरी मे और 'पर्दे की रानी' की निरंजना में तूफान मचाती दृष्टिगत होती है। इन पात्रों की अन्तर्लीलाएं समय-समय पर उछलती, उबलती, बुदबुदाती नजर आती है। इनके पात्र विवहोपरान्त जुड़ते है, मिलते नही, मानो वे टूटने के लिए जुड़ते है। किसी भी क्षण उनके कुंठित हो जाने का भय बना रहता है। जोशी के नारी पात्र त्याग, सेवा और आत्मदान को नारीत्व की थाती मनाने को तैयार नहीं हैं, वे पुरुप पात्रों के अहं से टकराते, जूझते दृष्टिगोचर होते हैं। उनके संबंध में जोशी लिखते है—"मैंने ऐसे नारी पात्रों को लिया है जिन्हें जीवन की घनघोर संघर्षमयी परिस्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है और जिनकी अवचेतना में निहित विद्रोह के बीज रूपी अणुओं में उन संकटाकुल परिस्थितियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण रासायनिक प्रतिक्रिया स्वरूप भयंकर विस्फोट में परिणित होने की संभावना रही है।"[७] मेरे विचार में जोशी ने नारी पात्रों के अन्तर्मन में विद्रोह एवं विस्फोट को

---

५. इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण—पृष्ठ१०६

६. इलाचन्द जोशी : साहित्य चिंतन—पृष्ठ १०१

७. इलाचन्द्र जोशी : विश्लेषण—पृष्ठ १७१

इसलिए निहित किया है कि उनका मनन और विश्लेषण सूक्ष्मतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सके। यह विश्लेषण अन्तर्मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति पर निर्भर है, चेतन मन की भावनाएं तो वर्णनात्मक विधि द्वारा व्याख्या पाती हैं, जोशी के नारी पात्र भी कम अहंवादी नहीं हैं। उनके अहं का सूक्ष्म विश्लेषण, यौन समस्या का गहन अन्वेषण और असाधारण व्यक्तित्व (Abnormal Personality) का विलक्षण चित्रण जोशी के कला नैपुण्य का प्रमाण-पत्र है।

मेरा दृढ़ मत है कि जोशी के सभी उपन्यास विश्लेषणात्मक नहीं हैं। 'सुबह के भूले' का 'परिचय' लिखते हुए मैंने लिखा था—"सुबह के भूले इलाचन्द्र जोशी के औपन्यासिक कृतित्व का सप्तम सोपान है। मनोविज्ञान और विश्लेषण के कलाकार ने इस कृति में वैयक्तिक विश्लेषण के साथ साथ सामाजिक जगत का वर्णन भी किया है।"[८] अपने मत की पुष्टि में हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक के विचार भी उद्धृत करता हूं—"सुबह के भूले इलाचन्द्र जोशी का नया उपन्यास है। जोशी के संबंध में कहा गया है कि उन्होंने उपन्यासों में जीवन की यथार्थता को बिना किसी आवरण के प्रस्तुत करने की सदैव चेष्टा की है। मनोवैज्ञानिकता उनकी सब से बड़ी विशेषता है और उसी के कारण हिन्दी के आधुनिक उपन्यासकारों में उनका प्रमुख स्थान है। पर 'सुबह के भूले' में उन्होंने एक बड़ी सरल कथा लिखी है।"[९] सरल कथा से आलोचक का अभिप्राय मनोविश्लेषणात्मक विधि से वंचित रहकर व्यावहारिक वर्णनात्मक विधि से है। उनके मतानुसार इसके पात्र साधारण हैं उनका जीवन साधारण है और प्रेम तथा वासना की नाना प्रचंड अन्तर्लीलाओं से शून्य है। प्रस्तुत ग्रन्थकार के मतानुसार 'सुबह के भूले' के अतिरिक्त 'जिप्सी' 'मुक्ति-पथ' और 'निर्वासित' में से भी विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को प्रश्रय नहीं मिला। 'लज्जा', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' में विश्लेषणात्मक विधि के कारण ही अन्तर्जीवन का अन्वेषण हुआ है। इन रचनाओं की घटनाएं और पात्र विश्लेषणात्मक विधि द्वारा मुखर हुए हैं। इस विधि में रचित उनके विविध उपन्यासों का शिल्पगत अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

'लज्जा'—१६२६

'लज्जा' को मैं विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का प्रथम सोपान मानता हूं। इस रचना में मूल केन्द्र लज्जा की कहानी नहीं है, कोई विशेष घटना भी प्रधानता नहीं रखती सामाजिक समस्या भी वर्णित नहीं है, केवल लज्जा के अन्तर्मन से सम्बन्धित काममूलक ग्रंथि ही प्रमुख है। इसके कारण उसकी दिनचर्या में, विचारधारा में असाधारता (Abnormality) आ जाती है। एक आलोचक इस उपन्यास को अमनोवैज्ञानिक बताते हैं—"इस उपन्यास को मनोवैज्ञानिक कहने के लिए कोई उपयुक्त आधार नहीं है।"[१]

---

८ डॉ० प्रेम भटनागर : सुबह के भूले 'परिचय' से अवतरित

६ पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी : हिन्दी कथा-साहित्य—पृष्ठ २१५

१ बलभद्र तिवारी : इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास—पृष्ठ ७८

उनका यह कथन असंगत है। अपनी पुस्तक में वे अपने कथन का स्वयं ही खंडन कर देते हैं। पृष्ठ ८३ पर मनोवैज्ञानिक आशय के अन्तर्गत राजू और लज्जा की संधि कालीन वय में फ्रायडियन दमित यौन भावना, स्व-रति तथा परात्मक-रति की चर्चा करते हैं। एक स्थल पर तो उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है—"लज्जा को हम निरन्तर तरुणाई के रंगीन दिवा स्वप्नों में डूबते पाते हैं। इन स्वप्नों का चित्रण जोशी जी ने किशोर-वय और मनोविज्ञान की धारणाओं के अनुकूल ही किया है।"[1] इसी प्रकार अगले पृष्ठ पर लज्जा की रुग्णता को मानसिक बताया गया है। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि 'लज्जा' का मूलाधार आधुनिक मनोविज्ञान है जिसके अभाव में विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की रचना हो ही नहीं सकती।

'लज्जा' में लज्जा के द्वारा लज्जा के अन्तर्मन की भरपूर खोज कराई गई है। उसके अन्तर्मन में एक अपूर्व द्वन्द्व चलता रहा है। इस द्वन्द्व का विश्लेषण ही जोशी की इस रचना का प्रमुख उद्देश्य है। इसका आरम्भ पूर्व-दीप्त-विधि अनुसार हुआ है। नायिका स्वयं कथा मंच पर आकर कथा सूत्र का साक्षात्कार पाठकों को कराती है। अपने अन्तर्मन की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति और आत्म-विगर्हणा के भाव को पूर्ण तीव्रता प्रदान करती हुई वह कहती है—"दुःख की ज्वाला से तप्त और पाप की यातनाओं से उत्तेजित इस पापिनी की राम कहानी को धैर्यपूर्वक सुनने वाले सहृदय पाठक कितने मिलेंगे? हाय जिस देश में मैंने जन्म लिया है, वहां पापियों के प्रति संवेदना प्रकट करना जघन्य पाप समझा जाता है। भगवान! तब क्यों मैं इस पुण्य के भार से गुरु-गम्भीर देश में उत्पन्न हुई?··· प्राचीन ग्रीस देश की उत्तप्त उत्तेजना से मेरा स्वभाव गठित हुआ है। इस उत्तेजना की प्रचण्ड अग्नि आज तक मेरी आत्मा के अतल गर्भ में समाधिस्थ थी। आज अचानक आग्नेय-गिरि के विलोल प्लावन की तरह वह बाहर को फूट निकली है।"[2] यह कहते ही वह अतीत संस्मरणों पर प्रकाश डालती है।

'लज्जा' की कथा अन्तर से बाहर की ओर, व्यक्ति से समाज की ओर प्रवाहित हुई है। यही विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की विशेष देन है। वैयक्तिक अनुभूति व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं रहती, वह समाज के लिए एक शिक्षा और चेतावनी के रूप में सामने आती है। यही कि जीवन को अमुक स्थिति में पड़ने से बचाओ। मानसिक ग्रन्थियों, विकृतियों तथा द्वन्द्वों से ग्रसित व्यक्ति का उचित ढंग से उपचार करो, ताकि उसका तथा उसके निकटवर्ती समाज का कल्याण हो। प्रेम, घृणा, पीड़ा, क्रोध की अवस्था मनुष्य के जीवन की साधारण अवस्था नहीं होती; वह असाधारण तत्त्वों से मिश्रित होती है; उन असाधारण तत्त्वों का विश्लेषण ही 'लज्जा' की विशिष्ट देन है। प्रेम, घृणा और वेदना का प्रभाव शरीर और भविष्य पर अवश्य पड़ता है, किन्तु इनका मूलाधार मन, विशेषकर अवचेतन मन की वर्तमान स्थिति होती है। सारी कथा सुनाते हुए लज्जा ने एक ही बात ध्यान में रखी है, वह यह कि उसने अपने अतीत को लेकर भी उस अतीत

---

१. बलभद्र तिवारी : इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास—पृष्ठ ८७

२. लज्जा—पृष्ठ ७

में वर्तमान मन स्थिति का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

लज्जा एक वैयक्तिक चरित्र है, वह अपने को पहचानती है। कभी भी उसने अपनी दुर्बलताओं या मनोविकारों को कहीं भी छिपाने की चेष्टा नहीं की, अपितु एक मनःविश्लेषक की भाँति, एक तथ्यपरक वैज्ञानिक की तरह अपनी दमित वासनाओं का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। समय समय पर परिवर्तित स्वरति और पर-रति की व्याख्या उसने भली प्रस्तुत की है। प्रथम बाल्यकाल में वह स्व रति और पर-रति की सम्मिलित धारा में स्नान करती रही, किन्तु वयःसन्धि की स्थिति में पर-रति की ओर उन्मुख हुई। स्वभाव तो वह है ही, पर पुरुषों को रिझाने और उनमें रुचि लेने की कला में भी सिद्धहस्त है। पर पुरुषों में चुनाव की स्थिति के समय उसके मन में एक द्वन्द्व उठता है, उसका विश्लेषण करते हुए कहती है—

'दोनों में अधिक रूपवान कौन है? कन्हैयालाल ही मुझे जँचते हैं। किशोरी मोहन भी देखने में सुन्दर है, इसमें सन्देह नहीं। पर डॉक्टर कन्हैयालाल के मुख का-सा तेज उनमें कहाँ पाया जाता है। किशोरी मोहन मेरे रूप के भक्त हैं—ऐसे भक्तों की मुझे आवश्यकता है। पर डॉक्टर साहब को ही मैं अपना हृदय अर्पित करूँगी।'[3]

'लज्जा' के सभी पात्र गत्यात्मक (Dynamic) हैं। उनमें जीवनगत किसी भी स्थिति पर मनन करने, कोई अवसर पाकर बौद्धिक वक्तव्य देने और विश्लेषण करने की क्षमता है। लज्जा केवल अपनी ही दुर्बलता अथवा शक्ति से परिचित नहीं है, अपितु नारी मात्र की अवस्था का दैन्य चित्र इस विश्लेषणात्मक प्रसंग में अभिव्यक्त कर देती है— 'यदि मेरी आत्मा में दृढ़ता काठिन्य और सहनशीलता के भाव वर्तमान होते तो मैं किसी भी बाहरी भय से कभी भयभीत न होती। अपने अकेलेपन से मन-ही-मन शंकित होकर डॉक्टर साहब की भर्त्सना का आनन्द लूटने की इच्छा कभी न करती। अकेले शांत और संयत भाव से अपने भीतर की समस्त भावनाओं को धीरता के साथ सहन करती चली जाती। पर नारी हृदय में दृढ़ता और सहन-शीलता का होना एक प्रकार से असम्भव है।'[4] बात बात में संशय और भय की स्थिति एडलर के मतानुसार हीनता की ग्रन्थि का परिणाम है। नारी जाति में हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न करने वाला पुरुष समाज है, जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए नारी को अबला कहता और सिखाता आया है। इसी के कारण वह नीचता, दासत्व और पाप पंक में निमग्न होती है। 'लज्जा' की विश्लेषणात्मक कहानी इस तथ्य का उद्घाटन कर रही है। उसकी दमित कामवासना भी हीन स्थिति का ही परिणाम है।

सन्यासी—१९४१

वैयक्तिक जीवन की अपूर्व जटिलताओं और विचित्रताओं के आधार पर 'सन्यासी' की रचना हुई है। विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के शास्त्रीय सिद्धान्तों का समावेश इसकी मौलिक विशेषता है। अवचेतन मन की क्रिया, क्षति-पूर्ति प्रक्रिया और आत्मपरक

---

३ लज्जा—पृष्ठ ३५
४ वही—पृष्ठ १०१

प्रतिक्रियायों का पूर्ण अन्वेषण इस रचना में प्राप्त होता है। वैयक्तिक पात्रों की दमित यौन वासनाओं, उन्मादग्रस्त जीवन स्थितियों तथा अहमन्यतापूर्ण कृत्यों का विश्लेषण अनेक स्थलों पर उपलब्ध हो जाता है।

'संन्यासी' की रचना पूर्व-दीप्ति-विधि (Flash-Back Technique) के आधार पर हुई है। कथा का सूत्र स्वयं उपन्यासकार ने नहीं पकड़ा है, अपितु कथा नायक को दे दिया गया है। वही आत्मकथात्मक शैली में अपनी अतीत स्मृतियों की गुफा में प्रकाश फेंककर दीप्त घटनाओं एवं सचेत विचारो का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। घटनाएं सीमित ही हैं; और जो हैं वे वहिर्जगत की अपेक्षा अन्तर्जगत में घटती है; किन्तु विचारों की, विशेष-कर द्वन्द्वात्मक भावावेशों की इस उपन्यास मे कोई कमी नही है। नायक जीवन कथा घटने के पश्चात् हमारे सामने आया है। वह अपनी जीवन अनुभूतियों के विशिष्ट संस्मरण सुर-क्षित रूप में संजोकर रखता है और पूर्व-दीप्ति-विधि द्वारा प्रस्तुत कर देता है।

'साल भर की सजा भुगतकर अभी लौटा हूं'—उपन्यास की यह प्रथम पंक्ति पूर्व-दीप्ति-विधि अनुसार लिखी गई है, इसे पढ़ते ही पाठक एक विचित्र, रहस्यमयी और कौतूहलवर्धक स्थिति में पड़ जाता है। फिर दूसरे ही पहरे में "मैने सन्यासी का वेश धारण किया है, सन्देह नहीं। पर संन्यासी मैं न कभी था और न हूं" पढ़कर पाठक की जिज्ञासा वहुत कुछ जानने को तैयार हो जाती है। कथा की असाधारणता और व्यक्ति की विशिष्ट जीवनी के प्रति उसका विश्वास आरम्भ से ही दृढ़ करके उसने कहानी का संचालन किया है। फिर नायक द्वारा नायक की जीवनगत सात वर्षीय अनुभूतियों का सिंहावलोकन किया गया है।

'लज्जा' की भांति 'संन्यासी' में भी पूर्व-दीप्ति-विधि का समावेश पूर्णरूप में हुआ है। कथा नायक कथा के आरम्भ में जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह अन्त में भी कथा के पूर्ण विकास के पश्चात् अपने पहले रूप से तादात्म्य स्थापित करता हुआ समाप्ति पर पहुंचता है। प्रारम्भ में वह कहता ही है—"संन्यासी मैं कभी था और न हूं"—किन्तु अन्त में तो वह बोझा भी उतार फेंका है जिसके कारण लोगों ने उसे संन्यासी समझा। वह कहता है—"जेल से छूटने पर अपने संन्यास और नेतागिरी के ढोंग पर हसी भी आई और दुःख भी हुआ। मैंने दाढ़ी फिर घुटा ली है, और वाल कटवा डाले है। गेरुआ वस्त्र पहनना भी छोड़ दिया है। अब मैं न 'संन्यासी' हूं न 'नेता'। लल्लन को देखने देहरादून गया था। मौसी के पास रहकर वह बड़ा सुखी है। वह न शान्ति के अभाव का अनुभव करता है न मेरे—पर मैं उन दोनों के अभाव का अनुभव कर रहा हूं और सम्भवतः जीवन भर करता रहूंगा।"[1]

'संन्यासी' में कथा को सीमित कर दिया गया गया है। समस्त घटनाओं को वहिर्जगत से उठाकर नायक के अन्तर्जगत में विठाया गया है। यह तो हुआ पहला काम। दूसरा काम नायक ने किया है। उसने अपनी अन्तश्चेतना को सक्रिय बनाकर अतीत की समस्त घटनाओं की विश्लेषणात्मक व्याख्या कर दी है। इस विधि को अपनाने के कारण

---

१. संन्यासी—पृष्ठ ४६१

एक ओर कथा ससीम हो गई है, तो दूसरी ओर उसमें मनोवैज्ञानिकता बढ़ गई है। मात्र बोध चेतना की विवृति, उसकी तरलता, अनुभूतता, विशिष्ट आन्तरिकता तथा प्राणवत्ता के स्वरूप अंकन में ही उपन्यासकार की शक्ति लगी है। कथा के मूल में घटना वैचित्र्य नहीं है, एक युवक (नन्दकिशोर) के मनोविकार ग्रस्त जीवन की एक विशिष्ट स्थिति है, जिसका संबंध उसकी अवचेतना में निहित कुण्ठित यौन भावना से है। नन्दकिशोर 'यौन वर्जनाओं' से रुग्ण वैयक्तिक चरित्र है। उसकी अहंमन्यता तथा आत्म-रति उसके समस्त कार्य-व्यवहार में एक अद्भुत वैलक्षण्य एवं जटिलता उत्पन्न कर देती है। आगरा यात्रा के बाद नन्दकिशोर की सारी कथा पर उसकी यौन कुण्ठा तैरती नज़र आती है।

वैश्लेषिक उपन्यास में अन्तःप्रेक्षण (Introspection) विधि को अधिक महत्त्व दिया जाता है। 'संन्यासी' में इस विधि का प्रयोग सबसे अधिक मात्रा में हुआ है। सारी कहानी आत्मकथात्मक शैली में कही गई है। नन्दकिशोर की मन:स्थिति का आभास पाठक से पूर्व नन्दकिशोर को ही मिला है। वही अन्तःप्रेक्षण विधि द्वारा अपनी समस्त दुर्बलताओं, मनोविकारों एवं कायरताओं का विश्लेषण करने के उपरान्त उन्हें कथा के चरित्र के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। 'संन्यासी' के वही स्थल मर्मस्पर्शी तथा सर्वोत्कृष्ट हैं, जहाँ मन:कल्पनाओं के बहुरंगी तानों-बानों से नन्दकिशोर की मनोवृत्ति का सजीव विश्लेषण हुआ है। जहाँ पर भावनाओं की सूक्ष्म अभिव्यंजना हुई है, वहीं कलात्मकता अपने प्रखर रूप में जगमगा उठी है, जहाँ भी तर्क-वितर्कपूर्ण वर्णन योजना हुई, वही स्थल शिथिल पड़ गए। इसका भी कारण है—विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यासों में वर्णन औपचारिकता का परिचय मात्र देते हैं, किन्तु वे सार्थक तारतम्य और प्रभावपूर्ण समन्वय की दृष्टि से अनपेक्षित होते हैं। इसीलिए कम से कम वर्णन रखे गए हैं। वर्णन की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब बाह्य निरीक्षण किया जाए। 'संन्यासी' के पात्र बाह्य निरीक्षण करते ही अन्तःप्रेक्षण की ओर लौट आते हैं।

'संन्यासी' में बाह्य निरीक्षण विधि (Observation) का सहारा बहुत कम मात्रा में लिया गया है। पात्र एक दूसरे को देखते हैं, उनकी मानसिकता पर यह निरीक्षण कुछ प्रभाव भी छोड़ता है किन्तु दूसरे ही क्षण वे अपनी मानसिकता में डूब जाते हैं और अवचेतन में हो रहे द्वन्द्व पर ही मनन करने लगते हैं। जयन्ती का साक्षात्कार न केवल नन्दकिशोर की रुद्ध काम-वासना के बाँध को ही तोड़ता है, अपितु उसे बहिर्जगत से लाकर अन्तर्जगत में ला पटकता है। पूजा-पाठ, पठन-पाठन आदि बाह्य कार्यों को तिलांजलि देकर अन्तर्वृत्तियों के बहाव में बहने लगता है। वह मनोविकार का रोगी बन जाता है। आगरा से लौटने पर बनारस के बाज़ार में दो युवतियों के दर्शन मात्र से उसकी मनोदशा किस दिशा में बहने लगी। अन्तःप्रेक्षण विधि द्वारा किया गया उसका विश्लेषण पठनीय है—'दोनों रमणियाँ कुछ दूर आगे बढ़कर बाईं तरफ़ की गली को मुड़ीं और मुड़ते ही वही खद्दर धारिणी फिर एक बार मुझे घूर गई। मेरा तो सिर चकराने लगा। इसका कुछ अर्थ न समझा। कुछ दिनों से जिस घोर अवसाद का भाव मेरी छाती को जकड़े था, उसकी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। मतवाले आदमियों की तरह मैं अपने आपे में

नहीं था।"[२] नन्दकिशोर की यह विक्षिप्तता जयन्ती के प्रति दमित काम वासना (Repression) का परिणाम है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में पात्रों की छोटी से छोटी क्रिया का भी स्पष्टीकरण किया जाता है। यह स्पष्टीकरण मनोवैज्ञानिक आधार पर खोज कर ही सम्पन्न होता है। 'संन्यासी' में नन्दकिशोर की ही नहीं, शान्ति, जयन्ती, बलदेव और कैलाश आदि पात्रों की सभी क्रियाओं का स्पष्टीकरण किया है। नन्दकिशोर की विक्षप्तता, परपीड़न, तत्परता तथा अहमन्यता का पूरा अन्वेषण किया है। वह शान्ति के मुख पर एक अलौकिक उल्लास की दीप्ति देखता है, प्रतिक्रियास्वरूप उस सौन्दर्य आभा का सन्तुलित उपयोग नहीं करता, अपितु उसका कुण्ठित मन उसे (शान्ति) को भय और आशंका के वातावरण में डालने की योजनाएं बनाता है। वह शान्ति से पूछता है—"रामेश्वरी को देखा, कैसी विचित्र लड़की है।"

शान्ति ने कहा—"मैं तो उसका स्वभाव कुछ समझ न पाई। भीतर वह हम लोगों को सुनाते हुए काफी ऊंची आवाज में कड़ी-कड़ी बातें कह रही थी, पर जब बाहर आई तब से अन्त तक एक शब्द भी उसने मुंह से न निकाला। भीतर वैसी ढीठ और बाहर इतनी संकोचशील। तिसपर उसका स्वाभिमान देखा! सचमुच लड़की बड़ी विचित्र है।"[३] बस नन्दकिशोर का जादू चल जाता है। वह शान्ति को अत्यधिक कातर करने के लिए इस विचित्रता के स्पष्टीकरण की आड़ में शान्ति से यह कहता है—"तुमने अभी उसकी विचित्रता इसी हद तक देखी है। पर मुझे तो उसे देखकर एक ऐसे विकट भय और आतंक के भाव ने धर दबाया है कि मेरी दूसरी चिन्ताएं, जो कुछ कम भयंकर नहीं हैं, उसके नीचे दब-सी गई हैं। न जाने क्यों, एक अज्ञात संस्कार मुझसे कह रहा है कि इस लड़की के जीवन का परिणाम बड़ा दुखद होगा। ऐसा जान पड़ता है कि इसे हिस्टीरिया के-से झटके बीच-बीच में आते रहते हैं। इसीलिए वह कभी अत्यन्त उत्तेजित होकर बहुत बोलने लगती है, और कभी एकदम संकुचित होकर बिल्कुल चुप हो जाती है। एक ओर आवश्यकता से अधिक स्वाभिमान और दूसरी ओर ऐसी असहनशीलता कि भाई को नई साड़ी न लाने के लिए कोसना—इस प्रकार की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विकट द्वन्द्व का चक्र इस लड़की के भीतर चला करता है। ऐसे व्यक्तियों में मैंने देखा है कि उनके स्वार्थ की मात्रा चरम सीमा तक पहुंच जाती है और उनका त्याग भी वैसा ही प्रबल होता है। सच बात तो यह है कि वे बड़े आत्मगत जीव होते हैं···मुझे उसमें कुछ उन्माद के लक्षण दीख पड़ते हैं।"[४] नन्दकिशोर की आकांक्षा फलीभूत होती है, शान्ति आतंकित हो उठती है।

'संन्यासी' की सबसे बड़ी विशेषता वैयक्तिक पात्रों की उद्भावना है। ये पात्र वर्णनात्मक शिल्प-विधि के सामाजिक पात्रों की भांति लेखक के हाथों नाचने वाले कठपुतली

---

२. संन्यासी—पृष्ठ ५०
३. वही—पृष्ठ २२६
४. वही—पृष्ठ २२७

पात्र नहीं हैं। इनका विशिष्ट व्यक्तित्व है। शान्ति और जयन्ती दोनों ही गत्यात्मक (Dynamic) प्रवृत्ति की नारियाँ हैं। दोनों ही समय-समय पर अपने तथा नन्दकिशोर के व्यवहार का विश्लेषण करके आगे बढ़ती हैं। नन्दकिशोर ने शान्ति और जयन्ती की एक-एक भाव भंगिमा के अपने अन्तर्मन में भाँति-भाँति चित्र खींचे हैं। उनकी एक-एक प्रवृत्ति पर वह नाना भंगिमाओं से मनन करता है। अड़सठवें परिच्छेद में जयन्ती के मौनप्रिय स्वभाव और संकोचशील प्रवृत्ति ने नन्दकिशोर के मन में एक द्वन्द्व मचा दिया है। कभी वह मौन को एक आभूषण के रूप में देखकर जयन्ती की गतिविधि, हाव-भाव और दैनिक चर्या का विश्लेषण करता है, कभी उस मौन को जयन्ती के गौरव दर्प का कारण समझता है। बात वास्तव में यह है कि नन्दकिशोर स्वयं घोर अहंवादी व्यक्ति है। वह अपनी अहंमन्यता के प्रति सजग रहना चाहता है, इसीलिए आरोपण (Projection) की क्रिया द्वारा अपनी दुर्बलता को जयन्ती के मत्थे थोप कर सन्तोष की साँस लेता है।

वैयक्तिक तत्त्व का सन्निवेश रहने के कारण 'सन्यासी' में पात्रों की वैयक्तिक दुर्बलताओं, अहंमन्यताओं, तथा स्वार्थों का अन्वेषण कहीं आत्म विश्लेषण तो कहीं परात्म विश्लेषण प्रक्रिया द्वारा किया गया है। आत्म विश्लेषण करके ही नन्दकिशोर ने यह स्वीकार किया है कि वह एक असाधारण पात्र है, उसका मन विकृत है, विवाह सदृश उत्तरदायित्वपूर्ण कृत्य को वह मजाक और अपनी अहंमन्यता का साधन समझता है। परात्म-विश्लेषण विधि द्वारा शान्ति और जयन्ती नन्दकिशोर की अहंमन्यता, स्वार्थ-परता एवं ईर्ष्यालु प्रकृति का पर्दा-फाश करती है। नन्दकिशोर के बाह्य-जीवन और बाह्यरूप में किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। प्रथम साक्षात्कार में ही कोई भी युवती उसको हो जाना पसन्द करती है, किन्तु उसके सम्पर्क में आकर ही उसके अन्तर्जीवन की विषम स्थिति से परिचित होकर नव्य अनुभूतियाँ अर्जित कर पाती है।

विश्लेषिक उपन्यासकार केवल एक बात कह कर ही बस नहीं कर जाता। वह अन्तश्चेतना में बैठकर सतत चलने वाले द्वन्द्व के मूल को पकड़ता है। वैयक्तिक कुण्ठा की खोज करता है। 'सन्यासी' के नायक नन्दकिशोर की असाधारण (Abnormal) मानसिक स्थिति दमित काम-वासना (Repression) का परिणाम है। इसी के फल-स्वरूप उसकी समस्त चारित्रिकता का निर्माण हुआ है। इस तथ्य पर वह विश्लेषणात्मक अन्वेषण करके पहुँचा है। वह कहता है—"मेरे असंतोष का एक और कारण था। बचपन से ही मेरे मन में बड़े-बड़े हौसले पैदा हो गए थे। महत्त्वाकांक्षा के बीज मेरे मन में पहले से ही थे। पर कुछ बाहरी और कुछ भीतरी कारणों से मैं अपनी एक भी उच्चाकांक्षा की सफलता की ओर कदम न बढ़ा सका। पुरातत्त्व की ओर मेरा झुकाव सबसे अधिक था। यदि मेरे भीतर की दानवी शक्ति उचित मार्ग पर चलती, तो मैं या तो पुरातत्त्व अथवा इतिहास के क्षेत्र में क्रान्ति मचाता, या समाज-सुधारक अथवा देशोद्धारक बन कर एक मान्य नेता के पद का प्रयासी होता। ऐसा होने से—मेरे भीतर के धुएँ को और आग की ज्वालाओं को बाहर निकलने का रास्ता मिल जाने से—मेरे जीवन में स्थिरता आ जाती। पर उस आग और धुएँ के बन्द रहने से मैं अपनी अन्तरात्मा को जलाने और घुटने में ही समर्थ हुआ, ज्वालाकण मेरे ही भीतर बिखर कर रह गए। फल यह हुआ

कि अब मेरी दग्ध आत्मा जहां-जहां भी अपना हाथ डालती थी, वहीं विध्वंस की सम्भावना मुझे दिखाई देती थी।"[५]

'संन्यासी' में हमें जटिल से जटिल, विचित्र-से-विचित्र पात्रों की जटिलता एवं वैचित्र्यपूर्ण चारित्रकता का रहस्य विश्लेषण विधि द्वारा ज्ञात हो गया है। किसी भी विशिष्ट प्रसंग की अवतारणा में चरित्र की विशेष प्रवृत्तियों का ध्यान रखा गया है। उनके समस्त हाव-भाव, क्रिया-कलाप उनकी अन्तर प्रवृत्तियों से पूर्ण मेल रखते हैं, परन्तु अवसर अनुकूल रंग दिखाते हैं। कतिपय आलोचक इन पात्रों की गत्यात्मक स्थिति में ही संदेह रखते हैं। डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव ने लिखा है—"ये चरित्र प्रायः आदि से अन्त तक एक रस रहते है। आरम्भ से ही इनमें एक पूर्णता तथा अपरिवर्तनशीलता रहती है···पात्रों के गुण-दोष आदि उनमें आरम्भ से ही रहते हैं, वे नहीं बदलते।"[६] उनका यह कथन वैश्लेषिक उपन्यासों के प्रति कितनी भ्रान्त धारणा फैलाने वाला है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वैश्लेषिक उपन्यास के पात्र गत्यात्मक होते है। 'संन्यासी' के नन्दकिशोर को ही लें। कहां लड़कियों से घबराने वाला किताबी कीड़ा नन्दकिशोर और कहां अहमन्यता, विलास और स्वार्थ में रत नन्द? नन्दकिशोर की अहमन्यता भी नाना रूप बदल कर सामने आई है। कभी वह जयन्ती से दूर रहने और उससे कदापि विवाह न करने का संकल्प करता है; कभी उसीके गर्व को चूर्ण करने के लिए लचीला बनकर स्वय विवाह प्रस्ताव रखता है। जयन्ती के प्रति किए गए व्यवहार में भी परिवर्तन का मूल मंत्र काम कर रहा है। आरम्भ में वह उसे प्रतिपल प्रसन्न रखना चाहता है; किन्तु कैलाश आगमन पर ही उसके अन्तर्मन का हिंसक राक्षस अहं हुंकार मारकर आक्रमक रूप धारण करता है।

बौद्धिकता का आग्रह भी 'संन्यासी' में कम नही है। नन्दकिशोर के मन और मस्तिष्क का संघर्ष इसे दीप्ति प्रदान करता है। जब नन्दकिशोर की अहंभावना संशययुक्त हो जाती है तब उसकी चेतन बुद्धि उस संशय को निर्मूल समझती है, किन्तु उसका अवचेतन मन सदैव संशय भार से दबा रहा। अवचेतन ही चेतन को प्रचालित करता है, अतएव उसके मन पर विवेक का कोई प्रभाव काम नहीं करता। शिमला पहुंचने पर नन्दकिशोर की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और एकान्त सुविधा उसे मनन करने का अवसर देते है। पलंग पर चित्त लेटकर वह सोचता है और कल्पनात्मक स्पन्दन से फड़क उठता है। पहाड़ी पर सैर करने निकलता है तो दिवास्वप्नों में खो जाता है। मायामयी कल्पना उसके मस्तिष्क को झकझोर डालती है, वह उसी दशा में जयन्ती और शान्ति से स्वगत वार्तालाप करता है। यह सब अन्तर्जगत में ही घटित होता है, बाहर तो केवल प्रकृति है, स्वस्थ, निर्मल और भव्य प्रकृति।

'संन्यासी' की रचना आत्मकथात्मक (उत्तम पुरुष) शैली में हुई है। वास्तव में विश्लेषणात्मक शिल्प की कृति के लिए यह सबसे अधिक उपयुक्त शैली है। इसमें पात्रों को अन्तःप्रेक्षण विधि द्वारा या बाह्य-निरीक्षण विधि द्वारा अन्तर्जीवन की समस्त क्रियाओं

---

५. संन्यासी—पृष्ठ ३५३-५४
६. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३०६

का विश्लेषण करने की सुविधा रहती है। 'संन्यासी' का नन्दकिशोर एक आत्मकेन्द्रित (Introvert) व्यक्ति है। उसका अवचेतन मन जीवन के नाना प्रभावों को ग्रहण करता है। बाह्य रूप से तुच्छ, हास्यास्पद और संक्रमणशील दीखने वाले भाव और क्रियाएं भी उसके अन्तर्मन में बहुत गहरी पैठ रख चुकी हैं। आत्मविश्लेषण की विधि द्वारा वह अतीत की समस्त स्मृतियां, कामनाएं एवं प्रतिक्रियाओं को चीर फाड़ कर हमारे सामने रख देता है।

जोशी की शैली मूलतः एक भावुक कवि की शैली है, जिसमें गति है, प्रवाह है और आकर्षण है। उन्होंने 'संन्यासी' में भी इस शैली का प्रयोग किया है। बाह्य घटनाओं के कतिपय वर्णनों को छोड़कर आन्तरिक स्थिति का अन्वेषण ही सर्वत्र दीख पड़ता है। इन आन्तरिक स्थितियों का विश्लेषण भावपूर्ण शैली में हुआ है। भावनाओं की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति के चित्रण की शैली में अपूर्व कौशल के दर्शन हमें होते हैं। नन्दकिशोर शिमला पहुंच जाता है। वहां जयन्ती का साक्षात्कार उसकी मनोदशा बदल देता है। उस प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक स्पष्टीकरण अप्रस्तुत विधान द्वारा दिया गया है। प्रकृति-चित्रण के समय उनकी शैली ओजपूर्ण, वेगवती और उदात्त हो गई है। चौथे परिच्छेद में जमुना तट पर खड़े होकर और सत्रहवें परिच्छेद में गंगा की तरंगों के निकट पहुंचकर नन्दकिशोर की मानसिकता सौंदर्यात्मक अनुभूति का स्पर्श पाकर औपन्यासिक धुंध के समस्त वातावरण को चीरकर अपनी आत्मा के पूरे वेग के साथ बह गई है। यहां गद्य में भी काव्यात्मकता दीख पड़ती है।

चरित्र चित्रण करते समय भी भाषा और शैली भावावेश से पूर्ण होकर प्रवाहित हुई है। शान्ति का चित्रण करते हुए नन्दकिशोर भावपूर्ण कवित्व शैली में कहता है—"लज्जा का झीना पर्दा उसकी सहज तेजस्विता को ढकने की चेष्टा कर रहा था। पर जिस प्रकार रेडियम का अन्तर्गत प्रकाश उसके भीतर न समा सकने के कारण ज्योतिकणों को बाहर बिखेरता रहता है। उसी प्रकार शान्ति की शुभ्र, समुज्ज्वल, सतेज पवित्रता उसके मुखमण्डल के प्रत्येक सूक्ष्मतम चर्मछिद्र से अदृश्य किरणों के रूप में बरबस निर्गत हो रही थी, जिसे देखकर एक अपूर्व, अवर्णनीय कवित्वमय भाव मेरे प्राणों के अणु-अणु में संचरित होने लगा था।"[७]

आत्मकथात्मक शैली के अन्तर्गत बीच-बीच में पत्र-योजना द्वारा पत्र शैली का समावेश 'संन्यासी' की अपनी विशेषता है। लगभग पांच पत्र इस उपन्यास में विभिन्न पात्रों द्वारा दूसरे पात्रों को लिखे गए हैं। ये पत्र एक ओर पात्रों की निजी भावनाओं की अभिव्यक्ति सर्वश्रेष्ठ रूप में करते हैं, दूसरे कुछ अज्ञात घटनाओं व चरित्र विषयक अन्धकार में पड़े पर्तों का भी अन्वेषण सुलभ हो जाता है। आगरा यात्रा से लौटने पर नन्दकिशोर अपने बड़े भाई को जो पत्र लिखता है उसका मुख्य अंश ही उद्घाटित किया गया है किन्तु उस अंश को पढ़कर ही पाठक नन्दकिशोर की मनोभावनाओं को पढ़ लेता है, उसकी योजनाओं को जान लेता है। नन्दकिशोर ने तो पत्र के अतिरिक्त तार का

---

७ संन्यासी—पृष्ठ १७७-१७८

उपयोग भी किया है। ठीक है; यह रुपया समाप्त हो जाने के कारण विवशतावश किया गया है, किन्तु उपन्यास की कथा में इसका विशेष महत्त्व है; इस तार में नन्द का पता पढ़कर ही उसके भाई इलाहाबाद पहुंचते है, उनके वहां पहुचने के कारण (तथा नन्द की मानसिकता के कारण भी) नन्दकिशोर-शांति प्रणय पर वज्रपात होता है।

शांति द्वारा वलदेव प्रसाद के नाम लिखा पत्र और लिफाफा देखकर नन्दकिशोर 'श्रीयुत वलदेवप्रसाद जी मेहरोत्रा' पढ़कर ईर्ष्या जनित वेदना की अनुभूति करता है किन्तु अन्दर 'प्रिय भाई वलदेवप्रसाद जी' पढ़कर उसकी मानसिक स्थिति स्वस्थता की अवस्था प्राप्त करती है। मृत्यु से पूर्व नन्दकिशोर के नाम जयन्ती द्वारा लिखा गया पत्र भी महत्त्व-पूर्ण है। पत्र पर्याप्त लम्बा है, अन्तिम अभिनन्दन से आरम्भ होकर वैश्लेपिक अन्वेषण से पूर्ण होकर सामने आया है। इसमें नन्द, कैलाश और जयन्ती आदि पात्रों के अवचेतन, चेतन का स्पष्ट चित्र अंकित हुआ है। पुरुप के पुरुषत्व और अहं पर वज्र प्रहार भी इसी पत्र द्वारा हुआ है। इसकी अनुभूति पत्र पढ़ते ही नन्दकिशोर ने अपने सिर पर, हृदय पर, रीढ़ पर निरन्तर निष्ठुर निर्मम आघात के रूप में स्वीकार की है।

अन्तिम पत्र शांति ने नन्दकिशोर के लिए लिखा है। यह पत्र भी अपने ढंग का वैश्लेपिक पत्र है। जयन्ती के पात्र की तुलना मे इसका वैश्लेषिक पक्ष गौण है; किन्तु दार्शनिक पक्ष प्रवल है। शांति मुक्त पथ की पथिका वनती है, जीवन की नाना कठिनाइयों से हारकर ही नहीं अपितु जीवन के उदात्त स्वरूप का साक्षात्कार एवं अनुभूति प्राप्त करने की प्रेरणा से वशीभूत होकर वह अन्तर्द्वन्द्व, दुविधा, मोह आदि सांसारिक आक-र्पणों तथा आघातों से ऊपर उठने के लिए यह पथ अपनाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये पात्र आत्मकथात्मक शैली में पूर्णतया फिट बैठ गए है। इनके द्वारा पात्रों की अन्तश्चेतना का चित्र स्पष्ट हो गया है।

साधारणतया 'संन्यासी' की भाषा और शैली में एक वहाव रहा है, किन्तु कहीं-कहीं विचार-वितर्कों के प्रसंग में अवरोध भी प्रस्तुत हो गए हैं। इन अवरोधो को हम शैलीगत दोष नहीं मानते, अपितु वैश्लेपिक शिल्प की प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर स्वाभाविक मानते है।

पर्दे की रानी—१९४१

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत 'पर्दे की रानी' का भी विशिष्ट महत्त्व है। 'लज्जा' और 'संन्यासी' दोनों की अपेक्षा इसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व का आधिक्य है। इसमें मनुष्य की अन्तश्चेतना में विराजमान मूल प्रवृत्तियों को पकड़ने का सफल प्रयास हुआ है। मानव मन की विचित्रता और जटिलता को केन्द्रस्थ रखकर समस्त कथा विधान की योजना हुई है। कथा के अन्तर्गत समस्त कार्य-कलाप, विरोधाभास तथा द्वन्द्वपूर्ण स्थितियों का विश्लेपण प्रस्तुत हुआ है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य की घोर अहम्मन्यता, (Super-ego) हीन-भावना (Inferority Complex) और दमित काम वासना को वैयक्तिक विकृति की असाधारण अवस्था का मूल कारण सिद्ध कर दिया है। 'पर्दे की रानी' में इन्हीं मनो-

विज्ञान सम्मत तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। निरंजना और इन्द्रमोहन दोनों ही घोर अहंवादी (Super egoist) प्रवृत्ति के पात्र हैं। दोनों का अहं भाव एक-दूसरे से होड़ लेने को तैयार बैठा है, और द्वन्द्वात्मक स्थिति में एक-दूसरे को पछाड़ने के निमित्त ही नाना योजनाएं बनाता है। इस अहं के कारण ही दोनों समय-समय पर हिंसक-प्रतिहिंसक का रूप धारण करते चलते हैं। अहं का विकास ही विकृति को बढ़ाता है—इस तथ्य का उद्घाटन उपन्यासकार ने एक पात्र चन्द्रशेखर द्वारा कराया है। निरंजना वार्ता के प्रसंग में बौद्धिक युग के अहंकारी मानव का विश्लेषण करते हुए वह कहता है—"जिन दुर्घटनाओं का उल्लेख तुमने किया है उनके मूल में है वर्तमान अहंवादी युग की कूट मनोवृत्ति। असल बात यह है कि आधुनिक बुद्धिवादी युग में मनुष्य ने अपने अहंभाव का विकास आवश्यकता से इतना अधिक कर लिया है कि उसके फलस्वरूप वह पौराणिक भस्मासुर की तरह विनाश के पथ की ओर बढ़ता चलता जाता है। मैं तुमको और इन्द्रमोहन को इस युग की व्यथता के दो चरम निदर्शन मानता हूं। तुम दोनों में अहंभाव हद दर्जे तक विकास को प्राप्त हुआ है, ऐसा मेरा विश्वास है। तुम अपने को एक वेश्या माता और खूनी पिता की लड़की समझकर जो बेहद विचलित हो उठी हो, उसके मूल में तुम्हारा वही चरम विकास प्राप्त अहंभाव है। - तुम्हारी ही तरह इन्द्रमोहनजी की अहंवृत्ति (और स्वभावत आत्मचेतना भी) आवश्यकता से बहुत अधिक विकसित हो उठी थी। उसी वृत्ति का यह परिणाम था कि उनके अन्तर्मन ने उनके भीतर अज्ञात में यह भावना भर दी कि जिस नारी ने उनके हृदय में प्रेम की आग जलाई है और स्वयं बची हुई है, उसके ऊपर हर हालत में विजय प्राप्त करनी होगी और उसे दंडित करना होगा—चाहे उसे दण्ड देने के लिए स्वयं क्यों न मरना पड़े। वर्तमान युग की अहंवादी मनोवृत्ति मुझे कभी-कभी बहुत ही विचित्र लगती है, नीरा। वह हंस हंसकर आत्म विनाश के लिए तत्पर हो उठता है, बशर्ते उसके उस आत्म विनाश द्वारा उसके अहंभाव की विजय प्रमाणित हो उठे। इन्द्रमोहन ने अहंवादी की इस विशेष मनोवृत्ति को चरितार्थ करके दिखाया है। यही मनोवृत्ति यदि इस प्रकार विकृत रूप में अपना प्रदर्शन न करके उन्नत पथ पकड़े तो समाज का कितना बड़ा कल्याण हो सकता है। अहंवादी यह बात नहीं सोचना चाहता।"[1]

विश्लेषिक उपन्यासकार की यह विशेषता है कि वह वर्णनात्मक कथाकार की अपेक्षा सीमित रूप में ही कथा में प्रवेश करता है। प्रथम रूप में तो करता ही नहीं—आत्मकथात्मक शैली द्वारा वह कथा का सूत्र ही पात्रों को प्रदान कर देता है। 'पर्दे की रानी' भी पात्रमुखोदगीरित आत्मा कथा के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसमें पात्रान्तरस्थ मूल प्रवृत्तियां अन्तर्प्रेक्षण विधि द्वारा देखी-परखी गई हैं। पात्र या तो अपना चरित्र विषयक विश्लेषण स्वयं करते हैं या दूसरे पात्रों की हृदयस्थ मनोग्रन्थियों को खोलते हैं। इस रचना में यह प्रतीत होता है कि पात्रों द्वारा विश्लेषण का अवसर जुटाने के लिए ही समस्त घटना विधान तैयार किया है, मनोवैज्ञानिक तत्त्व एकत्रित किए गए हैं। घोर

१ पर्दे की रानी—पृष्ठ २१६-२२०

अहंवाद की चर्चा हो चुकी, अब हीन भावना की ग्रन्थि को ले।

निरंजना 'हीनता की भावना' से ग्रसित एक असाधारण पात्र के रूप में प्रस्तुत की गई है। उसमें हीनता की तीनों सरणियां (stages) वर्तमान हैं। एक वेश्या मां की पुत्री और खूनी पिता की सन्तान होने का वोध उसे हीनता की ग्रन्थि मे जकड़ लेता है। फिर उसके सारे कृत्य हीनता जनित क्षति की पूर्ति के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यह दो रूपों में संभव हुआ—पहले हीनताजनित क्षति पूर्ति की आकांक्षा उदय हुई, फिर उस आकांक्षा की पूर्ति हित शक्ति जुटाई गई। इस शक्ति को अर्जित करने के लिए ही वह प्रतिपल सचेष्ट रहती है; क्रियात्मक एवं गत्यात्मक हो उठी है। हीन कहनेवाले या समझनेवाले मनमोहन के पुत्र इन्द्रमोहन के भीतर लालसा की आग भड़काने का काम भी इसी भावना का प्रतिफल है। स्वयं विकृति की ओर झुकाव भी इसी ग्रन्थि का परिणाम है।

आरोपण (Projection) की मनोवृत्ति का समावेश वैश्लेपिक उपन्यासों में उपलब्ध होता है। निरंजना अपनी स्थिति को स्पष्ट करती हुई शीला पर यह बात अभिव्यक्त करना चाहती है कि वह निर्दोष है, शुद्ध हृदया है; यदि दोषी है तो इन्द्रमोहन है जो मीठी-मीठी बातों का भुलावा देकर तुम्हें तिल-तिलकर मार रहा है। किन्तु वह न तो अपने को धोखा दे पाती है; न शीला को ही अधिक देर तक धोखे की टट्टी मे रख सकती है। शीला खूब अच्छी तरह उसे पहचान चुकी है। वह उसकी आरोपण (Projection) लीला से परिचित है। उसे पता है कि निरंजना अपने दुष्कृत्यो को छिपाने भर के लिए पुरुष मात्र को बदनाम करती फिरती है। वह पुरुष को आत्मगत कहकर अपने अहंवादी दृष्टिकोण को दूसरों पर आरोपित करके सुख का सांस लेना चाहती है; किन्तु नहीं जानती कि अपने मार्ग मे विषैले कांटे स्वयं ही वो रही है।

'पर्दे की रानी' में भी अन्य वैश्लेपिक उपन्यासों की भांति वैयक्तिक पात्रों की उद्भावना हुई है। निरंजना, इन्द्रमोहन और शीला प्रसिद्ध वैयक्तिक चरित्र हैं। इनके माध्यम से मानव मन की नाना विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है। आत्म विश्लेपण के साथ परात्म विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा इस उपन्यास के सभी पात्रों का चारित्रिक अन्वेषण संभव हो सका है। आत्म विश्लेपण करके ही निरंजना ने अपनी चरित्रगत विकृतियों, असाधारण स्थितियों और दुविधा मूलक विरोधाभास का परिचय पाठक को दिया है। परात्म विश्लेपण विधि द्वारा ही गुरुजी ने निरंजना और इन्द्रमोहन के अहंभाव के रुद्र रूप का चित्र खींचा है।

'पर्दे की रानी' के पात्र शून्य की सृष्टि नहीं है। उनकी विशिष्ट मानसिकता की पूरी छान-बीन की गई है। उनकी विचित्रता, जटिलता, अस्थिरता के मनोविज्ञान सम्मत कारण खोज लिए गए हैं। इन्द्रमोहन ने शीला से विवाह क्यों किया, निरंजना ने इन्द्रमोहन को होटल में स्वयं ले जाकर भी चरम अवसर के आ जाने पर क्यों ठुकराया, फिर अन्त में रेल यात्रा में ही आत्म समर्पण—ये विचित्र और जटिल मनोवृत्तियां विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि द्वारा स्वयं खुलती गई हैं। पात्रों की मुखाकृति भी उनके चारित्रिक अध्ययन की सामग्री जुटाती है। उनके अन्तर्द्वन्द्व मुख्य-मुख्य घटनाओं के प्रेरक कहे जा सकते हैं। शीला का अन्तर्द्वन्द्व और मृत्यु आलिंगन निरंजना इन्द्रमोहन सामीप्य का मूल

केन्द्र है। कतिपय पात्रों का व्यक्तित्व उनकी दुरंगी चाल और दुहरे रूप में देखा जा सकता है। निरंजना तो दुहरे व्यक्तित्व की प्रतीक ही बन गई है।

वैयक्तिक तत्वों से परिपूर्ण, मनोवैज्ञानिक प्रसंगों से अवतीर्ण यह रचना दो पात्रों की आत्म-कथा को लेकर पात्रमुखोद्‌गीरित शैली में रची गई है। छोटी से छोटी घटना के अनन्तर पात्र मनोविश्लेषण प्रक्रिया में संलग्न दृष्टिगोचर होते हैं। यह विश्लेषण प्रवृत्ति वैश्लेषिक शिल्प की विशेष देन है। 'पर्दे की रानी' के विश्लेषण अन्य कृतियों की अपेक्षा संख्या में ही अधिक नहीं है, अपितु वैज्ञानिक और कार्य-कारण शृंखला में तारतम्य स्थापित करनेवाले भी सिद्ध हुए हैं। इस रचना की वाक्य रचना में एक अद्भुत गठन है, कथोपकथन चुस्त और आकर्षक हैं।

प्रेत और छाया—१९४६

विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यास सदैव आत्म कथात्मक शैली में ही नहीं लिखे जाया करते, इसका प्रमाण 'प्रेत और छाया' पढ़कर पाठक को मिल जाता है। अन्य पुरुष शैली में लिखा गया जोशी का पहला उपन्यास 'प्रेत और छाया' है। इस रचना में जोशी ने मनोवैज्ञानिक तत्वों को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया है। इसी कारण इस पर 'केस हिस्ट्री' अथवा 'साइको थेरपी' होने का आरोप लगाया जाता है। इस उपन्यास के 'केस-हिस्ट्री' बन जाने का भी कारण है। मूल कारण यही है कि जोशी ने इस उपन्यास की रचना केवल मात्र एक धारणा विशेष का प्रतिपादन करने के लिए की है।

जोशी की वह धारणा जो इस उपन्यास की केन्द्रस्थ धुरी है, उनके दृष्टिकोण की परिचायिका है, इसी रचना की भूमिका में अवतरित की जाती है—"विश्व में तब तक अपेक्षाकृत (पूरी नहीं) शांति की स्थापना असम्भव है, जब तक मानव समाज अन्तर्जीवन को उतना ही (बल्कि अधिक) महत्त्व नहीं देता जितना कि बाह्य जीवन को। क्योंकि इस बात के निश्चित प्रमाण जीवन की गहराई में दृष्टि डालनेवाले मनोवैज्ञानिक को मिलते हैं कि सामूहिक सभ्य मानव के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के युग-युग में परिवर्तित पुनरावर्तित होनेवाले रूप उसकी सामूहिक अज्ञात चेतना में निहित प्रवृत्तियों के रहस्यमय परिचालन से बनते हैं और बिगड़ते हैं। इसलिए मानवता के लिए सबसे कल्याणकर उपाय यह है कि वह अपनी उस अज्ञात चेतना के गहरे, और अधिक गहरे, स्तरों में प्रवेश करके उसके भीतर जड़ जमानेवाली आदिकालीन पशु प्रवृत्तियों की छानबीन और विश्लेषण करे, और उस पातालपुरी की नारकीय अन्धकार में बद्ध उन संस्कारों की यथार्थता स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करे जिससे गलत रास्ते से होकर उन बद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो।"[1] अतः इस रचना को प्रकाश में लाने के लिए वह अन्तर्जीवन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर चले हैं, जिसके कारण सर्वत्र विश्लेषण ही प्रमुख हो गया है, अन्य तत्त्व कथा, चारित्रिकता, दर्शन आदि दब गए हैं।

---

१ प्रेत और छाया की भूमिका—तृतीय संस्करण—पृष्ठ ११-१२

'प्रेत और छाया' का आरम्भ पूर्व-दीप्ति विधि पर नही हुआ है; किन्तु पांचवें अध्याय के आरम्भ मे ही पारसनाथ की अतीत स्मृति उसके मानस पटल पर कौंधकर कथाकार की दीप्ति का आश्रय पाते ही गतानुभूतियों के अलबम में से कुछ चित्र प्रस्तुत करती है। इनमें से पहला चित्र दार्जिलिंग वाली पहाड़ी लड़की का है। कथाकार पहले उसी की 'केस-हिस्ट्री' खोलता है। इस केस को सामने रखने पर भी उसने प्रमुख रूप से पारसनाथ की अन्तर्वृत्तियों का विश्लेषण ही किया है। उसकी मन्द-मधुर मुसकान, शालीन समवेपापूर्ण अभिव्यक्ति, वाह्य आचरण के पर्दे के पीछे अन्तर्मन मे कुंडली डाले हुए काले सर्प की ओर संकेत किया है। आत्म समर्पण के पश्चात् विवाह की चर्चा तो उस लड़की की मूर्खता रही; इतनी भर कहानी और एक जीवनी नष्ट-भ्रष्ट हो गई किन्तु वह पहाड़ी छोकरी मात्र ही नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई; जोशी ने वैश्लेपिक विधि द्वारा यह सिद्ध किया है कि नष्ट-भ्रष्ट तो पारसनाथ हुआ। क्यों हुआ, कैसे हुआ? इस क्यों और कैसे के उत्तर को पाने के निमित्त मे ही पारसनाथ के अवचेतन मन का विश्लेषण कर दिया गया है। छठे अध्याय में ही उसके अन्तर्मन मे जमी ग्रन्थि का कारण विश्लेपणात्मक ढंग से बताया गया है, यही कि वह जारज सन्तान है।

जारज सन्तान की कल्पना मात्र से पारसनाथ का मस्तिष्क भन्ना उठता है। उसका मन कुण्ठित हो जाता है और दिनचर्या को दिशा ही बदल जाती है। अवैध संबंध स्थापन ही उसका सबसे बड़ा विनोद साधन है, क्रिया है। जिस भयंकर घृणा और कुटिल प्रतिहिंसा की मुद्रा बनाकर यह बात कही गई, वह भी पारस की अन्तश्चेतना को आंदोलित करती है और एक भयंकर रात मे विकराल भौतिक छाया का रूप ग्रहण करके पारसनाथ के मस्तिष्क को जकड़ लेती है। पारस का चेतन मन सौ-सौ उपाय करने पर भी उस छाया से छुटकारा नहीं पाता। जिस नारी के सम्पर्क मे वह आता है, वही उसे उसकी (मनोग्रन्थि की) प्रतिछाया रूप में दिखाई देती है। उसे रह-रहकर एक ही विचार सताता रहता है। यदि उसकी मां कुलटा थी तो समस्त नारी समाज घृणित, पतित, भोग्या है। कांची, मंजरी, नन्दिनी सभी उसके उपभोग की सामग्री है; एक मात्र हीरा अपवाद बनती है, वह भी तब, जब उसकी मनोग्रन्थि खुल जाती है।

'प्रेत और छाया' में मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों तथा ब्यौरों की कोई कमी नहीं है। उपन्यास में कथा से अधिक मनोवैज्ञानिक केस हैं और उनका विकास वैश्लेपिक विधि पर हुआ है। वसन्त के माधुर्य में पुष्पों की छाया में, नदी के तट पर तो हमने प्रणय-लीला की बातें सुनी थी, किन्तु वर्षा की वेला में, निर्जन घर मे, मृत शरीर के पास प्रेम-क्रीड़ा की कल्पना 'प्रेत और छाया' की ही देन है, किन्तु यह प्रेम-क्रीड़ा भी अस्तित्व में कहां आती है। वैश्लेपिक कथाकार ने विश्लेपण की सुविधा प्राप्त करने के लिए ये केस जोड़ दिए हैं। ऐसी भयानक रात में ही नायक के अतल मन में जब उसका पशु जागृत होता है, तभी कुछ अज्ञात और अव्यक्त शंकाएं उसके अन्तर्मन को जकड़ लेती है। उस अधेड़ और अंधी स्त्री की विकट और लोमहर्षक प्रेत छाया, आतंक उत्पन्न करके पारसनाथ को जड़ीभूत कर देती है। वह मंजरी की कथा सुनता है किन्तु डरता हुआ, अज्ञात रहस्यमय भय से सिहरता हुआ। कथाकार ने यहां भी कथा कम कही है। मंजरी की मां की संक्षिप्त कथा

जो दो पृष्ठों में आ सकती थी, उसके लिए वैकल्पिक मनोवैज्ञानिक तत्त्व इकट्ठे कर पूरे तीन अध्याय और अड़तीस पृष्ठ (१४६ से १८६) लगा दिए गए हैं।

'प्रेत और छाया' में पारसनाथ का एक अवैध संबंध नन्दिनी नामक विवाहिता स्त्री से चलता है। इस अवैध संबंध में कथा तो नाम मात्र की ही दी गई है। वास्तव में यह आधुनिक मनोविज्ञान का ही एक तथ्य केन्द्र है जो पाश्चात्य उपन्यासकार डी०एच० लारेंस के उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक ढंग से मिलता-जुलता है। लारेंस के उपन्यासों में सुखी, स्वस्थ दाम्पत्य जीवनों का अभाव है। उनका जीवन पति-पत्नी के माधुर्य का साधारण जीवन नहीं है, अपितु पशुओं की तरह नित्य संघर्षरत स्त्री और पुरुष का कटु जीवन है। लारेंस के नारी पात्र अपने पुरुष पति पात्रों के प्रति एक दुर्दान्त विकृत घृणा के भावों से आक्रान्त हैं। इसी तरह 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी भुजेरिया के विचार मात्र से नाक भौं चढ़ाती चित्रित की गई है। एक नपुंसक पति की पत्नी होने की कल्पना उसके मन और मस्तिष्क को आत्मग्लानि की पूरी मात्रा भर देती है। वह खुलेआम अपने पति को गालियाँ देती है। पारसनाथ से बातें करते हुए एक दिन कहती है—"आप नहीं जानते यह महाशय कितने बड़े अर्थ पिशाच हैं? रुपयों की खातिर—अब आपसे क्या छिपाऊँ—यह मेरी इज्जत तक उतरवाने पर उतारू हो गए थे। जिन राजा साहब का जिक्र मैंने अभी आपसे किया है, उन्हीं के हाथ कुछ दिनों के लिए मुझे बेचने की बात यह तय कर चुके थे। श्मशान के जिस चाण्डाल के साथ मुझे रहना पड़ता है वह इस घात में बैठा है कि कब मैं मरूँ और कब कफन उतारकर, उसे बेचकर जो कुछ भी पैसा मिले, उससे लाभ उठाए।"[२]

यह आधुनिक मनोविज्ञान का ही मायाचक्र है कि जिसने आधुनिक पति पत्नी के दूरस्थ संबंधों के रहस्यों को खोला है। पति पत्नी ही क्यों? प्रेमी और प्रेमिकाओं की दिनचर्या, हाव भाव, घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण भी किया है। 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी और भुजेरिया की बात ऊपर हो चुकी है, अब नन्दिनी और पारसनाथ के संबंध को ही ले लीजिए। दोनों में ही कुछ प्रणय व्यापार के पश्चात् परस्पर विरोधी भाव प्रवणता (Ambivalence) का प्रवाह बहने लगता है। जब पारसनाथ नन्दिनी को भगा ले जाता है और उसे ज्ञात हो जाता है कि वह तो वेश्या है, पतिप्राणा सती सावित्री नहीं, तभी उसके मन में दो तरह की परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ अति निकट रहकर बहने लगती हैं। उसे नन्दिनी जितनी प्रिय है उतनी घृणीय भी है। घृणा फिर भी प्यार—यह अपनी तरह का केस है जिसे जोशी ने वैश्लेषिक प्रक्रिया द्वारा उद्घाटित किया है। पारसनाथ की मनःस्थिति का विश्लेषण जोशी ने इन शब्दों में किया है—"पारसनाथ भीतर ही भीतर जलभुनकर, मन ही मन सिर धुनकर रह जाता था। मजा यह था कि नन्दिनी ज्यों-ज्यों उसे जलने का कारण देती थी त्यों-त्यों पारसनाथ के मन का लगाव उसके प्रति बढ़ता चला जाता था। पारसनाथ को इस बात का बड़ा आश्चर्य था कि जितना ही अधिक वह नन्दिनी से घृणा करना चाहता है, उतना ही उसके

---

२ प्रेत और छाया—पृष्ठ १९८

प्रति आकर्षण क्यों हुआ जाता है ? क्या ईर्ष्या में यह विशेषता है कि वह प्रेमाकर्षण को सान पर चढ़ा देती है ? ···इस अनुभूति के मूल में कौन-सी प्रवृत्ति काम कर रही है ? क्या यही वास्तविक प्रेम की वेदना है ? या यह ज्वलनशीलता उसके पराजित अहं की प्रतिक्रिया है ? ठीक है।"[3] इस प्रकार के वैश्लेपिक उद्धरणों का ही उपन्यास में बाहुल्य है। इनके द्वारा या तो अवचेतन में दबी काम-कुण्ठा का या हीनता की ग्रन्थि का या अहं का विश्लेषण किया गया है। अतः सिद्ध हो जाता है कि इस उपन्यास मे मनोविज्ञान का आग्रह ही प्रधान है।

'प्रेत और छाया' मे एक असाधारण वैयक्तिक पात्र की उद्भावना हुई है। इसका चारित्रिक पतन 'संन्यासी' के नन्दकिशोर से कही हेय कोटि का है। नन्दकिशोर एक या दो स्त्रियों तक अपने यौन संबंध को सीमित रखकर दूसरी स्त्री के साथ विवाह संबंध जोड़ लेता है। वह भी मन की अपसाधारण स्थिति और भावना की पूर्ति के लिए क्यों न जोड़ा हो; किन्तु पारसनाथ के लिए विवाह की कल्पना मात्र संक्रामक है। वह बुरी तरह से जकड़ा हुआ रोगी है। उपन्यास में उसे अनेक बार प्रेत और उसके सम्पर्क मे आने वाली स्त्रियो को छाया के रूप में चित्रित किया गया है।

चरित्रों में बाह्य-द्वन्द गौण है। अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था मे पड़ी मजरी, नन्दिनी और पारसनाथ कथा के लिए भार बन गए है। यह ठीक है कि ये पात्र गत्यात्मक है, स्थिर नहीं, किन्तु मनोवैज्ञानिकता के आग्रह ने इनको अनेक स्थलों पर कुण्ठित बनाने के साथ काफी समय तक स्थिर भी बना दिया गया है। मंजरी और नन्दिनी को ही लें। मंजरी मातृ-भक्त है; इसी मातृ-प्रेम के कारण वह पारसनाथ के साथ उस समय तक चलने को तैयार नहीं होती जब तक उसकी मृत्यु न हो गई। मृत्यु के पश्चात् वह अनुभव करती है कि उसी मां ने उसके जीवन की गति को रोक रखा था, भीतर से उसकी मनोभावनाओं को गति नहीं मिल रही थी। जब नन्दिनी को पता चलता है कि पारसनाथ का यथार्थ स्वरूप क्या है और उसके जीवन में प्रवंचना घटित हुई तो वह जड़ीभूत हो जाती है—मानसिक घात-प्रतिघात के पश्चात् पुरुष मात्र से घृणा करने लगती है। पात्रों के द्वन्द्वचक्रों के वैश्लेषिक चित्रण की हामी स्वयं जोशी ने भूमिका मे भर ली है; किन्तु ये विश्लेषण अन्य पुरुष शैली अपनाने के कारण अधिकतर जोशी द्वारा ही प्रस्तुत हुए है, यत्र-तत्र पारसनाथ, मंजरी आदि पात्र भी अपनी मनःस्थिति पर मनन और विश्लेषण कर लेते हैं। पात्र द्वारा अन्य पात्रों का विश्लेषण भी इस रचना में उपलब्ध होता है।

वैश्लेपिक पद्धविधि के उपन्यासों में कथा मनोविज्ञान के साथ-साथ दर्शनशास्त्र के प्रश्नों से भी आवृत रहती है। युग द्वारा प्रतिपादित सामूहिक अवचेतन के महत्त्व का सिद्धान्त केवल मात्र मनोविज्ञान की थाती ही नही है, यह स्वयंमेव एक दार्शनिक सिद्धान्त है। सामूहिक अवचेतन जीवन को उचित दिशाओं में परिचालित करता है। इसमें विच्छेद करने वाली वस्तु ही व्यक्ति को समाज से परे ले जाती है; उस वस्तु के हटाने पर ही सामूहिक अवचेतन के साथ जीवन गति में अनुकूलता आती है। व्यक्ति विशेष अपनी

---

३. प्रेत और छाया—पृष्ठ ३१८

स्वाभाविक स्थिति प्राप्त करता है। 'प्रेत और छाया' में सामूहिक अज्ञात चेतन के साथ पारसनाथ तथा मंजरी आदि पात्रों की अन्तश्चेतना का सामंजस्य स्थापित करा कर ही दोनों को स्वस्थ जीवन दृष्टिकोण प्राप्त कराया गया है। वे आत्म कल्याण के साथ-साथ लोक कल्याण के आदर्श जीवन-दर्शन का अवनोदन कथा की इतिश्री में योग दान देते हैं।

'प्रेत और छाया' के पात्र समय-असमय मानसिक चिन्तन में लगे दृष्टिगोचर होते हैं। यह भी युग विशेष की देन है। बौद्धिक युग का वैयक्तिक पात्र कभी सजग होकर मनन करता है, कभी बे सिर पैर की बातें सोचता है। पारसनाथ को ही लें। तरह-तरह की ऊटपटांग, बेसिर-पैर की कल्पनाएं उनके मन और मस्तिष्क को घेरे रहती हैं। ये क्षण में उदय होती हैं और लहर की भांति दूसरे क्षण में विलीन हो जाती हैं। विचित्र-विचित्र से भय, भयंकर भ्रान्तियां और जटिल दुश्चिन्ताएं उसके मस्तिष्क को आच्छादित रखती हैं। पारस मंजरी को यह कहकर चलता है कि डॉक्टरनी को बुलाकर लाया किन्तु मस्तिष्क में उठी तूफानी भावनाएं उस नन्दिनी के घर ले जाती हैं। उसका चेतन उससे एक कार्य कराना चाहता है, किन्तु अवचेतन उसे दूसरी दिशा में ही ले जाकर पटक देता है।

जोशी के उपन्यास साहित्य में नाटकीयता देखने वाले आलोचक भी विद्यमान हैं। एक आलोचक लिखते हैं—"इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' और अन्य उपन्यास 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' मनुष्य के आचरण को उपचेतन मन के प्रभाव से निर्धारित चित्रित करते हैं। यद्यपि अपने सभी उपन्यासों में श्री जोशी ने पात्रों की मानसिक चेष्टाओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण पात्रों द्वारा ही कराया है और यथासम्भव अपने व्यक्तित्व को अलग रखा है और इस प्रकार इन्होंने उपन्यास रचना में नाटकीय शैली को ग्रहण किया है और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।"[४] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक मतानुसार जोशी की रचनाओं में नाटकीयता का सर्वथा अभाव है। प्रमुख रचनाएं अन्तर्जीवन का चित्रण प्रस्तुत करती हैं, इसके लिए विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को अपनाया गया है। 'जहाज का पंछी' समन्वित शिल्प विधि की रचना है जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्रकुमार हिन्दी जगत में जैनेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। जोशी के पश्चात् ये विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के दूसरे प्रमुख कथाकार हैं। इस संबंध में एक आलोचक का कथन पठनीय है—"जैनेन्द्रकुमार हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार हैं जिन्होंने मध्यवर्गीय समाज की नवीन चेतना को मुखरित किया है। उन्होंने व्यक्तित्व को मूलतः व्यक्ति मानकर उसकी भावनाओं को वाणी देने का प्रयास किया है। वे व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करते हुए बाहर से भीतर की ओर आए हैं, सामाजिक समस्याओं के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों का विश्लेषण करने लगे हैं।"[१] वैयक्तिक प्रश्नों का विश्लेषण ही जैनेन्द्र को इष्ट है। ये कथा-निबन्धन (Plot-Treatment) चरित्र सृजन की अपेक्षा अपने

---

४ डॉ० रामअवध द्विवेदी हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा—पृष्ठ २०६

१ डॉ० सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १६६

दृष्टिकोण के प्रति अधिक सचेष्ट एवं आग्रही दीख पड़ते हैं। उपन्यास की विचार प्रधानता की इस प्रवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध आलोचक श्री ग्रेबो लिखते हैं—"स्पष्टतः औपन्यासिक शिल्प में दृष्टिकोण मूल तत्त्व है। कोई दृष्टिकोण अपनाने पर ही कथानक, चरित्र-चित्रण, ध्वनि, वर्णन आदि का रूप एक सीमा तक निश्चित होता है।"[2] जैनेन्द्र में विचारक कथाकार अपने कथात्मक कलाकर से ऊपर उभर आता है। जैनेन्द्र प्रेमचन्द की भांति अपने उपन्यासों में समस्याएं अवश्य उठाते हैं, किन्तु सर्वत्र उनका समाधान देने के लिए रुकते नहीं। उनके मतानुसार इससे औपन्यासिक शिल्प बिगड़ जाता है। वे लिखते हैं—"कहानी लेखक किसी घटना को, सत्य को या भाव को अनुभव करता है। और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में पैठ जाता है। बस, इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई···जहां उसे रोका टेकनीक बिगड़ गई।"[3] इस संबंध में जैनेन्द्र के शिल्प की प्रशंसा करते हुए डॉ० देवराज उपाध्याय ने भी लिखा है—"जैनेन्द्र किसी एक समस्या का समाधान देने का प्रयत्न नहीं करते, इसका कारण यह भी है कि उन्हें असंख्य समस्याएं दीखती हैं, असंख्य प्रश्न, मानो जीवन समस्याओं और प्रश्न-चिह्नों का ही समुदाय हो। इतनी समस्याओं के सुलझाने की आशा कहां तक की जाए।"[4]

अपनी लेखन प्रक्रिया और शिल्प तथा शैली के विषय में पूछे गए मेरे कुछ प्रश्नों का उत्तर आपने इन शब्दों में दिया—"शैली व्यक्तित्व में गर्भित होती है जबकि शिल्प एक सचेत प्रक्रिया है। मेरी ओर से शिल्प यदि एक सचेत प्रक्रिया न भी हो तो भी उपन्यास के गुण में बाधा आने का कारण नहीं है। कम से कम मैं अपने शिल्प के बारे में बेभान हूं। लिखना मेरे लिए मजबूरी रही है। मैं अपनी प्रेरणा से नहीं लिखता हूं, बाहरी विवशता से लिखता हूं। 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध' दोनों प्रति सप्ताह आकाशवाणी से प्रसारित होते थे, तदानुसार एक दिन पहले प्रति सप्ताह उसका परिच्छेद लिखा जाता था। जैसे 'मुक्तिबोध' दस सोमवारों को प्रसारित किया गया। इस तरह पुस्तक के दस परिच्छेद दस रविवारों की प्रातःकाल लिखाए गए। बीच के छः रोज शून्य बीतते थे। दूसरे उपन्यास भी इसी तरह बिखरे ढंग से लिखे गए हैं। 'जयवर्धन' एक बन्धु अपनी हठ से दस मील दूर से लिखने आया करते थे। नौकरी करते थे और रविवार ही उन्हे मिल पाता था। बीच मे कभी-कभी रविवार भी छूट जाता था। ऐसे 'जयवर्धन' का आरम्भ हुआ। इसी बीच लगभग दो मास के लिए मुझे यूरोप प्रवास के लिए जाना पड़ गया। आने पर हठात् फिर सिलसिला शुरू हुआ और इस बार आग्रह रखने वाले दूसरे

---

2. "The point of view, it is apparant, is the fundemental principle of the Technique in the novel structure. By the adoption of one or another point of view, plot, characterization, tone, description are all to some degree determined."

—The Technique of Novel—P. 81

३. साहित्य का श्रेय और प्रेय—पृष्ठ ३५६

४. साहित्य चिन्ता : जैनेन्द्र की उपन्यास कला शीर्षक निबन्ध से अवतरित

ही बन्धु थे, जो लिखते थे। ऐसी हालत में आप ही सोच लें कि शिल्प का क्या होना होगा ?"[१]

सामाजिक व्यवस्था के प्रति असन्तोष, वैयक्तिक विचारणा के प्रति आकर्षण, दार्शनिक प्रश्नों की ऊहा-पोह का विश्लेषण जैनेन्द्र की जानी-पहचानी बातें हैं। 'त्याग-पत्र' का प्रमोद सामाजिक मान्यताओं में अनास्था रखने के कारण त्याग-पत्र देता है। मृणाल वैयक्तिक विचारणा के पोषण के कारण जीवन भर प्रताड़ित रहती है और इनके उपन्यासों के प्राय सभी पात्र दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक प्रश्नों की तलाश में दृष्टिगोचर होते हैं।

परख—१६२६

'परख' की रचना प्रेमचन्द युग में हुई, फिर भी यह तत्कालीन औपन्यासिक शिल्प के अनुसार नहीं लिखा गया। इस रचना में शिल्पगत नवीनता है। इसमें विस्तृत जीवन का वर्णन न करके जीवन की कुछ स्थितियों का विश्लेषण किया गया है। कथा के नाम पर जैनेन्द्र के पास कहने के लिए अधिक नहीं है;-कथा का आपको इतना मोह भी नहीं है, जब लिखने बैठते हैं तो अपना समस्त ध्यान जीवन की विशिष्ट स्थिति (Situation) पर केन्द्रित कर देते हैं, फिर उसी स्थिति से सबंधित अनेक स्थितियों का उदय और विकास होता रहता है, कहानी भी बढ़ती जाती है, किन्तु इसका अधिक श्रेय उपन्यास के पात्रों को मिलता है, वे ही उसे खींचे चले जाते हैं।

'परख' विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत आता है। कट्टो-सत्यधन में प्यार है—यही केन्द्रीय स्थिति है। कथा के पूर्वार्द्ध में इसी स्थिति का विश्लेषण किया गया है। कट्टो बाल विधवा है, सत्यधन आदर्शवादी है, दोनों एक ही ग्राम में पले हैं, साथ-साथ खेले हैं, अत प्रेम हो जाता है। इसी बीच परिस्थिति सत्यधन को गरिमा के निकट ले जाती है—दोनों को लेकर सत्यधन के मन में द्वन्द्व होने लगता है। जैनेन्द्र ने इसका विश्लेषण किया है कथा को पात्रों के हाथ में सौंप दिया है, वे ही विशेष स्थिति एवं अन्य पात्रों का विश्लेषण करते हैं—"फिर वह कट्टो के बारे में सोचने लगा। सोचा, क्या दुखियों के प्रति हम निश्चिन्तों का कोई कर्तव्य नहीं है ? क्या संसार का सारा सुख हथिया लेना अन्याय नहीं है। उनके प्रति जिन्ह उसका कण भी नहीं मिल पाया है ? और कुछ नहीं तो उनके खातिर क्या हम अपना सुख कम नहीं कर सकते ? कट्टो को इसी तरह रहने देकर मैं खुद कैसे विलास-गर्त में डूब सकता हू ?"[१]

पात्रों का मनन और विश्लेषण विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपन्यासकार कुछ कहता ही नहीं। अपनी ओर से कुछ कहने का अधिकार नाटक में नाटककार को भले ही न हो, किन्तु यह अधिकार उपन्यास में उपन्यासकार को प्राप्त है कि वह अपनी ओर से कुछ कहे। जैनेन्द्र ने भी कहीं-कहीं दार्शनिकों की-सी टिप्पणियां दी हैं। 'परख' में आप लिखते हैं—'पुरुष

१ श्री जैनेन्द्र से भेंट-वार्ता दिनांक २६-५-६८

१ परख—पृष्ठ २०

बनाता है, विधाता बिगाड़ देता है,—अंग्रेजो की एक कहावत है। संशोधन कर यह भी कहा जा सकता है—पुरुष बनाता है, स्त्री बिगाड़ देती है। तब भी कहावत में कम तथ्य या कम रस नहीं रहता। बात वास्तव मे यह है कि पुरुष कम बनाता है या बिगाड़ता है। इसी तरह पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाडत जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है, स्त्री ही है। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को कुटुम्ब को बनाती है, जाति और देश को भी, मैं कहता हूं स्त्री ही बनाती है। फिर इन्हें बिगाड़ती भी वही है।"[२] यह टिप्पणी देकर जैनेन्द्र ने इसे 'परख' के नायक सत्यधन पर लागू किया है। कट्टो और गरिमा के मध्य भटक रहे सत्यधन की स्थिति को स्पष्ट किया है।

विश्लेषणात्मक-विधि के उपन्यासों मे कथाकार को बहिर्जीवन की अपेक्षा अन्तर्जीवन में डुबकी लगाने की आवश्यकता रहती है। 'परख' में जैनेन्द्र ने भीतर की ओर झांका है और जो कथा के भीतर है उसे बाहर लाए है, केवल भीतर डूबकर नहीं रह गए। डॉ० रामरत्न भटनागर के शब्दों में जैनेन्द्र "भीतर डूबकर रह गए है, बाहरी अथवा सामाजिक स्थितियों का इंगित मात्र किया है।"[३] मेरे मतानुसार जैनेन्द्र ने भीतर की झांकी अवश्य ली है, किन्तु वे उसमें लीन होकर नही रह गए, अपितु जो भीतर है उसे बाहर लाए है। उन्होने सामाजिक स्थितियों की ओर संकेत ही नहीं किया, है अपितु उनका विश्लेषण भी किया है। हां उनकी व्याख्या में वे नहीं पड़े क्योंकि इस शिल्प के उपन्यासों में यह संभव नहीं है। जैनेन्द्र ने प्रेम की स्थिति और विवाह की समस्या जैसे व्यापक सामाजिक प्रश्न को वैयक्तिक धरातल पर उभारा है। भगवदयाल के पत्र में प्रेम और विवाह की सीमाएं बताई हैं। स्पर्धा और श्रद्धा, ईर्ष्या और अर्चना जैसे प्रतिद्वन्द्वी भावों को एक आकर्षण तले मिलाया है। कुछ आलोचक इसे अति आदर्श या अमनोवैज्ञानिक कहें तो कहें, किन्तु जीवन में यह स्थिति भी संभव है और 'परख' में ऐसी स्थिति को गरिमा सत्यधन के विवाह अवसर पर दर्शाय गया है।

विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में चरित्रों की रूपात्मक और व्यापारात्मक व्याख्या नहीं होती, अपितु उनका चरित्र विषयक विश्लेषण होता है। गरिमा के चरित्र को ही ले। गरिमा में अहं संबंधी प्रवृत्तियां (Egoistic tendencies) विद्यमान है—"वह गंवार छोकरी मेरा मुकाबला करेगी—मेरा? यह भाव उसे दिन-रात सुलगाए रहने लगा।"—आगे जैनेन्द्र ने गरिमा के अहं का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अहं जनित ईर्ष्या और स्पर्द्धा की बात उठाई है। जब उसका भाई बिहारी कहता है—"हम-वह बंध गए हैं, मैने विवाह किया है" तब गरिमा की चरित्रगत स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है—"इसके लिए गरिमा तैयार नहीं थी। यह सौभाग्यतया कट्टो के योग्य है? कट्टो को प्यार तो करेगी—करती, पर यह एकदम इतना सौभाग्य! कट्टो ने यह अपनी योग्यता से कमाया नही है, निस्संशय छल से प्राप्त कर लिया है—इतनी उसकी स्पर्द्धा।"[४]

---

२. 'परख'—पृष्ठ ४०

३. जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ ५३

४. परख—पृष्ठ ८०

गरिमा का यह भाव उसे पहचानने नहीं देता कि स्पर्द्धा किस पात्र में है? हाँ पाठक पहचान जाता है। वह कट्टो थी, त्यागमयी आदर्श कट्टो का पक्ष चुका है। आगे चलकर गरिमा भी उसे पहचान लेती है—"यह कट्टो ऐसी बात करती है कि कहीं से बचने की राह ही नहीं छोड़ती। सवाल भी करती है, और जवाब भी अपने ही आप दे देती है, जिसमें नहीं करने का मौका नहीं रहता। गरिमा इसकी यही बात देख-देखकर अचरज कर रही है। गरिमा से जो चाहे करवा लेती है और हर बात में अपनी ही चलाती है, पर ऐसे ढंग से कि कुछ कहते नहीं बनता, बिल्कुल अखरता ही नहीं।"[5] "कट्टो का छोटा बनना भाता है और जिसे छोटा बनना भाता है, उसे प्यार पाना भाता है, जब इस तरह पीछे पड़ जाती है तो कट्टो का प्यार न देना कठिन हो जाता है।"[6]

सत्यधन, कट्टो और बिहारी तीन प्रमुख पात्र हैं, तीनों ही वैयक्तिक हैं। सत्यधन जिस आदर्श की नींव पर जीवन आरम्भ करता है परिस्थितियों के फेर में पड़कर बिहारी पर्यन्त उनपर अडिग नहीं रह पाता, अस्थिरता से उसे मोह हो जाता है, गरिमा के पिता भावी श्वसुर की मृत्यु और वसीयत पर वह क्षुब्ध हो उठता है, कट्टो के कहने पर उभरता है। कट्टो इस उपन्यास की केन्द्रस्थ पात्र है जिसकी धुरी पर कथा घूमती है, पात्र भी घूमते हैं। परिस्थिति अनुकूल वह केवल अपने को ही नहीं मोड़ लेती, अपितु गरिमा, बिहारी और सत्यधन को भी बदल डालती है। कट्टो अन्तर में ही नहीं डूबी रहती, बाहर की परिस्थितियों और पात्रों का जीवन चर्या के साथ साथ घूमती है।

पात्र आत्मलीन ही नहीं हैं, दूसरे के मन की गाँठ भी खोल रहे हैं। बिहारी विनोदप्रिय साधारण सा लगने वाला पात्र सूक्ष्म-द्रष्टा है। वह सत्यधन की अन्तश्चेतना में छिपी समस्त कामनाओं का निरूपण इन पंक्तियों में कर डालता है—"मैं तो यही कहूँगा कि तुम आत्म प्रवंचना करते हो, और उसके साथ चलने वाली जो अन्तिम ग्लानि है उसे अपनी पा आर बाबूजी और गरिमा की ओर देखकर बचा जाना चाहते हो, सो नहीं होगा, सत्य।"[7] वास्तव में सत्यधन का आदर्शवाद, विधवा कट्टो के प्रति आसक्ति, आत्मप्रवंचनामात्र है। वह दूसरों की ओट चाहता है भगवद्दयाल के पत्र को पाकर इतना प्रसन्न होता है कि मानो स्वर्ग का राज्य मिला हो। इस पत्र की आड़ में ही वह परिवर्तित रूप अपनाता है। इसके चरित्र में गति आती है। सत्यधन का चरित्र गत्यात्मक (Dynamic) है।

'परख' में पाठक को किसी प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक या सांस्कृतिक आन्दोलन का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। यह वर्णनात्मकता से प्रयाण की सूचना है। इसकी इस शिल्पगत योजना पर टिप्पणी करते हुए एक आलोचक ने कहा है—'परख' मात्र हृदय का उद्गार है। दार्शनिक चिन्तन के सूत्र मिलते हैं किन्तु उनकी दृष्टि लाघव भी सकती है। चरित्र चित्रण गूढ़ता और जटिलता से शून्य है।'[8] 'परख' की भाव-प्रवणता

५ परख—पृष्ठ ५२
६ वही—पृष्ठ ८६-८९
७ वही—पृष्ठ ४८
८ रघुनाथशरण झालानी : जैनेन्द्र और उनके उपन्यास—पृष्ठ ५४

को स्वयं जैनेन्द्र स्वीकार करते हैं—"परख में क्या श्रेय है और क्या प्रेय है—इसके उत्तर में मुझे निश्चय है कि साहित्य का अध्यापक और विद्यार्थी अत्यन्त प्रमाणिक रूप में बहुत कुछ कह सकेगा। पर मैं इतना जानता हूं कि उसके सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है। और कट्टो वह है जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था।"[१] मैं समझता हूं कि भाव-प्रवणता के आधिक्य के कारण कोई रचना शिल्पगत महत्त्व नहीं खो देती। 'परख' में जैनेन्द्र ने अपने पात्रों के मनोभावों को सूक्ष्मता के साथ देखा-परखा है। उनके मनोजगत का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके कौशलपूर्ण चित्रण किया है। पात्रों के मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति पाठकीय आकर्षण रखती है। कट्टो विधवा है। यदि यह पात्र प्रेमचन्द द्वारा निर्मित होता तो वर्णनात्मक विधि द्वारा चित्रित होकर उसके सामाजिक रूप को अभि-व्यक्त करता, समस्या की व्याख्या पाता किन्तु जैनेन्द्र के हाथों उसके मनस्तत्त्व का विश्ले-षण हुआ है। जोशी-रचित 'लज्जा' की तुलना में इसमें एक शिल्प एवं शैलीगत अभाव दृष्टिगोचर होता है। जहां पर जोशी विश्लेषणात्मक विधि को अपनाकर पात्रों का स्वतंत्र विकास करते है और उन्हें ही एक दूसरे के विश्लेषण की पूर्ण सुविधा देते हैं, वहां जैनेन्द्र 'परख' में उनके स्थलों पर पाठक को सम्बोधित करते हैं जैसे पृष्ठ १४, २०, १२८ पर वे कथा मे हस्तक्षेप करते हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा में भी इस त्रुटि का आधिक्य है।

सुनीता—१९३५

जैनेन्द्र की सुनीता विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस उपन्यास की कथा विस्तृत न होकर सीमित रही है, अतः छोटे कैन्वास पर कुल पांच पात्रों में भी तीन ही प्रमुख हैं—श्रीकान्त, उनकी पत्नी सुनीता और क्रान्तिकारी मित्र हरि-प्रसन्न। इस उपन्यास की कथा इकहरी है।

कथा की गति अतीत की घटनाओं के रेखाचित्र द्वारा प्रस्फुटित हुई है। कथाकार को समस्त घटनाओं का विवरण देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। उसने तो उस कथा में श्रीकान्त, हरिप्रसन्न और सुनीता से सबंधित जीवन की कुछ स्थितियों को पकड़ा है और उनका विश्लेषण मात्र प्रस्तुत कर दिया है। पहली स्थिति सुनीता-श्रीकान्त के वैवा-हिक जीवन की दुरूहता से संबंधित है। तीन वर्ष के वैवाहिक जीवन में दोनों एक प्रकार की घुटन की अनुभूति करते है और प्रयाग की यात्रा कर भीतर से बाहर आने पर इस घुटन की दूरी अनुभव करते हैं। इसमे हमें एक अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का परिचय मिलता है।

श्रीकान्त के रूप में एक चरित्र का पूरा विवरण नही है अपितु जीवन की एक विशेष स्थिति का विश्लेषण है। श्रीकान्त के मन में एक अभाव खटकता है, जिसके कारण वह सन्तुष्ट नहीं है, जीवन का माधुर्य (पत्नी-संसर्ग) भी इस अभाव की पूर्ति करने में असमर्थ है, अतएव वह अपने जीवन में आए प्रिय मित्र हरिप्रसन्न के साहचर्य की कामना

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय—पृष्ठ १३

करता है। इस कामना की पूर्ति के लिए दोनों का मिलाप अनायास ही करा दिया गया है। दोनों के मिलाप पर ही कथा की प्रगति और जीवन की दूसरी स्थिति (दो मित्रों के बीच विवाहित पत्नी की स्थिति) का विश्लेषण सम्भव हो सका है। एक स्थल पर सुनीता बेकाम स्टेडी रूम को साफ करने में लगी है कि इतने में हरिप्रसन्न के साथ श्रीकान्त कमरे में प्रवेश करता है, दूसरे स्थल पर सुनीता अकेली बैठी है कि ऐसे में हरिप्रसन्न आ जाता है। 'वह नहीं हैं, गए हैं'—इस संक्षिप्त उत्तर पर ठिठक जाता है। फिर दोनों में वार्तालाप होता है और लेखक लिखता है—"सुनीता चुप हो गई। हरि भी चुप रहा। वह अपने आपको अद्भुत मालूम हो रहा था।"[1]

इस प्रकार की स्थितियाँ जीवन में नई नहीं हैं, किन्तु इनका औपन्यासिक रूप अवश्य नया है। जैनेन्द्र ने 'सुनीता' में कथा, पात्र, संवाद और शैली को प्रस्तुत किया है। कथा में व्यापकता के स्थान पर गहनता है क्योंकि वह विश्लेषणात्मक विधि द्वारा संयोजित होती हुई तीव्र गति से उद्देश्य की ओर अग्रसर हुई है। कथा शृंखला बीच में टूट गई है क्योंकि जीवन की कुछ स्थितियों का विश्लेषण ही कथाकार का ध्येय रहा है। उदाहरणतः सत्या की कथा बीच में आ आकर अनेक बार टूटी है। हरिप्रसन्न को ठीक मार्ग पर लाने तथा स्वाभाविक रूप से जीवन-यापन करने का दायित्व सुनीता को सौंपा गया है। सत्या इसी सुनीता की छोटी बहन है और हरिप्रसन्न के लिए तैयार करने के उद्देश्य से लाई गई है, किन्तु कथा के मध्य में वह एक लम्बे समय के लिए मुख्य कथानक से परे हटा दी गई है, केवल श्रीकान्त को अपने घर रोके रखने के लिए अन्त में हमारे सामने आती है, वह भी अधूरी-सी, विचलित-सी। इस शृंखला को तोड़ने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक लिखते हैं—"असल जैनेन्द्र के उपन्यासों में कथा शृंखला टूटी-सी, कथा भाग में बड़े बड़े रिक्त स्थान (gaps) हैं इसका एक मनोवैज्ञानिक आधार है कि पाठक का क्रियाशील मानस व्यापार इन खण्डों में भी पूर्णता देख सका है।"[2]

विश्लेषण के दो रूप हैं—दार्शनिक विश्लेषण तथा मनोविश्लेषण। 'सुनीता' में जैनेन्द्र ने प्रथम रूप को प्राथमिकता दी है। 'सुनीता' की कथा को दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर गति दी गई है। कथा के बीच में आ आकर जैनेन्द्र अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए आगे बढ़े हैं। वर्णनात्मक उपन्यासों में लेखक किसी भी घटना, पात्र अथवा दृश्य का विस्तृत वर्णन करके कथा को गति देता है, तब कथा कुछ समय के लिए दूरवर्ती होती जाती है, ठीक ऐसे ही विश्लेषणात्मक उपन्यासों में होता है। 'सुनीता' में दो उदाहरण दिए जाते हैं—"जीवन के दो ढंग हैं, एक तो यह कि बहुत सोचते-विचारते हुए चला जाए। दूसरे यह कि अपने सहज भाव से चलते जाया जाए, सोच विचार की पोट कम से कम बाधकर अपने पास रखी जाए। अंग्रेजी का एक शब्द है, सेल्फ कॉन्शस। अपने संबंध में जब हमारी चेतना हमारे भीतर रमी हुई, समाई हुई नहीं रहती, तब पृथक पिण्ड की भांति कॉम्प्लेक्स' गांठ-सी बनी भीतर अनसमाई सी छलकती-उछलती रहती

---

1 सुनीता—पृष्ठ ६६
2 डॉ० देवराज आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पृष्ठ १४०

है, तब आदमी को चैन नहीं पड़ता। मनुष्य नामक प्राणी में सोच-विचार का सिलसिला यों तो किस क्षण टूटता है, वह तो चलता ही रहता है। किन्तु उस सोच-विचार में मनुष्य का अहं बहुत मिला रहे तो गड़बड़ होती है। उसी को कहते है सेल्फ कॉन्शस। इस स्थिति में मनुष्य के व्यवहार का सरल भाव नष्ट हो जाता है।"[3] आगे चलकर अगले ही पृष्ठ पर कथाकार लिखता है—"हम कहते हैं पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई। वह ठीक है। वे तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग से बने नाना संबंधों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं। किन्तु सर्वत्र कुछ बात तो सम-भाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनों में परस्पर दीखता है आंशिक समर्पण, आंशिक स्पर्धा···? लेकिन हम कहानी कहें"[4]—इस पंक्ति के साथ-साथ पुनः कथा कही गई है।

कथा में जीवन की तीसरी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए श्रीकान्त को मुख्य कैन्वास से परे हटा दिया गया है। वह एक केस की ओट में लाहौर चला जाता है। यहीं आस्तिकता का प्रचार करने के हेतु जैनेन्द्र ने हरिप्रसन्न सुनीता संवाद की योजना की है। हरि बंध कर रहना नहीं चाहता। सुनीता अपने पति की इच्छा पूर्ति हित उसे बांध कर रखने के साधन जुटाती है। सुनीता कहती है—"देखो, तुम भागते हो तो भागो। लेकिन अपने से कहां भागो?···भागना तो नरक से भी ठीक नहीं। क्योंकि नरक का भय फिर तुम पर सवार ही रहेगा। इससे आओ हरिप्रसन्न, हम दोनों परमात्मा का विश्वास पाएं और उसकी प्रार्थना में से बल पाएं।"[5] उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र की संवाद योजना भी विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि अनुकूल हुई है। इसमें विवरण देकर लम्बे सम्भाषणों की योजना नहीं जुटाई गई, अपितु संकेत देकर दार्शनिक तथ्यों तथा सिद्धान्तों का विश्लेपण उपलब्ध होता है। यह उपन्यास प्रश्नों की जिज्ञासा में पल्लवित हुआ है।

जैनेन्द्र की पात्र योजना के विषय में एक आलोचक लिखते है—"जैनेन्द्र के उपन्यास-पात्र बहुल नहीं है। थोड़े से चरित्रो को लेकर वे चले है। मुख्य चरित्र तीन-चार से अधिक नही हैं, शेष पद पूर्ति के लिए है। फलस्वरूप यहां प्रेमचन्द के उपन्यासों जैसी भीड़ नहीं है। पूरक चरित्रों का तो पूरा परिचय भी हमें नहीं मिलता।"[6] यह एक ऐसा तथ्य है जिसे सभी स्वीकार करेंगे। जैनेन्द्र के उपन्यास विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के हैं अतः उनमें पात्रों की अधिकता तथा जीवन का ब्यौरा ढूंढना व्यर्थ है, वे तो चरित्र की विशेष स्थिति का उद्‌घाटन करते है। पात्र को विशेष परिस्थिति में उभारते है और उनकी व्याख्या करने की बजाय विश्लेपण करते है।

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में व्यक्ति को समाज के माध्यम से प्रस्तुत

---

३. सुनीता—पृष्ठ १३५
४. वही—पृष्ठ १३६-१३७
५. वही — पृष्ठ १६८
६. डॉ० रामरत्न भटनागर : जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा—पृष्ठ १७०

नहीं किया जाता। यहां तो वैयक्तिक चरित्रों की उद्भावना हुआ करती है। 'सुनीता' में सुनीता, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न प्रमुख पात्र हैं। तीनों ही वैयक्तिक चरित्र हैं। इनकी अपनी विशिष्ट सीमाएं हैं। सुनीता के द्वंद्वस्थ चरित्र है। पति के रूप में श्रीकान्त और प्रेमी के रूप में हरिप्रसन्न दोनों का क्रमशः झुकाव इसकी ओर हुआ है, किन्तु यह खुली कहां है? सदैव सिमटी रही है। कर्तव्य-परायणता और जीवन में यम नियम आदि पालन को ही उसने पूर्ण महत्त्व दिया है। विश्व की ओर से निश्चिन्त वह अन्तर्मुखी बन घर की सीमा में आबद्ध रही है, किन्तु हरिप्रसन्न का सामीप्य उसकी वैयक्तिक प्रवृत्तियों को उभार कर उसे भीतर से बाहर ले आने में सहायक सिद्ध हुआ है। सुनीता आत्मरत रहना नहीं चाहती, परिवार की सीमा को लांघना चाहती है, क्योंकि गृहस्थी में वह न स्फूर्ति पाती है न रस। उसके जीवन में फीकापन है। मनन और विश्लेषण की प्रतिभा उसमें उभर आती है—"किन्तु सच परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है? क्या मैं इसी में बंधूं? क्या इसे तोड़कर, लांघकर, एक बड़े हित में खो जाने को मैं न बढ़ूं? उस विस्तृत हित के लिए जिऊं, उसी के लिए मरूं तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है?"[7] इसी विश्लेषण की दिशा में उसके चरित्र का विकास होता है, वह घर की सीमा से बाहर निकलती है। बाहर निकलकर कभी वह हरिप्रसन्न की जांघ पर लेटती है, कभी उसे अपना नग्न रूप दिखाने को आतुर हो उठती है।

हरिप्रसन्न के चरित्र में मनोविश्लेषणात्मक प्रयोग प्राप्य है। श्रीकान्त-सुनीता दाम्पत्य जीवन को वह देखता है, परखता और अनुभव करने लगता है। धीरे-धीरे उसका अपना विश्वास डगमगा उठता है। उसका चित्त एक प्रकार के भय और आशंका तले दबने लगता है। क्या वह गिर रहा है? क्या दमित काम वासनाएं उभर रही हैं? जैनेन्द्र उसके चरित्र का विश्लेषण करते हुए स्वयं कथा में लिखते हैं—"हरि का चित्त मानो एक प्रकार की व्यर्थता के नीचे संकुचित हो रहता है। संकुचन में से ही अहंकार का उदय है, भय की भीति है। मानो कुछ उसके भीतर से व्यंग्य करता हुआ उठता है—क्यों, तू अविजित है? तू जयी है? अरे तू तो अधम है, अधम है।"[8] क्रान्तिकारी हिंसा मार्ग का अवलम्बी हरिप्रसन्न असहाय उद्दण्ड और अतृप्त काम का शिकार है।

मेरी दृष्टि में हरिप्रसन्न का चरित्र भी वैयक्तिक है, एक क्रान्तिकारी का प्रतीक नहीं। परिस्थिति अनुकूल उसने अपने को मोड़ा है। सुनीता-श्रीकान्त दाम्पत्य का सामीप्य पाकर वह अधिक संकुचित हो उठा है। इससे पूर्व वह जहां भी गया है अपने को फैलाता रहा है, यहां के वातावरण में संकुचित, लज्जाशील और चिन्तित हो उठा है। श्रीकान्त के घर हटते ही पुनः उसने अपने को फैला लिया है जिसके कारण दूसरा चरित्र (सुनीता) भी फैला है। सुनीता ने तो अपने ऊपर से अपना अधिकार ही खो दिया है। वह सुनीता को सिनेमा ले जाता है। मानो संसार को दिखाने के लिए। सुनीता के सान्निध्य में उसकी इन्द्रियों को अद्भुत उन्माद और तृप्ति की अनुभूति होती है। हरिप्रसन्न परास्त यह

७ सुनीता—पृष्ठ १९०

८ वहीं—पृष्ठ १२६

की ग्रन्थि से ग्रस्त पात्र है। उसके आचरण हिंसक एव उग्र हे।

'सुनीता' के पात्रो के यथार्थ रूप को जानने के लिए पाठक को बुद्धि पर अधिक बल देना पड़ता है। उनमे शिथिलता नही है, कसावट है। पात्रों को कठिन से कठिन परीक्षा स्थली पर छोड़कर भी जैनेन्द्र ने उन्हें संभाल ही लिया है हरिप्रसन्न एकान्त स्थल पर सुनीता से समूची नारी की मांग करता है, किन्तु उसके उस रूप को देख भर लेने का सामर्थ्य उसमें नहीं रह जाता, चरित्रगत दृढ़ता लौट आती है श्रीकान्त आवश्यकता से अधिक उदार होने पर भी मानवीय दुर्बलता से ओत-प्रोत है, जिस पथ पर सुनीता को अग्रसर होने का आदेश देता, उसे उसी पथ पर बढ़ते देख रात को मकान पर ताला देखते ही दो मिनट को स्तब्ध रह जाता है, किन्तु प्रातः ही जीवनगत स्वाभाविकता उसमें लौट आती है, दाम्पत्य प्रेम का प्रवाह वह उठता है। ऐसे ही आनन्दमय वातावरण मे उपन्यास का अन्त दिखाया है।

त्यागपत्र—१९३६

'परख' और 'सुनीता' के पश्चात् 'त्याग पत्र' में एक शैलीगत परिवर्तन दृष्टिगत होता है। यह पात्रमुखोद्गीरित आत्म कथात्मक शैली मे लिखा गया है। इसमें प्रमोद और उसकी बुआ मृणाल के मनःसंताप का विश्लेषण हुआ है। आरम्भ पूर्व-दीप्ति-विधि (Flash-back Technique) के आधार पर हुआ है। नायक प्रमोद स्वयं उपन्यास मंच पर आकर कथा सूत्र को पकड़ता हुआ अपने अन्तर्मन की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति और आत्म विगर्हणा के भावों का विश्लेषण करता है—"नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूं, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूं। पर उस तराजू की मर्यादा भी जानता हूं। इसलिए कहता हूं कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जाने। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थी, यह भी कहनेवाला मैं कौन हूं! पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आंसू बहाता है।···उन बुआ की याद जैसे मेरे सब कुछ को खट्टा बना देती है। क्या वह याद अब मुझे चैन लेने देगी···याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"[1] इतना कहते ही प्रमोद अपने अतीत की कथा विश्लेपणात्मक-शिल्पविधि द्वारा प्रस्तुत करता है। पूर्व-दीप्ति का प्रयोग 'परख' और 'सुनीता' में नहीं हुआ, इसीलिए मैंने 'त्याग-पत्र' में शैलीगत परिवर्तन बताया है। 'त्याग-पत्र' का यह आरम्भ जोशी रचित 'लज्जा'—१९२९ के आरम्भिक पूर्व-दीप्ति विधि पर आधारित विश्लेपण से मिलता-जुलता है।

मृणाल की कथा प्रमोद के मर्म के अन्तरतम प्रदेश पर छा चुकी है, अतः उसके अन्तर से बाहर आने को आकुल है। कथा प्रवाह की इस विधि के संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"जैनेन्द्र ने भी कथा प्रवाह की वर्णनात्मक कथ्यक्कड़ी प्रवृत्ति को, बहिर्मुखी प्रवृत्ति को, स्थूल प्रवृत्ति को मोड़कर दूसरी ओर अग्रसर करने की चेष्टा की है। जैनेन्द्र वर्णनात्मक से अधिक गवेषणात्मक है, उनकी वृत्ति बाहर के प्रसार से अधिक अन्तर की

१. त्यागपत्र—पृष्ठ ९

गहराई की ओर है, स्थूल से अधिक सूक्ष्म है। दूसरे शब्दों में वे मनोवैज्ञानिक कथाकार हैं।"[2] प्रस्तुत प्रबन्धकार के मतानुसार जैनेन्द्र मनोवैज्ञानिक कथाकार तो हैं, पर वे मन के भीतर डुबकी लगाकर ही नहीं रह जाते। वे तो उसे बाहर लाने का सतत प्रयत्न करते हैं जो भीतर ही भीतर मानवीय चेतना को द्वन्द्वात्मक स्थिति में रखकर कुरेदता रहता है। प्रमोद अपनी शैशवकालीन स्मृति का विश्लेषण इन शब्दों में करता है—"मैं आठवीं क्लास में पढ़ता था। तब मैं क्या समझता हूंगा, क्या नहीं समझता हूंगा। फिर भी यह बातें मुझे बिलकुल अच्छी नहीं मालूम हो रही थीं। जी में कुछ बेमतलब गुस्सा चढ़ता आता था। जी होता था कि वहीं के वहीं कोई दुस्सह अभिनय कर डालूं। ऐसे भाव की कोई वजह न थी, पर बाबूजी की कुछ दबी हुई स्थिति की झलक उनके चेहरे पर देखकर बड़ी खीझ मालूम हो रही थी। पर जाने मुझे क्या चीज रोक रही थी कि मैं फट नहीं पड़ा।"[3] प्रमोद मृणाल का भतीजा ही नहीं है, बाल सखा भी है, अतः घर और बाहर, रात और दिन उसकी गति विधि का अन्वेषण और विश्लेषण करता रहता है। उसकी स्थिति उसे अनेक बार विचलित करती है। वह विद्रोह पथ अपनाना चाहता है, किन्तु मृणाल उसे ऐसा करने से रोकती है। वह मृणाल को प्रगल्भ, घृणीय मानकर भी उसके आगे अपने को अवश पाता है। और उसके स्नेह के सूत्र में बंधा है।

मृणाल का व्यक्तित्व उपन्यास की शक्ति है, आत्मा है। जैनेन्द्र का समस्त औपन्यासिक कौशल उसका निर्माण करने में लग गया है। हम उपन्यास की कथा को भूल सकते हैं, मृणाल के चरित्र को भुलाना हमारे वश की बात नहीं। इसके चारित्रिक प्रभुत्व पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक लिखते हैं—पूरे उपन्यास में मृणाल का चरित्र, अपने असाधारण संकटों के कारण, पाठक की दृष्टि को आकर्षित करता है। मृणाल के चरित्र में उस प्रकार का हल्कापन कहीं नहीं है, जिस प्रकार का हल्कापन जैनेन्द्र के अन्य कतिपय नारी पात्रों में मिलता है। जैनेन्द्र के अन्य नारी पात्रों में पति की उपेक्षा करके पर-पुरुष के प्रति जो एक प्रच्छन्न आकर्षण मिलता है, वह भी इस उपन्यास की नायिका मृणाल में व्यक्त नहीं है। जैनेन्द्र ने बड़े कौशल के साथ उसे एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरुष से संबंधित किया है। पर यहां वेदना के आधिक्य के कारण पाठक की संवेदना मृणाल को ही मिलती है। इसे हम जैनेन्द्र का रचनात्मक कौशल कह सकते हैं।"[4] मृणाल के मन में विशिष्ट अन्तर्द्वन्द्व है। वह परस्पर विरोधी खिंचावों के भीतर जीवन-यापन करती है। इसका चरित्र वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर उपन्यास की कथा घूमती है। यह चरित्र पर्याप्त लचीला (Flexible) है। उपन्यासकार ने इसके द्वारा पत्नीत्व की नई व्याख्या प्रस्तुत की है। उसके मतानुसार आदर्श नारीत्व अथवा पत्नीत्व एक पति से बंध जाने में नहीं है। पति से विछिन्न रहकर सतीत्व की रक्षा करने

---

२ डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृष्ठ १४२

३ त्याग-पत्र—पृष्ठ ४०

४ नन्ददुलारे आचार्य वाजपेयी नया साहित्य : नये प्रश्न—पृष्ठ १६६

में भी नहीं है, अपितु आत्म-पीड़न में है। सज्जनता या दुर्जनता वाह्य-व्यवहार में ही नहीं मानस के अन्तर्जीवन में निवास करती है। प्रमोद को लिखे अन्तिम पत्र में मृणाल यह उद्घाटित करती है कि दुर्जन से दुर्जन व्यक्ति की अन्तश्चेतना में भी दूध सी श्वेत सद्-भावना का स्रोत भरा रहता है।

प्रमोद का चरित्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसके द्वारा लेखक की दार्शनिक विचारधारा का स्रोत फूट पड़ा है। उसने अनेक स्थलों पर सामाजिक विषमता, वैयक्तिक कुण्ठा और नैतिक प्रश्नों का विश्लेषण किया है। इस दृष्टि से यह कथावाहक पात्र है। कथा का सूत्र उपन्यासकार ने इसी पात्र को सौंप दिया है। 'त्याग-पत्र' की शैली में वक्रता और तीखापन है। इस संबंध में एक आलोचक के ये विचार पठनीय है—"मृणाल में असाधारणता है। जीवन में सदा नकार पाते रहकर भी उसका मन अतिशय संवेदनशील हो गया है। ऐसी स्थिति मे चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। मृणाल के साथ यह स्थिति विवशता के अतिरिक्त चुनौती भी हो सकती है। जैनेन्द्र की शैली सचेत है, जागरूक है। सर एम० दयाल का जजी से त्याग पत्र उपन्यास शिल्पी का अद्भुत कौशल है।"[५]

कल्याणी—१९३८

'कल्याणी' की रचना 'त्याग पत्र' के शिल्प (Pattern) पर हुई है। यह विश्ले-षणात्मक शिल्प-विधि में लिखा गया आत्मकथात्मक शैली का उपन्यास है। इसमें कल्याणी नामक नारी की करुण गाथा का विश्लेषण वकील साहब द्वारा संयोजित हुआ है। आरम्भ में पूर्व-दीप्ति विधि (*Flash-back Tachnique*) देखी जा सकती है। वकील साहब के अति निकट कुछ ऐसा घटित होता है जो उनके मानस के अन्तर्मन प्रदेश को छू गया है। उसका विश्लेषण वे इन शब्दों मे करते हैं—"जब कभी उधर से निकलता हूं। मन उदास हो जाता है। कोशिश तो करता हूं कि फिर उधर जाऊं ही क्यों? लेकिन बेकार। सच बात यह है कि अगर मैं इस तरह एक-एक राह मूंदता चलूं तो फिर खुली रहने के लिए दिशा किधर और कौन शेष रह जाएगी! यों सब रूक जाएगा। पर रुकना नाम जिन्दगी नहीं है। ज़िन्दगी नाम चलने का है।"[१] कल्याणी की मृत्यु पर उसके घर को देखकर वकील साहब (कथा वाहक) के मानस में अद्भुत विचारों का प्रवाह मनो-वैज्ञानिक है। यह विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास की विशेषता कही जावेगी।

मनोद्वन्द्व का सफल निर्वाह इस विधि के उपन्यास की कसौटी है। कल्याणी के मन का द्वन्द्व अति तीव्र एवं भयावह है। उसका वाह्य जीवन उपन्यासकार के लिए इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना आंतरिक संघर्ष। इस संबंध में एक आलोचक लिखते है—"मनोविश्लेषणवादियों की दृष्टि मे मनुष्य की अन्तस्थ और अज्ञात प्रवृत्तियां ही सब कुछ होती है।···मनोवैज्ञानिक उपन्यास हमारी चेतना के उस स्तर पर अपना कारबार छानना पसन्द करेगा जहां की धारा एकदम अस्पष्ट होती है, लचीली होती है, असंगठित

---

५. डॉ० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति—पृष्ठ १४०-१४१

१. कल्याणी—पृष्ठ ९

होता है और जिन्हें शब्दों के माध्यम से प्रगट करना कठिन होता है।"[1] इस कारण 'कल्याणी' में अनेक स्थलों पर दुर्बोधता, अस्पष्टता, जटिलता और असम्बद्धता दृष्टिगोचर होती है। ऐसे प्रसंगों का साधारण वर्णन करने की अपेक्षा विश्लेषण ही किया गया है। इन पर प्रकाश डालने के लिए उपन्यासकार परोक्ष में चला जाता है। वकील साहब और कल्याणी द्वारा कथा में मार्मिक प्रसंगों का विश्लेषण एवं चित्रण हुआ है। भटनागर से संबंधित कथा का अधिकांश कल्याणी कहती है, कल्याणी की समस्त कथा वकील साहब द्वारा कथित है। कथाकार के परोक्ष में चले जाने की आवश्यकता के विषय में एक विद्वान् कहते हैं—"मनोवैज्ञानिक उपन्यास में उपन्यासकार को अपना अस्तित्व जहाँ तक हो सके हटा लेना पड़ता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्ति नहीं रहता, विशुद्ध मानसिक वातावरण ही रहता है।"[2] कल्याणी में कथाकार तो परोक्ष में चला ही गया, पात्रों के स्थान पर, उनके बाह्य चित्रण के स्थान पर मानसिकता ही उभर आई है।

कल्याणी मानसिक रूप से अस्त-व्यस्त, अशान्त, क्षुब्ध और करुण है। उसके अवचेतन में हाहाकार है, द्वन्द्व है जिसे वह खुलकर किसी पर प्रकट करना भी नहीं चाहती। डॉ० असारी के सामाजिक आडम्बर और आभिजात्य वर्गीय स्थिति के कारण ऐसा कठिन है। वह हैल्यूसिनेशन से आक्रान्त होकर मतिभ्रमात्मक (Hallucinatory) प्रतिमाओं का उत्पन्न करती है। गर्भिणी स्त्री की पति द्वारा हत्या प्रतीकात्मक स्वप्न योजना है जो इस उपन्यास में कल्याणी की मानसिकता का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। मिस प्रीमियर के साथ सयोग प्राप्त करने में असमर्थ, विवाहित नारी के रूप में पति परायण होने में विवश, मनोवेदना से आकुल इस नारी का निधन ही मानो इसकी शांति का मात्र उपाय है। 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की कल्याणी के जीवन समापन के प्रसंग उपन्यास को दुखान्त ही नहीं बनाते, प्रमोद और वकील साहब के मर्म को छूकर विश्लेषण प्रक्रिया को सशक्त बनाने में भी योग देते हैं।

'कल्याणी' में वैयक्तिक पात्रों की उद्भावना की गई है। कल्याणी का चरित्र वैयक्तिक विशिष्टताओं से परिपूर्ण है, अतएव गत्यात्मक है। इसके चरित्र पर तीन प्रकार से प्रकाश डाला गया है। वकील साहब इसके विषय में जो भी कहते हैं, विश्लेषण करके नहीं कहते, श्रीधर आदि पात्रों द्वारा सुनी सुनाई बातों का आश्रय लेकर कह देते हैं। कल्याणी स्वयं भी निश्चेष्ट नहीं है। वह आत्मविश्लेषण द्वारा अपने चरित्र के विकास के विषय में सोचती है—"विवाह से पहले मैं—खुद थी। विवाह बिना मैं रह सकती थी। मेरा बोझ मुझसे उठ सकता था, फिर भी मैं अविवाहित नहीं रही। चाहे जो कह दीजिए नहीं रह सकती थी। क्योंकि वही होता है। पर मैं अकेली अपने को भारी नहीं थी। मेरी सभी किताबें उसी काल लिखी गईं। खैर, विवाह हुआ। वह एक कहानी है। पर छोड़िए। विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी यानि गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती,

---

२ डॉ० देवराज उपाध्याय : 'विचार के प्रवाह' मनोवैज्ञानिक उपन्यास से—पृष्ठ १४३-१४४

३ वही—पृष्ठ १४६-१५०

बस वह कन्या होती है। पर मैं कुछ थी। निरी कन्या न थी, डॉक्टर थी। अब सवाल है मेरी शादी और मेरी डॉक्टरी, मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व। ये परस्पर कैसे निभें?"[४]

कल्याणी का समस्त जीवन चरित्र द्वन्द्वपूर्ण है। पातिव्रत्य या सामाजिकता प्रेम की धूरी पर वह बलि हो जाती है। प्रीमियर और पाल की कहानी कल्याणी के चरित्र की दुविधापूर्ण स्थिति की प्रतीक है। देवलालीकर का प्रवेश उसके अचेतन मन की भयाकुल स्थिति का अन्वेषण प्रस्तुत करने के लिए लाया गया है। उपन्यास मे जिस हत्या का वर्णन है, वह कल्याणी की मानसिक स्थिति का उद्घाटन है। कल्याणी ने अपने जीवन में वह सभी कुछ किया जो असंगत है, असभव लगता है। शुरु में वह घोर आस्तिक है, अन्त तक पहुंचते-पहुंचते न केवल नशा ही पीती है, धर्म और ईश्वर के अस्तित्व मे भी शंका प्रकट करती है। तभी तो कहती है —"मैं नफरत करना चाहती हूं। अपने से, सबसे। ईश्वर से। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इनसे ईश्वर प्रवंचना है।"[५]

जैनेन्द्र के कथाकार व्यक्तित्व मे दार्शनिक कलाकार का मिला-जुला रूप 'कल्याणी' में भी देखा-परखा जा सकता है। दार्शनिक प्रश्न उपन्यास में अनेक स्थलों पर उठाए गए हैं, जिनमें स्त्री की सामाजिक और पारिवारिक स्थिति, भाग्य की विडम्बना ईश्वर के प्रति आस्था, मनुष्य और विधि की सीमाएं, धन-लिप्सा, प्रेम-तत्त्व, और वैवाहिक जीवन आदि जीवनगत बातें विश्लेपण द्वारा चित्रित की गई है।[६]

व्यतीत—१९५३

जीवन को जी चुकने के पश्चात् आत्म अनुभूति जीवन-तथ्य निरपेक्ष अंकन के आधार पर स्मृतियों को पूर्व-दीप्ति विधि द्वारा आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत करने वाली यह रचना अद्वितीय है। उपन्यास के आरम्भ मे ही कथा-नायक कवि जयन्त अपनी पैंतालीसवी वर्षगांठ के अवसर पर आत्मविश्लेपण करता हुआ कहता है—"व्यतीत! ···आज इस जन्म-तिथि के दिन सवेरे ही सवेरे यह क्या शब्द उठकर मेरे सारे अन्तरंग में समाता जा रहा है। क्या इस पैंतालीस वर्ष की अवस्था में यही अनुभव करूं कि मैं अब व्यतीत हूं। यह सोचते अचरज होता है, डर होता है। पैंतालीस तो कोई अवस्था होती नही। इस वय में बीतकर रह जाने का क्या मतलब है। लेकिन कुछ करूं, इस बोध से छुट्टी नहीं मिलती है कि अब मैं बीते पर ही हूं, आगे के लिए नहीं हूं। सोचता हूं कि यह क्या हो गया···"[१] अतीत की स्मृतियों में मधुरता संजोने वाला यह युवक भावुक है। अनेक स्थलों पर यह आत्म-विश्लेपण की प्रक्रिया में संलग्न है।[२]

व्यतीत की कथा-योजना जैनेन्द्रीय है। वही त्रिकोणात्मक प्रेम-कथा जो जयन्त,

---

४. कल्याणी—पृष्ठ ३२
५. वही—पृष्ठ ९६
६. वही—पृष्ठ १४, १७, ३१, ७७, ११८, १२८
१. व्यतीत—पृष्ठ १
२. वही—पृष्ठ ५, ८, ९, १०, ११. २४, ३३, ५३, ५५, ६८, ६९, ७१, ८४

अनिता और मिस्टर पुरी के आसपास घूमती है। यह कथा विश्लेषणात्मक शिल्पविधि द्वारा सयोजित हुई है। इस सबध में एक आलोचक लिखते हैं—" 'परख', 'तपोभूमि', 'सुनीता', 'कल्याणी', त्यागपत्र', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' सब उपन्यासो मे एक निश्चित कथानक है, लेकिन उस तरह से नही, जैसा कि प्रेमचन्द के उपन्यासो मे, बल्कि ये निश्चित कथानक जागरूक, प्रबुद्ध और सवेदनशील पाठक के मन में बनते हैं। उक्त उपन्यासो में कथा-वस्तु के सभी सूत्र बिखेर दिए गए हैं। जहा जैसी गति चरित्र की है, उसकी जैसी मन स्थिति है भूत, वर्तमान और भविष्य मे भागती हुई, ठीक उसी अनुपात से कथावस्तु म निश्चित इतिवृत्ति की विद्यमानता या अभाव है। उसमे आदि, मध्य और अन्त के विनोद की कोई व्यवस्था नहीं है। उपन्यासकार की दृष्टि एकान्त रूप से पात्रो मे केन्द्रित है, व ही उसके साध्य हैं, उपन्यास के शेष तत्त्व केवल साधन मात्र हैं, उनका उपयोग कथाकार चाहे जिस तरह, चाहे जितने रूप मे, जैसे भी कर ले।'[३] 'व्यतीत' में भी इसी शिल्प का आश्रय लिया गया है। उपन्यासकार कथा को विशेष महत्त्व न देकर पात्रो के मनस्तत्त्व क मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे तत्पर दीख पडता है।

प्रस्तुत उपन्यास का नायक जयन्त एक प्रकार के अस्वस्थ कोम्पलेक्स (Morbid) का शिकार है। इस विषय मे एक आलोचक का यह कथन तथ्यपरक है—"वास्तव में 'व्यतीत' एक पुरुष की एक स्त्री के प्रति—जयन्त की अनिता के प्रति—रुग्ण आसक्ति (Morbid fixation) की अवस्था मे पुरुष की मन स्थिति का लेखा है। इस आसक्ति के मूल म जयन्त की आहत अहमन्यता अवस्थित है।"[४] अनिता जयन्त के पिता की पुत्री और उसके दूर के रिश्ते की बहन होने पर भी उसे चाहती है किन्तु उसका विवाह इक्कीस वर्ष की आयु मे मिस्टर पुरी से हो जाता है। जयन्त इस आघात को नही सह पाता। वह बाह्य जगत के प्रति उदासीन होकर अन्तर्मुखी बन बैठता है। कुल पचहत्तर रुपया मासिक पर एक स्थान पर सह-सम्पादक का कार्य सभाल कर समस्त उच्च आकाक्षाओ को तिला जलि दे देना उसकी विशिष्ट मानसिकता की प्रतीक घटनाए हैं। अनिता अनेक बार उसे समझाती है, किन्तु वह निर्णय करने मे असमर्थ है। वह उसका विवाह कराकर उसे बाधना चाहती है, किन्तु जयन्त का मानस इसे अस्वीकार करता है। अनिता से विवाह न होने के कारण उसके मन मे हीनता की ग्रन्थि जन्म ले लेती है। आत्मक्षुद्रता (Inferiority complex) ग्रस्त यह व्यक्ति महत्त्वाकाक्षाओ की बलि देकर कुण्ठित हो जाता है। उसके व्यवहार म अप्रकृत घटनाए सयोजित हुई है। सम्पादक की पुत्री सुमिता के निकट सम्पर्क मे आकर भी वह उसका न हो सका—मैं अपात्र हू, सुमिता—उसका नकारात्मक उत्तर ही नही है उसकी अस्त-व्यस्त मानसिक स्थिति का उद्घाटक तत्त्व है। सुमिता के अतिरिक्त बुधिया भी एक ऐसी नारी है जो उसकी ओर आत्मदान की भावना से देखती है, किन्तु जयन्त का अहं उसे भी स्वीकार करने से इन्कार करता है।

जयन्त चन्द्री विवाह केवल परिस्थितिजन्य है। ठीक ऐसा ही है जैसा जोगीन्द्र

---

३ लक्ष्मीनारायण लाल आलोचना उपन्यास विशेषांक—पृष्ठ १५८

४ रघुनाथशरण झालानी जनेन्द्र और उनके उपन्यास—पृष्ठ ८

'संन्यासी' में नन्दकिशोर-जयन्ती विवाह—जो दोनों पक्षों की असाधारणता (Abnormality) के कारण असफल रहता है। जयन्ती को देखते ही जैसे नन्दकिशोर का अहं फुत्कार मारकर चीत्कार उठता है, ठीक वैसी ही अवस्था चन्द्रकला को देखकर जयन्त की होती है। अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करते हुए वह कहता है—"भाव-विभोर होकर वाहर की सब ठोस सत्ता को, धूमिल कुहासे में परिणित करके, उसमे से तव चुनौती मिलती भी है। तादात्म्य सम्भव नहीं होता…चन्द्रकला को देखकर नितान्त इस मुझ सोये हुए को भी मानो चोट देती हुई चुनौती मिली। मैने चुनौती को नहीं जाना। मानो वहीं भीतर का भीतर दवा दिया…।"[५] किन्तु अहं एवं वासना की आग दवाए नहीं दवती। वास्तविकता यह है कि चुनौती के कारण ही वह उससे विवाह करता है। अनिता के कारण दोनों का दाम्पत्य तितर-वितर हो जाता है और अन्त में वह चन्द्री द्वारा त्याज्य रूप में विवश प्राणी मात्र रह जाता है। जयन्त की मानसिक स्थिति अति भयावह हो उठती है। उसकी आसक्ति अनिता के प्रति रही है और रहेगी। यह स्थिति उसे अस्वस्थ कॉम्पलेक्स (Morbid) अवस्था तक पहुंचा देती है। निराश प्रेमी उसके अहं को विकृत करके उसमें अप्राकृतिक मानव और अपसाधारण (Abnormal) व्यक्तित्व का प्रस्फुटन करता है। चन्द्रकान्ता के प्रति उसका व्यवहार अप्रत्याशित एवं असाधारण है। उसे उसकी मनोभावनाओं का कोई मान नही। उसे तो उसकी कोमलतम चेष्टाओ को भी कुचलने में आनन्द मिलता है। 'संन्यासी' की जयन्ती की भांति इस उपन्यास की चन्द्रकला उसे अभियान का पुतला कहती है।[६] उपन्यास के अन्त में वह कहता है—'लेकिन लगता है जीवन व्यर्थ भार ही है। क्यों कहीं इसे कभी देखकर सो नहीं सका; ताकि कुछ पा जाता और यों भटकता न फिरता। लेकिन सुनता हू, दूसरा भी जन्म है, अव तो उसी में त्रास है।"[७] 'संन्यासी' के नायक नन्दकिशोर की भांति गैरिक वस्त्र पहनकर वह जीवन को भार समझता है। विगत की स्मृतियां ही उसके जीवन का सम्बल बनती है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों का विवेचन करते हुए एक आलोचक लिखते हैं—"इस प्रकार जैनेन्द्रकुमार के लगभग सभी उपन्यास अभिनव युग-चेतना की अभिव्यंजना करने में सफल हुए है। इन उपन्यासों में जीवन का चित्रण, पात्रों का चयन, मान्यताओं का विश्लेषण समस्याओं का निरूपण तथा वातावरण की सृष्टि मध्यवर्गीय समाज से संबंध रखती है, जिसकी गतिविधि पूंजीवादी संस्कृति की देन है। और परिणाम है…जैनेन्द्र की कला का स्थान व्यक्तिवादी तथा मनोविश्लेषणवादी उपन्यास की कड़ी है।"[८] प्रस्तुत प्रवन्धकार की दृष्टि में जैनेन्द्र विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के कलाकार हैं, व्यक्तिवाद को इन्होने प्रवृत्ति रूप में अपनाया है, शिल्प रूप में नही।

---

५. व्यतीत—पृष्ठ ५५
६. वही—पृष्ठ ८८
७. वही—पृष्ठ १६९-१७०
८. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १९८

अज्ञेय

विश्लेषणात्मक शिल्प विधि के उपन्यासकारों में अज्ञेय एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके उपन्यासों में अभिव्यक्त वैयक्तिक कुण्ठा, निराशा, दिग्भ्रान्ति, निष्क्रियता तथा आत्मलीनता एवं अहं देखकर कतिपय आलोचकों के मन में इस विधि के प्रति संशयात्मक तथा विद्रोहात्मक भावनाएं जागृत हुई। एक आलोचक इन्हें उपन्यासकार से परे मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रचारक कह बैठे। वे लिखते हैं—"अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' मनोविश्लेषणपूर्ण अत्यन्त सफल उपन्यास है और सूक्ष्म एवं अचेतन मन के चित्रण में बेजोड़ है। स्पष्टतः इनपर जेम्स ज्वायस प्रभृति पाश्चात्य उपन्यासकारों का गहरा प्रभाव है और मनोविश्लेषण की खोजों तथा मान्यताओं का इतना खुल्लमखुल्ला उपयोग किया गया है कि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लेखक का सरोकार उपन्यास रचना से भी अधिक मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से है।"[1] मेरे विचार के अनुसार वैयक्तिकता और मनोविश्लेषण खतरनाक नहीं हैं, खतरनाक वह स्थिति है जो हमें वैयक्तिकता से खींचकर स्वार्थी, प्रमादी और आत्म-केन्द्रित बनाती है। विश्लेषणात्मक शिल्प विधि द्वारा तो इस स्थिति का अन्वेषण प्रस्तुत होता है। 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर कैसे व्यक्तिवादी के साथ-साथ अहंवादी एवं दिग्भ्रान्त बनता है, इस तथ्य का उद्घाटन उसके शैशव से सम्बन्धित एक-एक घटना का विश्लेषण करके किया गया है। अज्ञेय घटनाओं के विश्लेषण में विश्वास रखते हैं किन्तु आत्मकथा लिखने में नहीं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को एक प्रश्न का लिखित उत्तर देते हुए उन्होंने इस मत की पुष्टि की है—"घटनाएं तो बहुत हैं जो याद आती हैं, और एकान्त में रहने से उनका विश्लेषण करने का अवसर भी काफी मिलता रहा है, पर आत्मकथा तो नहीं कहने बैठा हूं। मानवेन्द्रनाथ राय से किसी ने आग्रह किया था कि आत्म-कथा लिखें, तो उन्होंने हंसकर टाल दिया था : 'नहीं, मेरा अहं इतना प्रबल नहीं है।' इस दृष्टि से उनका अनुयायी हूं।"[2] अज्ञेय ने आत्म-कथा नहीं लिखी, किन्तु अपनी रचनाओं में पात्रों द्वारा आत्म-विश्लेषण अवश्य कराया है। इनकी रचनाओं में पाश्चात्य मनोविज्ञान की छाप देखकर एक आलोचक कहते हैं—"अज्ञेय जैसे एकाध कलाकार द्वारा शायद कुछ अव्यवस्थित ढंग से हिन्दी उपन्यास में आए।"[3]

जैनेन्द्र की भांति अज्ञेय भी शिल्प और शैली में पर्याप्त अन्तर मानते हैं। अपनी एक भेंट में उन्होंने मुझे बताया—"शिल्प और शैली तो अलग-अलग चीजें हैं ही। शिल्प में और भी बहुत-सी चीजें हो सकती हैं। शैली का संबंध मुख्यतः भाषा से है, शिल्प का रचना से। कथ्य अपने शिल्प और शैली से अलग हो ही नहीं सकता। आखिर उपन्यास का कथ्य क्या है? यदि तीन उपन्यासकार एक ही कथ्य पर उपन्यास लिखें तो क्या वे समानधर्मी होंगे? शायद नहीं—उनका शिल्प भले ही एक हो, शैली तो भिन्न रहेगी ही।"

---

१ डॉ० रामअवध : हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा—पृष्ठ २०५
२ अज्ञेय : आत्मनेपद—पृष्ठ ११२
३ डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण—पृष्ठ १२२

हिन्दी उपन्यास शिल्प के भविष्य के विषय में जब मैंने उनसे प्रश्न पूछा तो मुस्कराकर बोले—यदि इसकी बजाए हिन्दी के भविष्य के विषय में प्रश्न पूछे तो कैसा रहे। प्रश्न का सांकेतिक उत्तर मिल गया और मैंने एक और प्रश्न पूछा—"हिन्दी का आलोचक और पाठक बड़ी उत्सुकता से 'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे और चौथे भाग की प्रतीक्षा कर रहा है।" हंसते हुए उन्होंने उत्तर दिया—"बड़ी उलझन है—तीसरा भाग लिखा पड़ा है और इसी बीच एक चौथा लघु उपन्यास भी लिख लिया है। यही सोच रहा हूं किसे पहले प्रकाशित कराऊं ?" हिन्दी उर्दू उपन्यास शिल्प के संबंध मे आपने बताया कि हिन्दी उपन्यास उर्दू से प्रभावित होकर पनपा परन्तु बीसवीं शताब्दी में उर्दू उपन्यास फीका पड़ गया, हिन्दी उपन्यास बल पकड़ता गया।"[४]

शेखर : एक जीवनी—१९४०

'शेखर : एक जीवनी' की रचना विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के आधार पर की गई है। कतिपय आलोचकों ने इसकी औपन्यासिकता पर सन्देह किया है। एक आलोचक कहते है—"इसे हम उपन्यास भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमे एक ही पात्र का चरित्र चित्रित किया है और वह भी नितान्त एक रस। घटनाएं और परिस्थितिया आती है और जाती हैं, किन्तु शेखर अपनी ही गति से चलता है। आरम्भ से ही उसका चरित्र जिस ढांचे मे ढल गया है, अन्त तक वही सांचा दिखलाई देता है। किन्तु जीवनी में बहुत से स्थल औपन्यासिक भी है। विशेषतः दूसरे भाग में—जैसे लाहौर कॉलेज जीवन के चित्र आदि। जीवनी में एक विशालता अवश्य है, किन्तु औपन्यासिक विशालता नही। घटनाओं, परिस्थितियो और चरित्रो का संघर्ष किसी बड़े पैमाने पर नही पाया जाता।"[१]

एक ही पात्र के एक रस चरित्र-चित्रण के कारण उपन्यास को उपन्यास न मानना तर्क-संगत नहीं है। व्यक्तिवादी रचना मे व्यक्ति प्रधान रहता है। विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि द्वारा उस व्यक्ति की प्रधानता, असाधारणता और आत्म-चिन्तन का अन्वेषण किया जाता है। अज्ञेय ने भी अपनी पूर्ण शक्ति शेखर का निर्माण करने मे लगा दी है, किन्तु उपन्यास में उसके प्रधान स्थान ग्रहण कर लेने पर औपन्यासिकता सन्दिग्ध नहीं हो जाती। शेखर को रचकर, उसे प्रधान पात्र बनाकर उपन्यासकार में एक बड़े कलाकार की तटस्थता आई है। इस तथ्य की स्वीकृति मे अपने पात्र शेखर से एक वार्ता करते हुए वे लिखते है—"रचना केवल अभिव्यक्ति नही है, वह सम्प्रेषण है। तब मैं केवल आपका अपेक्ष्य नहीं हूं, प्रत्येक पाठक, प्रत्येक सहृदय मेरे रूप को बदलता है...एक तटस्थता वह है जहां पहुंचकर लेखक कृतिकार बनता है, दूसरी वह है जो उसे पात्र को रचने के बाद मिलती है...मुझे रचकर, मेरे माध्यम से अपना संचित कुछ बिखेरकर ही आप वास्तव में तटस्थ हो सके।"[२] अतः शेखर के रचयिता को इसलिए कोई पश्चाताप नहीं है कि

---

४. लेखक की श्री अज्ञेय से एक भेंट-वार्ता : दिनांक १४-६-६०

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य—पृष्ठ १७४

२. अज्ञेय : आत्मनेपद—पृष्ठ ५९-६०

उसने शेखर पर ही सारी शक्ति लगा दी । वास्तव में यही इस रचना का कीर्ति स्तम्भ है। घटनाएं और सामाजिक परिस्थितियां उपन्यासकार अज्ञेय की दृष्टि से गौण स्थान रखती हैं, वह तो उसके जीवन की यातना का द्रष्टा एवं उसके अहं का विश्लेषक बन कर उपन्यास का स्रष्टा बनना चाहता है। शेखर की शक्ति उसके अदम्य अहं और असाधारण व्यक्ति की शक्ति है जिसे अज्ञेय ने नये शिल्प में प्रस्तुत किया है। यहीं एक प्रश्न उत्पन्न होता है—क्या 'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय के अपने ही जीवन का प्रत्यावलोकन तो नहीं है ? एक आलोचक तो ऐसा मानते हुए स्पष्ट लिखते हैं—"'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय के अपने जीवन का प्रत्यावलोकन है।"[3] मेरे मतानुसार यह रचना लेखक की जीवनी नहीं है, इसे हम कभी भी आत्मचरितात्मक रचना नहीं मान सकते। यह एक चरित्र विश्लेषण प्रधान रचना है जिसमें विश्लेषणात्मक शिल्प दृष्टिगत रख कर शेखर तथा अन्य पात्रों को प्रस्तुत किया है। यह विश्लेषणात्मक शिल्प वह है जिसके अनुसार मूलकेन्द्र चरित्र विशेष हुआ करता है। समस्त कथा और अन्य पात्र उसी को धुरी मानकर रचे जाते हैं और वह पात्र ही कथाकार का साध्य होता है। यह नहीं कि इस उपन्यास में शेखर को छोड़कर अन्य पात्रों का चरित्र चित्रण ही नहीं किया गया है। शेखर के पिता हैं, माता है, मित्र हैं, और है सबसे बढ़कर 'शशि', जिसके अस्तित्व के कारण ही शेखर शेखर है। इन पात्रों का यथास्थान वर्णन ही नहीं किया गया, अपितु चारित्रिक विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा इनके मनोभावों और क्रिया-कलापों को उद्घाटित किया गया है किन्तु एक ही बात का ध्यान रखा गया है, वह यह कि इनका चारित्रिक विश्लेषण शेखर को बनाने या बिगाड़ने, दबाने या उछालने, घुटने या खुलने में पूर्ण सहायक हो, ताकि वे न्द्र केन्द्र बना रहे। रही शेखर के एकरस रहने की बात, वह भी ठीक नहीं। शेखर के चरित्र में एक गति है, व्यक्तित्व है, प्रवाह है। जिसमें एक अनिवार्य तीव्रता है। शेखर के चरित्र में एकरसता कहां रह जाती है ? बचपन से ही उसमें जिज्ञासा के साथ बहुत कुछ कर सकने की संकल्पात्मक प्रवृत्ति भी है। किन्तु यह भी कहां रह जाती है। बहुत कुछ जान लेने और कर लेने, जेल यात्रा आदि करने के उपरान्त क्या वह अन्तर्मुखी नहीं हो जाता ? बहिर्मुखी शक्ति न उसे शान्त करने के साथ-साथ उसका ह्रास भी किया है, किन्तु अन्तर्मुखी बन जाने के उपरान्त वह संकुचित और लेखक बन गया है। यह परिवर्तन नहीं, तो क्या कहेंगे ? शेखर ने जीवन भर अपनी मां से घृणा की है, क्यों की है ? इसका भी उत्तर हमें मिलता है। शेखर का घर है, जिसमें उसके माता पिता हैं, किन्तु बड़ा भाई बाहर है। बाहर से ही उसके कालिज से भाग निकलने का समाचार मिलता है, जिसे सुनते ही उसकी मां उसकी ओर इंगित कर कहती है—"सच पूछो तो मैं तो इसका भी विश्वास नहीं करती।"[4] यह एक पंक्ति मात्र शिशु शेखर के मन में द्वन्द्व मचा देती है, रात भर उसे नींद नहीं आती। अपनी डायरी में वह लिखता है—"अच्छा होता कि मैं कुत्ता होता, चूहा होता, दुर्गन्धमय कीड़ा-कृमि होता—बनिस्बत इसके कि मैं ऐसा आदमी

३ डॉ० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति—पृष्ठ १४६
४ शेखर : एक जीवनी (प्रथम खण्ड)—पृष्ठ २५

लोगों ने इन्हें 'शिल्प' के प्रयोग माना।

उपन्यासकार या कवि के लिए 'शिल्प' का ज्ञाता होना, उस पर अधिकार प्राप्त करना कोई बुरी बात है, ऐसा मैंने कभी नहीं माना पर आसकर वाइल्ड के अनुसार (Art lies in Conceeding the art) मानो कला छिपाने में ही कला है, यह बात सही है। सहज रूप से जो व्यक्त हो जाए वही कला अधिक सुन्दर या आकर्षक होती है।

इसलिए मेरे मन में कलाकार की प्रमाणिकता और कलाकार की एक आवश्यक फैशन-प्रियता या 'मुद्रा' (पोस्चर) में सदा द्वन्द्व बना रहा है। कलाकार को किसी न किसी पाठक वर्ग के लिए या सामने कुछ प्रेषित करना है, यह बहिर्वर्ती प्रेरणा है, परन्तु कहां तक वह अपने प्रति प्रमाणिक हैं या कहां तक वह अन्तर्गोपन कर सकता है, यह उसका अपना प्रश्न है—और इन दोनों खिंचावों में कला का जन्म होता है। उसके शिल्प की अनिवार्यता का भी वहीं बिन्दु है।

उधर हिन्दी उपन्यासों में शिल्प को लेकर आलोचकों में काफी बहस हुई है और एक ओर अ-उपन्यास यानी सम्पूर्ण शिल्पहीनता का है, और दूसरी ओर हर एक छोटी-बड़ी चीज को पूरी तरह से पूर्व नियोजित करके लिखनेवालों का भी दल है। प्रेमचन्द ने लिखा है और सियारामशरण गुप्त ने हमसे कहा था कि वे जैसे-जैसे लिखते जाते थे उनके पात्र और कथानक अपना रूप ग्रहण करते जाते थे। वे अपने शिल्प के प्रति बिल्कुल सजग नहीं थे। भगवतीचरण वर्मा या अमृतलाल नागर भी प्रायः इसी सहजप्रवाही शैली को अपनाते हैं। परन्तु दूसरी ओर 'शेखर : एक जीवनी', 'देशद्रोही' या 'झूठा सच' का, या 'सुनीता' या 'त्यागपत्र' का लेखक है जो कला से अधिक एक सांस्कृतिक, सामाजिक सोद्देश्यता को सामने रखे हुए है। प्रेमचन्द का अस्पष्ट समाज-सुधार यशपाल तक आकर सहेतुक समाज-क्रांति में बदल जाता है। और प्रसाद के 'तितली' या 'कंकाल' अज्ञेय तक आकर 'अपने-अपने अजनबी' बन जाते है—यों 'घर की खोज' बनी रहती है। 'जहाज का पंछी' फिर जहाज पर लौट आता है। इन सबके यहां भी कला या शिल्प साधन मात्र है, या यों कहें कि उपादान है। परन्तु इसके बाद एक वर्ग उन लेखकों का भी आता है जो शिल्प के प्रति सजग है—भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा' या 'रेणु' का 'परती-परिकथा' इस तरह की शिल्प-सचेतना का परिचय देते हैं। नरेश मेहता के 'वह पथ बन्धु था' या शिवप्रसादसिंह की 'अलग-अलग वैतरणी' में भी वह खोज जारी है। मैं अपने-आपको न तो सामाजिक सोद्देश्यता से बंधा लेखक मानता हूं। न 'व्यक्तित्व की खोज' वाला लेखक। मेरा उपन्यास लेखक इस दृष्टि से अधिक आधुनिकता बोध लिए हुए है। मैं मनोविश्लेषण को भी अंतिम नहीं मानता, न मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद को। मैं मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार सारी तन्मात्राओं को प्रकृति-पुरुष के चिरंतन द्वन्द्व का एक प्रकट स्फुलिंग मानता हूं। इसलिए जीवनी शक्ति के इस आत्मोपलब्धि और आत्म-विलयन के समेकित व्यापार में शिल्प और कथा एकाकार हो जाते हैं—शिव-शक्ति जैसे। उनपर अलग-अलग विचार प्रायः असंभव है। दोनों समग्र है, 'गेस्टाल्ट' हैं।

इस समग्रता में से एक और तथ्य उभरता है। क्या 'मूल्य' निरा मन का धोखा है? क्या वह केवल शब्द है? यदि हां तो शब्द का मूल्य क्या? अर्थ की इयता कौन

सी ? क्या यह सम्भव है कि व्यक्ति पूर्णत असामाजिक बन जाए। गांधी ने इसी अस्तित्व और अनास्तित्व की समस्या कहकर सार्त्र और गांधी मे अन्तर किया है। हमारे लिए यह द्वन्द्व हमारे दर्शनो म चिरन्तन काल से है। माण्डूक्योपनिषद मे दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं—एक देखता है, एक खाता है। द्रष्टा और भोक्ता के अन्तर मे शिल्प की स्थिति म अन्तर पाया जाता है। हमारे यहा इसी 'अन्तर' पर जोर दिया गया है। पश्चिम मे इस कम स कम कहन म आलोचना धूमिल हो गई है।

शिल्प और शैली कोई दो वस्तुए नही है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मुखमुद्रा होती है। बाल का या पुतली का रग होता है। चाल-ढाल होती है। वही है शैली। जिस पर लेखक के व्यक्तित्व की मुहर स्वाभाविक है। परन्तु शिल्प कुछ व्यापक वस्तु है, व्यक्तिगत नहीं, जन्मजात नहीं—वह अर्जित भी किया जा सकता है। अनेक लेखको म वह समान भी हो सकता है। विभिन्न भी। यह सब अध्ययन की वस्तु है।

डा० प्रेम भटनागर ने अपनी थीसिस म मेरे बारे मे क्या लिखा है। मैं नही जानता। पर उनके प्रश्नो के सक्षिप्त उत्तर ऊपर है।"[२]

परतु—१९४०

'परन्तु' म कुल पाच पात्र हैं—अविनाश, अमिय, अनीता, हेम और सेठ लक्ष्मीचन्द। इनको शीर्षक रूप म प्रस्तुत करके प्रत्येक अध्याय मे इनके मस्तिष्क मे ही भावो के मुक्त समग का प्रवाह बहा दिया गया है, मानो उपन्यास कला पात्रो के मानस म प्रवेश करके चेतना को उद्भूत कर रही हो। हिन्दी उपन्यास साहित्य मे यह एक बिल्कुल नया दृष्टिकोण है, नया शिल्प विधान है। 'परन्तु' के आरम्भ को ही लें। एक व्यक्ति है—नाम है अविनाश—एक कालिज का कमरा है, उसमे और लडको के साथ वह भी बैठा है, प्रो० का भाषण राजनीति के विषय पर हो रहा है, परन्तु अविनाश का मन और मस्तिष्क कहा है ? वह तो चेतना-प्रवाह मे लीन है —"अविनाश का अन्तर्मन अपने गाव मे लौट चला वे बचपन के दिन, ठाकुर-दा के दिन, पुकुर की सीढियो पर चोरी चुपके पढा हुआ बकिम बाबू का 'कृष्णकान्तेर विल' और उसमे नायक-नायिका को बेहोश होने पर कैसे होश मे लाता है शरद बाबू के 'स्वामी' मे वह फूल तोडने का प्रसग 'सन्यासी उपगुप्त'—रवि बाबू की वसन्त सेना छि साहित्य का यह रईसी विलास से भरा जर्जर अग—शृगार और अनन्त यौवना उर्वशी (सेक्स) वालो मे प्रोफेसर की आवाज की भनक—'सुडेटन जर्मनों का चेकोस्लोवाकिया मे दावा'—पथ का दावा, दावेदार नही—दाव—'आदिम दावानल दाहन करिया विश्व, आमि जहन्नमेर आगेर बरिया पुष्परे हासी' पुष्पा (पुन परिचर्चना का अबाधित प्रवाह) पुष्पा या रामा ? या हेम गाव की बचपन की साथिन, खेल, एकत्र अध्ययन पुष्पा 'शरीर' थी हेम आत्मा—परन्तु वेशभूषा रामा की ही अच्छी थी, परन्तु हेम की सावली मुद्रा मे वे रसभीनी आखे, मन मुग्ध कर डालने वाले कामरूप के तान्त्रिको का अनजान जादू मानो उनमे बसा हो अब भी स्पष्ट याद है

२ लेखक का उपन्यासकार भेंट प्रश्नों का लिखित उत्तर ७ ६ ६८

वह बड़ी-बड़ी आंखों से ढुलक पड़नेवाले आंसू और सच भी तो था; उसकी मां को मुझे इस तरह डांटना क्यों चाहिए था, उसे क्यों न बुरा लगा होगा, क्या मैंने कोई पाप किया था ? पाप··· (सतर्क) देखें, अरविन्द घोष पाप के संबंध मे क्या कहते है। सामने रखी हुई अरविन्द की पुस्तकें पढ़ने लगता है।"[1] यह केवल एक उद्धरण दिया गया है, किन्तु उपन्यास के कुल ८४ पृष्ठों में से २० पृष्ठ ऐसे ही अनेकों उद्धरणों से रंगे गए हैं, मानो चेतना के अबाधित प्रवाह के अतिरिक्त कुछ और कहने के लिए उपन्यासकार के पास सामग्री ही नहीं है। अतः कथानक झीना हो गया है। चरित्र उभर आए हैं। इन चरित्रों की अनुभूतियां वैयक्तिक क्षेत्र से सामूहिक क्षेत्र की ओर गतिशील हैं। अविनाश अपने तक सिमट कर नहीं बैठा है, वह हेम, अमिय, अनीता और सेठ के क्रिया-कलाप, मनोविकार और मनोविज्ञान का अध्ययन और विश्लेषण करने के साथ-साथ समाज की दुर्बलताओं और नैतिक मान्यताओं का परिचय भी हमे देता है। उसकी भाव-प्रवणता में हेम की विवशता, सेठ की क्रूरता, अमिय की शिथिलता, अनीता की रूप गर्विता तथा समाज की निष्ठुरता बड़े सूक्ष्म और तीक्ष्ण आकार में दौड़े है।

अविनाश तो उपन्यास का मूल केन्द्र है ही, दूसरे पात्रों को लें तो उनमें भी चेतना प्रवाह तीव्र गति से प्रवाहित दृष्टिगोचर होता है। अमिय के मस्तिष्क में भावों के मुक्त संसर्ग का वैचित्र्य देखिए—"अमिय के मन का कारवां चल रहा है···तो बात यहां तक पहुंच गई। यह है अविनाश, बड़ा आत्म-संयम और नैतिकता की बातें करता है—दिल कमबख्त का अनीता की ईयर रिंगों में झलक रहा है।···यह सब नैतिकता एक विराट् ढोंग है···सत्य केवल एक है—रंग और रेखा, वर्ण और विन्यास।···हां, अजन्ता भी देखा है—क्या फ्रेस्को के रंग है : शंख-श्वेत, अलक्तक, पीतलोहित, सौराभ, धूमच्छाय, कपोताश्व, अतसी-पुष्पाभ, पाटल, कर्बुर और क्या-क्या···अनीता सुन्दर नाचती है, उसने शांति निकेतन में इसकी शिक्षा पाई है, तो क्या उसमें अभूरी का उत्साह, सिम्की की मुद्राएं, अना पावलोवा का पदक्रम भंग है···इसाडोरा डंकन ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि कैसे-कैसे राजनीति-विशारद और ब्रह्मविद्यापटु उसके चरणों की गति पर सर्वस्वार्पण करने को उद्यत थे—रूप और अरूप की चर्चा व्यर्थ है।"[2]

अविनाश, अमिय, अनीता और हेम आदि पात्रों की चेतना-प्रवाह द्वारा न केवल मुक्त भावों का संसर्ग स्थापित हुआ है अपितु दूसरे पात्रों की चारित्रिक विशेषताएं तथा दुर्बलताएं भी विश्लेषणात्मक विधि द्वारा प्रकाश में आई हैं। यौन-वर्जनाओं, यौन-विकृतियों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी यहां प्रस्तुत हुआ है। अविनाश की काम-कुण्ठा दमित यौन-भावना का परिणाम है जो संयम, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, सदाचार और आदर्शवाद का प्रचार कर स्थानान्तर (Transference) होने पर भी तृप्त नहीं होती अपितु दिवा-स्वप्न (Day dreaming) प्रवृत्ति अपनाती है, किन्तु फिर भी समायोजन (Adjustment) कहां हो पाया है ? हेम का पुनः साक्षात्कार उसके दिवा-स्वप्नों की पूर्ति

१. परन्तु—पृष्ठ ५-६
२. वही—पृष्ठ १३-१४

(Compensation) हेतु संयोजित किया गया है, वह उसकी 'किन्तु-परन्तु' नहीं सुनता, उसे साथ ले जाकर सिनेमा दिखाता है, होटल में खाना खिलाता है, वहाँ भी इन दोनों का वार्तालाप या प्रेम अभिनय उतना पवित्र नहीं है जितना चेतना प्रवाह। अविनाश की एक कथा याद आ जाती है जो एक व्यक्ति की दुःखान्त कहानी मात्र नहीं है, उसके जीवन खण्ड का विश्लेषण है। जीवन में उस व्यक्ति की आत्महत्या करने से पूर्व आत्मकरुणा की चित्रकारी है। इस अविनाश का अपनी विवशता और सेठ की घृणा का परिचय देती है इसलिए आदर्शवादी अविनाश का रक्त खौल उठता है और वह सेठ लक्ष्मीचन्द की हत्या का प्रयत्न करता है, किन्तु सिवाय घुटन और चेतना प्रवाह में उठने वाले बुदबुदों के उसके हाथ कुछ नहीं लगता। कथाकार ने कथा के अन्त में अविनाश की मनःस्थिति का जो चित्र खींचा है, वह व्यक्तिगत जीवन की हार का चित्र नहीं है, समाज के गतिरोध की समस्या का आह्वान है। प्रथम परिच्छेद के अन्त में यान चालना शब्द परन्तु समाज के गतिरोध का परिचायक है। समस्या की अभिव्यक्ति भाषा के मुक्त प्रयोग द्वारा ही की गई है।

चेतना प्रवाह विधि के उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है—उपन्यासकार की तटस्थता। वर्णनात्मक कोटि का उपन्यासकार अपने उपन्यास में पग पग पर आकर अपने उद्देश्य की पूर्तिहित प्रचार-कार्य में संलग्न रहता था, किन्तु वैश्लेषिक कोटि का उपन्यासकार अपनी रचना में अपने को तटस्थ रखने का प्रयत्न करने लगा। चेतना प्रवाहवादी कलाकार अपने को अलग रखकर ही पात्रों के मस्तिष्क में चेतना का प्रवाह करा सकता है। यह ठीक है कि पात्रों के विचारों में युग का प्रतिबिम्ब होता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि पात्रों के वे विचार अवश्य ही उनके स्रष्टा के विचार हों। कलाकार प्रत्यक्ष रूप में या परोक्ष रूप में कहीं भी शासन पद्धति, समाज नीति, आर्थिक व्यवस्था अथवा धार्मिक मान्यताओं पर कटाक्ष नहीं करता है। पात्र ही कथा के वाहक होते हैं, वे ही चरित्र, समस्या अथवा दर्शन का विवेचन करते हैं। उनकी भाषा सांकेतिक होती है, उनके सोचने और बोलने का ढंग विचित्र होता है। वे अन्तश्चेतना में विचरण करते हैं और अचेतन की गुत्थियों के विश्लेषण में ही संचेष्ट रहते हैं। 'परन्तु' का अविनाश और अमिय अति-प्रज्ञ अन्तश्चेतना में लीन रहते हैं। अमिय अधिक आत्मलीन व्यक्ति है। उसके लिए कला ही सर्वस्व है। अनीता से प्यार का कारण भी कला प्रियता है। दोनों का प्रणय कला की अभिवृद्धि का कारण होगा—यही उसका विचार है, उसे भूखे भिखारी, चिथड़ों में लिपटे नर कंकाल भी कला के विषय, नृत्य के विषय ही दीख पड़ते हैं।

अमिय का चेतना प्रवाह अविनाश के चेतना प्रवाह की तुलना में कहीं सशक्त है। उसमें केवल वैयक्तिक चरित्र और समस्याओं का चित्र ही सामने नहीं आता, अपितु एक साथ कला, काम और कामदेव (शिव), पार्वती, आदम और ईव के पतन पूर्व की स्मृति तथा पतनोपरान्त की अवस्था में दर्शन का विवेचन भी हुआ है। 'कला नारी है'—और नारी रूप में सुन्दरी उर्वशी के नृत्य और विश्वामित्र की साधना के भंग होने का सांकेतिक वर्णन है। उसमें ही अन्तर्गीता रूपी कस्तूरी मृग को ढूंढने का प्रयत्न हुआ है। भाव लोक में ही एक साथ गीता, कुमारसम्भव, मिल्टन के पैराडाइज लास्ट (Paradise Lost) तथा

शंकराचार्य, शॉपनहावर और इलियट के दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है। बर्नर्ड शॉ के 'मैन एण्ड सुपरमैन' की भूमिका से भी उद्धरण दिए गए है।

'परन्तु' में कथोपकथन भी तार्किक हैं। अमिय अविनाश काम-वार्ता, युद्ध आदि विषयों पर सतर्क प्रकाश डालती है। इसके लिए शॉ आदि कलाकारों के उद्धरण देकर वार्ता को बढ़ाया गया है। कहीं-कही पात्र स्वगतोक्तपूर्ण सम्भाषणों का आश्रय लेते देखे जाते है। अनीता के हृदयोद्‌गार स्वगत भाषण पद्धति द्वारा उद्धृत किए गए हैं। वह पढ़ने का प्रयत्न करती है, किन्तु पढ़ नहीं पाती—अन्तर्मन में अपने-आप से बातें करने लगती है—'सुरत क घन मोहि निवि मंह शाम ?···इश्कारां व मुश्कारां (प्रेम और कस्तूरी)। यह वार्ता संक्षिप्त है किन्तु मनोद्वन्द्वपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देने वाली है। अनीता का पूर्ण चरित्र ही द्वन्द्वात्मक है। वह अमिय को प्यार करती है, किन्तु उस प्यार को अभिव्यक्त नहीं कर पाती। वह अमिय को पत्र लिखती है किन्तु डाल नही पाती, यह उसकी द्वन्द्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। अन्य पात्रो की भांति इसका मन भी पुस्तकीय पाठ में न लगकर दीवार पर माता और शिशु के चित्र को देखकर या अन्य पूर्व स्मृति-वर्धक दृश्यों का साक्षात्कार करके चेतना-प्रवाह मे लीन रहता है।

कलकत्ता नगरी में पहुंचते ही हेम का मन भी प्रवाह लोक में विचरण करने लगता है, वह एक पोस्टर को देखते ही अविनाश के चित्र का कल्पनात्मक बोध करती है। उसका मन पीछे भागकर विवाह के संस्मरणों का उद्‌घाटन करता है, जिसमें रति, कामदेव, प्रणय आदि पर मनन और विश्लेषण प्राप्य है। सेठजी की क्रूरता समाज के ठेकेदारों के अनाचार की द्योतक है। यह कथांश इतना वृहद नहीं है जितना समाज पर कसा गया व्यंग्य-चित्र। यह तीव्र है, और स्थायी प्रभावोत्पादक भी। हेम, अनीता और अन्य भारतीय युवतियों की ही नहीं, संसार की अधिकांश रमणियों की मान-मर्यादा आज खतरे मे है, पूंजीवादी सभ्यता से इसकी रक्षा कैसे हो, यह एक बड़ा प्रश्न है, जिसे प्रश्न रूप में रखकर इस चेतना-प्रवाह पद्धति के उपन्यास का अन्त हुआ है।

द्वाभा—१९५५

'परन्तु' और 'साचा' के पश्चात् 'द्वाभा' माचवे की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यह भी विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास है, किन्तु इसमें मात्र चेतना-प्रवाह विधि का ही प्रयोग नही हुआ, जैसा कि हमें 'परन्तु' में देखने को मिला। 'द्वाभा' में चेतना-प्रवाह-विधि एवं पूर्व दीप्ति-विधि का मिश्रित रूप अवलोकनीय है। उपन्यास का आरम्भ पूर्व-दीप्ति विधि द्वारा होता है—"सहसा उसके मन मे पूर्व स्मृतियों के कई बिखरे-से टुकड़े भीड़ बनकर जमा होने लगे : घरवालों के उल्लास भरे कहकहे, भाई का बार-बार चिढ़ाना, उन्नीस बरस की सलज्ज युवती आभा का उत्सुक धड़कता हुआ हृदय, शहनाई और बैंड के स्वर बंदनवार, फूलों के हार, वरमालाएं या सिमटते, मुलायम, गले से लिपटे डंसनेवाले अनचाहे नागपाश। बंगाली सहेली काजल ने उपहार में दी शंख की चूड़िया, बनारसी साड़िया, मिष्टान्न, भोज, हंसी-ठट्ठे। श्री की चित्रशाला में वह गुलाबी केशरी सांझ, जब आभा ने कहा—'हां, आपके स्टूडियो में जैसे एक और चित्र, वैसे ही मैं तुम्हारे

जीवन म प्रवेश कर रही हू न ?' और श्री के उच्छवास भरे, मादक, सुगन्धित आश्वासन जो दुनिया के आरम्भ से प्रत्येक हर तरुण प्रेमी अपनी प्रेमिका को देता आया है। वह श्री के पहाड़ो म लम्बे लम्बे सफर। विरह मे वह लम्बी-लम्बी उनींदी रातें। और उस समय का भावुकता भरा पत्राचार। और दो वर्ष बाद प्रथम सन्तान की कोमलता भरी आगमनी। और फिर मकरन्द मकरन्द राम्न क्या वे निरी सपनो की तितलियाँ थे, रग-बिरगी चटक, भड़कीली। या मात्र उर की सहज प्रतीति का वह व्याप था। निठुर, निमम अमिट अपरिवतनीय।"[1]

द्वाभा' का यह आरम्भ पूर्वदीप्ति विधि का उदाहरण अवश्य है किन्तु उपन्यास की नायिका की स्मृति इलाचन्द्र जोशी या अज्ञेय की नायिकाओ की स्मृति के वृहद् विश्लेषण रूप म प्रस्तुत नहीं हुई। माचवे ने कथा को समेट लिया है और इसे खण्ड-खण्ड कर चेतना प्रवाह विधि द्वारा प्रस्तुत किया है। 'द्वाभा' के प्रत्येक पात्र के मस्तिष्क की प्रत्येक निश्चित मूर्ति उसमे स्वच्छन्दापूर्वक प्रवाहित होनेवाले जल प्रवाह के रग मे दवी रहती है, जिसमे आत्मनिष्ठ जीवन का प्रवाह गतिमान है। लेखक वर्णनात्मक शिल्पी की भांति आभा का जीवनवृत्त एक इतिहासकार की भांति प्रस्तुत नही करता, वह एक चेतना प्रवाहवादी शिल्पी के नाते आभा, श्री आदि पात्रो की चेतना के छोटे-मोटे टुकडो को बीच-बीच म उभारकर प्रस्तुत करता है। आभा ने अगले दिन बच्चो को पाठ पढाना है इसके लिए वह पुस्तक उठाकर पढने लगती है, प्रसग है—'दुश्शील, कामी या दुर्गुणी कैसा भी पति क्यो न हो, साध्वी स्त्री को सतत पति को ईश्वर मानकर पूजना चाहिए।' परित्यक्ता आभा की विद्रोही चेतना बहिर्जगत (पुस्तक) से अन्तर्जगत (आत्मनिष्ठ चेतना) की दिशा म प्रयाण कर पुन सिमटते अन्धकार के साथ अपने विचारो को भी सजोने लगी "श्री काला सावला था, उसकी आखो की पुतलियाँ किसी भ्रमर से कम चचल नहीं थी। एक बार श्री ने उससे कहा था—'यह बहुत पिटा पिटाया रूपक है आभा, कमल और भौरा। यह इन कवियो को कुछ सूझता नहीं भ्रमरवृत्ति जो उनके मन मे है तो क्या स्त्रियाँ भी तितलियाँ जैसी नहीं होती ? मन की और पारे की एक जैसी गति है आभा। जैसे अभी तुम बात तो मुझ से कर रही हो, पर सभव है कि तुम ध्यान किसी और का भावरी भवर मे पड गई नाव। बाधो न नाव इस ठाव, बधु। हा, भ्रमरगीतसार भी तो कल पढाना है।"[2] आभा की भांति श्री भी स्मृतियो के ससार मे खोया है। उसकी स्मृतियाँ भी साधारण नहीं, असाधारण हैं जो उसकी चेतना को प्रतिपल आदोलित करती रहती हैं—"श्री के मन मे विशृखलित तसवीरें बनती-मिटती आ रही थी। उनकी एक झलक बम्बई का समुद्रतट, सुनसान जुहू की बालुका राशि और दूर से आती हुई एक आभामयी नारी आकृति, जितनी ऊंची समुद्र तरग की लावण्यमयी, नील, फुफकारती, फेनिल जल राशि, ताड और नारियल के पडो की बिखरी हुई कुन्तल राशि मे से सरसराता हुआ सायकाल और सुनहरी गहरी लाल काली

---

१ द्वाभा—पृष्ठ १ २

२ वही—पृष्ठ ६

संध्या की अनुभूति उसे दुबारा हुई। पुरी के तट पर…समुद्र की बात सोचते-सोचते उसे पहाड़ों की याद आई। नैनीताल से बागेश्वर जाते हुए बैजनाथ के पास शाम को देखा नन्दादेवी का त्रिशूल-शिखर पर हिमवन्त की वह पारदर्शी, चमचम, रजताभ किंवा स्वर्णिम झांईवाली झांकी। और उससे भी अधिक सुन्दर था दार्जिलिंग में देखा हुआ कांचनजंघा-शृंग, सुदूर, सफेद, हाथियों के झुंड से बादलों पर आरूढ़ राजसी, शृंखला-बद्ध नेपाल-भूटान, तिब्बत की त्रिसीमा का प्रहरी पति…अचानक श्री नृत्य कला की पुस्तक देखने लगा, और उसका मन समुद्र और पहाड़ से लौटकर चित्र की नारी आकृति की नीली आंखों और शिलिपत प्राय: स्तनमंडल पर अटक गया। केतकी के घर पार्टी थी…"[3]

आभा, श्री, श्यामा, सत्यकाम, अलताफ आदि पात्रों के मन की ट्रान्सपैरेंसी को प्रमुखता देने के कारण इनसे संबंधित कथा की इतिवृत्तात्मकता तथा शृंखला को लेखक गौण बनाता हुआ अनेक स्थलों पर शून्य की सीमा तक पहुंचा देता है। पाठक के मन में कथा शृंखला को जानने की जो उत्सुकता बनी रहती है उसे नये शिल्प के सहारे माचवे ने *कहीं पत्रों, कहीं स्मृतियों तो कहीं डायरी शैली का सहारा लिया है।* इनमें *भी* चेतना-प्रवाह विधि को प्रमुखता देने के कारण लेखक पूर्व स्मृतियों को अधिक महत्त्व देता है। अधिकांश पात्र पूर्व-स्मृतियों के जाल में फंसे है, मानो स्मृति चक्र-व्यूह में वे अभिमन्यु की भांति चले तो जाते हैं, उनसे निकलना नहीं जानते। परित्यक्ता आभा के जीवन में श्री के पश्चात् सत्यकाम आया और उसे एक पुत्र देकर चलता बना। उसे स्मरण कर उसकी चेतना में छायावेष्ठित ज्योति उभर आई। वह विचारने लगी कि स्त्री के साथ यह सलूक राम, दुष्यन्त, नल और बुद्ध तक ने किया। अज्ञात, अकारण, अस्पष्ट, उद्देश्यहीन, दुश्चिता जब उसके मन को खण्ड-खण्ड करने लगती है तब वह इस स्मृति पर व्यंग करती हुई कहती है—"दिवा स्वप्नों में यों डूबते-डूबते वह सहसा सोचने लगी कि मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु यह स्मृति है। यदि यह सम्भव होता कि पुराना सब भूल सकें तो कितना अच्छा होता। तब कोई मुश्किल नहीं रहती।"[4] आभा का यह कथन यथार्थपरक है। उपन्यास साहित्य में मनोविश्लेषण और बौद्धिक तत्त्वों के अन्वेषण के साथ-साथ जहां कथा सिमट गई, वहीं मन की शत-शत समस्याएं उभर आईं। व्यक्ति बहिर्जगत में लीलने की अपेक्षा अन्तर्मन की चिन्ता में घुटने लगा। आभा की यही अवस्था है। उसके मन में द्वन्द्व है, अन्तश्चेतना में अपार संघर्ष है। वह जितना मन को समेटना चाहती है, उतना ही वह बिखरता है। वह एकाग्र मन पढ़ नहीं सकती, बाह्य जगत में गौरव के साथ विचरण नहीं कर सकती। उसकी करुण दशा का चित्र डॉ० सुषमा धवन ने इन शब्दों में खींचा है—"वह परित्यक्ता नारी है जिससे उसके पति श्री विमुख हो चुके हैं और जिसके लिए समाज और जीवन दोनों शून्य बन चुके है। वह पुरातन और नवीन मान्यताओं के बीच मंझधार में नौका की भांति डोलती रहती है। उसके लिए केवल एक किनारा है—मरण, और वह क्षय रोग से ग्रसित होकर अपने प्राणों का परित्याग कर देती है।"[5] आभा की

३. द्वाभा—पृष्ठ २४-२५

४. वही—पृष्ठ ६५

५. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ २७१

मृत्यु वरण होने के साथ-साथ सचमुच एक प्रश्नचिह्न है। आधुनिक विघटनात्मक परि-
वेश में स्वतन्त्रोत्तर समाज में नारी स्वतन्त्रता का क्या मूल्य है? मुक्त-सहवास चिन्तन में
पुरुष की उन्मुक्तता पर कहीं कोई रोक-थाम नहीं, वह श्री बन आभा, श्यामा, ची-चुन्
को भोगकर मैले कपड़े की तरह उतारकर फेंक सकता है, पर नारी मात्र आभा के रूप में
मानसिक तनाव की स्थिति में जकड़न के लिए और पूर्व-स्मृतियों को स्मरण कर तिल-
तिल गल मरने के लिए ही उत्पन्न हुई है क्या? आभा का नित प्रति क्षण क्षीण हो रहा
तेज एक प्रश्नचिह्न बनकर हमारे सामने आता है। अपने अन्तिम पत्र में श्री से वह कहती
है—'क्या मुझ जैसी परिस्थितियों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं है? क्या मेरे
जीवन की वेदना की उत्तरदायिनी केवल मैं ही हूँ? क्यों ऐसा होता है कि समाज में मुझे
मान से प्रतिष्ठा और गौरव से लदे वे लोग घूमते हैं जो स्त्रियों के साथ जिम्मेदारी का
व्यवहार नहीं करते, जो नारी को निरा खिलौना समझते हैं और पापिनी कहलाती हैं
बेचारी स्त्रियाँ।'[६]

आभा ही नहीं, सत्यकाम और श्री भी अतीत मोह पूर्व-स्मृति विश्लेषक पात्र
है। केतकी के घर पार्टी है किन्तु श्री श्यामा के घर बैठा पूर्व स्मृतियों को चेतना प्रवाह में
बहा रहा है। श्यामा के पास सत्यकाम का फोटो देखकर वह खीझ उठता है। सत्यकाम-
श्यामा मुक्त व्यवहार, केतकी का उन्मुक्त जीवन, श्री श्यामा स्वेच्छाचार, पात्रों के
व्यक्तित्व को गठित करनेवाले तत्त्व हैं। खण्डित जीवन का दायित्व एक से विवाह और
अनेक से प्रेम आचरण का आडम्बर है जिसका अन्त दुःखद ही है। आभा के ललाम के
प्रति आकृष्ट जीवन में निरन्तर दो स्थितियाँ उत्पन्न हुईं—वह स्वयं स्वीकारते हुए कहती
है—'एक प्रकाश मिट रहा है, दूसरा उठ रहा है—दोनों के बीच द्वाभा...'[७] जीवन की
उच्छृंखलता भोग श्यामा मृत्यु का वरण करती है। श्री ने पहले आभा को त्यागा, दूसरी
का विवाह का वचन देकर उसे तोड़ा, तीसरी के प्रति इसलिए प्रेम दिखलाया कि उसके
द्वारा ऊँची नौकरी की आशा थी, श्यामा को भी ठगा और अन्त में चीनी लड़की ची-चुन्
से सहवास किया—पर सब मृगतृष्णा प्रमाणित हुआ, अन्त में आभा के प्रति झुकाव और
गत के प्रति क्षमा-याचना की भावना कथा में आदर्शवाद और भारतीय जीवन पद्धति के
प्रति आस्था जगाने के लिए नियोजित तत्त्व हैं।

वस्तुतः माचवे 'परन्तु' की अपेक्षा 'द्वाभा' में चेतना प्रवाह तथा पूर्व-दीप्ति विधि
के सूक्ष्म निदर्शन में अधिक सफल हुए हैं। कथा में कार्य-कारण संबंध भले ही न हो और
यह इस शिल्प विधि में सम्भव भी नहीं है, फिर भी 'द्वाभा' में लेखक मानवीय संवेदना
उड़ेलने तथा आधुनिकता की चुनौती को चित्रित करने में पूर्ण सफल हुआ है। इसमें
आधुनिक भारत के तथाकथित शिक्षित मध्यवर्ग की मान्यताओं, प्रवंचनाओं तथा नव
मूल्यों को रूपायन करने में लेखक पूर्ण सफल हुआ है। चेतना-प्रवाह धारा के कारण
उपन्यास उद्धरणों से भरा पड़ा है और इसमें बौद्धिकता का मिश्रण भी प्रशंसनीय है। इस

६ द्वाभा—पृष्ठ ८६
७ वही—पृष्ठ ६६

वौद्धिकता को विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि द्वारा नियोजित किया गया है। इस संबंध में डॉ० सुषमा धवन का यह कथन द्रष्टव्य है—"इसमें नारी की चिरंतन समस्या को मनोविश्लेपणात्मक शैली में उठाया गया है।"[८] इस उपन्यास में आभा, श्री, श्यामा, सत्यकाम आदि पात्रों की जीवनी नहीं, जीवन घटकों का विश्लेपण ही उपलब्ध होता है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने अब तक तीस उपन्यास लिखे हैं। इनके आरम्भिक उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प के अन्तर्गत आते है। 'प्रेमपत्र', 'मीठी चुटकी', 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'लालिमा' और 'प्रेम निर्वाह' सन् १६२५ से १६३५ के वीच लिखे गए उपन्यास है। इनका शिल्पगत महत्त्व नकारात्मक है। सन् १६३६ में इनका उपन्यास 'पतिता की साधना' प्रकाशित हुआ। यह प्रेमचन्द परम्परा का उपन्यास है। इसमें वर्णनात्मकता का आधिक्य है तथा कथाकार द्वारा कथा के बीच में आकर हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणतः लेखक लिखता है—"इन्हीं दो वर्षों में एक दुर्घटना और हो गई है। हम उस दुर्घटना की चर्चा न करते, किन्तु क्या किया जाए, वह ऐसी साधारण वात तो है नहीं, जो पचा ली जा सके। अब आज इस गांव में ही नहीं, निरंजन वावू के नाम से परिचित निकट के अनेक गांवों के सहस्रों निवासी उस वात को जानते हैं, तो हम ही उसको छिपाकर क्या करेंगे?"[१] इसके पश्चात् नन्दा के वैधव्य की करुण गाथा का वर्णन ही उपन्यास में किया गया है। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार का चित्रण वर्णनात्मक शिल्प-विधि के अनुसार हुआ है।

'पतिता की साधना' के पश्चात् 'पिपासा' और 'दो वहनें' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। इनमें वाजपेयी ने प्रेमचन्द परम्परा से खिंचाव प्रकट करके विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि की ओर अभियान किया है। 'पिपासा' का नायक कमलनयन एक वेकार ग्रेजुएट है। उसके मित्र नरेन्द्र की पत्नी शकुंतला उसे चाहती है। पति प्रेम और प्रेमी की चाह का द्वन्द्व ही इस उपन्यास का मूल केन्द्र है, इसे मध्यस्थ रखकर मनोवैज्ञानिक विश्लेपण किया गया है किन्तु पात्र कथाकार के हाथ की कठपुतली वनकर रह गए है; उनका व्यक्तित्व उभर नहीं पाया; उनका मनोद्वन्द्व चमक नहीं पाया। 'दो वहनें' में पात्रों के घात-प्रतिघात का विश्लेषण 'पिपासा' की अपेक्षा अधिक सफल रहा है।

निमंत्रण—१६४२

'दो वहनें' (१६४०) के पश्चात् 'निमंत्रण' (१६४२) का प्रकाशन हुआ। यह विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारों की प्रमुखता है। परिस्थितियों और पात्रों का सफल विश्लेपण हुआ है। वातावरण प्रभावशाली है। इस संबंध में आचार्य नन्ददुलारे का यह कथन ठीक ही है—

---

८. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ २७१
१. पतिता की साधना—पृष्ठ १६

"भगवतीप्रसादजी आरम्भ में प्रेमचन्दजी का आंशिक प्रभाव लेकर चले थे, पर शीघ्र ही उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व चित्रों की प्रमुखता होने लगी और पात्रों और परिस्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व दिखाया जाने लगा। यह एक नया उपक्रम था जो हिन्दी उपन्यास को वैयक्तिक चरित्र सृष्टि और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर ले आया। यह एक दृष्टि से पुरानी विवरणपूर्ण सामाजिक उपन्यासों की पद्धति से आगे बढ़ा हुआ प्रयास है, पर दूसरी दृष्टि से इसमें एक अनिवार्य दुर्बलता भी है। जब कभी ये उपन्यास सामाजिक प्रगति की भूमि को छोड़कर ऐकान्तिक मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में लग जाते हैं, तब न तो सच्चे अर्थ में नया चरित्र-निर्माण ही हो पाता है, और न उपन्यास की सामाजिक उपादेयता ही रह जाती है। जो पात्र और परिस्थितियाँ इन उपन्यासों में चित्रित होती हैं, वे कभी-कभी दर्शन और मनोविज्ञान के नाम पर निरुद्देश्य भावुकता या चारित्रिक दुर्बलता को ही अंकित करती हैं।"[1] एक अन्य आलोचक इनके संबंध में यही विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—"भगवती प्रसाद वाजपेयी पहले तो प्रेमचन्द की पद्धति पर चले, पर धीरे-धीरे मनोविश्लेषणवादी बनते गए और अन्तर्द्वन्द्व चित्रण की ओर बढ़ते गए हैं।"[2]

इन आलोचकों का यह कथन 'निमंत्रण' पर लागू करके परखें। इस रचना का प्रत्येक अध्याय किसी न किसी दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक तथ्य की उद्घाटक पंक्तियों के साथ-साथ होता है, फिर उस अध्याय की कथा, उसके पात्र, कथोपकथन सभी उस कथन की सार्थकता सिद्ध करने में तत्पर दृष्टिगोचर होते हैं। इस उपन्यास में विचार ही प्रमुख हो गया है, घटना विधान, पात्र योजना और संभाषण सभी विचारों के साथ-साथ घूमते हैं। उपन्यास के आरम्भ में ही नायक गिरधारीलाल विचारों की दुनिया में लीन बैठा है। उसका पुत्र बीमार है, अन्न पत्नी संतप्त है, किन्तु उसे इनकी कोई चिन्ता ही नहीं, चिन्ता है तो अपने विचारों की—मनुष्य आदर्श के लिए लड़ रहा है : चलना तो गति नहीं है। यह तो घसीटना है—दुर्गति : दुर्गति से कैसे बचा जाए : सम्पादकीय लिखना है : आदि विचार नायक के मस्तिष्क में खलबली मचाते दिखाए गए हैं। घटना भी मस्तिष्क में होती है, स्मृतियों के चयन के रूप में सामने आती है। संयोग तथा अनायास परिस्थिति और घटनाओं को क्षण में बदलते देखा जा सकता है। दूसरे अध्याय में अचानक ही मालती गिरधारी भेंट—'विवश अवसर आते हैं और व्यक्ति को अपना पूरक मिल जाता है'—विचार की पूरक भेंट है, पूर्व नियोजित, शृंखलाबद्ध, स्वाभाविक मुलाकात नहीं।

और शृंखला आए भी कैसे ? इस उपन्यास का कथा तत्त्व ही अत्यन्त भीना है, क्योंकि यह विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की कृति है। कथानक के नाम पर गिरधारी परिवार और मालती के प्रवेश की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति ही सर्वस्व है। गिरधारी और रेणु की वैवाहिक यात्रा सुखद नहीं कही जा सकती, तभी उसमें मालती का प्रवेश हो जाता है।

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न—पृष्ठ १७७

२ डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास—

मालती एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसको विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि द्वारा हल किया गया है। रेणु-गिरधारी दाम्पत्य की शुष्कता उपन्यास की केन्द्रस्थ स्थिति नहीं है; गिरधारी-मालती मनोद्वन्द्व ही वह धुरी है जिसके चारों ओर सभी घटनाएं और पात्र घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। गिरधारी-मालती भेंट के पश्चात् ही उपन्यास में सक्रियता आई है। पात्रों के व्यवहार में अद्भुत वैचित्र्य और जटिलता प्रविष्ट हुई है। कथाकार ने गिरधारी मालती और रेणु के अन्तर्मन की तिल-तिल खोज-बीन की है; उनकी मनोभावनाओं, क्रिया-कलापों, विचारों और संवेगों का विश्लेपण किया है।

डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' का यह कथन बिल्कुल ठीक है जिसमें वे कहते हैं—"वे संघर्षरत कार्यकर्ता हैं पर उनका मानसिक द्वन्द्व भी कम महत्त्वपूर्ण नही। और यह कहना असत्य नहीं होगा कि 'निमंत्रण' मे मानसिक द्वन्द्व ही प्रमुख हो गया है। हम सहज ही इस उपन्यास को अन्तर्द्वन्द्व प्रधान उपन्यास कह सकते है।"[1] अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण स्थिति ही विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास की आत्मा है। अतः 'निमंत्रण' के अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण स्थलों की खोज ही हमारा लक्ष्य है। 'निमंत्रण' में ऐसे स्थलो की भरमार है जहां पात्र अन्तर्मन में द्वन्द्व की अनुभूति करते हैं। सबसे पहले नायक गिरधारी को ही लें। वह एक विवाहित, उत्तरदायित्वपूर्ण सामाजिक प्राणी है। किन्तु मालती का साक्षातकार उसके मर्म में एक द्वन्द्वपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देता है; वह उसके निमंत्रण पर झट उसके साथ चल पड़ता है, और मालती के ये शब्द—'तो मैं जीवन-भर के लिए निमंत्रण देती हूं। आपको कही जाने की आवश्यकता न होगी' (पृष्ठ १४) उसके कान में गूंजने लगते है; उसकी मनोदशा ही बदल देते है; वह उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति बनकर रह जाता है; उसकी सामाजिकता का लोप होने लगता है, वैयक्तिकता का विकास हो जाता है।

'सुबह के भूले' की नायिका जब ठाठदार फ्लेट देखकर आती है, तब उसके मन में हीनता की ग्रन्थि जम जाती है। उसकी समस्त मानसिकता ही बदल जाती है, वह घर की चीजें बिखेर डालती है; 'निमंत्रण' में मालती की मनोदशा भी कम विकृत नही होती, उसे शर्माजी (गिरधारीजी) का सामाजिक मान एक नई प्रेरणा देता है—'क्या मैं ऐसा नहीं बन सकती ?' और दूसरे दिन उसके घरवाले देखते है कि वह रेशमी साड़ियों के स्थान पर खद्दर की साड़ियां ला-लाकर घर भर देती है। उसके मन के अन्र्ततम कोने में यह भाव जम गया है—'गिरधारी को पराभूत करना है।' उसे खद्दर की साड़ी में देखकर गिरधारी के आश्चर्य के साथ-साथ पाठक के विस्मय की भी सीमा नही रहती। मालती प्रिय-अप्रिय, अनुचित सब करने को तैयार है। उसकी उच्छृंखलता सामाजिक मर्यादाओं के बंधन तोड़कर बह जाने को तत्पर है। उसकी वैयक्तिकता चरित्र की नव मीमांसा करती है।

"मैं आजाद हूं—मैं पुरुषों के बीच रहती हूं—उनसे स्वतन्त्रतापूर्वक मिलती हूं। बस, इसलिए मैं चरित्रहीन हूं। और घरों के अन्दर सीता और सावित्री जैसी सती,

---

१. निमंत्रण : एक अध्ययन—पृष्ठ १७७ साहित्यकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी में संगृहीत लेख से अवतरित

शकुन्तला और उसकी जैसी सुन्दर स्त्रियों को पालते हुए भी जो लोग केप्ट प्रास्टीच्यूट (रक्षित वश्या) रखते हैं, वे क्या हैं? रह गई चरित्र की बात, सो वह केवल शरीर के ही स्थूल व्यापारों तक सीमित है, मैं नहीं मानती। चरित्र मानसिक सदाचार का दूसरा नाम है। जो लोग दुनिया भर के षड्यन्त्र, छल प्रपंच, कपट, धूर्तता तथा ईर्ष्या-द्वेष के खून में रंगे रहते हैं, जो मनुष्य के साथ कुत्ते का सा व्यवहार करते नहीं लजाते, जो सत्य और न्याय से दूर रहकर एकमात्र स्वार्थों में ही मलग्न रहते हैं, पैसे के बल पर जो जमीन और जायदाद, स्त्री और प्रेयसी के लिए भाई और पुत्र तक का छिपकर सत्यानाश कर सकते हैं, जो समाज उन्हें चरित्रहीन नहीं मानता, मैं ऐसे समाज को नहीं मानती।"[२]

यह द्रोह समाज के प्रति ही नहीं है, शिल्प के प्रति भी नव दृष्टिकोण है। आज का उपन्यास बदल रहा है। समाज के प्रति, चरित्र के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल रहा है और यह परिवर्तित दृष्टिकोण नये शिल्प में अपना स्थान पा रहा है, किन्तु इसकी अपनी सीमाएं भी हैं। सीमाओं का अतिक्रमण किसी को भी मान्य नहीं हो सकता। नये शिल्प में एक ही विचार की पुनरावृत्ति हमें ही नहीं प्रत्येक पाठक को खटकेगी। 'निमन्त्रण' में चरित्र शब्द को लेकर ही दो बार विश्लेषण किया गया है और लगभग उन्हीं शब्दों में किया गया है। ऊपर मालती के द्वारा चरित्र शब्द का विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है आगे चलकर कथाकार विचार प्रतिपादन के लिए बारहवें अध्याय में पुन चरित्र शब्द को लेकर इसकी चीर-फाड़ करने लगता है—

"चरित्र का मूल्यांकन करते समय हम प्राय शरीर धर्म की ओर ही अपनी दृष्टि रखते हैं। किन्तु पुरुष और स्त्री के मिलन को, जहां तक वह शरीर धर्म से सम्बद्ध है, चरित्र के मूल्यांकन में अधिक महत्त्व देने का अर्थ है—छल, कपट, अविश्वास, कृतघ्नता, दम्भ तथा आडम्बर आदि उन वृत्तियों की उपेक्षा करना, जिनका नियन्त्रण मानवता के विकास के लिए आवश्यक है।"[३]

यह ठीक है कि उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है, किन्तु मानव चरित्र का चित्र है, चरित्र शब्द का चित्र नहीं। 'निमन्त्रण' में दिए गए चरित्र शब्द के अर्थ और विश्लेषण अति की सीमा का भी उल्लंघन कर गए हैं। विचारों की इस ऊहापोह में चरित्रों का स्वाभाविक विकास रुक गया है। वे विचारों की कठपुतली बनकर रह गए हैं। चरित्र की व्याख्या प्रसगात्मक नहीं है, अपितु प्रेम, प्रवंचना और पीड़ा तक सीमित होकर रह गई है। मालती सोचती है कि प्रेम के बदले उसे प्रवंचना मिली है। गिरधारी-मालती के आह्वानों की अवहेलना करने पर भी अनन्त पीड़ा की अनुभूति करता है। यह पीड़ा भी दो मुखी है, पीड़ित के साथ साथ पीड़क को भी ग्रस्त करती है और विश्लेषण की प्रक्रिया के लिए तैयार करती है। वैवाहिक जीवन की अभिशप्त दशा का विश्लेषण करते हुए गिरधारी कहता है—'विवाह का अभिशाप भोगते-भोगते स्वस्थ-से-स्वस्थ और सुन्दर से सुन्दर स्त्री दस वर्ष के अन्दर प्राय सूखकर चकनाचूर हो जाती है गृहस्थी का भार उसकी

---

२ निमन्त्रण—पृष्ठ २६

३ वही—पृष्ठ १००

समस्त महत्त्वाकांक्षाओं को धूल में मिला देता है। उसका सारा दिन केवल खाना बनाने, बच्चों की देखभाल करने और दैनिक आवश्यकताओं के अनुसार घर को पूर्ण और तत्पर रखने में बीत जाता है। व्यक्तिगत स्वास्थ्य, सौन्दर्य और मानसिक विकास के रक्षण और उन्नयन का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता। चारों ओर से घिरकर, विवश होकर, वह पति की सहचरी न रहकर सर्वांश में एक अनुचरी हो जाती है।"[४]

विनायक का आगमन ही उपन्यास की एकमात्र बड़ी घटना है जो कथा को गिरधारी-रेणु, मालती त्रयी से ऊपर उठाती दृष्टिगोचर होती है। अन्यथा सर्वत्र विचार और मनोद्वन्द्वपूर्ण स्थितियां ही फैली हुई है। बीमार पत्नी रेणु को गिरधारी विचारों की दवा से रोगमुक्त करना चाहता है। विनायक भी कथा मे प्रवेश करके विचारवाहक का कार्य करता। तीन विषयों (दर्शन, संस्कृत और इतिहास) में एम० ए० करने पर भी बेकार हैं। स्त्री की महानता में इसका विश्वास है,तभी तो कहता है—"स्त्री मे मैंने पाया है वह हृदय जो सब कुछ खोकर भी रिक्त नहीं होता, जो अजेय होकर भी सदा पराजित, असमर्थ होकर भी सदा आत्मदान में तत्पर रहता है।" (पृष्ठ ५४) आगे चलकर विनायक-मालती संबंध विवाद में परिणित हो जाता है।

विपिन्न एक कर्मठ किन्तु विपन्न युवक है। इसका प्रवेश एक कथा का उद्घाटन मात्र नहीं करता; स्त्री-पुरुष के वैवाहिक जीवन की विषम विकृति पर प्रकाश डालता है। विपिन्न की पत्नी शरीर से ही असुन्दर नही है; मन से भी विकृत है, तभी तो एक कहार से अनुचित संबंध स्थापित कर लेती है। 'निमंत्रण' का यह अंश मनोवैज्ञानिक केस है। मालती प्रवेश के कारण गिरधारी-रेणु दाम्पत्य में कटुता आती है; उधर कहार से पत्नी के अनुचित संबंध की कल्पना कर विपिन्न विषपान करता है। 'निमंत्रण' में भी 'प्रेत और छाया की तरह के कुछ विश्लेषण विद्यमान है। जो पति-पत्नी के दूरस्थ हो रहे संबंधों के रहस्य पर प्रकाश डालते हैं। एक-दो उदाहरण द्रष्टव्य है—

"क्या इसमें कोई संदेह है कि मैंने इनके पीछे अपनी समस्त महत्त्वाकांक्षों को मिट्टी में मिला दिया है? कुछ न कुछ तो मैं भी हो ही सकती थी। मैं कविता नही लिख सकती थी? कहानी लेखिका होना मेरे लिए कौन मुश्किल था? आज जो यश मालती पा रही है, क्या मैं उसकी अधिकारिणी नहीं हो सकती थीं? वय में वह मुझसे सिर्फ दो वर्ष छोटी है। किन्तु मेरे और उसके बीच कितनी गहरी खाई है। वह पास आ जाती है, तो उसे छाती से लगा लेने को जी आतुर हो उठता है। अपनी एक-एक भाव-भंगिमा से वह कितना आकृष्ट करती है। क्या ये मेरा निर्माण ऐसे उत्तम ढंग से नहीं कर सकते थे कि घर की चहारदीवारी के बाहर भी मैं आ-जा सकती? इन्ही दीवारों के भीतर निरंतर बन्द रखकर इन्होंने मुझे क्या दिया? और तब, जब मैं उत्तरोत्तर मरण की ओर जा रही हूं, ये पूछते है—मैं तुम्हारे लिए क्या करूं।"[५]

आत्म-विश्लेषण के साथ पर-विश्लेषण की प्रक्रिया द्वारा गिरधारी का चरित्र-

---

४. निमंत्रण—पृष्ठ ४४

५. वही—पृष्ठ ८०

चित्रण और विचार-परम्परा उदघाटित किए गए हैं। रेणु अपने पति के ही शब्दों को मालती के सम्मुख कहते हुए उनके विचारों तथा पुरुष चरित्र का रहस्य खोलकर रख देती है। कहती है—"कहते थे—प्रेयसी, प्रेयसी तो देवी होती है। वह अचना की वस्तु है। उसके साथ कहीं विवाह हो सकता है? विवाह तो देवी को नारी बना डालता है। विवाह तो शरीर के उन स्थूल व्यापारों से सम्बद्ध है, जिनसे गन्ध आती है—जो बासी पड़ते पड़ते अन्त में सड़कर जाते हैं। किन्तु प्रेयसी तो प्राणेश्वरी होती है। विवाह तो भूख शान्ति का एक भाग है। किन्तु तृष्णा जो अजर होती है, उसकी शान्ति तो प्रेयसी ही करती है, अपने आत्मदान से। वह बदला नहीं चाहती। उसे कोई आकांक्षा नहीं होती। वह अर्पित ही करती चलती है। किन्तु पत्नी? वह तो बदला चाहती है। चाहती है कि वह कुछ पाए, उसको कुछ प्राप्त हो। कल्पना पर उसका विश्वास नहीं होता। मानसिक पूजा का जो सौंदर्य होता है, एक माधुर्य होता है, वह उससे दूर रहती है। वह नश्वर है।"[६]

गिरधारी रेणु का मूल विरोध मानसिक ग्रन्थियों का विरोध है। रेणु पतिव्रता प्राचीना है। गिरधारी आधुनिक है। वह चाहता है रेणु महत्त्वाकांक्षाओं की बलि न देकर उसकी सहचरी बने, किन्तु रेणु अनुचरी मात्र बनकर रह गई। इसी कारण विरोध बढ़ता गया। रेणु घर की घुटन में घुटती रही, गिरधारी मन में घुटकर क्षीण हो गया। अतः सिद्ध होता है कि सफल दाम्पत्य के लिए शारीरिक मिलन ही पर्याप्त नहीं है, मानसिक मिलन और सन्तुलित मानसिक गठन ही अनिवार्य है। 'निमन्त्रण' की परिधि में भी इस तथ्य का उदघाटन हुआ है। एक स्थल पर लेखक ने लिखा है—"हमारे देश में स्त्री का संसार प्रायः पुरुष से भिन्न होता है। व्यस्तता और खीझ के कारण प्रायः पुरुष स्त्री को अपनी उलझनों, ग्रन्थियों और असुविधाओं का परिचय तक नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री उनसे दूर हो जाती है।"[७] गिरधारी-रेणु का प्रणय कुछ समय अनन्तर विरोधी भाव-प्रवणता के प्रवाह में गतिशील हुआ है।

'निमन्त्रण' में दार्शनिक विश्लेषणों की भी कमी नहीं है। सत्ताईस अध्यायों की आरम्भिक पंक्तियों में कहीं मनोवैज्ञानिक तो कहीं दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत हैं। पहले, दूसरे, छठे, नवें, दसवें, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, सोलहवें, अठारहवें, इक्कीसवें, तेईसवें, पच्चीसवें और अन्तिम यानि सत्ताईसवें—अध्यायों का आरम्भ दार्शनिक विश्लेषणात्मक पंक्तियों के साथ हुआ है। इनमें आदर्श, जगत, अविवाहित नारी, सिद्धान्तों के संघर्ष, हिंसा, आनन्द और भोग, यथार्थ और जीवन के नाना दार्शनिक पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उसके पश्चात तदोनुकूल परिस्थितियों और पात्रों की अवतारणा हुई है।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी के उपन्यासों के पात्र अधिकतर आदर्शवादी होते हैं, किन्तु यहां वे जीवन की यथार्थ परिस्थितियों की अवहेलना नहीं करते। 'निमन्त्रण' के गिरधारी, विपिन और विनायक आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ की सीमाओं में बंधकर

---

६ निमन्त्रण—पृष्ठ २२६
७ वही—पृष्ठ १११

चले है। यथार्थ स्थिति के सम्मुख वे वैश्लेषिक प्रक्रिया द्वारा विजय प्राप्त करना चाहते हैं। इन पात्रों का व्यक्तित्व बड़ी सूक्ष्मता से अंकित किया गया है—जैसे गिरधारी के संबंध में लेखक इतना भर लिखकर भी बहुत कुछ कह गया है—गिरधारी: अवस्था चालीस के लगभग, वर्ण गेहुंआ। लम्बी नाक पर सुनहले फ्रेम के चश्मे का ब्रिज। खादी का कुरता पहनते हैं। पैरों में अक्सर चप्पल रहता है, कभी-कभी लाल महाराष्ट्र जूता, जिसकी ऐड़ी मुड़ी हुई है। पैदल ज़रा तेज़ चलते है। काम के समय मज़ाक से चिढ़ते है। हाथ में छाता-छड़ी कुछ नही रखते। सिर प्रायः खुला रहता है। बालों का एक गुच्छा कभी-कभी दाईं भौंह तक आ जाता है।"[८] इसी प्रकार का एक शब्द चित्र विनायक द्वारा पूर्णिमा के सौन्दर्य के संबंध में पृष्ठ १३७ पर दिया गया है। इस प्रकार के सूक्ष्म चित्रण वैश्लेपिक शिल्प के उपन्यासो मे ही सभव हुए हैं।

कायर—१९५१

श्री राजेन्द्र शर्मा रचित 'कायर' विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास है। इसका नायक प्रोफेसर शशिनाथ असामाजिक पात्र है जो एक अशिक्षित पत्नी रमा को पाकर निराश और दुःखी रहता है। कथाकार समस्त कथा में उसके अस्वस्थ कॉम्पलेक्स (Morbid) का ही विश्लेषण करता है। आत्मक्षुद्रता (Inferiority Complex) से ग्रस्त शशिनाथ अपनी छात्रा सुमन को ट्यूशन पढ़ाते-पढ़ाते आत्मगौरव की अनुभूति के स्थान पर एक अद्‌भुत कायरता की अनुभूति करता है। सुमन उसपर समय-असमय कटाक्ष कर कहती है कि पुरुष की कायरता नारी के लिए सदैव हास्यास्पद रही है और रहेगी।

शशिनाथ के जीवन में उभरी समस्याएं उसके असामाजिक एवं भीरू व्यक्तित्व का प्रतिफलन है। वह स्वयं को सामाजिक विधान के अनुकूल ढाल न सका। सुमन के प्रति अपने आकर्षण को वह जितना नकारता है उसकी अन्तश्चेतना में अन्तर्निहित अचेतन इच्छाएं उसके चेतन नैतिक आदर्शों से उसी प्रबल वेग के साथ टकराती हैं और उसके दैनिक व्यवहार तथा चिन्तन क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न करती हैं। परिणामस्वरूप उसकी चेतना भी ह्रासोन्मुखी होने लगती है और वह अपने को कायर मान आत्म विश्लेपण करता है—"मन का चोर···कायरता···किसी को सफाई देने की आवश्यकता नहीं रहती। रमा का तात्पर्य क्या है? क्या मेरे मन में कोई चोर है? क्या मैं कायर हूं··· कायर?···इस समय सुमन का खिलखिलाता चेहरा उनके सामने आया; वह कह क्या रही थी—'पुरुष की कायरता नारी के लिए सदैव हास्यास्पद है और रहेगी प्रोफेसर साहब।' तो क्या मैं वास्तव मे कायर हूं?···नहीं, नही—मैं कायर नही हूं—"[१] शशिनाथ का यह अस्वीकारना कि वह कायर नहीं है, महान आत्मप्रवंचना है। वह जितना ही स्थिति को सुलझाने के लिए सबल बनने का उपक्रम रचता है, वह उतना ही उलझता जाता है। सुमन के पिता नारायणबाबू द्वारा अपने साथ सुमन के खिंचे फोटो को देखतडा

---

८. निमंत्रण—पृष्ठ ५

१. कायर—पृष्ठ ४४

उठता है और नारायण बाबू का यह कहना है कि फोटो यहा ही छोड जाइए, इस स्थिति से मुक्ति का प्रयास करेगा। शशिनाथ इसके लिए प्रयास करता भी है किन्तु वह जीवन मे स्फूर्ति लाकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाने के स्थान पर रमा रचित परिस्थिति मे जकडा जाता है और अपने पारिवारिक जीवन के भीतरी स्तरो को खोलने मे पुन असमर्थ रहता है।

अपने जीवन की विफलता देख शशिनाथ पुन तडप उठता है और आत्मविश्लेषण कर कहता है—"क्या मेरे नैतिक से निश्चय ने तमाम जीवन के लिए मेरे मुख पर कालिमा लगा दी है? यदि छोकरो की आवाजो को अनसुनी करके मैं सुमन को पढाता रहता तो क्या बिगड जाता? तभी अन्दर से कोई बोल पडा—'नहीं, तुम गिर रहे थे। सुमन का ट्यूशन छोडकर अच्छा किया। पर आगे तुमसे बात सभल न सकी। तुम डरपोक हो, कायर, निकम्मे पौरुषविहीन तुम्हारे मन मे चोर है काला हा, तुम्हारे चरित्र मे ही कुछ है। राजाराम सुमन को साथ देखकर मेरे मन मे दूषित भावना क्यो आ गई दोष मेरा है दोष मेरा है। रमा, तुम जहा कही भी हो लौट आओ मेरे अपराध का तुमने बहुत बडा दड दे दिया है। मुझे क्षमा करो, क्षमा करो।"[२] शशिनाथ की यह आत्म स्वीकृति एव आत्म प्रताडना एक भारी प्रश्नचिह्न है। प्रश्न वैयक्तिक भी है, नैतिक और सामाजिक भी है।

इधर सन् १९२९ मे 'लज्जा' लिखकर श्री इलाचन्द्र जोशी ने अप्रकृत (Abnormal) और कायर, आत्मक्षुद्रतारत चरित्र (Coward and Character of Inferiority Complex) की जो सर्जना आरम्भ की, 'कायर' उसी परम्परा की रचना है। अन्य विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की रचनाओ की भांति 'कायर' का वस्तु तत्त्व झीना एव स्वल्प है। चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक है और पात्रो का व्यवहार कही असतुलित, कही अप्राकृतिक, कही एक प्रयोग बन गया है। प्रा० शशिनाथ का समस्त व्यवहार असतुलित तथा असामयिक है। रमा शशिनाथ सबध अस्वस्थ एव अप्राकृतिक तथा असामान्य होते गए हैं और सुमन राजाराम तो जीवन को एक प्रयोग मानकर कार्य योजना बनाते ही है। जैसे सुमन का एक स्वतन्त्र चेता, व्यक्तिवादी प्रतिक्रियावादी नारी बन पुरुष द्वारा अपमानित, पददलित और भूलुण्ठित बनने के स्थान पर उसे शोषित करने की विडम्बना रचने की भूमिका तैयार करना। शशिनाथ तो प्रतिक्षण अपने भीतर तनाव की अनुभूति करता ही है परन्तु अशिक्षित, सामान्य आचरणगामी पतिव्रता रमा भी सौत की भयकरता की परिकल्पना मात्र से असामान्य मन स्थिति का उपक्रम रचती है।

'कायर' उपन्यास का वातावरण बाह्य घटनाओ के स्थान पर चिन्तना से परिपूर्ण है। इसके लगभग सभी पात्र शशिनाथ, रवि, रमा, सुमन, राजाराम, गौरी, नारायणबाबू अपने जीवन मे आई परिस्थितियो तथा घटनाओ पर मनन एव विश्लेषण करते दर्शाए गए हैं। सब परिस्थितियो का दायित्व शशिनाथ पर डालते हुए उनका छात्र राजाराम विश्लेषणात्मक शब्दो मे कहता है—"आपके मन के पाप ने ही आपके वातावरण की पवित्रता को नष्ट किया है। सुमन का शुचितम स्नेह और रमा का पावनतम त्याग आप

---

२ कायर—पृष्ठ ८६

समझ नहीं सके और समझ नहीं सकते···यदि समझ गए होते तो आज यह स्थिति न होती।"[3] विश्लेषणात्मक विचार सर्जना के कारण 'कायर' में अभिव्यक्ति का संयम रखा गया है। उपन्यासकार कहीं भी पात्रों के शील, अशील, व्यवहार या चिन्तना के संबंध में अपनी ओर से टीका-टिप्पणी नही करता। उसने पात्रो के कार्यो और उनसे उद्भूत अन्तर्द्वन्द्व को उन्ही के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कायर' की मूल समस्या क्या है ? मेरे विचार से 'कायर' की मूल समस्या आधुनिक स्त्री-पुरुष संबंध के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय पत्नी की वेदना है। 'कायर' के समस्त कथा सूत्र रमा की ट्रेजेडी को अभिव्यक्ति देने के लिए चुने गए है। नारी अशिक्षित हुई तो क्या ? एक स्थल पर वह अवश्य मुखरित और क्रान्त हो उठती है। सौत को वह अपनी छाती पर कभी सवार नहीं देख सकती। सीधी-सरल दीखने वाली रमा भी समय आने पर कहती है— "नारी अपने को पद्दलित समझे ही क्यों ? यह तो समाज के ठेकेदारों का ढकोसला है। जिस दायित्व की डोर से पति-पत्नी को बांध दिया जाता है, उसे ये ठेकेदार समझते हैं कि हम एक चरणदासी को नकेल डालकर ले आए। जब तक मन स्वीकार करता है कि पति दान कर रहा है, इसलिए प्रतिदान का भागी है, तब तक नारी भी अपना कर्त्तव्य पूरा करती चले; और जब दान नही, तो प्रतिदान कहां ? यहां पर आता है त्याग। यह कोई आदर्श नहीं कि पति तो तुम्हारे लिए बन जाए पत्थर, और तुम उसे मनुष्य मानकर उसकी सेवा करती रहो। ऐसे पति को बारम्बार नमस्कार है।"[4] कायर' में उपन्यासकार इस दृष्टि से सफल हुआ कि उसने सशक्त पात्रों की बजाय रमा, शशि जैसे दुर्बल-मना नायक प्रस्तुत कर उनमें चरित्र के साथ-साथ व्यक्तित्व का निर्माण किया है। वस्तुतः दुर्बल चरित्र नायक का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत करने के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टि और विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की आवश्यकता है, वह श्री शर्मा में वर्तमान है।

रामेश्वर शुक्ल अंचल

रामेश्वर शुक्ल अंचल हिन्दी में कवि के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु इन्होने कई सामाजिक और व्यक्तिवादी उपन्यास लिखकर वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शिल्प का सहारा लिया है। एक आलोचक के मतानुसार इनकी रचनाओं में यौवन की तृषा, रूप की लालसा एवं प्रेम की मादक अनुभूति का अंकन हुआ है।[1] अपने प्रथम दो उपन्यासों 'चढ़ती धूप' (१९४५) तथा 'नई इमारत' (१९४६) में लेखक ने सामाजिक जीवन की कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याएं चित्रित की है। 'चढ़ती धूप' की ममता और 'नई इमारत' की आरती आधुनिक सामाजिक चेतना में होने वाले विकास सूत्रो की परिचायक है किन्तु अपने तीसरे उपन्यास 'उल्का' में लेखक ने नारी की वैयक्तिक गाथा को उसके विभिन्न आयामों में चित्रित करके विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि की ओर पग बढ़ाए है।

---

३. कायर—पृष्ठ ९३
४. वही—पृष्ठ १०४
१. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १२९

उल्का—१९४७

उल्का की विश्लेषणात्मकता एवं वैयक्तिक चेतना असंदिग्ध है। इस संबंध में एक आलोचक का कथन है—"इस उपन्यास की नायिका मंजु के माध्यम से लेखक ने आधुनिक चेतना से अनुप्राणित एक ऐसी नारी की सृष्टि की है जो अपने अन्तर्द्वन्द्व के रूप में परिस्थितियों का चित्रण करती है।"[२] मंजु में चरित्र नहीं है, पर व्यक्तित्व है। यह व्यक्तित्व अंतर्द्वन्द्व के क्षणों में पनपता है और यही इसे विश्लेषणात्मक शिल्प विधि की श्रेणी में ले आता है।

'उल्का' आत्मचरितात्मक शैली में रचित उपन्यास है। इसकी नायिका मंजु स्वयं अपने मन की गहराइयों में प्रवेश कर अन्तःप्रेक्षण विधि द्वारा अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व का विश्लेषण करती है। वह एक निम्न मध्यवर्ग में पली युवती है जिसका विवाह किशोर से होता है। किशोर एक असभ्य, अमानवीय तथा कामुक व्यक्ति है जिसे मंजु आंतरिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार नहीं है। किशोर की क्षुद्रता, क्रूरता तथा आदर्शहीनता मंजु को चाँद नामक मृदुभाषी सुसंस्कृत युवक की ओर अग्रसर होने का परिवेश तैयार करती हैं। मंजु अनवरत अपनी पराधीनता तथा निःस्वत्व अवस्था का विश्लेषण करते हुए कहती है—'मेरा शरीर स्त्री का शरीर है। मेरा मन लाचारी का मन है, जो मिलता है, मिलेगा। मुझे तो जन्मावधि सहते जाना है। चाहने न चाहने का कोई मूल्य ही नहीं है।'[३] अनेक स्थलों पर हम देखते हैं कि मंजु की आस्था डिगने लगती है। वह वीर बन परिस्थितियों के प्रघात सहना चाहती है किन्तु परिवेश बड़ी निर्ममता से उसे कुचलता है। किशोर मंजु को *वासनापूर्ति के खिलौने से अधिक कुछ नहीं समझता*, जबकि मंजु इस परिस्थिति से पीड़ित है। उसकी मान्यता है कि नारी केवल शरीर नहीं—केवल स्थूल क्षुधा और तृषा की गठरी नहीं। किशोर को मंजु का परपुरुषों के सम्पर्क में आना अच्छा नहीं लगता, पर वह उसी के भतीजे प्रकाश से भी प्रेम संबंध बढ़ाने को आतुर है। यहाँ स्त्री-पुरुष संबंध उनका सहज प्रस्फुटन तथा प्रतिफलन जर्जर सामाजिक मान्यताओं तथा नवीन नैतिक स्थापनाओं के लिए एक प्रश्नचिह्न बनकर सामने आता है। प्रश्न है कि क्या मंजु कामुक किशोर से बंधी रहकर घुटन, कुण्ठा और असहाय स्थिति को घसीटे लिए जाए या विद्रोह करके अपने व्यक्तित्व को उभारे। 'उल्का' का कथाकार मंजु द्वारा नारी, मधुनामक नारी के विद्रोह को तीव्र, व्यापक और सक्षम रूप में विश्लेषित करता हुआ रूढ़िग्रस्त, मर्यादित कालीन सामाजिक पीढ़ी के लिए एक प्रश्नचिह्न लगाता चलता है। विद्रोही प्रकाश कह उठता है—"विवाह कहीं किसी के लगाने से लगता है या करवाने से होता है, उन्हें मैं विवाह नहीं, केवल परम्परा की गुलामी और चर्वित चर्वण मानता हूँ।"[४] स्वातन्त्र्य के लिए व्याकुल मंजु पति गृह भी त्यागती है, रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताएँ भी।

२ डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास—पृष्ठ ४२४

३ उल्का—पृष्ठ ७८

४ वही—पृष्ठ १९६

अनुभूति की सूक्ष्मता के साथ-साथ विश्लेषण की परिक्रमा पूरी करने के लिए अंचल मंजु को नई परिस्थितियों मे नये साक्षात्कार कराते है। इधर जब मंजु-प्रकाश व्यक्तिनिष्ठ संबंध परिपक्व अवस्था में भव्य रूप धारण करने लगते है और दोनों नव-जीवन-यापनहित एक होटल मे पहुंचते है तो वहा मंजु का पति किशोर अपनी महरी की लड़की छविया के साथ देखा जाता है। किशोर में पुन: मंजु को आक्रान्त करने की चाहना बलवती हो जाती है वह मंजु के साथ पुन: दुर्व्यवहार की कल्पना करता है-किन्तु भावाभिभूत और उद्दीप्त प्रेम मन:प्रकाश मरने-मारने को तैयार हो जाता है। मंजु की भयावह भविष्य कल्पना का बोध ही उसे शक्ति देता है-किन्तु इसी क्षण मंजु का बीच-बचाव और प्रकाश को भाई कहना स्त्री-पुरुष के संबधों का भारतीय भूमि पर पनपने के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है। उपन्यासकार यदि चाहता तो इस प्रसंग मे गहरे स्तर की स्थापना कर सकता था, किन्तु एक ओर नवीनता, स्वतंत्रता, व्यक्तित्व, विद्रोह आदि आकर्षक शब्दों के नारे देकर पात्रो को उनके परिप्रेक्ष्य मे विश्लेषित करने का उपक्रम करना, दूसरी ओर अनुभूतियो के नये आयामों पर प्रतिबन्ध लगाकर अन्त में कथा और पात्रों को प्राचीन स्थापनाओं की ओर अभिमुखरित करना एक अन्तर्विरोध का परिचायक है जिस ओर अन्तर्प्रयाण कर लेखक इस रचना को 'सुनीता' या 'पर्दे की रानी' सम बनाने से वंचित रह जाता है।

डॉ० देवराज

डॉ० देवराज दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ प्रोफेसर व हिन्दी उपन्यास के सफल रचयिता है। इनके अधिकतर उपन्यास विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि में रचे गये है। इस संबंध में डॉ० सुषमा धवन लिखती है—"डॉ० देवराज की मूल भावना व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन की मनोविश्लेषणात्मक अभिव्यक्ति है, परन्तु व्यक्तिवादी, आत्मकेन्द्रित तथा आत्मनिष्ठ चेतना से बाहर निकलकर लेखक उन नई मान्यताओं की ओर संकेत करता है जो भौतिक आदर्शो तथा प्रगतिशील शक्तियों से अनुप्राणित है।"[1] डॉ० देवराज की कला का मूल उद्देश्य समाज कल्याण न होकर जीवन-दर्शन व व्यक्ति मनोविज्ञान का चित्रण है जो विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि द्वारा ही संभव है। इस विषय में एक आलोचक स्वीकारते हैं—"काशी और प्रयाग विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने विश्वविद्यालय स्तर पर दर्शन शास्त्र का अध्यापन का कार्य किया। बौद्धिकता से आगृहीत और दार्शनिक जटिलता से युक्त होने के साथ-साथ वैयक्तिक चेतना का सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निरूपण करने वाले उपन्यासकारों में डॉ० देवराज का नाम उल्लेखनीय है।"[2] दार्शनिकता के प्रति आग्रह और व्यक्ति मन विश्लेषण ही दो ऐसे तत्त्व हैं जिनके प्रति डॉ० देवराज आकृष्ट दृष्टिगोचर होते है। इन दोनों तत्त्वों का सफल निर्वाह आपके उपन्यासों की विशेषता है।

१. हिन्दी उदन्यास—पृष्ठ ५२

२. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास का परिचयात्मक इतिहास—पृष्ठ ४५०

पथ की खोज—१९५१

'पथ की खोज' डॉ० देवराज का प्रथम उपन्यास है जो दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का नायक चन्द्रनाथ एम० ए० में प्रथम श्रेणी प्राप्त कर एक रिसर्च छात्र के रूप में पाठक के सामने आता है। वह जीवन और साहित्य में आदर्शवाद का पोषक है। उसके जीवन में एक साथ तीन नारियां आती हैं—सुशीला, साधना और आशा—सुशीला पत्नी बनकर, साधना उसकी बौद्धिक अन्तश्चेतना की प्रेरक बनकर और आशा उसकी दूसरी पत्नी बनकर उसके पथ के अन्वेषण का साधन बनती हैं। सुशीला से उसे वह सब मिलता है जो एक सुन्दर, मधुर, आदर्श पत्नी दे सकती है। पर वह उसे बौद्धिक चेतना नहीं दे पाती, इस दृष्टि से असंस्कृत और अल्पज्ञ दिखाई देती है और उसका झुकाव सचेत बौद्धिक नारी साधना की ओर हो जाता है। यहीं से विश्लेषण आरम्भ होता है।

'पथ की खोज' में उपन्यासकार नायक चन्द्रनाथ और साधना की द्वन्द्वात्मक मनःस्थिति का विश्लेषण करने में सफल होता है। चन्द्रनाथ विवाहित है पर उसकी अन्तश्चेतना साधना को लेकर नाना प्रश्न करती है। आदर्शवादी चन्द्रनाथ साधना के प्रति अपने प्रेम को प्लेटानिक रखना चाहता है परन्तु यथार्थ परिवेश इसे प्लेटोनिक बने रहने में अवरोध प्रस्तुत करता है। उसके व्यक्तित्व पर साधना का प्रभाव आधुनिक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विभीषिका उत्पन्न करता है। अपनी पत्नी सुशीला से वह एकात्मकता स्थापित करने से वंचित रह जाता है जो इस प्रकार की विभीषिका को दूर कर देती है। इसके विपरीत वह दार्शनिकता का आश्रय लेकर कतिपय मौलिक प्रश्नों में अपना त्राण पाना चाहता है—प्रश्न है : स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध क्या शारीरिक है? दाम्पत्य जीवन का आधार क्या प्रेम है? क्या स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण ही प्रेम का आधार है? क्या विवाह का आधार वैयक्तिक वरण होना चाहिए या सामाजिक घटना? पाप और पुण्य का मूलाधार क्या है? धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? साहित्य का उद्देश्य क्या है? क्या आत्मदान ही प्रेम है? व्यक्ति से भिन्न भी क्या समाज की सत्ता है? क्या लोकाचार ही मनुष्य की शान्ति का सबसे बड़ा शत्रु है? वासना और प्रेम में क्या अन्तर है? क्या पति और पत्नी के सम्बन्ध में आर्थिक लाभ ही मूलाधार है? क्या भारतीय नारी अपने पति को छोड़ सकती है? क्या आर्थिक दृष्टि से स्त्रियों को स्वावलम्बी होना चाहिए? क्या विवाह से बाहर स्नेह का आधार हो सकता है? क्या स्थायी प्रेम सम्भव है?[1] इन प्रश्नों के निष्कर्ष अवश्य ही दार्शनिक हैं? चन्द्रनाथ के अन्तर्मन में उठे ये प्रश्न अपनी सूक्ष्म अंतर्क्रियाओं, क्रिया प्रतिक्रियाओं, घात प्रतिघातों की प्रधानता के कारण कथा की एक सूत्रता पर भी प्रश्नचिह्न लगाते हैं। 'पथ की खोज' की कथा स्थूल व क्रमबद्ध न होकर सूक्ष्म और रहस्यमय हो गई है। नायक के मन में उठे मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्नों की ऊहापोह में कथानक की क्रमबद्धता को ठेस पहुंची है और इनके समाधान की खोज में स्वयं कथाकार विश्लेषण ही विश्लेषण देता चला गया है। साधना को लेकर

१ पथ की खोज—पृष्ठ ५, १६, ६५, १०७, १३१, १४३, १६५, ३०५, ३२७, ३७१, (दूसरा खण्ड) पृष्ठ २१४, २३६, २५०

चन्द्रनाथ बराबर मनन और विश्लेषण करता है। उसका प्रथम पत्र पाकर वह उत्फुल्ल हो जाता है। साधना का अरुणकुमार से विवाह संबंध निश्चित जान उसकी अन्तश्चेतना फुत्कार उठती है। उसे ज्वर हो आता है। और जब साधना उसे देखने जाती है तो वह उसके सम्मुख अपने मन के सब विकार विश्लेषित कर रख देता है। उसे बहन कहकर उसके अधरों पर चुम्बन जड़ देता है। यह चुम्बन हमें एक बार फिर शेखर द्वारा शशि के मुख पर जड़ित चुम्बन का स्मरण करा देता है। इसी के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक स्त्री-पुरुष संबंधों के मुक्त आचरण का नैतिक प्रश्न उठता है। व्यक्तिवादी चिंतक के लिए यह व्यवहार सहज और अनिवार्य है, जबकि रूढ़िवादी सामाजिक दार्शनिकों के लिए जीवन की व्यर्थतता और घोर पाप का सूचक है। डॉ० देवराज इस चुम्बन को वात्सल्य की संज्ञा देकर अपनी दार्शनिकता और भारतीय सस्कृति में आस्था की धाक जमाना चाहते हैं, जो एक आवरण ही माना जाएगा।

'पथ की खोज' में साधना का व्यक्तित्व सबसे अधिक प्रखर और प्रभावशाली है। वह आद्योपान्त उपन्यास के हर पात्र पर छाई रहती है। सुशीला में चरित्रगत दृढ़ता है पर व्यक्तित्व नहीं, चन्द्रनाथ में अन्तर्द्वन्द्व और आदर्शवाद उसके चरित्र और व्यक्तित्व दोनों को कुंठित कर देता है। एक आशा ही ऐसी पात्र है जिसमें चरित्र और व्यक्तित्व सक्रिय रूप से गठित होकर उभरा है, किन्तु साधना के सामने वह भी निष्क्रिय, निस्तेज, फीकी, नीरस और प्राणहीन लगती है, वैसे उसका प्रखर और तेजोमय रूप जो चन्द्रनाथ को दूसरे खण्ड में पत्र व्यवहार द्वारा पता चलता है, कथा का दिशान्यास भी करता है। इस कथाश में चन्द्रनाथ परम्परागत नैतिक मूल्यो के प्रति आकृष्ट होकर अपने जीवन का पुर्नविश्लेषण कर आशा से विवाह करने में ही अपना कल्याण देखता है। उसे आशा में शालीनता, संवेदनशीलता तथा ईमानदारी नजर आई, तभी तो उसने उसे स्वीकारा क्योंकि साधना के प्रबल व्यक्तित्व ने उसे नकारा है, उसकी उपेक्षा की है।

'पथ की खोज' में नैतिक प्रश्नों के साथ-साथ आर्थिक प्रश्नावली भी जुडी है। भारतीय सयुक्त परिवार की आर्थिक और नैतिक समस्याएं, भारतीय विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों के प्रांगणों में साहित्यिक और सांस्कृतिक आयोजनों में युवक-युवतियों का पारस्परिक सामीप्य, आकर्षण और फिर अन्तर्द्वन्द्व भोगना, पूंजीपति प्रकाशकों का लेखको को उत्पीड़ित करना आदि अनेक प्रश्नो पर लेखक अधिकारपूर्वक लिखता गया है। मूल रूप से लेखक इस उपन्यास में विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि द्वारा मध्यवर्गीय युवक-युवतियों की अन्तश्चेतना मे वर्तमान अन्तर्द्वन्द्व को ही चित्रित करता है। इस संबंध में श्री बचनसिंह लिखते हैं—"डॉ० देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' में मध्यवर्गों के ध्वंसोन्मुख आदर्शो का संयत, मनोवैज्ञानिक तथा कलापूर्ण चित्र उरेहा गया है। इस उपन्यास में 'गिरती दीवारें' की बेबसी, हार, लाचारी तथा विकृत यौन-ग्रन्थियां नहीं हैं, वहां का मात्र ध्वंस भी नहीं है, ध्वस है लेकिन ध्वंस या नाश में सृजन की एक प्रेरणा है। यदि इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन दर्शन की मूल भावना 'व्यक्तिवाद' का ही आकलन किया गया होता तो यह भी अपने में जड़, स्थिर और अगतिमान होता, किन्तु इसमें वह 'व्यक्तिगत प्रश्नों की चेतना से अपने वर्ग की समस्याओं की चेतना की ओर और फिर

उस विराट विशिष्ट मानवता की ओर उन्मुख होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस अर्थ में यह पूर्ण गत्यात्मक भी है। मध्यवर्गीय उपन्यास के नायक स्वीकृत सामाजिक मूल्यों तथा नवीन जीवन-दृष्टियों में सामंजस्य न स्थापित करने के कारण टूटते हुए दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इस उपन्यास का नायक यथार्थ की कठोरता से टकराकर नये दृष्टिकोण अपनाने की ओर अग्रसर होता है।"[2]

'पथ की खोज' में कथाकार मध्यवर्गीय युवक-युवतियों द्वारा सामाजिक बन्धनों की अस्वीकृति, वैयक्तिक जीवन दर्शन के उत्थान और उसके सामाजिक यथार्थ से संघर्ष की गाथा का विश्लेषित करके एक स्वस्थ आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में सफल हुआ है।

उषादेवी मित्रा

हिन्दी उपन्यास साहित्य में नारी वर्ग के सक्रिय सहयोग का प्रतिनिधित्व करने वाला में अग्रणी स्थान उषादेवी मित्रा को दिया जा सकता है। नारी हृदय में वर्तमान कोमल एवं भावुक भावनाओं, मनोद्वन्द्वों तथा मान्यताओं को उपन्यास साहित्य द्वारा प्रतिध्वनित करने में आप सिद्धहस्त हैं। नारीत्व, पत्नीत्व और मातृत्व से सम्बन्धित समस्याओं को जिस गम्भीरता से उषादेवी ने समझा और परखा है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। इस संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"बंग साहित्य की सम्पूर्ण सुकुमारता लेकर उषादेवी हिन्दी उपन्यास साहित्य की ओर आई और नारी की भावनाओं का बड़ा ही सजीव एवं कोमल चित्रण किया।"[1] वास्तव में नारी हृदय में वर्तमान प्रेम, करुणा, माया, मोह, ईर्ष्या आदि नाना मनोद्वेगों का सफल चित्रण इनकी रचनाओं में उपलब्ध है। एक दूसरे आलोचक ने इनकी रचनाओं को व्यक्तिवादी उपन्यास की संज्ञा दी है। उन्होंने लिखा है—"उत्पीड़ित नारी लेखक के चिन्तन का एक स्वतंत्र विषय बन गई है। नारी की स्वाधीन इच्छा के प्रतिपादन तथा मानवता की भावना के विकास में व्यक्तिवादी विचार दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। उषादेवी के उपन्यासों में कलागत त्रुटियों के होते हुए भी इस जीवन दृष्टि का परिचय मिलता है। इस कारण उनकी कृतियों को व्यक्तिवादी उपन्यासों की श्रेणी में रखा गया है।"[2]

उषादेवी के प्रतिनिधि उपन्यास 'वचन का मोल' 'पिया' और 'नष्ट नीड़' हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'जीवन की मुस्कान', 'पथचारी' 'सोहनी' आदि उपन्यास भी लिखे हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों में विश्लेषणात्मक शिल्प विधि को प्रश्रय दिया है। नारी की निरीहता इनके उपन्यासों में विश्लेषण का विषय बनी है। लेखिका नारी को विशिष्ट दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करती है। उनकी दृष्टि में नारीत्व की पूर्णता गृहिणीत्व, सेवा और त्याग में निरूपित होती है। 'वचन का मोल' में कजरी सरोज और विनय की सतत

२ आलोचना (१३) 'मध्यवर्गीय वस्तु-तत्त्व का विकास'—पृष्ठ १३७
१ डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ४२४
२ डॉ० सुषमा धवन हिन्दी उपन्यास

सेवा करके नारीत्व को सार्थक मानती है। 'पिया' की विधवा निलिमा सुकान्त के भोजन आदि की व्यवस्था कर परम संतोष एवं तृप्ति की अनुभूति करती हुई अपने नारीत्व को चरितार्थ करती है। इसी उपन्यास की यमुना दुख में पिसकर निश्चित हो गई है किन्तु स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने वाले, समाज विद्रोही नारी पात्रों की भी इन्होंने योजना जुटाई है। 'पिया' की नायिका पिया स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती है। वह केवल सुन्दरी और गुणवती ही नहीं है, सती और साहसी भी है। नारी उसकी दृष्टि में पुरुष की सहयोगिनी है, क्रीत दासी नहीं। उसका प्रेम उदात्त कोटि का है। विवाह से उसे घृणा है। विवाह के पश्चात् उसकी राय में प्रेम कदाचित कुत्सित और विकलांग हो जाता है। इस दृष्टि से वह असाधारण नारी है। लेखिका ने उपन्यास में उसके मानसिक द्वन्द्व का विश्लेपण अनेक स्थलों पर किया है। उपन्यास के अन्त में वह देश-सेविका के रूप में रूपायित हुई है। निशीथ के द्वार पर उसकी मृत्यु हृदय विदारक है।

'वचन का मोल'—१९३६

'वचन का मोल' उषादेवी की प्रथम औपन्यासिक रचना है। यह विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के आधार पर निर्मित हुई। इसमें कथा के विवरण नहीं दिये गये, सकेत भर जुटाए गए है। कजरी इस उपन्यास की केन्द्र-विन्दु है। सरोज नाम के युवक को वह भाई मान कर स्नेह करती है किन्तु वह इसे मृत्यु समय विवश कर पत्नी कहला लेता है और कजरी आजीवन अविवाहित रहने का वचन दे देती है। विनय नाम के युवक से उसे प्रीत है, किन्तु इसे सात्विक प्रेम कह सकते हैं। कजरी की ओर से हताश होकर विनय मनिका नाम की युवती से विवाह कर लेता है किन्तु उससे असंतुष्ट रहता है। उपन्यास में अनेक स्थलों पर पात्रों की मन.स्थिति का विश्लेपण प्रस्तुत किया गया है। जैसे—"मन ही मन मनि हंसी···छी-छी। कैसी गन्दी है उसकी रुचि। मनिका घृणा से संकुचित हुई। वह विचारने लगी, और विनय? विनय की वात याद आते ही मन में आनन्द की लहरें बह चलीं, सुन्दर दर्शन, श्रीमान युवक कल्चर्ड (सभ्य) भी है। मन में प्रश्नों की झड़ी लग गई। सरोज के लिए उसने कुछ भी न किया था। और आज भी चेष्टा नहीं कर रही है। नहीं —वह जोर के साथ अस्वीकार करने लगी।·· किन्तु कजरी! अच्छा क्या है उस लड़की में?···जरा सा खटका, अन्तर्वेदना रह ही जाती है। सरोज ने उसकी माला फेंक दी··· भूली-सी वात की याद से मलिका का मुँह काला पड़ गया। नारी की यह पराजय, ऐसा अपमान···हां आदमी है विनय। गत रात्रि की घटनायें·· कैसी मधुर, मोहक है वह स्मृति।"[1]

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि की यह विशेपता है कि इसमें वैयक्तिक जीवन का, व्यक्तिवादी पात्रों की मनःस्थितियों का विश्लेपण और अन्वेपण सुविधा पूर्वक किया जाता है। पात्र अन्तर्मुखी होकर मनोद्वन्द्व का विश्लेषण करते है। एक एक प्रसंग में दो दो, तीन तीन पात्रों का तुलनात्मक चरित्र चित्रण भी इस विधि द्वारा संभव है। 'वचन

१. वचन का मोल—पृष्ठ ३३-३४

का मोल' म एक पात्र विनय रुग्ण अवस्था म पडा हुआ कजरी के अकस्मात बिन बुलाए चले आने पर मनन एव विश्लेषण करता है—"असहनीय विस्मय से विनय के नेत्र विस्फारित हुए। वह सोचने लगा—जिससे कभी मनि की समानता न हुई थी, छोटे छोटे विषयो पर परिहास एव व्यग ही चलते थे, जिसने पिता के मरने के बाद भी खबर लेना आवश्यक न समझा गया था, जिसे लेकर मनि के साथ सदा परिहास ही हुआ करता था, आज ऐसे दुर्दिन मे सवप्रथम वही आई। मझेरे मनि को बुलाया था, सिर दर्द के बहाने यहा आने से इकार कर दिया। सब कुछ जान-बूझकर भी वह नही आई, आई वही —अवहेलना के साथ जिसे दूर हटा रखा था, जीवन तुच्छ कर बिना बुलाए आई वही— सेवा के लिए। क्या यह कही स्वप्न तो नहीं है ?"[२] किन्तु नही, यह स्वप्न नही है। वास्तविकता है। मशीन-सी निर्मल और पुष्प-सी कोमल कजरी के चरित्र का विश्लेषण है। वचन-बद्ध कजरी सेवा, त्याग और मानव की अन्तर्भूत मनुष्यता का अनमोल रत्न है। वह आजीवन अविवाहित रहकर अपने उदात्त एव महान चरित्र का परिचय देती है। कजरी के चरित्र को छोडकर उपन्यास का शेष भाग तेजस्विता एव गहनता शून्य है। इसका कारण लेखिका का प्रथम प्रयत्न है।

'पिया'—१९३७

'पिया' म पर्याप्त गहनता और तेजस्विता वर्तमान है। इसमे एक साथ दो नारी पात्रो के हृदय तल का पकडकर उनका विश्लेषण किया गया है। नीलिमा और पिया दोनों ही विधवा हैं किन्तु हृदय मे प्रेम के कोमल तन्तु सजोए हैं। नीलिमा विधुर सुकान्त के प्रति आकृष्ट है और पिया विवाहित पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट निशीथ पर मुग्ध है। यौवन पदार्पण पर नारी की मानसिक स्थिति का विश्लेषण नारी द्वारा ही सफलीभूत हो पाया है—"रूप! रूप! ऐसा रूप!! एक अचम्भे से गम्भीर तन्मयता से उस जीवित को वह देखने लगी, किन्तु फिर भी अन्तर अतृप्त रह ही गया, हृदय ग्रन्थि शिथिल हो पडी। रूपसी, वह रूपसी रूपसी ?—तो यह माभाजी इतने दिन तक इस छोटे से शरीर म छिप कर कहा बैठी थी ? किन्तु अब निकलकर बाहर आ गई, तब उससे परिचय के प्रथम अवसर म जी ऐसा क्यों घबरा रहा है। एक अनास्वादित, अतृप्त आकाक्षा, जाने कैसी कल्पना, एक हाहाकार न उसके शरीर की नसो को मथन, कम्पन, मथित कर डाला।"[१] साथ ही प्रेम के उद्भव पर स्त्री की मन प्रवृत्ति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण कीजिए—"उस विधवा के जीवन के लिए इतना समय और अर्थ दुनिया का था ही कहा जो डॉक्टर-वैद्य बुलाए जाते या दवा, पथ्य दिए जाते ? और कल ? कल उस सामान्य ज्वर के लिए डॉक्टर आया, दवा आई। स्वय जमींदार द्वार पर खडे दस बार पूछ-ताछ कर गए। उस दिन मे और आज म कितना अन्तर है। कितना ? कितना ? न थोड़ा, न कम। पृथ्वी और आकाश मे जितना अन्तर है, बस, उतना ही तो है। उस दिन थी वह पृथ्वी की आवजना,

२ वचन का मोल—पृष्ठ ७४ ७५
१ पिया—पृष्ठ ८-९

अनाहृता, उपेक्षिता, पातालपुर की वन्दिनी, जहां तो न सूर्य की किरण थी, न पवन के गीत। और जो आज है वह पृथ्वी ही का एक जीव, उसका अपना निजी व्यक्ति, अपना परिचय देने योग्य आज उसके निकट भाव है, गीत है और है बहुत कुछ।"[२]

पिया को लेकर निशीथ की पत्नी मृणाल के मन की ईर्ष्या का भी सूक्ष्म निदर्शन हुआ है। उपन्यास के अन्त में पिया के प्रेम मे सात्विकता और मृणाल में पाशविकता का उन्मेश हुआ है। पिया स्वप्रेरणा से निशीथ के पथ से हटकर राष्ट्र-सेवा की पथिका वन जाती है किन्तु मृणाल उसे एकदम गलत समझकर शीतमयी रात्रि मे मृत्यु की ओर धकेल देती है। इस रचना में जोशी रचित 'पर्दे की रानी' और जैनेन्द्र रचित 'कल्याणी' सी गहनता भले ही न हो किन्तु 'वचन का मोल' की अपेक्षा इसकी तेजस्विता, सूक्ष्मता एवं विश्लेषणात्मकता कई गुणा वढ गई है।

'नष्ट नीड़'—१९५५

'पिया' के पश्चात् 'जीवन की मुस्कान', 'सोहनी' आदि उपन्यासों की रचना करके उषादेवी ने विश्लेषण विधि को अपनाए रखा। 'जीवन की मुस्कान' 'वचन का मोल' की आवृत्ति मात्र है। इसकी नायिका सविता कमलेश के अन्यत्र विवाह हो जाने पर आजीवन अविवाहित रहती है। उसकी हृदय ग्रन्थि अतीव व्यथा से निपीड़ित होने लगती है, जिसके विश्लेषण में उपन्यासकार ने सारी शक्ति लगा दी है। 'सोहनी' (१९४९) की नायिका सोहनी नारीत्व के गौरव की प्रतीक है। 'नष्ट नीड़' मे भी नारी के करुणा विश्लेषणात्मक रूप में प्रवाहित हुई है। पाकिस्तान से निर्वासित सुनन्दा इसकी नायिका है जो कलकत्ता आकर सुप्रकाश के साथ रहने लगती है। उसका व्यक्तित्व इतना दृढ एवं उच्च-कोटि का है कि वह सामाजिक मान्यताओं एवं रूढ़ियो की चिन्ता न करके भी सुप्रकाश के साथ रहती है। नारी के मन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण वह इन शब्दों में करती है —"बालो को काट कर, ओंठों को रंगकर शरीर को कस कर पिचके हुए गालों पर क्रीम, पाउडर मलकर वह अब भी अपने को एक दर्शनीय आकर्षण बनाकर रखना चाहती है? वय-प्राप्त संतान के आगे पहले आप ही किशोर वनना चाहती है। नकल द्वारा वह वास्तविक को अस्वीकार करना चाहती है। इस प्रवृत्ति का आदि और अन्त कहा है? उत्तर आया उसके मन प्राण से—नहीं-नहीं नारी मात्र की यह प्रवृत्ति, यह मनोवृत्ति और प्रकृति नहीं है। उसके कई रूप हैं न जोकि अवस्था के साथ-साथ क्रमशः विकसित होते है। किशोरी में जीवन का उन्मादक स्वभाव सिद्ध होता है। युवती वन जाती है प्रेमिका। तब आगमन है माता का, प्रौढ़त्व तो मातृ-भाव का समन्वय कर देता है, संसार के हर पहलू से, हर दिशा में मातृ स्नेह से ओतप्रोत जो है प्रौढ़त्व। वृद्धत्व भक्ति रस को उभारता है।"[३] सुनन्दा में ही नारीत्व को पहचानने की तीक्ष्ण दृष्टि नहीं है,। लेखिका में विश्लेषण की अद्भुत क्षमता है, जिसके द्वारा अन्त में वह सुनन्दा और उसके पति रवीन्द्र का रहस्य खोल देती है?

२. पिया—पृष्ठ ६२-६२
३. नष्ट नीड़—पृष्ठ ४३

पाचवा अध्याय

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास

प्रेमचन्दोत्तर-युग के कथा साहित्य में एक ओर विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का विकास हुआ दूसरी ओर उसका वृहदाश प्रतीकात्मक हो गया। अज्ञेय ने अपनी दूसरी रचना 'नदी के द्वीप' में प्रतीकात्मक शिल्प विधि को प्रश्रय दिया। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवा घोडा' लक्ष्मीनारायणलाल का 'बया का घोसला और साप', 'काले फूल का पौदा', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', गिरिधर गोपाल का 'चादनी के खडहर', अमृतलाल नागर का 'बूद और समुद्र', भिक्खु का 'भवरजाल' आदि उपन्यास इस शिल्प की परिपक्वता के सूचक ग्रन्थ हैं। प्रतीकवाद शिल्प का वह भेद है जो हमें दृश्यमान वास्तविकता से परे ले जाकर स्वप्नों तथा व्यक्ति के अर्द्ध जागृत चेतन की अवस्थाओं से परिचित कराता है। इस शिल्प विधि के उपन्यासों में सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की बाह्यात्मकता तथा आन्तरिकता में सतुलन रख के प्रतीकों द्वारा उनके अनोखे या घिनौने स्वरूप की व्याख्या की जाती है। इन उपन्यासों को पढ़कर कई बार वास्तविकता का भ्रम (Illusion of Reality) तो होता है, किन्तु इस भ्रम को सत्य तक भ्रम बनाए रखने में ही उपन्यासकार का कौशल है।

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि में उपन्यासकार कथा को ठोस बनाने पर इतना बल नहीं देता जितना जीवन से उसकी अनुरूपता दिखाने का प्रयत्न। तुच्छ, हास्यास्पद और व्यर्थ दीख पड़नेवाले दृश्य पात्र और शब्द भी अमूल्य दीप्त अर्थ रखते हैं। इसके पात्र वास्तु-जगत के पात्रों से कहीं अधिक सशक्त होते हैं। इस सबध में एक आलोचक लिखते हैं—'वे (पात्र) उस प्रकार के मनुष्य होते हैं, जिनका रहस्यमय जीवन द्रष्टव्य होता है या होने की सभावना रहती है और हम ऐसे मनुष्य हैं जिनका रहस्यमय जीवन अदृश्य रहता है।'[1] यह कथन इस शिल्प-विधि के उपन्यासों पर पूर्णतया लागू होता है। 'नदी के द्वीप', 'डूबते मस्तूल', 'बूद और समुद्र' आदि उपन्यासों के पात्र अपने गूढ से गूढतर रहस्यों को स्पष्ट करने में ही अपनी सारी शक्ति लगा रहे प्रतीत होते हैं। रेखा, रजना, और वनकन्या और शीला जैसे नाना पात्रों को यथार्थ जीवन में देखकर भी हम अनदेखा कर

---

1 They are the people whose Secret lives are visible or might be visible, we are people whose secret lives are invisible

—E M Forster "Aspects of the Novel" P 62

देते हैं किन्तु उपन्यास में पढ़कर हम मानवीय रूपों के इन प्रतीकों पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते।

नदी के द्वीप—१९५२

अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक निर्वाह 'नदी के द्वीप' की शिल्पगत विशेषता है। इस रचना में अज्ञेय ने पात्रों की चेतना के अन्तर्सूत्रों को प्रतीकों द्वारा पकड़ा है। भुवन, गौरा, रेखा और चन्द्रमाधव ये चार पात्र थोड़े-थोड़े अन्तराल के पश्चात् सामने आकर अपनी अन्तश्चेतना में विराजमान मूल सूत्रों का उद्घाटन करते हैं। प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना होने के कारण इसमें स्थूल कथात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। लेखक की ओर से कथा के किसी भाग को भी पाठक के मस्तिष्क में उंडेलने का प्रयत्न इसमें नहीं हुआ। यह भी कहीं नहीं कहा गया कि रेखा-भुवन रोमांस अमुक सीमा तक पहुंच गया है, या रेखा के स्वास्थ्य में सामयिक चिन्तनीयता बढ़ गई है। पात्रों की अन्तश्चेतना संकेतों द्वारा सब कुछ कह देती है, और जो शेष रह जाता है वह पाठक को अतिरिक्त अनुमान द्वारा ग्राह्य हो जाता है।

अपनी गहन अनुभूति और तीव्र बुद्धि के आधार पर अज्ञेय ने जीवन को एक रूपक में आबद्ध करके 'नदी के द्वीप' में प्रस्तुत किया है। जीवन सरिता का प्रवाह ही वह रूपक है, भुवन और रेखा उसके दो कूल हैं, उनका पारस्परिक आकर्षण ही वह सेतु है जो एक-दूसरे को कभी-कभी निकट ले आता है, उनका मनोद्वन्द्व ही वह लहर है जो उन्हें दूर फेंक देती है। ये दो पात्र अपने-आप में प्रतीक हैं। लखनऊ के एक कॉफी हाउस में बैठकर जो वार्ता करते हैं, वह साधारण प्रेमी-प्रेमिका की प्रेमवार्ता नहीं है, जीवन के सूनेपन और व्यक्ति के क्षुद्र रूप की परिचायक प्रतीक वाणी है। भुवन द्वारा जीवन सरिता पर पुल बांधे जाने की बात का उत्तर वह इन शब्दों में देती है—"हां, मगर सचमुच सेतु बन सकें तो दोनों ओर से रौंदे जाने में भी सुख है, और रौंदे जाकर टूटकर प्रवाह में गिर पड़ने में भी सिद्धि। पर मैं तो कह रही हूं कि मैं तो उतनी कल्पना भी नहीं कर पाती—मैं तो समझती हूं—हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से कटे हुए भी; भूमि से बंधे हुए और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी।"[1] जीवन की चंचल सरिता में प्रवाहमान ये पात्र केवल तैर ही नहीं रहे हैं, डूबते से, उभरते से, कूल तक पहुंचकर पुनः मनोद्वन्द्व की लहरों से जूझते दृष्टिगोचर होते हैं। भुवन को रेखा में नाना अवसरों पर दिगन्तस्पर्शी प्रवाह में तैर रहे सैकड़ों छोटे-छोटे द्वीप नज़र आते हैं, ये द्वीप उसकी मनोग्रन्थियों के प्रतीक हैं और रेखा—उसे तो जीवन में प्रतिपल ये द्वीप दृष्टिगत होते रहते हैं। वह बात-बात में भुवन को कहती है कि उसके साथ कुछ ही दिनों में उसे सर्वत्र द्वीप दीखने लगेंगे। वह अपने को अर्थात् व्यक्ति को मानवता के सागर में विद्यमान एक क्षुद्र-सा द्वीप मानती है। उसे केवल मध्यवर्गीय नारी का प्रतीक भी नहीं कहा जा सकता। वह तो सार्वभौमिक नारीत्व की प्रतीक है, जो पूर्ण-

---

१. नदी के द्वीप—पृष्ठ १४

समर्पण के बिना उखड़ी-सी, झिझकती सी, बिखरी सी प्रतीत होती है, अवसर मिलते ही वह भुवन से कहती है—'मैं तुम्हारी हूं, भुवन, मुझे लो।'"[२] इस पंक्ति में नारीत्व के सम्पूर्ण आवेगों का स्पष्ट संकेत है। नारी बिना सम्पूर्ण समर्पण के अधूरी है, बिना यौन तृप्ति व उसके कुण्ठित, व्यग्र, अन्तर्मुखी और विनाशोन्मुखी हो जाने का पूरा-पूरा भय बना रहता है। रेखा के समर्पण को भी प्रतीकात्मक शब्द दिए गए हैं—"मानो बहती नाव में वह सोया हो... अवश हाथ, जिन्हें वह हिला भी नहीं सकता, अवश देह, लेकिन एक स्निग्ध गरमाई की गोद में अवश—चांदनी वह अधिक पी गया—चांदनी, मदमाती, उन्मादनी।"[३] यह चांदनी रेखा की संचित रूप किरण है, जिसका भुवन के प्रति अर्पण उसे उन्माद में लबालब भर देता है। हेमेन्द्र को पुरुष करके उसने कभी न जाना।

वैज्ञानिक शोध का अध्यवसायी भुवन, मध्यवर्गीय विवशताओं और कुण्ठाओं का शिकार है, अतः मनोद्वन्द्वों में ग्रस्त व्यक्तित्व का प्रतीक है। इसके संबंध में एक आलोचक का कथन है—"डॉ० भुवन की उपलब्धियां उसकी आंतरिक प्रेरणा और शक्तिमत्ता के कारण नहीं बल्कि हीनता की ग्रन्थियों की उच्चमार्गीय परिणति हैं। गौरा के प्रति जो उसका प्राथमिक स्फुरण था, वह सामाजिक स्तरों की भिन्नता के कारण उभर न सका था और सामाजिक स्तर की उस हीनता के निराकरण के लिए भुवन की चेष्टाएं पी-एच० डी० की उपाधि की ओर अग्रसर करती थीं। बौद्धिकता और ज्ञान के सहअनुभूतिजन्य आधार की स्पष्ट रेखाएं इस चरित्र में मिलती हैं। डॉ० भुवन मानव के उस विकास का संकेत देता है जिसमें बुद्धि मानो तीव्र संवेदना के साथ गुंथी हुई थी, भुवन में इस विकास का अभाव ही रह गया, क्योंकि बौद्धिकता की वाग्धारा उसे अतिरोमाचक बनने से बचा नहीं पाती। इस अभाव की सम्पूर्ति उसे रेखा के व्यक्तित्व में मिलती है जिसमें रूप भी है और बुद्धि भी।'[४] मेरे विचार में भुवन विकास पथ पर अग्रसर, जीवन-प्रवाह की लहरों से जूझ रहा एक प्रतीक है। वह मध्यवर्गीय, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से सम्पृक्त, वर्तमान में गृहीत बिम्ब प्रतिबिम्बों के प्रति आसक्त, अतीत की स्मृतियों के विश्लेषक बुद्धिवादी व्यक्तित्व को साधक कर रहा है।

चन्द्रमाधव और गौरा भी प्रतीकात्मक पात्र हैं। चन्द्रमाधव आधुनिक अलट्रा माडर्न कहे जाने वाले वास्तविक जीवन प्रवाह का एक प्लवनकारी उदाहरण है। अपनी एकरस, तुष्ट, पतिव्रता स्त्री से असंतुष्ट और बाहर तथा भीतर दोनों प्रकार से चिर दीप्त रहने और भटकने वाली रेखा, गौरा आदि के प्रति आकृष्ट यह व्यक्ति पुरुष की मधुप वृत्ति का प्रतीक है। अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक निर्वाह भी इस पात्र द्वारा सम्पन्न हुआ है। एक उदाहरण देखिए—"हेमेन्द्र... कहां होगा हेमेन्द्र अब? चन्द्र ने कोशिश की, रेखा और हेमेन्द्र की साथ कल्पना करे, पर उसमें किसी तरह सफलता नहीं मिली, हेमेन्द्र

---

२ नदी के द्वीप—पृष्ठ १२७

३ वही—पृष्ठ १४५

४ डॉ० रामखेलावन पाडेय "पात्रों का निर्माण और विकास: होरी, बलचनमा और भुवन आलोचना (१३)—पृष्ठ १५०

की शवीह वह किसी तरह सामने लाता तो रेखा की वजाए गौरा आ जाती; फिर वह संकल्प-पूर्वक उसे हटाकर रेखा को सामने लाता तो हेमेन्द्र की वजाए भुवन सामने आ जाता।"[५] ये सब चित्र उसकी अन्तश्चेतना की मधुप वृत्ति के प्रतीक है। रेखा और फिर गौरा! गौरा और फिर रेखा और इनके पश्चात् फिर वही कौशल्या—वह जो ज़रा सा खींचने पर झुक जाती है। चौंकना नही, विरोध नहीं, कोई रोमांच नही—और चन्द्र-माधव के भाव विखर जाते है। ये विखरे हुए भाव वे संकेत हैं; जो ऐसे दुष्ट, छली व्यक्तियों के अन्तर आपे में छिपी भाव-उर्मियों को अभिव्यक्त करते है। चन्द्रमाधव मनुष्य की पशु वृत्ति का मूर्त रूप है। भुवन के भाग्य से इसे ईर्ष्या है। रेखा और गौरा दोनों पर वह आसक्त है। पर दोनों से वंचित रहता है।

भुवन और चन्द्रमाधव की तुलना में रेखा और गौरा की अन्तश्चेतना का प्रवाह अधिक तीव्र गति से प्रवाहित हुआ है। ये दोनों पात्र मांसल कम और मानसिक अधिक है, रेखा तो मानसिक उद्वेलनो से भरी पड़ी है। रेखा के मस्तिष्क में भावो एवं विचारों की शृंखला का मुक्त प्रवाह अवलोकनीय है, अतः उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है—"उसे सहसा लगा कि पत्र में लिखने को कुछ नहीं है क्योंकि वहुत अधिक कुछ है; अगर वह सव वह कहने वैठ ही जायगी, तो फिर रुक नही सकेगी और उधर भुवन का काम असम्भव हो जायगा···पत्र में जान-बूझकर उसने अपनी वाते न कहकर इधर-उधर की कहना आरम्भ किया था, गौरा से भेंट की वात लिखने लगी थी पर उसी के अध-वीच मे रुक गई थी। नहीं, गौरा की वात वह भुवन को नही लिखेगी। भुवन का मन वह नहीं जानती लेकिन गौरा का···भुवन गौरा का मन जानता है कि नहीं, यह भी नही जानती पर जहां भी गहरा कुछ, मूल्यवान कुछ आलोकमय कुछ हो, वहां दवे-पांव ही जाना चाहिए, वह कहीं हस्तक्षेप नहीं करेगी, कुछ विगाड़ना नही चाहती···नदी मे द्वीप तिरते है टिमटिमाते हुए, उन्हे वहने दो अपनी नियति की ओर अपनी निष्पत्ति की ओर, नदी के पानी को वह आलोड़ित नहीं करेगी। वह केवल अपना मन जानती है, अपना समर्पित, विह्वल, एको-न्मुख आहत मन उसे वह भुवन तक प्रेषित भी कर सकती है, पर नहीं—भुवन से उसने कहा था, वह अपने स्वस्थ और स्वाधीन पहलू से ही उसे प्यार करेगी, और गौरा से उस ने कहा···पर यह कैसे संभव है कि एक साथ ही समूचे व्यक्तित्व से भी प्यार किया जाए और उसके केवल एक अंग से भी? वह सव की सव समर्पित है, स्वस्थ भी और आहत भी—वल्कि समर्पण में ही तो वह स्वस्थ है, अविकल है, वन्धनमुक्त है ··भुवन···भुवन··· मेरे भुवन"[६] चेतना के इस प्रवाह में भी प्रतीक योजना जुटा दी गई है।

इस पात्रों के विश्लेपण एवं चेतन-प्रवाह के सहारे तो इस रूपक कथा की गति वढ़ी ही है, किन्तु साथ में अन्तराल मे दिए गए पत्रों द्वारा भी कथानक के विकास मे वड़ी सहायता मिली है। प्रथम अन्तराल में रेखा द्वारा लिखा गया प्रथम पत्र जो चन्द्रमाधव के नाम है केवल शिष्टाचारसूचक है, किन्तु इसी पात्र द्वारा भुवन को लिखे पत्र में सांकेतिक

५. नदी के द्वीप—पृष्ठ १७६
६. वही—पृष्ठ १८१

आत्मीयता तथा कथानक की गहराई का पता चल जाता है। इसी प्रकार तीसरे पत्र में जो भुवन द्वारा रेखा को लिखा गया है निकटता, श्रद्धा तथा साहचर्य की इच्छा के द्योतक होते हैं, किन्तु भुवन द्वारा चन्द्रमाधव को लिखे गए पत्र में केवल मैत्री भावना का साधारण स्वरूप अंकित हुआ है। इसी प्रकार अन्तराल में दिए गए अन्य पत्र साधारण होते हुए भी कथानक को सुनियोजित करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। दूसरे अन्तराल में दिए गए पत्रों की संख्या भी अधिक है और न केवल कथानक की टूटी शृंखलाओं को ही नहीं जोड़ते अपितु चरित्रों की रुग्ण स्थिति, पात्रों की मानसिक दशा और मान्यताओं का उद्घाटन भी करते हैं। इनमें सर्वाधिक वियोगिनी रेखा द्वारा भुवन को लिखे गए हैं, जिनमें उसकी मर्मस्पर्शी करुण अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है। भुवन द्वारा लिखे गए पत्र उसके आत्म दमन एवं अन्तर्द्वन्द्व के उद्घाटक सिद्ध होते हैं। गौरा के पत्र उसके चारित्रिक उत्थान, संयम, त्याग आदि विशेषताओं के प्रतीक हैं। रेखा के एक-दो पत्रों में भुवन के लिए प्रेरणा, आशीर्वाद आदि का संदेश भी निहित है जैसे—'वह सब मैं सोच लूंगी भुवन! अभी मेरे मन में तुम्हारे भविष्य का विश्वास उमड़ आया है, और मैं तुम्हें आशीर्वाद दे रही हूं। तुम्हारे पिछले पत्रों में जो गहरी निराशा थी, उसे मैं नहीं स्वीकार करती, तुम उसमें से निकल जाओगे। जिस चौखट की, जिस दीवार की बात तुमने कही है, उससे भी तुम ऊंचे उठोगे। मुझे छूने के लिए नहीं—मैं गिनती में नहीं हूं—अपनी बांहों में दुनिया को घेरने के लिए! निराश मत होओ, भुवन अपने जीवन को पराभव भाव से नहीं स्रष्टा-भाव से ग्रहण करो, एक विशाल पैटर्न है, तुम्हें बुनना है, तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है प्रत्येक व्यथा एक-एक तार—लाल, सुनहला नीला मैं—मैं भी उसी तान बाने के तारों का एक पुंज हूं—मेरा आशीर्वाद लो भुवन, और आगे बढ़ो, जहां भी तुम जाओ, जो भी करो, मेरा प्यार और आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। मेरा विश्वास तुम में अडिग है।"*

यौन वर्जनाओं, यौन विकृतियों, यौन कुण्ठाओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी विभिन्न पात्रों के प्रतीकात्मक विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत हुआ है। भुवन की काम कुण्ठा दमित यौन भावना का परिणाम है जो संयम, ब्रह्मचर्य, सतत वैज्ञानिक अध्ययन एवं अन्वेषण और नारी से दूर रहने के थोथे आदर्शवाद में स्थानान्तर (Transference) रहने पर भी तृप्त नहीं होती। रेखा का सन्निकट परिचय उसके दिवा स्वप्नों की पूर्ति (Compensation) हित संयोजित हुआ है। इस पात्र ने भुवन में यौन भावना के प्रति आकर्षण प्रस्तुत किया है, उसके संयम तथा अन्तर्मुखी दृष्टिकोण को एक मोड़ दिया है। रेखा और गौरा को लेकर भुवन के एकाकी जीवन में जो अन्तर्द्वन्द्व दर्शाया गया है, वही उपन्यास का प्राण तत्व है। रेखा को पाकर भी उसने उसे खो दिया है और गौरा को, अपनी प्रिय शिष्या गौरा को खो-खोकर भी पाया है। गर्भपात की चरम पीड़ा रेखा की स्वेच्छा से स्वीकृत मर्मस्पर्शी पीड़ा है, किन्तु भुवन का अन्तर्मन कहता है, कि इसका मूल कारण भी वही है—यदि वह सात दिन में निराश काश्मीर छोड़ कर कॉलेज न लौट आता तो शायद

---

* नदी के द्वीप—पृष्ठ १८१

ऐसा न होता। इस विषय को लेकर वह मन में अनन्त पीड़ा, ग्लानि एवं पश्चाताप की अनुभूति करता है। गौरा को खो-खोकर, उससे दूर भाग-भाग कर भी वह उसका रहा है। उसकी अज्ञात कल्पित अन्तश्चेतना उसे बार-बार गौरा मिलन के लिए बेताब करती है; वह विदेश में अपने एकाकीपन के बोझ से ऊब जाता है, सूनापन, उच्चाटन, उत्कंठा और आन्तरिक संघर्ष उसे नोच-खसोट लेते हैं; इन सब तथ्यों का उद्घाटन वह अपने पत्रों द्वारा गौरा को ही नहीं, पाठक को भी देता है।

प्रतीकात्मक चेतना-प्रवाहवादी विधि को अपनाने वाला उपन्यासकार स्वयं तटस्थ रहकर पात्रों के जीवन का अवलोकन करता और कराता है। उसकी कृति मे वह नहीं, पात्र मुखरित हुआ करता है। 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय नहीं भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा और गौरा बोले हैं। इस संबंध मे एक आलोचक का निम्नलिखित कथन अक्षरशः उचित है—"पर अज्ञेय का ध्येय स्थूल कथात्मकता की अभिव्यक्ति रहा ही कब है, उन्होंने तो कथा कहीं ही नहीं है। उपन्यास मे दो अंश होते हैं स्थूल और सूक्ष्म। कथात्मकता को हम स्थूल अंश कह सकते हैं पर उपन्यास मे अभिव्यक्त पात्रों के भाव, विचार उनकी मानसिक प्रतिक्रिया, जीवन सबंधी दृष्टिकोण घटनाओं को अर्थ प्रदान करने वाली जीवन दृष्टि ये सब उपन्यास के सूक्ष्म अंग कहलावेंगे। ये सूक्ष्म अंश अज्ञेय के उपन्यासों के आधार है। हेनरी जेम्स के कुछ शब्दों के सहारे कहे तो कहेंगे कि अज्ञेय (Seated man of information) अर्थात कथा की जमी हुई घनीभूत राशि खड़ी करने वाले कथाकार नहीं हैं। उनका संबंध पात्रों के मनोविज्ञान से है। कथा की छोटी-सी गुठली है भी तो वह भावना, विचार और अनुचिंतन की पाचक रस की दरिया में तैर रही है।"[८]

इस उपन्यास के शिल्प के संबंध में मान्य आलोचक ने अपने शोध-प्रबन्ध में एक स्थान पर लिखा है—" 'नदी के द्वीप' के चारों पात्रों का दृष्टिकोण पृथक-पृथक है, प्रत्येक अपने-अपने दृष्टिकोण की विचित्रता के कारण घटना प्रवाह के उस अंश को देखता है जो दूसरे पात्र नहीं देख सकते, प्रत्येक द्वारा घटना के विशेष अंग पर ही प्रकाश पड़ता है और बृहद् भाग अन्धकारमय ही रहता है जिसे आगे चलकर दूसरे पात्रों की किरण उद्भासित करती है,—अतः 'नदी के द्वीप' के चार दृष्टिकोणों की सीमा में कथा को घेर देने से उपन्यास में एक विचित्र व्यवस्था, नियम और संगठन की योजना संभव हो सकी है और यह उपन्यास हिन्दी का एक अत्यन्त गठित और सौष्ठवयुक्त उपन्यास हो सका है। इस उपन्यास के शिल्प का जहाँ तक प्रश्न है अज्ञेय कुछ-कुछ उसी ऊंचाई तथा गम्भीरता तक उठ सके हैं जिसको प्रेमचन्द ने अपने टेकनीक के क्षेत्र मे प्राप्त किया था।"[९] विद्वान आलोचक के इस कथन से मैं पूर्णतः सहमत हूं, प्रस्तुत उपन्यास शिल्प के क्षेत्र में एक गौरवपूर्ण उपलब्धि है। इसमें उपन्यासकार तटस्थ हो गया है। वह पाठक से इस रचना के लिए

---

८. डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पृष्ठ १६२

९. डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान—पष्ठ १८१

एक रूपक में आबद्ध करके 'बूंद और समुद्र' में प्रस्तुत किया है। भारतीय समाज ही वह समुद्र है जो नाना व्यक्तियों और वर्गों के सम्मिलित विश्वासों, मान्यताओं, विवशताओं तथा लीलाओं रूपी बूंदों का विराट् स्वरूप है। जीवन सागर में डुबकी लेने वाले कथाकार ने महिपाल, कर्नल, सज्जन, वनकन्या, ताई, कल्याणी जैसी महत्त्वपूर्ण बूंदें रत्न जुटाए हैं। इसमें भारतीय समाज के नागरिक वर्ग का जीवन जैसा जिया गया (Life as lived) प्रतीकात्मक महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राजनैतिक उछल-कूद, प्रचार, षड्यंत्र तथा नाना प्रपंच, सामाजिक रहन-रहन, आचार-विचार, दृष्टिकोण व संस्थाएं; वैयक्तिक प्रेम, पारिवारिक द्वेष, धार्मिक विश्वास, नैतिक अंधविश्वास रूढ़ियां; सांस्कृतिक समारोह तथा प्रदर्शनियां इस वृहद रूपक मे यथेष्ठ स्थान पर गौरवान्वित है। इस तथ्य को लेखक ने उपन्यास की भूमिका में स्वीकार किया है—"इस उपन्यास मे मैंने अपना और आपका— अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों आंकने की यथामति, यथासाध्य प्रयत्न किया है, अपने और आपके चरित्रों से इन पात्रों को गढ़ा है।—उपन्यास के क्षेत्र के रूप में मैंने लखनऊ और उसमें भी खास तौर पर चौक को ही उठाया है।"[1] इसमें एक जीवन व्यवस्था टूट रही है और दूसरी जन्म ले रही दिखाई गई है।

'बूद और समुद्र' की रूपकात्मकता असंदिग्ध है। लखनऊ का चौक ही समस्त कथा का केन्द्र है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर भारतीय समाज रूपी सागर ठाठें मारता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस विषय में एक आलोचक का कहना है—"यह मुहल्ला एक बूद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते है। शहर के विभिन्न स्तरो का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है, गावो मे भी जनता के संस्कार कैसे है, इसका परिचय बहुत कुछ मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है। एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिये हैं। वैसे तो भारतीय समाज हिन्द महासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।"[2] प्रस्तुत उपन्यास के नाना पात्र अपने को क्षुद्र बूंद समझते हुए व्यापक जन समूह रूपी सागर में मिल जाना चाहते हैं, जन सागर मे अपनी निरीहता की अनुभूति करता हुआ महिपाल अपने को 'दुनिया में मैं अकेला फुट्टेल हूं, कहता हुआ घोर क्रन्दन करता है। वन कन्या भी अपने को निरुपाय एवं निस्सहाय समझती है। उसकी समस्या, उसका चिंतन उपन्यास को रूपकात्मक बनाते है। वह कहती है—"कैसे यह बूद अपने आपको महासागर अनुभव करे? इस महान जन सागर मे वह नितान्त अकेली है। उसका कोई अपना नहीं। ऐसा लगता है जैसे उसके चारों ओर सागर सीमा बांधकर लहरा रहा है और वह एक बूंद सागर से अलग रेत मे घुलती चली जा रही है। और केवल उसकी ही यह हालत हो सो बात भी नही। हर व्यक्ति आम तौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक-दूसरे से अलग है···तब यह सागर

---

१. अमृतलाल नागर : 'बूंद और समुद' 'पाठकों से' से अवतरित

२. डॉ० रामविलास शर्मा : आस्था और सौंदर्य—पृष्ठ १३४

कैसा है जिसमे हर बूंद अलग है ? व्यक्ति यदि इतना ही अलग है तो समाज क्योकर बनता है ? कथा का घर—उसके माता पिता, भाई-भावज, सब एक-दूसरे से भयकर विरोध क्या रखते है। वह नैतिक दृष्टि से समाज के जिस मध्यवर्गीय घर मे पैदा हुई है, पली बढी है वह घर केवल एक ही तो नही, बहुत से हैं। ऐसे समाज मे जिसमे जन जीवन महासागर की उपमा पाता है जहा मानवता अभेद्य मानी जाती है, ऐसे घरो का रहना क्योकर सभव है ? आदर्श का महत्व है तो सबके लिए। उसका मूल्य समान हो, यह क्योकर सभव नही ? बडी बूद हो, छोटी बूद हो, नन्ही जैसी बूद ही क्यो न हो, यह छोटाई-बडाई नैतिक मापदण्ड के लिए कोई मूल्य नहीं रखती। और भी बहुत से घर इस परिभाषा म आते हैं परन्तु आम तौर पर ऐसा वातावरण कम ही मिलता है कुछ को छोडकर समाज म कुलीन और आबरूदार कहाने वाले सत्तर पिचहत्तर फीसदी लोग इसी तरह उन स्थापनाओ को प्रतिक्षण अपने व्यवहार मे तोडते रहते हैं जिन्हे समाज ने आदर्श माना है। यह विरोधाभास लेकर मानव का सामूहिक जीवन चल ही कैसे सकता है ?—बूद बूद का उपयोग हो, कैसे हो ? ³ इस 'कैसे हो' का प्रत्युत्तर कथाकार ने उपन्यास के अनुभूति प्रधान पात्र महिपाल के द्वारा कथा के अन्त मे इन शब्दो मे दिलाया है—'व्यक्ति व्यक्ति अवश्य रहे पर उसके व्यक्तिवादी चिन्तन मे भी सामाजिक दृष्टिकोण का रहना अनिवार्य हो।—मैं अकेला भी हू पर बहुजन के साथ मे हू। दु ख-सुख, शान्ति अशान्ति आदि व्यक्तिगत अनुभव हैं, पर ये समाज मे प्रत्येक व्यक्ति के हैं, अतएव हमे यह मानना चाहिए कि समाज एक है व्यक्ति तो अनेक हैं।"⁴ अनेकता मे एकता की भावना, वैयक्तिक प्रवृत्तियो का समाज सापेक्ष होकर चलने म विश्वास दर्शाना ही इस उपन्यास के विषय का [illegible]कार योग है। सारी कथा का ढाचा व्यक्ति और समाज के सबध की प्रतीकात्मक योजना पर खडा किया गया है।

[illegible] एव स्वस्थ समाज निर्माणहित कथाकार ने समाज के अस्वस्थ वातावरण का चित्र वि[illegible]स्तार के साथ प्रस्तुत किया है जिसमे स्वेच्छाचारी व्यक्ति ही समाज कल्याण और देशहित की आड लेकर विभिन्न राजनैतिक दलो तथा समाजोद्धारक सस्थाओ की छत्रछाया म निद्व[illegible]द्व अपनी उछल-कूद मे रत रहते है। 'बूद और समुद्र' मे लखनऊ के नागरिक जीवन को कथा का आधार बनाया अवश्य गया है, पर यह तो कथा को टिकाने का स्थल मात्र है [illegible] लखनऊ की यह कथा देश के किसी भी नगर की वास्तविक कथा कही जा सकती है, [illegible] रचोमे प्रस्तुत राजनैतिक, सामाजिक अथवा सास्कृतिक हलचल देश व्यापी नगरो की हलचल [illegible] है। उपन्यासकार ने बटवारे के पश्चात् स्वतत्र भारत के वर्तमान समाज मे से कुछ विशिष्ट [illegible] नागरिक पात्रो को सजाकर उनसे सबधित किचित घटना चक्रो एव कार्य-व्यापारो के मा[illegible]ध्यम मे कथा-सूत्र को घुमाया है। प्रत्येक घटना के मूल म समाज की यथार्थ दशा चित्रित क[illegible]रने का ध्येय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण उपन्यास मे प्रतीको की भरमार है [illegible] और कथानक झीना पड गया है, उसम शृखला टूटी-सी, बिखरी

³ बूद और समुद्र [illegible]—पृष्ठ ३८८८ ८६
⁴ वही—पृष्ठ ६[illegible] ९३

सी, मोटी-सी दृष्टिगोचर होती है। महिपाल-कल्याणी-शीला कथा, सज्जन-चित्रा-वनकन्या कथा की तुलना में वर्मा-तारा उपकथा, वड़ी-विरहंन रोमांस कथा थकी-सी, लुटी-सी, मोटी-सी प्रतीत होती हैं; इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उपन्यासकार का ध्येय एक शृंखला-बद्ध कथा प्रधान उपन्यास लिखना नहीं रहा अपितु भारतीय समाजके नागरिक जीवन का प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत करना रहा है। इस मत की पुष्टिहित हिन्दी उपन्यास के एक प्रसिद्ध आलोचक का कथन प्रस्तुत है—"वास्तव में यह विभिन्न मानसिक एवं सामाजिक अवस्था के स्त्री-पुरुषों के बोल-चाल, रहन सहन, आचार-व्यवहार तथा कार्यकलाप आदि के वर्णन को लक्ष्य बना कर लिखा गया है······इस वृहद् उपन्यास में कहानी का अंश अतिसूक्ष्म है, पात्रों की बहुलता है और वातावरण चित्रण पर भी अधिक आग्रह है। एक विस्तृत पट पर विभिन्न परिपार्श्व एवं दृष्टिकोण से देखे गये अनगिनत रूप-चित्रों को एकत्र कर एक चित्र प्रदर्शनी-सी उपस्थित कर दी गई है।"[५]

महिपाल-कल्याणी-शीला त्रयी की तुलना में सज्जन-चित्रा वनकन्या त्रयी की कथा कुछ क्रमिक विकास तथा उपन्यासकार की अधिक सहानुभूति पाने पर भी कथा शिल्प की दृष्टि से आधिकारिक कथा नहीं कही जा सकती। वास्तव में 'बूंद और समुद्र' में हमें संगठित वस्तु विधान (Organic Plot) का अभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। घटनाओं को कलात्मक कौशल के साथ संयोजित करने के स्थान पर उपन्यासकार ने अनेक पात्रों से संबंधित नाना घटनाओं को विभिन्न स्थलों पर बिखेर दिया है। इस कारण कथानक सौष्ठव नष्ट प्रायः हो गया है। शीला को लेकर महिपाल के जीवन में और चित्रा को लेकर सज्जन के जीवन में पर्याप्त उथल-पुथल प्रस्तुत की गई है; किन्तु इन्हीं पात्रों के सहारे जो घटनाएं वर्णित हैं, उनमें क्रमिक विकास और समीकरण के गुण का अभाव है। इसका कारण उपन्यासकार का दृष्टिकोण है। उसने मानव जीवन के नाना चित्रों को चित्रित करने का उद्देश्य रख कर यह रचना प्रस्तुत की है। अतएव समस्त कथानक उद्देश्यमूलक बन गया है, और समस्त घटनाएं किसी न किसी आदर्श, सिद्धान्त अथवा सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए संयोजित हुई है। उपन्यास के प्रथम डेढ़ सौ पृष्ठों तक तो कथा-वस्तु का पता ही नहीं चलता। उपन्यास में नाना पात्र आ-आकर समाज और राजनीति पर अपना-अपना मत कह-सुन कर विदा लेते, फिर आते और जाते दिखाये गए है। इन डेढ़ सौ पृष्ठों में एक छोटी-सी घटना मास्टर जगदम्बा सहाय की विधवा भतीज बहू की आत्महत्या की चर्चा ही बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन की गई है। इस आत्महत्या के प्रसंग को लेकर प्रसिद्ध पात्र सज्जन से लेकर राधेश्याम जैसे अप्रसिद्ध पात्र भी अपना मत प्रदर्शित करते हैं। वे इस घटना का विवरण न देकर परिचय भर दे उसे सामाजिक समस्या का सविस्तार वर्णन करते है, जिसके अन्तर्गत पुरुष वर्ग की बर्बरता, व्यभिचार वृत्ति, धार्मिक आडम्बर और आर्थिक शोषण प्रतीक बन कर सामने आए हैं। एक पात्र के मतानुसार पुरुष वर्ग इसी ताक में लगा रहता है कि मुहल्ले में कब कोई विधवा हो और पत्र व्यवहार, प्रेमालाप शुरू करें।[६]

५. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तवः हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३७५

६. 'बूंद और समुद्र'—पृष्ठ ६३

'बूंद और समुद्र' प्रतीकात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास है अतएव इसके अधिकांश पात्र प्रतीक हैं। ये अवश्य ही किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। ताई का ही लें। यह भारतीय समाज में नारी वर्ग के उस उत्पीड़ित, विवश और हीन समझे जाने वाले समाज का प्रतिनिधित्व कर रही है जिसे शताब्दियों से पुरुष ने सामाजिक, आर्थिक और मानसिक रूप में त्रस्त रखकर हीनता की भावना में जकड़ दिया है, पागल बना दिया है या आक्रान्त कर दिया है। कहने को ताई भी नीम पागल है, जिसका अधिकांश जीवन बड़बड़ाहट और जादू-टोनों के हेर-फेर में व्यतीत हुआ है। यह बड़बड़ाहट क्यों ? इस क्यों का उत्तर उसके धनी-मानी समझे जाने वाले पति राजा बहादुर द्वारका दास अग्रवाल है, जो उसके यौवन का रस चूसकर उसकी एक लड़की की मृत्यु के पश्चात उसे निःसन्तान रहने के दण्ड स्वरूप उपेक्षित रूप में अपनी एक हवेली में छोड़ देते हैं। वहां का एकान्त, पति की उपेक्षा, जीवन की निराशा उसके जीवन में चिड़चिड़ाहट, बड़बड़ाहट और एक अजीब सी बौखलाहट भर देते हैं। समाज से उसे घृणा है और अपनी सौत से ईर्ष्या। ताई से सम्बंधित बड़बड़ाहट का चित्रण उपन्यासकार ने प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के साथ प्रस्तुत किया है—"अगर ताई की जीवन भर की बड़बड़ाहट का रस्सा बटा जाए तो हनुमान जी अपनी दुम बढ़ा-बढ़ाकर थक जाएंगे, मगर दुम से रस्सा बड़ा निकलेगा। ताई को सारी दुनिया से शिकायत है, हरदम शिकायत है, फिर बड़बड़ाहट का अन्त क्योंकर हो ? मम्मन बजाज की छत पर ज़ोर-ज़ोर से हंसती हुई लड़कियां बेहूदा ताई की मान जन्म की दुश्मन हैं—निगोड़ियों के गले दाई ने काम से खोले थे अब देखो सब हा हा हा।' फिर मुंडेरे पर ताई के 'निगोड़े खसम' सा कौआ बैठकर बीट कर गया। फिर आस पास के रेडियो खुल गए—"हम तुम से मुहब्बत करके सनम, भाड़ में जाए निगोड़े सनम" गुस्सा पुरानी की उन पर होने वाली सास-बहू की कांव-कांव से कान पक गए—"रांड की जवान बुढ़ापे में भी कतर-कतर-कतर। उंह" लाले दलाल का लड़का अपनी छत पर चिल्ला उठा—"अरे साबुन दे नई मर्द चुटैनो ? हमारा पानी ठंडा हुआ जाए रहा हैगा।—'हाय हाय। कैसे चिल्लाय हैं निगोड़े डाकू जैसे'"[७] इस प्रकार के अनेक वर्णन शब्द चित्र हैं, जो ताई की चारित्रिक दशा के साथ-साथ समाज की यथार्थ अवस्था का चित्र भी प्रस्तुत करते हैं—और फिर ताई के चरित्र का एक पक्ष ही कथाकार ने चित्रित नहीं किया है अपितु उसके मन का कोमल पक्ष भी उद्घाटित कर दिया है। अतः एक आलोचक ने उसे हिंसा और मानव प्रेम का अद्भुत मिश्रण कहा है।[८]

वज्रहृदया ताई जब बिल्ली के तीन बच्चों को बाहर फेंकने जाती है, तभी उसके हृदय के कोमल तन्तु झनझना उठते हैं, उसे अपनी सूनी गोद और मृत कन्या की स्मृति कचोट डालती है और वह तीनों बच्चों की मां का वात्सल्य देकर पालने लगती है, यही तक नहीं, वही ताई जिसके गर्भ को मिटाने के लिए वह जादू-टोने करती है, समय आने पर स्वयं उसके घर आकर उसकी सेवा कर सुगमता से उसे बच्चा जनने में परम सहायक

७ बूंद और समुद्र—पृष्ठ ४

८ डॉ० रामविलास शर्मा आस्था और सौन्दर्य—पृष्ठ १३६

सिद्ध होती है और उसकी छटी की दावत भी बड़ी धूम-धाम से करती है, इतना होने पर भी उपन्यासकार ने ताई के रौद्र रूप का वर्णन ही विस्तार के साथ किया है। उसके वाह्य आपे का चित्र अंकित करते हुए वह लिखता है—"कसाईखाने के पास से उड़ती हुई दुर्गन्ध की तरह इंसानी भाषा और भाव जिवह होकर ताई के मुख मे चमक रहे थे। जितना ही उनका दम फूलता था, उतना ही उसका कस-वल भी बढता जाता था। ताई की अपराजिता हिंसा लठिया पटक-पटक गालियां फटकार रही थी। टिल्लु से नीचे ही भागते वना। ताई जव गुस्से में पूरी तरह मदहोश हो जाती है तव उनकी आंखों से सचमुच चिगारियां छूटने लगती हैं। मुंह में झाग, फिचकुर, आंखों मे चिंगारियां, चेहरे की एक-एक झुर्री तलवार की तरह खिची हुई कच्चे-पक्के विखरे वाल, लठिया उठाए लपट की तरफ हर तरफ वढ़ती हुई—'ताई का यह परम रूप अच्छे-अच्छों के औसान खता कर देता है।"[१]

'वूंद और समुद्र' में स्त्री पात्रों का चरित्र-चित्रण पुरुप पात्रों की तुलना मे अधिक सशक्त तथा विस्तार के साथ चित्रित किया गया है। ताई का चरित्र तो आरम्भ से लेकर अन्त तक सारे उपन्यास पर छाया ही है, किन्तु वनकन्या का चरित्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वनकन्या एक प्रतीक पात्र है, जो भारत के नगर की मध्यवर्गीय शिक्षित एव विद्रोही नारी का प्रतिनिधित्व करती है। लखनऊ के एक मध्यवर्गीय मास्टर जगदम्वा सहाय की यह लड़की पुरुप-वर्ग की वर्वरता के प्रति प्रतिकार की भावना लिए उपन्यास में प्रवेश करती है। इसके पिता इसकी भाभी पर वलात्कार करके सुखी रहें, यह इसे सहन नहीं; नारी केवल भोग की सामग्री है, यह मत भी इसे मान्य नहीं। पुरुप-वर्गीय उपेक्षा, वर्वरता एवं शोपण का प्रतिकार लेने के लिए वह आदर्शवादी सज्जन का आश्रय लेती है। किन्तु शुरू-शुरू में उसे उसके प्रति भी विश्वास आदर, शंका, भय, चिन्ता आदि की मिली-जुली भावनाओं ने घेरकर खदेड़ा है। वनकन्या के स्वभाव तथा उसमें विद्यमान इन भावनाओं का चित्रण उपन्यासकार द्वारा किया गया है। अतः इसे वर्णनात्मक चरित्र विधि के अन्तर्गत रखेंगे। वनकन्या के चरित्र का सविस्तार वर्णन करते हुए उपन्यासकार लिखता है—"कन्या अहंकारिणी है। नैतिकता की शक्ति उसके अहंकार का पोपण करती है। घर के गन्दे वातावरण की प्रतिक्रिया में उसका वड़ा भाई और वह आत्म-तेज से लिप्त होकर वालिग हुए। अपने विवाह की ट्रेजेडी के वाद उसके वड़े भाई तो जिन्दगी से जूझते-जूझते थक कर वौरा गए; कन्या ने उनके दिमागी असंतुलन से भी नसीहत लेकर अपनी नैतिकता को अधिक कसा। हां इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि उसका आन्तरिक विद्रोह अधिक मुखर हो उठा। वह खुले शब्दों में अपने घर के गुरुजनों के कुकृत्यों की उनके मुंह पर निन्दा करने लगी। अपनी एक प्रगतिशाली सहपाठिनी के उत्साह से उसका लगाव इण्डियन पीपुल्स थियेटर, कम्युनिस्ट पार्टी के लोगों, और मार्क्सवाद से भी होने लगा। उसकी विद्रोहात्मक वृत्ति को इससे वल मिला। परन्तु अपने गुरु और वड़े भाई की छत्र-छाया मे उसके साथ ही साथ वालिग होने वाली आस्तिकता विद्रोह करने पर भी उसके मन से न गई। इस तरह जहां तक मन के विद्रोह को सन्तोप देने की वात थी, वहां तक तो वह प्रगतिशील

१. वूंद और समुद्र—पृष्ठ १५६

बन गई, उससे अधिक वह आगे न बढ़ सकी, यद्यपि बौद्धिक और भावनामूलक उलझनें उससे गहरा विचार मथन कराती रहीं।—समाज के अभिशाप-सी उसकी स्व जावज, और प्रवृत्ति के अभिशाप सी जीवित जारज के दृष्टान्त उसे पुरुष से घृणा उत्पन्न कराते रहते थे। आधुनिक सामाजिक चेतना के अनुसार पाई हुई समझ में भी यही अनुभव करती थी कि मानव समाज में मुख्यत भारतीय-समाज में पुरुषों ने नारी जाति की दुर्गति कर रखी है। इन सब बातों को लेकर उसके अन्दर का स्वाभिमान—गौरव, पुरुषों के खिलाफ विद्रोह करता रहता था, यद्यपि अब साल दो साल से, मनमथन के प्रभाव से उसने जो सिद्धान्त नवनीत पाया था उसमें वह काफी हद तक शान्त, गम्भीर और सतुलित हो गई थी।"[10]

इस प्रकार उपन्यासकार ने वनकन्या के मन की, स्वभाव की, समस्त चरित्र की एक एक विशेषता को लेकर उसपर पड़े सस्कारों का प्रतीकात्मक चित्र खींचा है। पुरुष-विद्रोहिणी यह नारी परिस्थितियों के उतार चढ़ाव को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुंच गई कि नारी के लिए मानपूर्वक सुरक्षित जीवन यापनहित आज के युग में एक विश्वस्त, साहसी, मनभावन सहचर की बड़ी आवश्यकता है और इसी आवश्यकता की पूर्तिहित वह सज्जन से विवाह कर लेती है। विवाह के पश्चात् इसके चरित्र का आदर्शवादी एव स्थिर पक्ष उभर गया है। पीहर के घर के वातावरण से असन्तुष्ट, बाहर से सयत किन्तु मन में क्षोभ भरी वनकन्या रियासती वैभव के बहाव में बह नहीं गई, अपितु स्थितप्रज्ञ होकर सज्जन से ट्रस्ट स्थापित कराकर एक सेविका बनी। वनमाला दृढ़ चरित्र पात्र से बढ़कर स्वय एक प्रतीक बन गई है जो सामाजिक आस्था के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है। इस प्रतीक पात्र से इस तथ्य का उद्घाटन होता है कि पूजी सदैव नैतिक पतन की ओर नहीं धकेलती अपितु मानसिक कुंठा के कारण नैतिक, अनैतिक समस्याएं उत्पन्न होती हैं। एक आलोचक उसे आस्था का प्रतीक बताते हैं।"[11] सज्जन वनकन्या आदि पात्रों द्वारा आधुनिक जीवन के विचारों और सिद्धान्तों में जो द्वन्द्वात्मक स्थिति है, वह आस्था बन सामने आई।

कल्याणी उपन्यास की वह पात्र है जिसे हम परम्परागत नारी और सतीत्व का प्रतीक कह सकते हैं। अशिक्षित होने पर भी वह एकनिष्ठ, कर्त्तव्यपरायण, सेवाव्रती, त्यागमयी नारी है। डा० शीला का चरित्र हमें 'गोदान' की मालती की याद दिलाता है। मालती बाहर से तितली और भीतर से मधुमक्खी है। शीला का दिल कलाकारों की तरह गर्म है। और दिमाग वैज्ञानिकों की भांति ठंडा है। मालती मेहता से प्रभावित होकर सुधार की ओर बढ़ती है। शीला महिपाल से निराश होकर सज्जन के सेवा कार्यों में हाथ बंटाती है। बड़ी अमृत और प्रेम से पीड़ित मध्यवर्गीय नारी का प्रतीक है। उसके माध्यम से मध्यवर्गीय जीवन की यौन समस्या का उद्घाटन किया गया है। बड़ी की मानसिक रति मध्यवर्गीय नारी की यौन समस्या की प्रतीक है जिसका अंत विरहश-बड़ी रोमास और दु खमय

---

१० बूंद और समुद्र—पृष्ठ २७६ ७७

११ डॉ० रामविलास शर्मा आस्था और सौंदर्य—पृष्ठ १४६

जीवन की तरह ही होता है। उपन्यास में नए फैशन और नई शिक्षा से दीक्षित पात्रों, हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियों की कोई कमी नहीं है, किन्तु उपन्यासकार ने उन्हें प्रतीक रूप में संयोजित करके इनके रेखा-चित्रों को समृद्ध रूप में अंकित किया है वह एक विश्लेषणात्मक उपन्यासकार बनकर इनकी काम कुंठाओं का विश्लेषण करने नहीं बैठ गया अपितु प्रतीकात्मक कथाकर बनकर शब्द चित्र देता है।

प्रस्तुत उपन्यास के नारी पात्र शक्तिमान, प्रतिभासम्पन्न आस्था के प्रतीक हैं किन्तु पुरुष पात्र आस्थाहीन हैं। पुरुष पात्रों में सब से अधिक प्रभावशाली पात्र महिपाल है, किन्तु उसकी आस्था डावांडोल है। अपनी एक-निष्ठ पत्नी कल्याणी से वह असंतुष्ट है और समाजभीरु होने के कारण डॉ० शीला से अनैतिक संबंध रखते हुए भी उससे दूर भागता है। जिस सामाजिक व्यवस्था में वह रहता है उसी के प्रति क्षुब्ध है। उसे वह महाजनी सभ्यता की संज्ञा देता है जो व्यक्ति को असामाजिक, शंकालु, और स्वार्थी बनाती हुई उसके स्वाभाविक विकास को रूंध कर डालती है। दुर्बल मन महिपाल आधुनिक कलाकार का ही प्रतिनिधि नहीं है, उसे वर्तमान युग के व्यक्ति की घुटन का प्रतीक कहा जा सकता है। आज की विषम परिस्थितियों में व्यक्ति बूंद से भी गया बीता है। बूंद सागर में मिलकर सागरमय तो हो जाती है किन्तु आज के व्यक्ति को न तो समाज में मिलने की सुविधा है, न अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व स्थापित करने की। जीवन की नवीनतम सुविधाएं मिलने पर भी महिपाल की अन्तश्चेतना पीड़ित है, आहत है। इतने मित्रों, संगियों, नातेदारों के रहते भी वह एकाकी है। अपने आहत किन्तु दुर्दम अहं को रक्षित रखने में अपने सिद्धान्तों और विश्वासों का गला घोंट डालता है। इतने पर भी संतुष्ट न होकर उसका अहं ईर्ष्या में परिणत होता है। सज्जन के प्रति निगूढ ईर्ष्या उसकी अनास्था, दिग्भ्रान्ति एवं विवशता की प्रतीक है। उपन्यासकार ने इसका अन्त आत्महत्या कराकर किया है। यह आत्महत्या समस्या का कोई समाधान न होकर जीवन से पलायन है। महिपाल का जीवन अभाव की लम्बी कहानी है। रूपरतन के सम्पर्क मे आकर आर्थिक रूप से सम्पन्न होने पर भी वह मानसिक रूप से जर्जर है। आन्तरिक और बहिर्मुखी संघर्ष उसके धैर्य, संयम और उदात्त गुणो पर कुहरा जमाकर उसे संशय, अविश्वास और अनास्था के पथ पर एकाकी छोड़ देते हैं। महिपाल जन जीवन के सागर में मिली बूद न होकर बालू पर गिर कर झुलस गई एक ऐसी ओस बूंद है, जिस पर सज्जन ही नहीं, उपन्यास का प्रत्येक पात्र मुग्ध है।

और सज्जन ! वह भी आरम्भ में अनास्था का प्रतीक है। महिपाल का चरित्र उसे विशेष प्रभावित करता है, उसकी आत्महत्या पर उसे लगता है मानो देश ही आत्महत्या कर रहा हो। वह मानता है कि यदि महिपाल जैसी परिस्थितियों में वह रहा होता तो अवश्य आत्महत्या कर लेता सज्जन सम्पन्न होने पर भी विपन्न है। उसमें कर्मठता का अभाव है। व्यक्तिगत श्रम से वह सदैव बचता रहा है किन्तु महिपाल की मृत्यु उसके ज्ञान-चक्षु खोलती है। वह और कन्या घर-घर जाकर लोगों की समस्याओं की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर उसके समाधान के लिए जुट जाते है। उसे महिपाल की बातें याद आती हैं जो जीवन को आस्थावान बनाने वाली और प्रतीकात्मक हैं—"व्यक्ति केवल

अपने दायरे म रहता, सोचता और कम करता है। ऐसा लगता है जैसे हर व्यक्ति एक-एक द्वीप मे अलग-अलग है। क्या यह मनुष्य की प्राकृतिक स्थिति है ?—नहीं। मनुष्य का आत्मविश्वास जगाना चाहिए, उसके जीवन मे आस्था जगानी चाहिए। मनुष्य को दूसरे के सुख-दुख म अपना सुख दुख मानना चाहिए। विचारो मे भेद हो सकता है, विचारो के भेद से स्वस्थ द्वद्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मक विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख दुख म व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सबध बना रहे—जैसे बूद जुडी रहती है—लहर से लहर। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूद मे समुद्र समाया है।"[12] अन्तर यही है कि महिपाल के लिए यह विचार विचार भर रहा और सज्जन अपने जीवन के अन्तिम सोपान मे इसे क्रियान्वित करके समाजमय हो गया। बूद समुद्रमय हो गई। महिपाल के लिए बूद बूद ही बनी रही, अत मिट गई। सज्जन अन्त मे आस्था का प्रतीक बन जाता है।

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासो म कथाकार जिस समाज मे रहता है, उसका रूप चित्र उतारने का प्रयास किया करता है। 'बूद और समुद्र' मे इस प्रकार का प्रयास हुआ है। स्वतत्रता प्राप्त करने के पश्चात् भारत के प्रमुख राजनैतिक दलो की दौड धूप, चुनाव की तैयारिया, पोस्टरबाजी, किसी भी घटना को राजनैतिक रूप देने के प्रयासो का कच्चा चिट्ठा हमे पढने को मिलता है। उपन्यासकार के शब्दो मे गली गली वोट दो ' वोट दो की हुकार भारत के प्रथम चुनाव समय की स्थिति उस बुखार की तरह है जो जूडी की बढती हुई कपकपी की तरह कानो के निकट पहुचता है। विभिन्न दलो के निशान उनके जलूस, गाव जनता म हलचल, झूठे प्रलोभन और निजी स्वार्थों की पूर्ति ही इनका लक्ष्य होता है। वोट लेने और देने के अतिरिक्त राजनीति का अन्य कोई महत्त्व नहीं, और भारत की आधी के लगभग आबादी (स्त्री वर्ग) वर्तमान सामाजिक परिस्थितियो म इस अधिकार का सद् उपयोग करने मे असमर्थ है इसका कारण सामाजिक विषमता का साम्राज्य है। इस विषमता पर दृष्टिपात करते हुए वनकन्या सोचती है—"नारी होना आज की सामाजिक स्थिति म अभिशाप है स्त्री और पुरुष आम तौर पर एक दूसरे की इज्जत नही करते हैं। स्त्री आम तौर पर आर्थिक दृष्टि से पुरुष की आश्रिता है, उसका व्यक्तित्व स्वतन्त्र नहीं। इस देश की स्त्रिया सदा से यह दुख भार उठाती आई हैं। सीता को भी सहना पडा था, द्रौपदी को भी।"[13] नारी विषयक यह दृष्टिकोण केवल वनकन्या का ही नहीं है, महिपाल, सज्जन, कर्नल मण्डली के भी यही विचार हैं। महिपाल अपने लेखो, पुस्तको और भाषणों तक मे नारी जीवन की दयनीय दशा के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है। उसे इस बात का क्षोभ है कि भारतीय शास्त्रो मे स्त्री प्रथम स्थान पाकर भी भारतीय समाज और व्यवहार म वह दासी से भी गया बीता जीवन व्यतीत करती है। इस दृष्टि से लेखक ने यथार्थवादी और वस्तुपरक दृष्टिकोण दर्शाया है।

'बूद और समुद्र' मे समाज सबधी विचारों एव समस्याओ का वाहक उपन्यास-

---

१२ बूद और समुद्र—पृष्ठ ६०६
१३ वही—पृष्ठ ४३७

कार नहीं है, अपितु उपन्यास के पात्र हैं। राजनीति व्यक्ति और समूह, धर्म, समाज, अर्थ-नीति आदि पर महिपाल, सज्जन और वनकन्या खुल कर वार्ता करते हैं, भाषण देते हैं और लेख लिखते हैं। महिपाल अपनी पुस्तकों द्वारा, सज्जन अपने तर्कों द्वारा और वन-कन्या छुट-पुट वार्ताओं तथा पैम्फलेट द्वारा स्त्री समाज, प्रेम और विवाह आदि समस्याओं पर अपने विचार अभिव्यक्त करते देखे गए हैं। विभिन्न पात्रों द्वारा कहे गए इन समस्याओं से संबंधित कुछ विचार नीचे दिए जाते हैं—"ये विधवाएं तो सच पूछो आँसों से भी ज्यादा बुरी होती है। आँस बाजार में कोठे पर बैठती है तो सब जानते तो हैं कि रंडी है, और ये लोग तो भली बनकर सत्तर घर घालती है डायने।"[१४] "मैं तो इसी नतीजे पर पहुंची हूं कि शादी का रिवाज इंसानों में धोखा-बड़ी, झूठ और अत्याचारों को जगाता है। इसे हटा दीजिए, औरतों को आर्थिक रूप से आज़ाद कर दीजिए, फिर देखिए, औरत-मर्द के रिश्ते कितने जल्दी नार्मल हो जाएंगे।"[१५] "स्त्री-पुरुष जीवन में सिर्फ एक ही बार एक दूसरे को पाते हैं, मेरा इस बात में दृढ विश्वास है। और पाने के लिए उन्हें आपस में अपने आपको अनेक कसौटियों पर कसना होता है। यह जिम्मेदारी का नाता है—रइसों, कलाकारों, मनचलों के दिलन्हलाव का खेल नहीं।"[१६] "प्रेम थ्योरी नहीं, प्रैक्टिस है; जितना ज्यादा प्यार करो, रिश्ता उतना ही गहरा पैठता है; और रिश्ता जितना ही पुराना होता है उसमें रोज़ उतनी ही नई ताज़गी आती है।"[१७] "पति-पत्नी के रूप में स्त्री-पुरुष की सहज जोड़ी देश-काल से परे है। वह नित्य है; उसका अन्त नहीं।"[१८] कन्या की एक धारणा यह भी निश्चित हो गई थी कि कोई कितना ही अधिक सभ्य और सुसंस्कृत क्यों न हो जाए, पर स्त्री के प्रति पुरुष मात्र का व्यवहार एक जगह बर्बरता भरा होता ही है।

"विवाह नामक अति सशक्त संस्था को बड़े पुराने ज़माने से आज तक स्त्री-पुरुष के अनैतिक नातों ने अनगिनत आघात पहुंचाए हैं। फिर भी यह सच है कि विवाह की प्रथा आज तक किसी के द्वारा भी तोड़े न टूट सकी। विवाह की प्रथा सतीत्व सिद्धान्त की जननी है। और सतीत्व का आदर्श सदा एकांगी रूप से ही समाज पर लागू हुआ है। यह एकांगी सतीत्व ही विवाह प्रथा को अधिकांश में अर्थहीन और लकवा पीड़ित-सा लुंज बनाया है।"[१९]

"कुटुम्ब व्यक्तिगत प्रेम से बड़ी वस्तु है। वैवाहिक कुटुम्ब समाज को सुसंबद्ध बनाए रखने के लिए एक शक्तिशाली परम्परा है, व्यक्तिगत प्रेम से समाज के बंधन ढीले पड़ जाएंगे। कुटुम्ब की भावना नष्ट हो जाएगी।"[२०]

---

१४. बूंद और समुद्र—पृष्ठ ६३
१५. वही—पृष्ठ ६६
१६. वही—पृष्ठ २१२
१७. वही—पृष्ठ २४८
१८. वही—पृष्ठ २८४
१९. वही—पृष्ठ ५०२
२०. वही—पृष्ठ ५१८

'बूंद और समुद्र' के शिल्प संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"जहाँ तक इस शिल्प की नूतनता का प्रश्न है, इसमें हमें तीन बातें मिलती हैं—(१) चेतना प्रवाह (Stream of Consciousness) (२) कथाक्रम और काल-क्रम में उलटफेर (Time shift) (३) और भाषा संबंधी नूतनता।"[21] प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक मतानुसार इस रचना में चेतना प्रवाह (Stream of Consciousness) द्वारा कथा वर्णित नहीं हुई अपितु प्रतीकात्मक शिल्प विधि को अपनाया गया है। चेतना प्रवाह के जो उदाहरण विद्वान आलोचक ने दिए हैं वे भी तर्क संगत नहीं हैं। नागर चेतना के अन्तर्सूत्रों को प्रतीकों द्वारा पकड़ते हैं। उपन्यास का प्रत्येक पात्र आधुनिक जीवन और चेतना का प्रतीक बनकर सामने आता है। विद्वान लेखक इस उपन्यास के २७ वें परिच्छेद को चेतना प्रवाह विधि का उदाहरण बताते हैं।[22] यह ठीक है कि इस अध्याय में महिपाल के मस्तिष्क में नाना विचारधाराएं काम जाती हैं जिनमें उसके वैयक्तिक जीवन, पारिवारिक हलचल, सांस्कृतिक परम्परा, महाजनी सभ्यता की चर्चा हुई है, किन्तु इतने भर से समस्त उपन्यास को चेतना-प्रवाह विधि की रचना कह डालना सार्थक नहीं है। मैं समझता हूं कि इस अध्याय में एक पात्र की अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक निर्वाह हुआ है। शेष उपन्यास में पात्रों की प्रतीकात्मकता, कथा का रूपकात्मक निर्वाह एवं वातावरण में संकेत ही प्रमुख रूप से सामने आए हैं। कथाक्रम में उलटफेर कोई स्वतंत्र शिल्प विधि नहीं है। भाषा के नूतन प्रयोग से भी उपन्यास में शिल्पगत नवीनता नहीं आ जाती। यदि ऐसा होता तो समस्त आंचलिक साहित्य नूतन शिल्प विधि के अन्तर्गत आ जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ और न होने की संभावना ही है। अतः हम इस रचना को प्रतीकात्मक शिल्प विधि की रचना कहेंगे। यह रचना प्रखर अनुभूति और सूक्ष्म कलात्मकता के कारण हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासों की एक दृढ़ कड़ी मानी जाएगी।

डॉ० धर्मवीर भारती

भारती हिन्दी जगत में नई धारा के कवि के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके हैं। इधर इनके दो उपन्यास 'सूरज का सातवां घोड़ा' तथा 'गुनाहों का देवता' क्रमशः प्रतीकात्मक एवं नाटकीय शिल्प विधि की रचनाएं प्रकाशित हुईं। इन दोनों का उपन्यास साहित्य को योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' तो अपने नितान्त नूतन शिल्प प्रयोग के कारण बहुत लम्बे समय तक हिन्दी पाठकों और आलोचकों की चर्चा परिचर्चा का विषय बना। नवीन रूपाकार के स्तर की पहचान ने डॉ० भारती की ख्याति में चार चांद लगाए। अनेक कथाओं का एक वाचक (Narrator) माणिक मुल्ला रोमांटिक प्रेम की नई दिशाओं और नई संभावनाओं की ओर संकेतात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। स्त्री-पुरुष संबंध की स्वाभाविकता, इनमें प्रस्तुत आर्थिक, सामाजिक

---

२१ डा० विश्वामित्र 'बूंद और समुद्र' एक अनुशीलन 'समालोचक' सितम्बर, ५९—पृष्ठ २८

२२ वही—पृष्ठ २८

और नैतिक प्रश्नावली आधुनिक व्यक्ति के सामने नई प्रश्नावली प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासकार इस प्रश्नावली को नए परिवेश में नया आयाम देने मे पूर्ण सफल हुआ है।

सूरज का सातवां घोड़ा—१९५२

'सूरज का सातवां घोड़ा' प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना है। यह एक लघु उपन्यास है जिसमें सात दिनों में सात कथाएं उपन्यास के ही एक प्रसिद्ध पात्र माणिक मुल्ला के द्वारा ही कहलाई गई हैं—ये सात कहानियां अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हुई भी एक अविच्छिन्न लघु उपन्यास की सामग्री जुटाती है। इस उपन्यास की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यह एक नये ढंग का लघु उपन्यास है—"सबसे पहली बात है उसकी गठन, बहुत सीधी, बहुत सादी, पुराने ढंग की—बहुत पुराने; जैसा आप बचपन से जानते है—अलफ-लैला वाला ढंग, पंचतन्त्रवाला ढंग, बांकैच्छियों वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है · मौलिकता अभूतपूर्व, पूर्ण शृंखला-विहीन नयेपन में नहीं, पुराने में नई जान डालने में है (और कभी पुरानी जान को नई काया देने मे भी) और भारती ने इस ऊपर से पुराने जान पड़ने वाले ढंग का भी बिल्कुल नया और हिन्दी में अनूठा उपयोग किया है। और वह केवल प्रयोग कौतुक के लिए नहीं, इसलिए कि वह जो कहना चाहते है, उसके लिए यह उपयुक्त ढंग है।"[1]

प्रस्तुत उपन्यास का यह नवीन कथा प्रयोग पूर्णरूपेण प्रतीकात्मक है। इसका शीर्षक तो प्रतीकात्मक है ही, इस शीर्षक के साथ-साथ कथा-निर्वाह भी सांकेतिक है। कथा-चक्र में दिनों की संख्या सात रखने का प्रमुख कारण सूरज के सात घोडे है। सूरज का सातवां घोड़ा ही माणिक मुल्ला का स्वप्न स्रष्टा है। ये स्वप्न वास्तव में प्रतीकात्मक हैं। माणिक मुल्ला के अर्द्ध सुप्त मन मे असम्बद्ध स्वप्न विचारों का क्रम बंधा है। स्वर्ग का फाटक, फाटक पर रामधन, अन्दर जमुना श्वेत वसना और शांत···ये सब माणिक मुल्ला के जागृत मन की अर्जित अनुभूतियों के प्रतिबिम्ब हैं। श्वेत वसना नारी का स्वप्न उसके वैधव्य का परिचायक है। तन्ना के कटे पांव और टांगों पर आर० एम० एस०के रजिस्टर उसके कारुणिक जीवन और विषम परिस्थितियों के स्पष्ट संकेत है। फाटक का पुनः खुलना, तन्ना का बिन पांव अन्दर जाना और बिस्तुइया की कटी पूंछ की तरह छटपटाना, उसकी मृत्युसूचक बातें है। डाकगाड़ी का छूट जाना, जीवन-वंचना का प्रतीक है। वास्तव में स्वप्न झूठे नहीं हुआ करते। उनके पीछे एक इतिहास हुआ करता है, जीवन अनुभूति होती है, भविष्य का संकेत हुआ करता है। इस विषय में आलोचक का यह कथन सत्यपरक है—"यह एक आत्म-स्वीकृति है। दमित शक्ति का पुनर्जागरण तथा अचेतन मन में छिपे सत्य का निरावरण है। स्वप्न वस्तुतः भावात्मक संघर्ष का चित्रात्मक प्रतीक होता है जो स्वप्नवेता के अचेतन से एक सुझाव देता है कि वह इस संघर्ष से किस प्रकार

---

१. अज्ञेय : सूरज का सातवां घोड़ा—भूमिका—पृष्ठ ११-१२

निपटे।"[1] मुल्ला के स्वप्न की सत्यता के आधार पर यह कथन सार्थक सिद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास पात्र बहुल भी नहीं है। केवल तीन स्मरणीय नारी पात्र जुटाए गए हैं—जमुना, लिली और सत्ती पुरुष पात्रों मे तन्ना और स्वय माणिक मुल्ला (जो कथा वाहक भी हैं) पाठक के मन पर अमिट रेखा खींचते हैं। माणिक मुल्ला-जमुना वार्ता मे झिझक, भय, आशका और चिन्ता आज के निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की निराशा, घुटन और कटुता के प्रतीक हैं। माणिक की कायरता और भावुकता मध्यवर्गीय युवक प्रेमी की जानी-पहचानी बातें हैं, जिनमे साहस, कर्मण्यता और दृढता का अभाव है। उसे स्वर्णिम स्वप्न तो अच्छे लगते हैं किन्तु प्रेम पथ की बाधाएं, प्रतिपल के सघर्ष, भूसे मे से निकल रहे भाप और बिच्छू की भांति कचोटते दीख पडते हैं, जिनकी कल्पना से ही उसे पसीना छूट जाता है। कारण यह कि समाज की विषम परिस्थितिया और वातावरण आज के युवक को उन्मुक्त रूप से सास नहीं लेने देते। प्रेम को हव्वा समझता हुआ आर्थिक विपन्नता के यथार्थ परिवेश म वह इतना घुट जाता है कि एक दिन पूर्णरूपेण कुण्ठित हो जाता है। उपन्यासकार आज के मध्यवर्गीय व्यक्ति के हृदय मे कहीं न कहीं माणिक मुल्ला और देवदास का अश पाता है। उसका पात्र श्याम 'नमक की अदायगी' नामक कथा सुनकर उसपर अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करता हुआ कहता है—"नहीं मैं जमुना को नहीं जानता, लेकिन आज ९० प्रतिशत लडकिया जमुना की ही परिस्थितियों मे है।"[2] एक पात्र प्रकाश के मतानुसार जमुना निम्न मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है, मन से भावुक स्वप्न द्रष्टा और आर्थिक रूप से खोखला। वह समाज की नित प्रति क्षण खोखली हो रही व्यवस्था का प्रतीक है। उपन्यास म एक प्रश्नचिह्न बन गया है—अनैतिकता का कारण वह है या सामाजिक व्यवस्था ?

नैतिक विकृति की समस्या का समाधान भी कथाकार ने प्रतीकात्मक ढग से दिया है। अन्तिम कथा म माणिक मुल्ला कहते हैं—सूरज के घोडे वे हैं जो स्वप्न भेजते हैं, सूर्य को आगे बढाते हैं। उनका पूरा प्रवचन उदाहरणत प्रस्तुत है—"देखो ये कहानियां वास्तव मे प्रेम नहीं वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करती हैं जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसम प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक सघर्ष, नैतिक विशृखलता, और इसीलिए इतना अनाचार, निराशा कटुता और अधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई न कोई ऐसी चीज है जिसने हमे हमेशा अधेरा चीरकर आगे

---

1 It is a Confession, a resurrection of the suppressed and an out Cropping of the hidden truth in our unconscious mind A dream is, in Fact, a pictorial representation of the emotional Conflict of the dreamer, with a Suggestion from the uuconscious mind as to how the Conflict may be dealt with

The Psychology of Dream Interpretation by Dr D Mehto

From Illustrated weekly—Dated 4 3 62

२ डॉ० धर्मवीर भारती - सूरज का सातवां घोड़ा— पृष्ठ २७

बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की प्रेरणा और ताकत दी है, चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।"[३] कितनी भव्यता के साथ प्रतीकात्मक शिल्प-विधि द्वारा कथा का अवसान किया गया है।

प्रस्तुत उपन्यास में विचारों की बहुलता है। प्रत्येक कथा के पश्चात् दिया गया अनध्याय या विराम तो विचार सामग्री जुटाता ही है, किन्तु कथा के मध्य में विद्यमान माणिक मुल्ला का प्रवचन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह चौथी कथा मे प्रेम के विषय में अपनी मान्यता प्रस्तुत करता है। उसे रूढ़ियों और सामाजिक मान्यताओं के बन्धन अत्यधिक कसे हुए प्रतीत होते हैं। साहस और दृढ़ता का अभाव स्वस्थ सामाजिकता का अवरोधक लगता है। कथा प्रसंग से परे हटकर बीच-बीच में मुल्ला कहानी के टेकनीक पर भी अपने विचार अभिव्यक्त करता है और फ्लोबेयर तथा मोपासा को सफल शिल्पी बताता है। शिल्प की दृष्टि से यह प्रवचन अप्रासंगिक और अस्वाभाविक है। टेकनीक की बात करते हुए स्वयं सीधे मार्ग से भटक जाना भारती सदृश महान कलाकार के लिए शोभा देनेवाली बात नहीं है। उपन्यास में सारी कथा पात्र द्वारा कहलाई गई है, केवल माणिक-सत्ती रोमांस गाथा लेखक द्वारा वर्णित हुई है।

कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खु'

कृष्णचन्द्र शर्मा हिन्दी उपन्यास जगत में 'भिक्खु' के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'रूप-शिल्प तथा विषय-वस्तु के नवीन प्रयोग के लिए आपने विशेष ख्याति अर्जित की है। इनके नवीन रूप-शिल्प पर मोहित हो जब मैं इनसे मिलने गया, तो उपन्यास विषयक चर्चा आरम्भ होते ही बोले—"आप पहले आलोचक हैं जिनसे प्रशंसा पा रहा हूं—अन्यथा आलोचकों द्वारा मेरी कृतियों के साथ न्याय नहीं हुआ।" मैंने प्रश्न किया—"आप लिखते क्यों हैं?" अत्यन्त सहज बनते हुए उत्तर दिया—"आत्म-तुष्टि के लिए लिखकर आत्म अन्वेषण करता हूं।" मेरे शिल्प संबंधी किए गए प्रश्नो का उत्तर आपने इन शब्दों में दिया—"पात्रों को स्वयं भोगना चाहिए। मैं उपन्यास लिखने से पूर्व किसी योजना में जुटता ही नहीं। पहला सूत्र निकालिए, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा निकलता जाएगा। उपन्यासकार को तो लिखने से पूर्व एक मनःस्थिति तैयार करनी होती है। उसके सम्मुख मूल थीम स्पष्ट रहनी चाहिए। वह यदि उसे आंदोलित किए रहती है तो स्वतः ही उपन्यास प्रभावशाली रचा जाएगा। शिल्प न साधन है, न साध्य। वह तो आत्मानुभूति का सहज रूप है, अभिव्यक्ति का सहज रूप है। मैने कोई उपन्यास छः सप्ताह से अधिक लेकर नहीं लिखा। मेरे पात्र सदैव मुझे घेरे रखते हैं। मन से सदैव उनमें लिप्त रहता हूं। विश्व में जो सौंदर्य है यदि उसे सही परिप्रेक्ष्य में सजोया जाए तो उसकी बहुत-सी समस्याएं उपन्यास द्वारा हल हो सकती हैं।"[१]

३. सूरज का सातवां घोड़ा—पृष्ठ १२५-२६

१. डॉ० प्रेम भटनागर-भिक्खु भेंट-वार्ता: दिनांक २५-५-६८

भिक्षु के आरम्भिक उपन्यासों में 'समाप्ति', 'आदमी का बच्चा', 'घर का बंधन' और 'भवरजाल' प्रसिद्ध हैं। भिक्षु की यह धारणा कि उनकी रचनाओं के साथ आलोचकों द्वारा न्याय नहीं हुआ, सही है। एक आलोचक अपने थीसिस में मात्र आधे पृष्ठ में 'भवरजाल' की कहानी लिखकर अन्त में लिख गई—"कथानक के अनेक प्रसंग अस्वाभाविक जान पड़ते हैं तथा चरित्र अस्पष्ट बन रहते हैं। विषय का प्रतिपादन भवर के जाल में फँस कर रह गया है।"[1] मुझे लगता है कि यह कथन या तो बिना उपन्यास पढ़े किसी की अधूरी कहानी का आधार लेकर लिखा गया है या फिर आलोचक ने अनचाही मनःस्थिति में उपन्यास पढ़कर यह मन्तव्य दे दिया। डॉ० धवन 'भवरजाल' को एक प्रसाद स्कूल की व्यक्तिवादी रचना मानते हुए अपने थीसिस के तीसरे अध्याय के १५८ पृष्ठ पर इसकी अधूरी कथा लिख गई हैं और १५९ पृष्ठ पर अपना मन्तव्य दे देती हैं जबकि वे कथाकार की भूमिका का उद्धरण भी दे चुकी हैं, तब आलोचक उनसे यह अपेक्षा रखता था कि वे कथाकार के विचार-दर्शन का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करेंगी किन्तु तथ्य यह है कि वे ऐसा नहीं कर पाईं।

'भवरजाल' का हिन्दी के प्रतीकात्मक कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान एक न एक दिन अवश्य बनेगा। इसका मूल कारण यह है कि यह हिन्दी का अकेला प्रतीकात्मक है जिसमें आद्योपान्त दार्शनिक पक्ष सबल छाया है। अपने विचार पक्ष को उपन्यास की भूमिका में स्पष्ट करते हुए कथाकार लिखता है—"प्रस्तुत उपन्यास की रचना में मैं सांख्य दर्शन से विशेषत प्रभावित हूँ। त्रिगुण इस सृष्टि का मूल है। किसी भी एक गुण में पृथक्ता सृष्टि धर्म नहीं है। अतएव सृष्टि का कोई भी पदार्थ—जड या जीव-त्रिगुणमय ही होगा। मानव प्रकृति अत्यन्त जटिल और अनेक रूप है। पर इस विश्लेषण से उसे अनायास ही सत, रज और तम के त्रिवर्गों में विभक्त किया जा सकता है। मेरे इस उपन्यास में
हैं। अग्नि ही भवरा की चर्चा है। इसमें तीन प्रमुख पुरुष चरित्र हैं जिनके चरित्र
सूर्य का अंश है। ये चरित्र सतोगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी धाराओं में प्रतिनिधि
वास्तव में ... में आने पर इनके सहज गुण प्रकाश में आते हैं। रामचरण,
जा रहा है। उसनाथ भवरों की तरह ही बने और वैसे ही अपने विस्तार में आप रा
नर्तक विशृंखलताएं। विस्तार पाकर खोते रहने की यह कथा अनन्तकाल तक
पर छा गया है। पर य चलती ही रहेगी।"[2]

———— ...मक यात्मक शैली में रचित प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की अन्यतम
1 It is a C... प्रतीकात्मक निर्वाह इसकी विशेषता है। इस रचना में 'भिक्षु'
out Cropping of th... सोना पहनाकर उनकी अन्तश्चेतना के अन्तसूत्रों की ओर
is, in Fact, a pictor... रामचरण, बलराज और निशिनाथ काशी विश्वविद्यालय के
dreamer, with a Sugg... अलग हो जाते हैं, जीवन सरिता के भवर में फँस कर
Conflict may be dea... हत्या का आरोप वरण कर जीवन चपलता की प्रतीकात्म-
The Psych...

१ हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ १५९
२ डॉ० धर्मवीर भारती ग...

कता को सार्थक करते है। तमोगुण का प्रतीक रामचरण सब से पहिले कथा सूत्र का संचालन करता है। उपन्यासकार परोक्ष में चला गया है। उसने उपन्यास में दार्शनिकता का स्रोत ही उंडेल दिया है पर स्वयं अनुपस्थित रह कर, कही भी उसने अपने को पाठक पर थोपने का प्रयास नहीं किया। न ही तथ्यों को तोड़ने का प्रयास किया। पहिले रामचरण, फिर रजोगुणी प्रतीक बलराज और अन्त सतोगुणी निशिनाथ कथा-सूत्र पकड़ कर यथार्थ का उद्घाटन करते है।

'भंवरजाल' के पात्र निर्विरोध रूप से कथा कहते हैं। कथा जो अपने आप में पूरी भी है, अधूरी भी; स्वाभाविक भी है, सांकेतिक भी; स्थूल भी है, सूक्ष्म भी। पर कथांत तक पहुंचते-पहुचते पाठक पाता है कि इसमें अधूरापन समाप्त हो गया है, स्वाभाविकता खिल उठी है, सांकेतिक प्रसंग खुल गए हैं, स्थूलता उभर आई है और सूक्ष्मता का पूर्ण अन्वेपण हो गया है। पाठक जान गया है कि स्त्री-पुरुष प्रसग में रामचरण-सत्या, बलराज-हमीदा, निशिनाथ-वारुणी रोमास की गति-विधि किस रूपकात्मता की परिचायक है। अपने गहन अध्ययन, सूक्ष्म अन्वेषण के आधार पर भिक्खु ने 'भंवरजाल' को एक प्रतीक-कथा सूत्र में पिरोकर स्त्री-पुरुप संबंधो के अधुनातम आयामों पर जो आलोक डाला हैं, वह प्रशंसनीय है। ऊपर से शालीन दृष्टिगोचर होने वाला रामचरण सत्या-निशिनाथ के काल्पनिक रोमांस चित्र की परिकल्पना मे अन्तर्द्वन्द्व की अनुभूति करते हुए अपने ही परम मित्र (निशिनाथ) की मृत्यु की कामना करता है, जीवन की कितनी भारी विडम्बना है। पुलिस की गोली चलती है और निशि बच जाता है, पर राम प्रसन्न होने के स्थान पर उदासीन है। यह जीवन का अट्टहास है, क्रूरता है, उपक्रम है। जिसे हम चाहते हैं उसे ही अनचाहा करते है, जिनकी स्मृति मात्र मन में मीठी पीड़ा उत्पन्न करने वाली होती है, उन्हें ही अनचिह्ना कर देते है। उसे निशि के शब्दों में प्रेम, पुलकन, शान्ति और शुभ के स्थान पर संदेह, भय और संत्रास दृष्टिगत हुआ, यह उसका रजोगुणी संस्कार है जिसका विश्लेपण वह स्वयं करता है—"मुझे लगा कि निशि इसी तरह बोलता रहा तो मेरी आत्मा को नग्न कर देगा। उस आवरण को बनाए रखने के प्रयत्न में मैंने कहा—तुम भी निरे बुद्धि व्यवसाई हो, ठीक बलराज जैसे। तुम लोग अपने तर्कों से आदर्शों की हत्या करने में नहीं चूकते। नग्नता के उपासक।"[४] यह आरोपण है। अपनी कायरता, पशुपन और रजोगुणी चंचलता को दूसरों पर डाल, आप साफ बच निकलने का प्रयास। पर इसमें भी रामचरण को सफलता नहीं मिली। निशि की मृत्यु (उसे डूबते देख मृतक समझा पर वह मरा नही) पर सुनहरी मछली (सत्या) को फसा जान उस ओर लपका, पर वह भी हाथ से निकल गई। तब क्या बचा, मात्र जीवन की विडम्बना का इतिहास—जीवन का···बिखरे···छिछले रुला देने वाले, दम घोट देने वाले जीवन का टूटा जाल—जिससे मुंह छिपाने को रामचरण भूत की हवेली में आश्रय लेता है।

और बलराज! वह तो अपने प्रतीकमय जीवन को दार्शनिकता के आवरण में

४. भंवरजाल—पृष्ठ ५१

क्रिस्टोफिन बर कहता ही है—"हर कोई जी रहा है। एक दुर्भावना में … दूसरा बहार में पैदा होकर यह दूसरा ऐसा अंधा है जिसकी गुमराह आँखें अपने भोगों से ऊपर उठकर और कुछ देख ही नहीं पाती। … इसमें अलग है क्योंकि भाराक उसने जिन्दगी को धूप-छाँह का कौतुक मान भाग्य को उसका सूत्रधार बना दिया है। 'पर इनसे अलग एक जिन्दगी को हलचल के रूप में लेता है। यह हलचल है बड़ी रहने और करने रहने की। इस तरह यह तीसरा न केवल अपनी जिन्दगी जीता है बल्कि अपनी मौत भी मरता है। मेरा आदर्श यही है।'[5] जीवन को एक हलचल मानने वाला बलराज वस्तुत उपन्यास में हलचल मचाता है। रजोगुणी बलराज में चरित्र, आस्था, नैतिकता के प्रति आग्रह भले ही न हो, मगर इसका व्यक्तित्व विचारणीय है। किनारों को चूमने वाली लहरों के लिए जैसा बल-राज बल का राजा है। देश को दासता की शृंखला से मुक्ति दिलाने के लिए दृढ़ संकल्प बलराज जज को (देशभक्तों को फाँसी का दण्ड देने वाले जज) हत्या करता है, पूर सीग की स्थापना करता है, हमीदा से प्यार करता है। हमीदा-बलराज संबंध स्त्री-पुरुष संबंध पर एक प्रश्न चिह्न है। जो यह कहते हैं कि स्त्री-पुरुष सामीप्य आग घी जैसा प्रभाव रखता है यह प्रसंग उनके लिए एक चुनौती है। तमोगुणी बलराज एक दिन हमीदा का चुम्बन लेता है—उसने कोई विरोध नहीं किया, पर इसे निर्विरोध प्रणय सूत्र भी तो नहीं बनने दिया। हमीदा के य संक्षिप्त वचन—ये जूठे होंठ हैं। देवता के भोग के लायक नहीं। आप देवता हैं। देवता को जूठन पर गिरने न दूँगी। चिन्तन की सामग्री लिए है। स्त्री मात्र भोग्या नहीं है, प्रेरक भी है। वह मात्र पुरुष को स्वार्थी भोगी, पतित ही नहीं बनाती, मनुष्य को देवत्व की ओर भी अग्रसर करती है। हमीदा का बलिदान बलराम के तमोगुण को धोकर महत्तर देव बनने की प्रेरणा दे गया। तभी उसने स्वीकारा हत्या पाप है और पश्चाताप ही इसके त्राण का मात्र उपाय है। इसीलिए जज की हत्या का आरोप स्वीकारते हुए मृत्यु का वरीयता देता है, पाप के त्राण के लिए तथा सतोगुणी प्रेम की उप-लब्धि के लिए।

निशिनाथ अदृश्य की लीला का व्याख्याता है। अपनी कथा कहने से पूर्व वह एक दार्शनिक प्रश्न पर मनन करता दर्शाया गया है—"मैंने प्राय विचार किया है कि व्यक्ति अपने जीवन का अन्त स्वतः निर्मित करता है या वह पूर्व निर्मित होता है। हम परिस्थिति चक्र के विभु बनकर जीते हैं या दास। हमारा कर्म-पराक्रम ही सब कुछ है अथवा अदृष्ट के क्रीडनक मात्र … पर मैं न विभु बनकर जी रहा हूँ, न दास ही। लगता है भाग्य की इस जीवनक्रीडा में मेरा भी कुछ योग है, कुछ स्थान है।'[6] अपने इस सिद्धान्त के प्रति अतिशय सतर्कता के साथ प्रकाश डालते हुए उपन्यास के अन्त में निशिनाथ अपनी कहानी कह गया है। वह जीवन के गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों और रहस्यों को खोलता हुआ अपनी सार्थ-कता खोजता है। वह के मा का बच्चा अपने पिता की मृत्यु पर उनके अन्तिम शब्द बाणों की अणुक्रम का विस्फोट मानकर जीवन प्रांगण में बढ़ा। मैट्रिक, इंटर, बी० ए०, एम० ए०

---

५ भ्वरजाल—पृष्ठ ६५

६ वही—पृष्ठ १३५

और फिर रिसर्च। पर यह सब कर उसे क्या मिला ? हरिद्वार से काशी और अन्त में काशी से इलाहवाद की यात्रा जीवन के नये-नये रहस्य और अनबूझी पहेलियां ही उसके सामने रखते गए। निशि का रहस्यमय जीवन द्रष्टव्य होता गया, विधि की अन्तर्लीलाएं लीलने लगीं। निशि अपने को विधि की अन्तर्लीला का खिलौना मानते हुए दार्शनिक शब्दावली में कहता है—"हम अपने जीवन भर का व्यापार-क्रम स्वतः निश्चित कर डालते है, पर इस निश्चय के मद में यह भूल जाते हैं कि इस सृष्टि के विधाता का उद्देश्य हमारे उद्देश्य से भिन्न हुआ तो क्या हमारी सीमित शक्ति और दुर्बल इच्छा उसकी अमित शक्ति और अविफल इच्छा पर विजय पा सकेगी। आज के युग मे ऐसी वात कहना परम पराक्रमी महा महिम मानव की अवमाना है। कुछ भी हो जब सभी संभव साधनों के सुलभ रहते हुए भी सिद्धि दुर्लभ हो जाती है तो वली अदृश्य की सत्ता मान ही लेनी पड़ती है।"[७] निशि की समस्त कहानी इस दार्शनिक प्रतीक का वाहन है।

'भंवरजाल' की प्रतीकात्मकता असंदिग्ध है। तीन पुरुष पात्र ही कथा का केन्द्र है और तीनों रजोगुण तथा सतोगुण का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते है। रही कथानक से अप्रासंगिक होने की वात (डॉ० सुषमा का आरोप) इसके उत्तर मे मेरा निवेदन यही है कि मेरे मतानुसार कथाकार का लक्ष्य एक शृंखलावद्ध कथा प्रधान उपन्यास लिखना था ही नहीं, वह तो एक दार्शनिक प्रतीकात्मक गाथा रचना चाहता था जिसे प्रतीकात्मक शिल्प-विधि मे रचने के कारण वह अपने लक्ष्य मे पूर्ण सफल हुआ है। उसने व्यक्ति की विभिन्न मानसिक अवस्था के स्त्री-पुरुषों का चयन करके उनके रहन-सहन और गति-विधि का इतिवृत्त नही दिया—यह तो वर्णनात्मक शिल्प-विधि की रचना मे ही सभव है, वह तो कथा के सूक्ष्म सूत्रों को, चरित्र के प्रतीक पक्षों को, दार्शनिक विचारणा के परि-पार्श्व एवं दृष्टिकोण से पात्रों द्वारा ही अनगिनत रूप-चित्रों को एकत्र कर एक चित्र प्रद-र्शनी सी उपस्थित कर गया है, जिसे जो भाए, संजो ले; न भाए, छोड़ जाए। उपन्यास में निशि के साथ-साथ वलराज, वारुणी, हमीदा और रूपा के चरित्र मे एक विचित्र-सी दुर्बलता पर आकर्षण है। ये सभी पात्र प्रतीक है, जीवन के नाना चित्रों के प्रतीक और वाहक, भी है, जीवन के दार्शनिक पक्ष के वाहक। इस उपन्यास का हर पात्र किसी ऐसे सत्य की खोज में संलग्न है जो उसके जीवन को उल्लसित कर दे, पूर्ण कर दे। कथाकार ने इन पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को भी मार्मिकता प्रदान की है, पर यह वह अन्तर्द्वन्द्व नहीं है जो मनोविश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के द्वारा प्रस्तुत होता है।

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'

रुद्र की ख्याति का एकमात्र कारण नूतन शिल्प प्रयोग है। अपने एक मात्र उपन्यास 'वहती गंगा' में आपने उपन्यास शिल्प पर एक प्रश्न चिह्न लगाया है। इस लघुकाय उप-न्यास में आप दो सौ वर्षों का इतिहास दे देते है, मगर यह इतिहास वर्णित नही, सांकेतिक है, अतएव प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत विवेचित होगा।

---

७. भंवरजाल —पृष्ठ १३९

बहती गगा—१९५२

बहती गगा' म कथ्य बहुत लम्बा व्यापक और विस्तृत है और इसे कथाकार सत्रह अध्यायो म सजोता है मगर वह इसे वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता से अलग रखता हुआ प्रतीकात्मक रूपाकार (Form) जुटाता है। अध्यायो के शीर्षक प्रतीकात्मक हैं यथा—'गाइए, गणपति जगवन्दन (१७५०), घोडे पै हौदा और हाथी पै जीन' (१७८०), 'नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी' (१८००), 'आये, आये, आये' (१८१०), अल्लाह तेरी महजिद अव्वल बनी' (१८५८), 'शिवनाथ बहादुरसिंह वीर का खून बना गेडा' (१८८०), 'एहीठैया भुलनी हेरानी हो राम,' (१९२१) 'नारी तुम केवल, श्रद्धा हो,' आदि अध्याय कथ्य का साकेतिक शब्दावली मे शृखलित करते है। इन सत्रह अध्याया म से मात्र सात कहानिया यथा १, से ६, ८, ९ ही ऐतिहासिकता प्रधान है। इस उपन्यास की ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए डॉ० रघुवश लिखते है—"बहती गगा का स्वर बहुत कुछ एतिहासिक-सा जान पडता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग मे जिन नये मूल्यो की ओर सकेत किया गया है, वे सामाजिक चेतना के परिणाम हैं।"[1]

उपन्यास की प्रतीकात्मकता के सबध मे लेखक स्वय आश्वस्त है। वह लिखता है—'प्रस्तुत उपन्यास का नाम 'बहती गगा' अकारण नही है। 'बहती गगा' मे सत्रह तरग हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरग न्याय से आपस म बधी हुई भी हैं।'[2] 'बहती गगा' की तरगे ही कहानिया हैं जो काशी नगरी की जीवन-धारा को बनाती, बिगाडती उभरी, गिरी है। विभिन्न कथाओ मे पात्रो की आवृत्ति होती है जैसे पहली कथा की प्रमुख पात्रा राजमाता पन्ना दूसरी म, दूसरी कहानी का पात्र नागर तीसरी कहानी मे नायक बनकर आता है। इस दृष्टि से यह 'सूरज का सातवा घोडा' के पैटर्न पर रचा गया उपन्यास है। विभिन्न कथाओ के पृथक्-पृथक् विन्यास मे एक सूत्र द्वारा शृखला लाने का शिल्प प्रयास नवीन ही माना जाएगा, जबकि कथा मे 'सूरज का सातवा घोडा' के नायक माणिक मुल्ला की भाति कोई एक नायक नही है। मानो काशी ही नायक हो, गगा ही उसका जीवन। पृष्ठ ७५ पर तो लेखक ने काशी का प्रतीकात्मक परिचय भी दे दिया है।

इस उपन्यास मे सहज, जटिल, स्थिर, गतिशील सभी प्रकार के पात्र उपलब्ध हैं। आधुनिकता के बढते चरणो ने ज्यो ज्यो जीवनगत जटिलता बढाई, काशी मे जटिल दुरूह, रहस्यमय और असाधारण प्रतीकात्मक पात्रो का जन्म हुआ, कुसुम और सुधा इसके ज्वलन्त उदाहरण है। सुधा का सेठ के सिर पर गुनावपात मारना और फिर मध्यवर्ग की तरफदारी करके उसे रूप रस-गध का हकदार बताना वस्तुत उपन्यास की असाधारण घटना ही नही आधुनिक जीवन म मध्यवर्ग की दुर्दान्त स्थिति की और पूजीवादी विडम्बना की प्रतीक भी है। यहीं रुद्र आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार गए हैं और

१ आलोचना (८)—पृष्ठ ११०

२ बहती गगा सदर्शिका—पृष्ठ १०

अपने प्रतीकात्मक उपन्यास में नाना स्तरों पर अभिव्यक्त कर गए हैं।

नरेश मेहता

नरेश मेहता मूलतः एक कवि है। शिल्प के प्रति विशेष आग्रह आपकी नई कवितात्रों, कहानियों और उपन्यासों में उपलब्ध होता है। पात्रों और वातावरण के चयन में आप सिद्धहस्त हैं। साधारण जीवन से पात्र चुनकर उन्हें अति असाधारण वातावरण के परिप्रेक्ष्य में घुमाते हुए पाठक को सन्न कर देने की कला आप खूब जानते है। अपने उपन्यासों मे मेहता आधुनिकता की संवेदना को स्वर देते हुए आधुनिकाओं को एक ऐसे परिवेश में घुमाते है जहां उनका शरीर विकता है, उनकी आत्मा को कोई नही पहचानता। नारी का मौन, शील, सहनशीलता प्रेम और पुरुष की वर्वर पशुवृत्ति का शिकार हुआ है इसका प्रतीकात्मक चित्रण कथाकार अपने कथा साहित्य में करता है। काल-सीमा और पात्र-संकुचन का निवन्धन मेहता की शिल्प-विधि का दूसरा सोपान है। परन्तु इस काल सीमा और पात्र संकुचन में भी मेहता व्यंग्यमयी शैली में पात्र द्वारा समाज पर आघात करने से नहीं चूकते। जैसे—"मुझे कुल्टा, चरित्रहीन, नीच समझते हो—और मैं हूं भी चरित्रहीन परन्तु मैं अकेली ही नहीं, तुम जिस समाज में बैठे हुए हो वह पूरा का पूरा वेश्या का समाज है, दुर्गन्ध दे रहा है···।"[1] भारतीय परिवेश में नारी का यह हाहाकार रंजना के शब्दों में सार्थक माना जाएगा। अपने कथा साहित्य में मेहता व्यक्ति को प्रतीकात्मक शिल्प-विधि द्वारा जकड़ कर उससे सम्बद्ध समाज की घुटन, कुण्ठा, ग्रन्थि तथा संत्रास का चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

डूबते मस्तूल—१९५४

'डूबते मस्तूल' नरेश मेहता द्वारा रचित एक लघु उपन्यास है, जिसमें प्रतीक योजना का सफल निर्वाह हुआ है। समस्त कथा आत्मकथात्मक शैली में कही गई है। कथा की अवधि कुल अठारह घटे है। नायक स्वामीनाथन अपने मित्र पुरी से मिलने के निमित्त दक्षिण से लखनऊ पहुंचता है। चारबाग स्टेशन पर दिन के साढ़े वजे हैं। वह पुरी के वंगले 'नार्थ एवेन्यू' पर पहुंचता है, जहां उसे मित्र के स्थान पर रंजना नाम की एक अपरिचित आधुनिका मिलती है। रजना उपन्यास की नायिका है, जो एक असाधारण प्रतीक की सृष्टि करके अपनी कथा स्वामीनाथन को सुनाकर १८ घंटे पश्चात् उसे विदा देकर स्वयं इस विश्व से विदा लेती है।

रंजना जानती है कि स्वामीनाथन पुरी का मित्र है, उसका प्रेमी अकलंक नहीं, किन्तु वह एक असाधारण प्रतीक योजना करके स्वामीनाथन को अपना प्रेमी अकलंक कहती है। इस प्रतीक योजना के पीछे उसका दलित विगल और पीड़ित व्यक्तित्व है। उसे विश्वास है कि अपरिचित को परिचित का रूप देकर वह जो कह पाएगी, वह उसे पूर्ण ग्राह्य होगा और उससे उसकी पीड़ा भी कम हो जाएगी, यदि अपरिचित को अधिक

---

१. डूबते मस्तूल—पृष्ठ ९०

अपरिचित के रूप में ग्रहण किया गया तो परिस्थिति अधिक सिद्ध हो सकती है, बात अधूरी रह सकती है। अकलंक रंजना की कोमल भावनाओं, स्वप्निल आशाओं, और मृदुल संवेदनाओं का प्रतीक रहा है। अब वह उसके जीवन के 'डूबते मस्तूल' का प्रतिबिम्ब है। एक बार उसे सबल होकर जीवन की बीच धारा में एकाकी, निस्सहाय एवं निरुपाय छोड़ गया है। अकलंक की स्मृति ही उसके जीवन का एकमात्र सहारा है। अपने पड़ोसी पुरी के घर टँगा हुआ स्वामीनाथन का चित्र, उस चित्र में अंकित उसके घुंघराले बाल, लम्बी पतली आँखें और हल्के-मोटे होंठ उसे झकझोर डालते हैं। उसके हृदय में एक मधुर पुलकन की अनुभूति तथा पुनः अकलंक के साक्षात्कार की आशा जागृत हो उठती है। वह जीवन के प्रत्येक क्षण में उस क्षण की प्रतीक्षा करती है जब अकलंक उसके समक्ष होगा। वह क्षण आ जाता है। वही उसके जीवन का मधुर क्षण बन जाता है, वही उसके लिए चरम सत्य है। उसे वह दृढ़ हाथों से साथ पकड़ लेती है।

स्वामीनाथन का अकलंक बन जाना एक इम्प्रेशनिस्टिक सिम्बली (प्रभाववादी प्रतीक) है। वह न न करता हुआ भी अकलंक बनकर सारी कथा एकाग्र मन से साथ सुनता रहता है। रंजना के कमरे में टँगे हुए चित्र सांकेतिक भाषा में उसके मन की रेखाओं को चित्रित कर रहे हैं। उनमें कुछ नारी के द्वारा तिरस्कृत पुरुष के रौद्र रूप को अभिव्यंजित कर रहे हैं, तो कुछ ताम्रमूर्ति में दार्शनिक मूर्तिकार की हृदयगत वेदना का साक्षात्कार करा रहे हैं। स्वामीनाथन के निकट जो प्रतीक है, रंजना के लिए जीवन का ध्रुव सत्य है। मालक के लिए जो पहेली है, रंजना के लिए जीवन का कटु सत्य है। रंजना भावों की अभिव्यक्ति तो देती है, किन्तु वह अभिव्यक्ति सहज पकड़ में न आने वाली सांकेतिक प्रतीकात्मक अबूझ-सी वाणी है वह अकलंक (स्वामीनाथन) के चारों ओर एक मकड़ी का जाला बुन देता है, जिससे भाग निकलना रंजना की इच्छा के विरुद्ध उसके लिए न सहज ही रहा, न सम्भव ही।

रंजना एक विलक्षण नारी है। समाज के एक पंगु वर्ग की प्रतीक है। उसकी अस्तव्यस्तता, बिखराहट, पीड़ा और करुणा, संघर्ष और यातना, प्रेम और प्रवंचना उपन्यास के एक-एक शब्द में सिमटी हुई है। वंचना का एक प्रतीक उदाहरण हेतु प्रस्तुत है—'अकलंक ! न आना चाहो तो बात दूसरी है किन्तु तुम अनायास ऋतु की भाँति चले गए, यह अच्छा नहीं हुआ। मैंने मन ही मन कितनी बार चाहा कि तुम एक क्षण को लौट आते, चाहे वह क्षण उधार ही होता पूरे जीवन के बदले। और आज तुम लौटे भी तो अनजान बनकर। आज मैं तुम्हें पाकर चाह सकती थी, किन्तु आज की दशा में पाना और खोना—दोनों ही मेरे लिए अर्थहीन से कम नहीं है।'[1] पाना और खोना अर्थहीन इसलिए है, कि रंजना वंचित नारी है, नारी सुलभ अधिकारों से वंचित, स्नेहयुक्त मातृत्व से रहित। वह जानती है ... नहीं है, किन्तु मानती नहीं। यदि मान ले तो कथा में कहने को शेष क्या रह जाए, ... । पूर्ण निबाह कैसे हो ? वह तो आरम्भ से अन्त तक यह मानकर चलती है कि ... अकलंक है, उसकी मधुर भावनाओं का प्रतीक,

१ नरेश मेहता —पृष्ठ ४१

वंचनाओं का कारण, आशाओं का केन्द्र और लालसाओं का स्वप्न। रंजना की कथा सुनते-सुनते पाठक को वर्णनात्मकता की गन्ध भले ही आए, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को उसमें प्रतीकों के अम्बार ही हाथ लगे है। रंजना का प्रथम प्यार उसके संचित स्नेह का प्रतीक है जो सयैद के प्रति आत्मसमर्पण करने पर सौगात स्वरूप पाए रूमाल को प्रेम का अमित रूप मानकर जीवन भर साथ देता है। रंजना की अहंवादिता, स्पष्टवादिता और विद्रोह भावना आधुनिक नारी की नव जागृत चेतना की प्रतीक है। जो समझौता करने में नहीं, अपने स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास मे पूर्ण विश्वास रखती है। वह तेजमयी वाणी में कहती है—"अकलंक! तुम्हारे इस समाज में व्यक्ति पैदा करने की क्षमता, शक्ति अब शेष नहीं है। जिसे तुम व्यक्ति कहते हो वह एक पोस्ट ऑफिस का टिकट मात्र है जिसके सांचे बने हुए है। अपनी शक्ति के अनुसार तुम उन्हें बड़े छोटे सांचे में ढालते हो, व्यक्ति बनाया तभी जा सकता है जब वह पैदा हो। जाने कितने संस्सकार, समाज रूप में, उसके चारों ओर खड़े कर देते हो कि उसमें का वह व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है। तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा से विद्रोह कर यदि कोई व्यक्ति बनना चाहता है, तो उसे तुम पथभ्रष्ट, अनागरिक, चरित्रहीन कहकर वहिष्कृत कर देते हो। क्योंकि वह तुममें की एक भेड़ नहीं है।"[२]

प्रस्तुत रचना में रंजना के कल्पना पंख नये प्रतीकों की खोज मे संलग्न है। उसे शेले की समस्त कविताएं अपने विरह में लिखी गई प्रतीत होती है। उसे अपना मुख हजारों जलयानों का संतरण कराता लगता है, उसे हजारों मस्तूल जल रहे भासित होते हैं। रंजना नारी मन की वह उन्मुक्तता है, जिसे कोई भी पुरुष बाध नहीं पाया, वह स्त्री के मन की वह धड़कन है, जिसे कोई भी पुरुष अनुभव न कर पाया। उसे वान निकोलस भी स्वीकार्य नहीं, क्योंकि वह मानव से अधिक देवता है, और उसे देवता नहीं मानव चाहिए। मानव न मिलने के कारण उसे उपेक्षा मिली, जो नागिन की भांति उसे डस कर नीला कर देती है। प्रस्तुत रचना में हमें आधुनिक वंचित नारी के जीवन की अन्तर्यात्रा प्रतीकात्मक शिल्प-विधि द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में उपलब्ध हो गई है।

गिरिधर गोपाल

मध्यवर्गीय वस्तुस्थिति तथा चेतना के ह्रासोन्मुखी रूप को प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के रूपाकार (Form) मे आबद्ध करने वाले कुशल कथाकार है गिरिधर गोपाल। इन्होंने आधुनिक भारत (स्वतंत्रोत्तर भारत) के मध्यवर्गीय व्यक्ति को 'चांदनी के खंडहर' में एक रूपक के आधार पर व्यष्टि सत्य के सभी स्तरो पर विश्लेपित किया है। कविता के क्षेत्र में भावुक कलाकार गिरिधर बाबू उपन्यास मे अवतरित होकर बौद्धिक परिवेश को अपनाते हुए भारत के मध्यवर्गीय व्यक्ति की कुण्ठा, घुटन, आशंका, भय, निराशा और संत्रास को मार्मिक रूप से अभिव्यक्त करते है। कथाकार ने व्यक्ति की कुण्ठा के उत्स को पहचाना है। इनके पात्र प्रेम के भोग पक्ष को न भोग उसके यातना पक्ष के भोक्ता हैं,

---

२. डूबते मस्तूल—पृष्ठ ६३

अतएव ये जीवन की पतझर मे यथार्थोन्मुखी हुए हैं, परन्तु कथाकार का आस्थावादी दृष्टिकोण इस जीवन की निराशा रूपी पतझर और ऊब रूपी चादनी के खण्डहरो मे निकालकर नये सवेरे का जो साक्षात्कार कराना है वह अवश्य ही आदर्शवादी दृष्टिकोण और भारतीय सस्कृति म आस्था का प्रतीक माना जाएगा। गिरिधर गोपाल अपने लघुकाय उपन्यासो म काल अवधि एव पात्र सकुचन विधि को अपनाते हुए प्रतीको द्वारा साकेतिक कथा-योजना प्रस्तुत करते हैं।

चादनी के खडहर—१६५४

'चादनी के खडहर' शिल्प के क्षेत्र म एक नया प्रयोग है। इसे प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। क्योकि इसमे लेखक ने अपनी अनुभूतियो तथा वर्ण्य वस्तु को प्रतीक द्वारा अभिव्यक्त किया है। शीर्षक देखते ही पाठक जान लेना चाहता है—कि क्या चादनी शब्द का प्रयोग केवल प्रकाशसूचक अर्थ मे हुआ है या जीवनगत सवेदनाओ से सबधित आशाओ, महत्त्वाकाक्षाओ, अभिलाषाओ के प्रतीक रूप म हुआ है? उपन्यास पढ जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शीर्षक ही प्रतीकात्मक नही है, अपितु वर्ण्य वस्तु एव चरित्र योजना इस प्रकार जुटाई गई है कि वे स्वत ही प्रतीकात्मक विधि का परिचय दे देती हैं।

उपन्यास का नायक मध्यवर्गीय युवक बसत है जो लदन से डॉक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त करके महत्त्वाकाक्षाओ के स्वप्न देखता हुआ अपने घर इलाहाबाद लौटता है। घर के नीरस वातावरण की सुगध उसे केवल उन १२ घटो मे प्राप्त हो जाती है, जिनम वह अपनी भाभी तारा तथा प्रेमिका कल्ला से वार्ता करता है। शेष १२ घटे वह चादनी तले रहकर आत्मविश्लेषण करता हुआ बिताता है। चाद वही है, आकाश भी वही है, उसका घर भी वही है। किन्तु फिर भी उसे चाद का मुख पीला और उदास दीख पडता है। उसके लिए चादनी बिखर चुकी है, खडहर बन चुकी है। क्योकि वह स्वय उदासीन है। और उसकी आशाओ तथा आकाक्षाओ के सब महल ढह चुके हैं। इस चादनी म उसे भय लगता है। वह अपने को डूबा-सा, थका-सा, टूटा-सा, बिखरा सा अनुभव करता है। बडी कठिनाई से उसे नीद आती है। टूटी फूटी बिखरी सल नीद मे सोता है। पर पूर्ण रूप से सोता भी कहा है? छटपटाहट म उसकी गहराई नीद बिखर जाती है जबकि वह एक स्वप्न देखता है। इस स्वप्न मे ही वह अपनी आशाओ की चादनी के खण्डहर देखता है।

बसत [illegible] भी प्रतीकात्मक है। इस स्वप्न म वह अपने को लुटा सा, घुटा-सा अनुभव [illegible]। जाने-पहचाने रास्ते उसके लिए अपरिचित हो जाते हैं। एक तागा उसे खीचने म [illegible] है जहा चारो ओर खडहर ही खडहर हैं। चादनी का प्रतिबिम्ब इन [illegible] और नीरस बना डालता है। मौन वातावरण उसके मन की अशात दशा [illegible] रौद्र बनाने मे सहायक होता है। इन्ही खडहरो मे उसका टूटा-फूटा एक मकान [illegible]। जिसम उसे अपने भैया आदि का कमरा जीर्ण-शीर्ण अवस्था म दृष्टिगोचर होता [illegible] उसे घर की सब चीजें धूल म मिली लगती हैं। चित्र फूट

चुके हैं। फर्नीचर टूट चुका है। पुस्तकें फट चुकी है।

यथार्थ स्थिति यह है कि सभी चौपट हो चुका है। ऐसे वातावरण में उसे एक जाला लटकता हुआ दृष्टिगोचर होता है जो उसे अपने ततु जाल में लपेट रहा है। उसके घर के टूटे खंडहर तथा जाला उसकी पारिवारिक तथा मानसिक अवस्था की जीर्ण दशा के प्रतीक हैं। वह इस तंतु जाल से जितना ही अपने को बाहर निकालने की चेष्टा करता है, उतना ही अधिक वह अपने को उसमे फंसा हुआ अनुभव करता है। और भी—उसे टूटी दीवारों पर कांपती परछाइयां दीख पड़ती है। ये प्रतिबिम्ब उसके मन पर पडे रुग्ण बहन और भ्राता के प्रतीक है। यह स्वप्न एक स्वप्न ही नहीं है अपितु वसंत के जीवन से संबंधित यथार्थ परिस्थितियों एव वातावरण का रूपक है।

वसंत को जो टूटी-फूटी और कराहती हुई आवाजें सुनाई देती है वे उसकी आत्मा पर घर के दारिद्रय को देखकर पड़े प्रभाव की प्रतिध्वनि मात्र हैं। वह चाहता है कि ये आवाजें बन्द हो जाएं क्योंकि इनके कारण उसका दम घुट रहा है, किन्तु ये आवाजें बन्द नहीं हो रहीं, बार-बार उसके कानों को फाड रही है। इसके फलस्वरूप बसंत अपने-आपको धिक्कारता है और अपने परिवार के अन्य सदस्यों की हत्या का जिम्मेदार अपने को ठहराता है। अन्त में वह खंडहर मे प्रतिध्वनित होने वाली आवाज को अपनी ही आत्मा से निकली हुई (Echo) मान लेता है, उसमे पुनः आशा, साहस, और तेज का आविर्भाव होता है। वह उस महामोह मग्न निराशा के प्रतीक अंधकार के अट्टहास से भी होड़ लेता है। उससे भी तीव्र स्वर मे ठहाका लगाता है।

"हा हा हा हा हा हा हा हा।

कहां चले जा रहे हो ? मैदान छोड़कर भाग रहे हो मिस्टर अंधेरे ?

कायर ! नपुंसक ! तुम हार गए। मैं जीत गया।

हा हा हा हा हा हा हा हा।

मैं जीत गया। अम्मा बाबू मैं जीत गया। भैया भाभी कंतो बीना मैं जीत गया। राजू मीना कुंवर मैं जीत गया। मैं जीत गया।

हा हा हा हा हा हा हा हा हा हा हा हा।"[1]

उपन्यास के अन्त मे दिया गया यह प्रतीक उपन्यासकार के विशिष्ट दृष्टिकोण का परिचायक है। इसकी योजना उपन्यास को प्रसादान्त बनाने के लिए ही नहीं, पाठक के मन पर एक स्वस्थ प्रभाव डालने के लिए की गई है।

इलाचन्द्र जोशी ने इस उपन्यास की भूमिका लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि 'चांदनी के खंडहर' एक नई कोटि का उपन्यास है। वे लिखते है—"चांदनी के खंडहर' में हम सब कुछ नया पाते हैं। थीम नई है, पात्र नए है, शैली नई है और कला-कौशल नया है। यह सब कुछ होने पर भी उसमें अंकित सारे पात्र और उसमें वर्णित सारी घटनाएं सहज स्वाभाविक लगती है। पुराने पाठकों को उसकी दुनिया एकदम भिन्न और अपरिचित लगने पर भी अकृत्रिम और वास्तविक बोध होती हैं।"[2] इस उपन्यास में कथानक

१. चांदनी के खंडहर—पृष्ठ १२

२. इलाचन्द्र जोशी : 'चांदनी के खंडहर' भूमिका—पृष्ठ ५

अति संक्षिप्त है। समस्त कथा केवल चौबीस घंटे में सीमित है। और अन्य पुरुष शैली में कही गई है। उपन्यास में मात्र विश्लेषणात्मक प्रसंगों का प्राधिक्य है। इस उपन्यास का नायक बसन्त अपने घर आने पर जिस पात्र से भी बात करता है, जिस परिस्थिति को भी देखता है, उसका विश्लेषण कर डालता है। इसमें भावुकता का अंश भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। भावुकता की सम्मोहित अवस्था में वह अपने कमरे से बात करने लगता है। यह अन्तश्चेतना के प्रतीकात्मक निर्वाह का परिचायक है।

बसन्त ने कमरे को सम्बोधित करके जो बातें की हैं, उसमें प्रतीक योजना के द्वारा एक पात्र का विश्लेषणात्मक चरित्र चित्रण प्रस्तुत हुआ है। उपन्यास में प्रस्तुत कमरा एक निर्जीव, जड़, ईंट पत्थर और सीमेंट का ढेर मात्र नहीं है। अपितु एक समझदार साथी का प्रतीक है। जो अपने सहचर की रहस्यमयी बातों से भी परिचित होता है। तभी तो वह उसे अपने विश्वास (Confidence) में लेकर कहता है—"हलो मिस्टर कमरे, गुड मार्निंग। हाऊ डू यू डू? क्या हाल-चाल है। कैसे रहे? इन पांच सालों में क्या किया था? कौन-कौन आया तुमसे मिलने? कभी वो आई थी? कै बार आई थी? क्या कहती थी? कुछ मेरे बारे में? बताओ ना यार? तुम तो जानते ही हो कि उसके बारे में कुछ भी सुनने के लिए मैं क्या और कितना उत्सुक रहता हूँ? मुझे क्या मतलब कहीं से? अब तुम मुझसे कहला ही लेना चाहते हो? शरम लगती है। अच्छा तो सुनो—मुझे उसी से बहुत शरम लगती है? हंसते क्या हो? अपनी यह हंसी बन्द करो, नहीं तो रजाई में मुँह छिपा लूंगा। यह हंसी-मजाक का समय नहीं है। बिगड़ो नहीं? तो बताओ न? कभी आई थी? सचमुच आई थी? वाह बड़ी अच्छी थी वह। क्या पहने थी? नीली साड़ी, सुनहला ब्लाउज? हाय रे मैं न हुआ! बालों में फूल और आंखों में काजल भी लगाए थी? सुन्दर लगती रही होगी। दुबली पतली छरहरे बदन की। छूदनी रंग बदन-बदन से फूटी पड़ती सी लाली। लम्बे बाल, चौड़े माथे पर सितारोंवाली टिकुली लगाती है। पाउडर चमाचम। कभी बड़ी अलबेली मस्त औ लाज भार से झुकी सी रहती है। और कभी-कभी तो ऐसी अनुचित तिरछी आंखों से देखती है कि मैं क्या परमेश्वर उसके पैरों पर लोटने लगे।"[१] इस कथन में प्रतीकात्मक विधि द्वारा कमरे को सहचर का प्रतीक बनाकर बसन्त की मनोभावनाओं को उंडेल दिया गया है।

प्रतीकात्मक शिल्प विधि की इस रचना में यथार्थ घटना और संघर्षमयी वास्तविकता चित्रात्मक वर्णन और सांकेतिक विश्लेषण द्वारा उभरकर सामने आती है। 'चांदनी के खंडहर' में बसन्त के परिवार की समस्त घटनाएं उसकी भाभी तारा द्वारा चित्रात्मक ढंग से कही गई हैं। बसन्त के बहुत जोर देने पर भी तारा कथा को इतिवृत्तात्मक ढंग से नहीं बताती क्योंकि वह समझती है कि यह कोई रोमांटिक किस्सा कहानी नहीं है जिसे आदि से अन्त तक सुनाया जा सके। सुमन की संग्रहणी, वीणा की प्लूरिसी आदि वर्णन चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत हुए हैं। सब सुन लेने पर बसन्त के मन का द्वन्द्व भी सांकेतिक विश्लेषण द्वारा प्रकट हुआ है। उस वीणा अब गुलाब-सी प्रफुल्ल-दृष्टिगोचर नहीं होती,

---

१ चांदनी के खंडहर—पृष्ठ २६

अपितु फुटपाथ पर पड़ी पीली पत्ती समान लगती है। वह अनेक वार कहता है—"अगर मैं यहीं रहता तो वीना का यह हाल न होता···भैया के कन्धे का कम से कम आधा बोझ अपने कन्धे पर उठा लेता···तो भाभी का यह हाल न होता···तो वाबू का यह हाल न होता···अगर मैं यहीं रहता तो अम्मा को वे दिन न देखने पड़ते जिन्होंने उन्हें ऐसा बना दिया है।···अगर में लन्दन न जाता, यहीं रहता तो इन बच्चों को वह सुख-सुविधाएं मिलतीं जो इनका हक है। अगर मैं यही रहता तो कतो की पढ़ाई छुड़ा दी जाने पर उसे खुद पढ़ाता···उसे यह मनहूस बीमारी न होती।"[४] संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'चांदनी के खण्डर' मध्यवर्ग की घुटन, तड़पन, विलविलाहट और आशा-निराशा की वह कथा है, जिसमें इस वर्ग के पारिवारिक जीवन की नाना उमंगें प्रतीकात्मक शिल्प-विधि द्वारा संयोजित की गई है। भारतीय मध्यवर्गीय परिवार की करुण स्थितियों का विनियोग इस रचना में है।

'चांदनी के खण्डहर' मे गिरिधर गोपाल की उपन्यास कला रूढ़ि जर्जर निम्न-मध्यवर्गीय समाज की निःसत्त्व मान्यताओं की अवहेलना करती हुई द्रुत गति से बढ़ रही सामाजिक, आर्थिक संघर्ष प्रश्नावली के मध्य घूमती दर्शायी गई है। यह भी प्रतीक योजना द्वारा संभव हुआ। पांच वर्ष पश्चात् घर लौटा मध्यवर्गीय नायक वसन्त तो जर्जर मध्यवर्ग के प्रतीक जोड़ता ही है, तारा की स्वीकारोक्ति में भी मध्यवर्गीय धड़कनें अनु-गुंजित हुई हैं। द्रुत गति से मध्यवर्गीय पतित अवस्था का विश्लेषण वह इन शब्दों मे करती है—"मुझे भी यही कभी-कभी लगता है कि हम सभी बदल से गए है। हर घडी बदल से रहे है।···हम बदल गए है, यह ठीक है और मालूम है, किन्तु हम क्यों बदले? कब से हमारा बदलना शुरू हुआ? कितने दिनों में और कितना हम बदले? यह पता नहीं।"[५] रूढ़ि जर्जर मध्यवर्ग के सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण मे कथाकार उनके सहज-सरल आचार-व्यवहार द्वारा, वार्ता द्वारा, स्वप्नो द्वारा जीवन की गहराई, संवेदना और महत्त्वाकांक्षा को जिस सूक्ष्मता के स्तर पर अभिव्यक्त कर गया है, वह उसके सफल प्रतीक शिल्प की पकड़ का ज्वलन्त उदाहरण है। इन पात्रों के चरित्र तथा व्यक्तित्व की प्रथम रेखाएं भले ही धुंधली, अस्पष्ट या काल्पनिक लगें किन्तु लेखक शीघ्र ही प्रतीक-बोध द्वारा धुंधलापन मिटा देता है, अस्पष्टता धो देता है—जैसे जब वसन्त लौटती बार तांगेवाले से गाने के लिए आग्रह करता है, तब तांगेवाला एक प्रतीक गीत सुनाता है जिसमे अधुनातम जीवन के यथार्थ पक्ष का उद्घाटन हो जाता है। दिन-प्रतिदिन बढ़ रही महंगाई, घर की टूटती जर्जर दशा का स्पष्ट बोध पाठक को हो जाता है। बदलते परि-प्रेक्ष्य में मध्यवर्गीय पात्रों का व्यक्तित्व किस घुटन, आक्रोश और संत्रास की स्थिति से होकर गुजर रहा है, इसका एक सूक्ष्म और प्रतीकात्मक अध्ययन हमें 'चांदनी के खण्डहर' में पढ़ने को मिल जाता है।

---

४. चांदनी के खण्डहर—पृष्ठ १०६, १०८, १११, ११३, ११५, ११८, ११६

५. वही—पृष्ठ ४६

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना हिन्दी संसार में एक नये कहानीकार और कवि के रूप में आए। आधुनिका नारी का चरित्र चित्रण करने की कला में आप सिद्धहस्त हैं। आधुनिकाओं की वितर्क-बुद्धि, आत्म प्रवंचना, पर-पुरुष गमन कर उनके साथ दावतों में, सैर-सपाटों में, शराब में, नृत्य में खुलकर भाग लेने की प्रवृत्ति का आपने यथार्थपरक चित्रण किया है। आधुनिकाओं की कोरी भावुकता और पुरुष वर्ग की जड़ बुद्धिवादिता पर आप कलात्मक ढंग से प्रकाश डालते हैं। वही प्रयोगात्मक कहानी और लघु कविता तथा उपन्यास लिखना आपकी विशेष प्रवृत्ति है। लघु उपन्यासों में जीवन के सूक्ष्म पर प्रतीकात्मक बोध से पाठक का परिचित कराते हैं। अति भावुक हृदय पर बुद्धि का अंकुश न रखना व मृत्यु काम इन दो यथार्थ प्रवृत्तियों को प्रतीकात्मक शिल्प में प्रस्तुत कर आप आधुनिक व्यक्ति के तीव्र तनावों और मानसिक द्वन्द्वों का विश्लेषण कर गए हैं।

सोया हुआ जल — १९५५

'सोया हुआ जल' सम्भवतः हिन्दी का सबसे लघु उपन्यास माना जाए। इसकी पृष्ठ संख्या कुल पचास है। इसका न केवल शीर्षक ही प्रतीकात्मक है, अपितु विषय-वस्तु तथा चरित्र भी प्रतीकात्मक हैं। एक प्रकार से ये व्यक्ति के अचेतन चेतन मन के प्रतीक हैं। अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक निर्वाह इस रचना में उसी मात्रा में मिलता है। जिस मात्रा में 'नदी के द्वीप' या 'बूंद और समुद्र' में, पर एक अन्तर के साथ, वह यह कि इसका फलक अति सीमित रखा गया है। 'सोया हुआ जल' के नवीन रूप शिल्प ने प्रायः सभी आधुनिक लेखकों तथा शीर्षस्थ आलोचकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस संबंध में कतिपय लेखकों के मन्तव्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

"सोया हुआ जल बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।"[1]

"यूरोप में आधुनिकतम कई उपन्यास कोई 'निष्कर्षवादी' नहीं होते। आशयवादी आलोचक 'उपन्यास ही नहीं हैं' कहकर छुट्टी पाते हैं। पर क्या 'सूरज का सातवां घोड़ा' या 'सोया हुआ जल' सामाजिक चेतना से विरहित हैं?"[2]

"यह वार्तालाप-शैली में लिखित एक प्रतीकात्मक दृश्य रूपक है।"[3]

"किन्तु वास्तव में नवीन रूप शिल्प प्रयोग की आकांक्षा ही इस कृति की मूल प्रेरक वृत्ति है। बहुत थोड़े से अवकाश में अनेक पात्रों के चित्र संकेत द्वारा तथा छायाओं और स्वप्नों के सहारे कुछ बातें व्यंजित की गई हैं जिनमें कोई वैचारिक नवीनता नहीं है। किसी पात्र का व्यक्तित्व उभरकर सामने आया भी नहीं है। यदि कृति को [illegible] का नया वर्गीकरण करना होगा और सम्भव है कभी

१ बच्चन श्रीवास्तव : आलोचना (१७)—पृष्ठ ४३

२ डॉ० हिन्दी उपन्यास—सिद्धान्त और विवेचन में संकलित 'आधुनिक उपन्यास' लेख से—पृष्ठ १२०

३ माथुर : आलोचना (१७)—पृष्ठ १२४

नाटकों को भी उसी के अन्तर्गत समेट लिया जाए।"[४]

"यह लम्बी रूप-कथा या लघु उपन्यास है।"[५]

इन मन्तव्यों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास छपने के तुरन्त बाद हिन्दी के आलोचकों की चर्चा-परिचर्चा का विषय बना और कुछ ने इसकी औपन्यासिकता पर ही प्रश्न चिह्न लगाया तो कतिपय इसे नवीन शिल्प प्रकार मानकर अति सन्तुष्ट हुए। सीमित काल अवधि में खण्ड जीवन का चित्रण प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के उपन्यास-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। इस विधि में बृहद् उपन्यास भी रचे गए, लघु भी। लघु उपन्यास खण्ड जीवन चित्रण तथा एकोन्मुखी विषयपरक कथा के साथी रहे हैं। 'सोया हुआ जल' भी तद.नुकूल बन पड़ा।

अधिकतर आलोचक 'सोया हुआ जल' के दृश्य विधान पर मुग्ध होकर इसे दृश्य-रूपक मान बैठे और डॉ० श्रीवास्तव ने तो इसे उपन्यास मानना ही अस्वीकार कर दिया। उन्होंने इसकी आलोचना के आरम्भ में लिखा—'सोया हुआ जल' सिनोरियो शिल्प में लिखा नवीन कथा प्रयोग है।"[६] अपनी ही आलोचना में डॉ० श्रीवास्तव दो बात कह गए। एक ओर इसे नवीन कथा प्रयोग कहा तो दूसरी ओर कह दिया कि यदि कृति को उपन्यास कहा जाए तो उपन्यासों का नया वर्गीकरण करना होगा। अपने कथन में अपने मन्तव्य को इस प्रकार उलझा देना समीचीन नहीं है। वस्तु स्थिति यही है कि यह रचना एकदम प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की अनुपम उपलब्धि है और इसका शीर्षक विषय-वस्तु तथा पात्र प्रतीकों के द्वारा उभरे हैं। कथा-वस्तु अन्तर्मुखी है, पात्रों की जीवन लीला बहिर्जीवन की अपेक्षा अन्तर्जीवन पर आधारित है और लेखक उनकी मनोग्रन्थियों, आकांक्षाओं, अतृप्तियों, मनोभावों के नाना रूपों का परिचय प्रतीक योजना द्वारा देता है।

समस्त उपन्यास की कथा एक रात की घटना है। किसी तालाब के तट पर एक पान्थशाला के अलग-अलग कमरों में अलग-अलग रुचि के व्यक्ति ठहरे है, जिनमें दाम्पत्यरत पति-पत्नी, दाम्पत्य सूत्र में जुड़ने को आतुर भागे हुए प्रेमी-प्रेमिका, शोर मचाने वाले आवारा, ब्रिज खेलने वाले जुआरी, विभिन्न मतावलम्बी राजनीतिज्ञ भी है। एक बूढ़ा पहरेदार स्वप्न विश्लेषक बनकर इनकी बातें सुनता है। यह पात्र आधुनिक संवेदना की मूर्ति है। वह जब जिस ओर पहरा देने घूमता है, उधर कमरे में होने वाली बात उसके मस्तिष्क की रगों को विस्फोटात्मक उत्तेजना से भर तोड़ने, बिखेरने और कुरेदने लगती है। कथा इस प्रकार के शीर्षकों में विभाजित है—जैसे कमरा नम्बर दो, कमरा नम्बर ग्यारह, सीढ़ियों पर, हरी रोशनी, बूढ़ा पहरेदार, पहली झपकी, स्वप्न दृश्य आदि। लेखक इस पान्थाशाला को ही एक प्रतीक मानता है। यह है संसार की प्रतीक। सब यात्री विश्व के वे प्राणी है जो कुछ समय के लिए यहीं भटकने को आ जाते हैं। ये सभी अतृप्त आत्माएं है। पहरेदार, संवेदनशील जागृत आत्मा का प्रतीक है। वह सब

---

४. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ४३१

५. अज्ञेय : काठ की घंटियां भूमिका—पृष्ठ ५

६. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ४३०

को जगाने (सुधारने) के प्रयास में संलग्न है, मगर सब लोग (भटकते) के लिए नाना-थित हैं। पहरेदार को हम चेतन मन या सुपर इगो (Super Ego) का प्रतीक भी कह सकते हैं। पहरेदार की मृत्यु भी प्रतीकात्मक है। कथान्त में उसकी लाश रूढ़ि-ग्रस्त समाज के सम्मुख सत्प्रयासों की मृत्यु की सूचक है। पहरेदार स्वप्नों के प्रतीकार्थ का स्वप्नद्रष्टा के संवादों द्वारा प्रस्तुत करता है। राजेश-विभा, किशोर-रत्ना, प्रकाश रत्ना-दिनेश स्वप्न प्रसंग उपन्यास की प्रतीकात्मक शिल्प विधि के प्रमाण हैं। राजेश-विभा एक छत के नीचे अतिनिकट लेटे हैं, मगर शरीर से वे जितने निकट हैं, मन से उतने ही दूर। आधुनिकाएं भी शरीर पति को देती हैं, मगर मन प्रेमी को। रत्न-किशोर का अविवाहित जीवन अतृप्ति और मध्यवर्गीय वर्जनाओं का प्रतीक है। दिनेश ऊपर से शराबी होते हुए भी भीतर से ईमानदार है।

'सोया हुआ जल' में एक उपलब्धि लेखक की यह भी मानी जाएगी कि इसकी अन्विति तथा प्रभाव घनत्व में हम समय, स्थान, कार्य की एकता नाटकीय संकलनत्रय के कला-कौशल की प्रतीक लगती है। समय सीमित (६ घंटे) स्थान संकुचित (पान्थ शाला) और कार्य के नाम पर कुछ वार्तालाप ही सब कुछ है। कथानक में शृंखला भले ही दृष्टिगोचर न हो, मगर कथावस्तु खंडित होने पर भी प्रतीकात्मक है। पात्रों की अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक निर्वाह इस लघु उपन्यास की सफलता का सूचक है।

बया का घोंसला और साँप—१९५३

'बया का घोंसला और साँप' प्रतीकात्मक शिल्प विधि की रचना है। इसमें ताड़-वृक्षों पर लटके हुए बया के सूने घोंसले एक विशेष सत्य के परिचायक हैं। पक्षी शून्य ये नीड़ समाज रूपी अजगर से भयभीत हुए खाली पड़े हैं। प्रस्तुत उपन्यास में प्रारम्भिक वातावरण—आंगन की घूमती छाया, आकाश के मेघों की फटी चूनरी प्रतीक योजना के उदाहरण हैं। आनन्द आंगन के अंधकार में एक डोलती हुई छाया को देखता है, वह छाया आ लंगड़ा लंगड़ाकर चल रही थी। वह एक दूसरी छाया को भी देखता है, जो हाथ में बांस की छड़ी लेकर पहली छाया का पीछा करती दृष्टिगोचर होती है। समस्त उपन्यास पढ़ जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह छाया और कोई नहीं आनन्द के मन की वह विचार-धारा है जो उपन्यास की समस्त घटनाओं का विश्लेषण कर रही है। ये छायाएं निरीह निष्कलंक सुभागी और उसके सतीत्व पर आघात करने वाले तहसील-दार कामता प्रसाद की छायाएं हैं।

ग्राम्य जीवन की झांकी, कस्बे की आत्मा का चित्रण और नागरिक जीवन का दृश्य भी रूपक बांध कर किया गया है और यह रूपक भी आनन्द की मन स्थिति के अनुकूल इन शब्दों में रखा गया है—'उसकी दृष्टि में गांव की आत्मा, उसकी संस्कृति एक ऐसी शकुन्तला है, जो ऋषि कन्या है, फिर भी शापित है, किसी की दुल्हन और प्रेमिका है, लेकिन उपेक्षिता है। फिर भी इसका पथ जीवन है। मरु नहीं, इसमें विश्वास तपस्या और श्रद्धा है मृत्यु की पराजय और कुण्ठा नहीं। ठीक इसके विरुद्ध दूसरी सीमा पर शहर की [illegible] है—एक ऐसी स्वतन्त्र कुमारी की भांति, जो अपने

व्यक्तित्व में अपने को सम्पूर्ण समझती है। वह सब की है, सब उसके हैं, लेकिन कोई किसी का नहीं है। इसलिए उसमें विकास है, कहीं गतिरोध नही, सुख है, उपयोग है, लेकिन शान्ति नही। इन दोनों के बीच मे है कस्बे की आत्मा, उसकी संस्कृति, यह चौके की रांड की तरह है—एक ऐसी जवान विधवा की तरह, जो बिना गौने गए हुए ही एकाएक रांड हो गई हो और उसके आगे-पीछे तमाम अंगुलिया उठ रहीं हो, फुसफुसाहट हो रही हो। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है, क्योंकि उसका मुंह शहर की तरफ है और पीछा गांव की ओर।"[1]

प्रस्तुत रचना की कथा कोई लम्बी कथा नही है। कथा में दुर्भाग्य की शिकार सुभागी उसका बीमार पति रामानन्द और कामुक कामता प्रसाद है, जिनका चित्रण सांकेतिक भाषा में किया गया है। उपन्यास में दो-तीन स्थलों पर प्रतीकात्मक स्वप्न दिए गए हैं। वास्तव में स्वप्न होते ही प्रतीकात्मक है। ये स्वप्न हमारी दिनचर्या या जीवन की किसी मार्मिक घटना से संबधित होते है—सुभागी स्वप्न मे एक पालकी देखती है जिसमें दुल्हन का कोई भी स्त्री ओहार नहीं करती। यह दुल्हन वास्तव में वह स्वयं है। आंगन में बैठी स्त्रियो की उदासीनता समाज की उपेक्षा का प्रतीक है। रामानन्द का दुराग्रह (बीमारी की अवस्था में हट धारण करना और कुण्ड की दलदल में स्नान कर कोढ़ी हो जाना) भारतीय पुरुष वर्ग की हट-वादिता का प्रतीक है। सुभागी और रामानन्द के चरित्र की तुलना कितने सुन्दर शब्दों मे दी गई है—"वह विकृत पुरुष और स्वस्थ सरूपा। वह कोढ़ी पति, वह सुहागन। वह राख, वह आग, वह मृत्यु का भयावह पथ, वह जीवन की स्मित रेखा। एक सन्नाटा, एक गीत।"[2] इसके साथ-साथ उपन्यास में भारतीय ललना के कुछ अंधविश्वासों की ओर भी संकेत किया गया है। आदमी क्यों कोढ़ी होता है ? जब वह किसी की फसल में आग लगा देता है—सुभागी की भावुक कल्पना और विश्वास है।

प्रस्तुत उपन्यास के संबंध में एक आलोचक का यह कथन—"सीमाओं के बाव-जूद पात्रों की रेखाएं काफ़ी स्पष्ट है। ताड़ के पेड़ पर बया के घोंसले जिनमें पक्षी न थे प्रतीकात्मक ढंग से समाज एवं भाग्य के अजगरों द्वारा बया जैसी निरीह एवं निष्कलंक सुभागी के सुहाग के लुटने का संकेत देते है,"[3] अक्षरशः यथार्थ है। सुभागी विवश ही नहीं, विषैले सर्प की वास्तविक शिकार है और यह विशेषता सांप स्वयं कामता प्रसाद है जो उसका हितैषी बनने का ढोंग रचकर समाज में अपने पद और सत्ता के कारण पूर्ण यश पा रहा है। सुभागी इस व्यक्ति को सर्प के रूप में स्वप्न में देखती है। वह इसे मारना भी चाहती है, किन्तु न वह मरता है न सुभागी को (उसके तेज और दृढ़ता के कारण) डसता ही है। इसी स्वप्न में वह एक राजकुमार को देखती है, जो उसे बचाता है। यह राजकुमार आनन्द ही है। उपन्यास का अन्त भी प्रतीकात्मक स्वप्न के साथ-साथ होता है।

---

१. लक्ष्मी नारायण लाल : बया का घोंसला और सांप—पृष्ठ ३९
२. वही—पृष्ठ १३६
३. डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ४१०

काले फूल का पौदा—१९५५

'काले फूल का पौदा' उपन्यास शिल्प के क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग है इसमें कथा युग मराठ है। वैयक्तिकता एवं मनोवैज्ञानिकता के साथ साथ सांकेतिकता के विकास क्रम में यह एक माइल स्टोन बन जाता। उपलब्धि है आधुनिक कथा साहित्य का पात्र व्यक्ति 'टाइप' दोनों में ऊपर उठकर प्रतीक बन गया है। वह कहीं सामान्य है तो कहीं विशिष्ट, किन्तु प्रतीक सर्वत्र है। प्रस्तुत उपन्यास में गीता सम्पूर्ण भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व तो करती ही है वह अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हुए, अपने संघर्ष में नितान्त वैयक्तिक रहते हुए सांकेतिक नारी तत्त्व से युक्त हो गई है और मध्यवर्गीय रूढ़िवादी शिक्षित पत्नी वर्ग की भावनाओं एवं सिद्धान्तों की प्रतीक बन गई है। भारतीय नारी चाहे शिक्षित है अथवा अशिक्षित, कुछ दुर्बलताओं और आस्थाओं की प्रतीक है। उसकी ये दुर्बलताएं और आस्थाएं सामाजिक कम और मानसिक अधिक हैं, समय के साथ साथ समाज में परिवर्तन हो रहे हैं। जिसके फलस्वरूप नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व की सुविधाएं बढ़ गई हैं, किन्तु उसके मानसिक संस्कार अभी नहीं बदलते हैं, इसी विषय को लेकर नए रूप विधान में सर्जित 'काले फूल का पौदा' हमारे सामने आलोचनार्थ प्रस्तुत है।

प्रस्तुत रचना एक भारतीय दाम्पत्य जीवन की प्रतीकात्मक गाथा है। पति है—देवल, एक उच्च मध्यवर्गीय, उच्च शिक्षित पश्चिमी सभ्यता का उपासक और उसी संस्कृति की ओर उन्मुख व्याम पक्षी के समान जीवन के दूरस्थ स्वप्नों तक उड़ान भरने का आतुर और पत्नी है गीता—भारतीय संस्कृति की उपासक, धार्मिक भावनाओं की प्रतीक, नवनीत-सी कोमल और कमल-सी मादक इन दो पात्रों के अतिरिक्त श्याम और चित्रा नाम के दो अन्य पात्र भी लिए गए हैं जो नागरिक जीवन की स्वच्छन्दता की अनन्त धाराओं के प्रतीक हैं इन चार पात्रों की स्थिति और गति उपन्यास में नाना प्रकार के द्वन्द्व और चिन्तन का सृजन करते दीख पड़ते हैं, विवाह उपरान्त भी देवल का झुकाव चित्रा की ओर पूर्ववत् बना है, यही उपन्यास की भयंकर स्थिति है, जिसका चित्रण कहीं स्पष्ट और कहीं सांकेतिक भाषा में किया गया है। इसी स्थिति के कारण गीता की गति अत्यन्त दयनीय हो गई है। उसके मन की सब दिशाएं, शरीर की सब क्रियाएं केवल एक स्थल पर केन्द्रीभूत हो जाती है। देवल और चित्रा! क्या दोनों का अलगाव सम्भव है आवश्यक है? उसके मतानुसार वह आवश्यक तो है किन्तु सम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। उसे अपना समस्त भविष्य अन्धकारमय और संदिग्ध प्रतीत होता है। जब श्याम ने उसकी ओर कामुक दृष्टि से निहारा तब स्थिति अति भयावह तथा अनियन्त्रित हो गई। बाह्य घटनाओं का अभाव और मन स्थितियों का प्रतीकात्मक निर्वाह सतत उपस्थित होता है।

प्रस्तुत उपन्यास का शीर्षक ही प्रतीकात्मक नहीं है अपितु समस्त कथावस्तु, सारे पात्र और वातावरण प्रतीक भरे हैं, काले फूल का पौदा तुलसी का पौदा है। तुलसी के पौदे के प्रति एक विशेष महत्त्व की भावना भारतीय नारी के मन में शैशव से ही घर कर लेती है। काशी के एक धार्मिक परिवार में पली गीता अपने आंगन में नित-प्रति इस बिरवे को जल देकर [illegible] हुई है, अत उसके मन में इसके प्रति असीम अनुराग तो है ही, आस्था

भी है। उसे डी देवन का वह भव्य फ्लैट बिन बिरवे के शून्य प्रतीत होता है। फ्लैट में रखे हुए सूखी मिट्टी से भरे गमले पर दृष्टि पड़ती है। उसके मन में एक भाव उठा और उसने एक लोटा पानी लेकर सारा जल उसमें उंड़ेल दिया। मिट्टी में सनसनाहट हुई और मिट्टी की प्यास को नारी का प्रतीक बनाकर लेखक ने लिख दिया—"यह गमला समाज है, इसकी प्यासी मिट्टी औरत है, इसमे डाला हुआ पानी पुरुष है। इसकी सनसनाहट, इसका पकना कुदरत है और इसके मिटते-बनते बुलबुले इस समूची गति की संतान है।"[1] कितना व्यंगमय रूपक है 'प्यासी मिट्टी औरत है' क्यों? क्या इसीलिए नहीं, कि वह सब सहन करती है, निराशा, चिन्ता घुटन उपेक्षा और कुण्ठा। फिर भी जीवित रहती है। पति और परिवार को आदर देती है। प्रेम देती है, अपनी चिर सचित पूंजी देती है, और फिर त्याग, तप और सेवा से अपने व्यक्तित्त्व का हनन करके भी समाज को गति देती है, गीता में क्या यह सब नहीं है? अवश्य है, तभी तो वह अपने जीवन की आस्थाओं और भावनाओं पर दृढ़तापूर्वक टिके रहने के निमित्त एक आश्रय चाहती है, एक प्रेरण चाहती है—एक पौदे की प्रेरणा—कितना भव्य प्रतीक है. तुलसी का बिरवा ही मानो उसके जीवन का एक मात्र संबल हो, उसके उठते गिरते भावद्वन्द्वों की तुला (Balance) हो। गमले को पाकर उसकी मन वाटिका में हरियाली आने वाली नही, वह तो गेरू से राम नाम अंकित वाले घरुवे की बात सोचती है, घरुवे से गमले (काशी से लखनऊ) तक ही मानो उसके जीवन क्रम की यात्रा भरी गाथा सांकेतिक भाषा मे दे दी गई है, गमले की संस्कृति से उसका मानस हंस मेल नहीं खा रहा, लखनऊ के सारे वातावरण से उसे घृणा है, तभी तो वह उससे असम्पृक्त रहती है। उपन्यास के अन्त मे वह अकेली अपने घेरुवे के पास काशी लौट आती है। और देवन को भी उस संस्कृति को अपनाने पर विवश कर देती है, तभी तो वह भी उसका अनुचर बन काशी की ओर उन्मुख होता है।

प्रस्तुत कृति में हमें दो पात्रों का, दो नगरों का, दो संस्कृतियों का परिचय तुलनात्मक सांकेतिक शब्दो मे पढ़ने को मिलता है। ये पात्र है—गीता और चित्रा; नगर है—काशी और लखनऊ; संस्कृतियां है - पूर्वी और पाश्चात्य गीता भारतीयता की प्रतीक है—धर्मभीरु, गम्भीर, और मर्यादामयी; चित्रा चंचल तो है ही, वाचाल भी है और उच्छृंखल भी आत्म प्रवंचना से पीड़ित होकर आत्म विश्लेषण करते हुए वह अपना और गीता का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करती है—'मैं औरत कहां हूं, उसकी छाया हूं। इसे मैंने तब जाना, जब मैंने गीता को देखा। गीता सत्य, मैं छाया। वह पत्नी। मै रोमांस। पत्नीत्व में रोमांस न जोड़ो देवन। वह बांधेगी, मैं तोड़ूंगी, फिर अन्त क्या होगा? शून्य अपरूप, घृण्य। ओम मुझे कभी भी त्याग देगा। हम में आधार नहीं है, तुम—गीता अलग नहीं हो सकते, क्योंकि गीता जो है, वह भूमि है, भाव है, आदर्श है, पाथेय है।"[2] यह तुलनात्मक चरित्र, चित्रण-विधि प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की आधार शिला है। बिना तुलना के प्रतीक अधूरे से, संकेत हल्के से और रूपक निर्व्यंजित रह जाते हैं। वास्तव में चित्रा छाया

---

१. काले फूल का पौदा—पृष्ठ ३२

२. वही—पृष्ठ १७१-७२

मात्र है, आधारहीन निर्दृश्य, निरन्तर निःसीम पथ की श्रान्त पथिका, जिसमे रोमास है, तृप्ति नहीं, आकाक्षा है पाथेय नहीं, उन्मुक्तता है, विश्राम नहीं अतएव नियत गति भी नहीं। सीता म आधार है, लक्ष्य है, पथ है, जीवन की मृदुता है अतएव उसकी गति निश्चित है। तुलसी के निरन्तर म पुन आ जाने पर वह खिल उठती है। पति का सामीप्य उसे इतना ही सुखद और मधुर लगता है जितना तुलसी के पौधे को जल, किन्तु मन मुटाव के कारण देवन की उपेक्षा भी उसे इतनी ही खलती है जितनी तुलसी के पौधे को सूर्य की प्रखर गर्मी। देवन के वियोग म वह यही सोचती है कि तुलसी के काले-काले फूल अपने भीतर फल हैं और अनेक पौधे है। ये फूल अपनी सत्ता मिटा कर दूसरी सत्ता देते हैं—तभी मुर्झे हैं, तभी काले है—वह भी मुरझाती है, किन्तु सिद्धान्त पर उसी भाति अडिग रहती है जिस भाति पुष्प की सुगन्ध। पुष्प मिट भी जाता है किन्तु समस्त वातावरण को सुगन्धित एव मादक बनाए देता है।

देवन लखनऊ नगरी का प्रशसक ही नहीं, वह तो पाश्चात्य सस्कृति पर मनोमुग्ध और पाश्चात्य सभ्यता मे रगी इस नगरी का पूरा दीवाना है। उसके मतानुसार बनारस की छोटी पिछडी और तग दिल की दुनिया है जब कि लखनऊ बडी व्यापक, रगीनी और आधुनिकता की प्रतीक नगरी है जो विद्युत की शक्ति से और विद्युत तुल्य रमणिया (जो कभी चमकती हैं कभी लाप हो जाती हैं) की जगमगाहट से परी लोक को भी मात कर रही है। जब कुछ क्षणो का विद्युत प्रकाश लुप्त होता है तो उसे लगता है—दुनिया एक ही क्षण म असख्य वर्षो पीछे चली गई और प्रकाश आते ही वह वही आ पहुची जहा से लौटकर पीछे गई थी। लेखक ने फ्लैटो की नगरी लखनऊ के साथ साथ इन फ्लैटो म रहने वाले मध्यवर्गीय प्राणियो की मार्मिक दशा पर भी दृष्टिपात किया है जो सीधे से नौकर रख नही पाते, पेट काटकर तो अपनी बीवियो के लिए रोज नई से नई साडिया खरीदते हैं और किसी भी भद्र अतिथि के आ जाने पर नाक भौं सिकोडने लगते है। एक ही फ्लैट के तीन खण्डो म रहने वाले तीन परिवारो का जीवन नितान्त असम्पृक्त है। पाश्चात्य सभ्यता की नकल को फैशन समझा जाता है और पूर्वी सस्कृति की दुहाई देने वालो को दुराग्रही। फ्लैटो की निवासी औरतें पहले साहब लोगो से मेल मुलाकात बढाने म अपना सौभाग्य और शिष्टाचार समझती है, फिर उनकी औरतो से या तो ईर्ष्या और या बैर मोल ले लेती हैं। पाश्चात्य सस्कृति के अनुसार क्लब, नाच घर और सिनेमा से दूरस्थ दम्पति मूढ और नव सभ्यता के घेरे मे आने के अयोग्य घोषित कर दी जाती है।

प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना म घटना इतिवृत्तात्मक रूप धारण नही करती, पात्र का ब्यौरेवार चित्रण नहीं होता, अपितु समस्त दृश्य साकेतिक विश्लेषण द्वारा उभर कर सामने आ जाते हैं। लेखक को अपनी ओर से अधिक कहने का अवसर ही नहीं मिलता, पात्र स्वय सामने आकर एक चित्र-सा प्रस्तुत कर देते हैं, जिसमे कुछ रेखाए होती हैं, रग होते हैं सकेत होते हैं। सीता के काशी लौट जाने की कथा को कोई विस्तार नहीं दिया गया। देवन की मानसिक स्थिति के लम्बे-चौडे विवरण अथवा विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किए गए, बस देवन ने सकेत ही सकेत मे एक प्रतीक जोडकर सब कह दिया—"मैं वह [illegible]न हू, जो अपने म से थककर बाहर आ निकला हू। 'डी हेविल' शात है। न

बेबी, न गीता, न कोलाहल। बस, मैं और मेरा शरीर। शरीर में बोध नहीं, क्योंकि मैं उसमें से निकल आया हूं। मेरे किनारे का वातावरण ठीक उस शान्त तालाव जैसा है जिसपर अभी-अभी संध्या का सूर्य डूबा है। तब उसके नीर तल पर एक घोंघा निकला है—अपनी खोल से भी बाहर, जैसे एक ही सत्ता के दो रूप···यह क्या हो गया ? विवर्त मे एक तिनका आ गया था। था तो तिनका पर विवर्त को ही तोड़ गया, खुद न टूटा, उसे ही वहा ले गया।"[३] इन शब्दों चित्रों में हमें देवन की उदासीनता, घुटन, बिलबिलाहट और अस्त-व्यस्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस संबंध मे एक आलोचक का मत दिया जाता है—

"'काले फूल का पौदा' का शीर्षक अत्यन्त प्रतीकात्मक है और इस प्रतीक का निर्वाह उपन्यास में पूरी सफलता के साथ हुआ है।"[४] प्रस्तुत रचना में भारतीय मध्यवर्ग के बुद्धिवादी व्यक्ति की दुविधा का, पाश्चात्य सभ्यता से अनुरंजित प्राणी का, जीवन के नये मूल्यों को अपनाने वाली नारी का और अतीत के आदर्शों से चिपक ठिठुरकर चलने वाली रमणी का चित्र प्रतीक के फ्रेम मे मढ़ा हुआ देखने को मिलता है।

तन्तुजाल—१६५८

'तन्तुजाल' प्रधान रूप से प्रतीकात्मक शिल्प-विधि का उपन्यास है। इसमे वस्तु के स्थान पर शिल्प ही महत्वपूर्ण है। कथा-वस्तु के नाम पर नायक और नायिका की जीवनगत स्मृतियों और कुछ अनुभूतियों का संकेतमात्र है। एक व्यक्ति दिल्ली से जयपुर तक रेल-यात्रा के आठ घण्टों में जो सोचता है, याद करता है, वह मधुर है, अथवा कटु-बस वही वस्तु है जो संगठित भी नहीं, अधिक रोचक भी नहीं कही जा सकती, किन्तु इस समय बीच नायक द्वारा कतिपय विचारधाराओं एवं स्मृतियों का विश्लेषण तथा लेखक की प्रतीक योजना अवश्य ही शिल्पगत महत्त्व की बातें हैं, जिनका विचार करना प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के उद्देश्य को पूर्ण करना होगा।

'तन्तुजाल' के शीर्षक को देखते ही पाठक के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—कैसे तन्तु ? कैसा जाल ? शीर्षक ही प्रतीकात्मक नहीं है अपितु इस विचार प्रधान रचना की एक-एक पंक्ति उस एक-एक पंक्ति का विश्लेषण और अन्वेषण जीवनगत उलझनों, समस्याओं, विचारधाराओं, सिद्धांतों और कतिपय तथ्यों का प्रतीक है। प्रतीक के रूप को स्पष्ट रूप से अंकित करने के लिए लेखक एक पीपल के पत्ते का उदाहरण देता है, जिसके दो रूप (एक हरा-भरा चंचल और जीवन से स्पंदित, दूसरा सूखा, नीरस और मात्र नसों का जाल) प्रस्तुत किए गए हैं—में दोनों रूप जीवन के दो रूपों के प्रतीक हैं। पहले में जीवन की कोमलता, मधुरता और मादकता तथा दूसरे में जीवन का शोषण, नैराश्य एवं शुष्कता परिलक्षित होती हैं। इस प्रतीक की अभिव्यक्ति लेखक के इन शब्दों में हुई है—"मैं देखता रहता उन तन्तुओं को, वे बारीक से बारीक तन्तु न जाने कितने

---

३. काले फूल का पौदा—पृष्ठ १८१
४. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ २७७

घुमाव और पेचो के साथ पत्ते में फैले हुए हैं और सारे पत्ते में रस और हरियाली का सचरण इन्हीं तन्तुओं के माध्यम से हो रहा है और जब इन तन्तुओं में धीरे-धीरे जड़ता आती जाती है पत्ते में कोई ऐसा कीड़ा लगता है जो उसके इन्हीं तन्तुओं को धीरे-धीरे सुखाने लगता है और तन्तुओं के सूखने ही पत्ते का रंग-रूप सूखता जाता है, उसका सारा बाह्य नष्ट हो जाता है और रह जाता है केवल उन्हीं सूखी नसों का तन्तुजाल।"[1]

तन्तुओं में आई जड़ता का कारण कोई कीड़ा है। यह कीड़ा जीवन में जड़ता लाने वाली वे परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य के सत्व को, उसके माधुर्य को, उसकी कोमल, विनम्र, भावपरक प्रवृत्तियों को नाचकर नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं। ये परिस्थितियाँ ही उसकी कोमल भावनाओं और तीव्र विचार धाराओं को कुण्ठित प्राय कर देती हैं। जड़ता, शुष्कता और भावशून्यता की दशा में व्यक्ति को ले आती हैं। 'तन्तुजाल' में यात्री नायक की मानसिक अशान्ति, असन्तोष, निराशा और आत्म-लीनता को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। पत्रहीन शुष्क शाखा को देखकर वह कहता है—"जीवन ऐसा ही विश्रृंखलित, ऐसा ही रहस्यमय है जिसमें न जाने कितने आकर्षण हैं, कितने विकर्षण हैं।"[2] किन्तु उसके जीवन में आकर्षण कम हैं, विकर्षण ही अधिक हैं—नीरा की बीमारी और अनवरत बीमारी के कारण वह उद्दीप्त है, निराश है, मानसिक रूप से अशान्त है।

यात्री के लिए यात्रा के आनन्द की अनुभूति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रतिक्षण उस नीरा की, उसके कहे वाक्यों की स्मृति ही उद्वेलित करती रहती है। कम्पार्टमेंट में कौन आता है, कौन चला जाता है, उसके लिए महत्त्वहीन बातें हैं। वह अपने अन्तर्मन में विचरण करता है। उसके अन्तर्मन की स्थिति के लिए भी लेखक ने प्रतीक जुटाये हैं। वह लिखता है—"युवक के मन में समतल उजाड़ मैदान कागज के पन्नों के समान फैल फैल जाता है और बीच में पहाड़ियों के छोटे-छोटे खण्ड आ जाते हैं। उसके मन पर पत्र की रेखाएँ उभर आती हैं, रेखाएँ उभरकर तरंगों के रूप में उठती जाती हैं। तरल तरंगें कठोर होने लगती हैं और रेत के विस्तार में ठोस पवन शृंखला के रूप में फैलकर टकराने लगती हैं। युवक अपने आप से उलझा है—तन्तु कुछ टूट रहा है। क्या है वह ? नीरा बीमार है।"[3] नीरा ही उसके जीवन की सबसे बड़ी उलझन है, उसके नैराश्य, चिन्ता और मनन का सूत्र है।

'तन्तुजाल' प्रतीकात्मक शिल्प विधि की वह रचना है जिसमें अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक प्रयोग मिलता है। यात्रा के संस्मरण घटना प्रधान अथवा वर्णन प्रधान नहीं है। वे विचार प्रधान और विश्लेषण प्रक्रिया से ओत-प्रोत हैं। नरेश और नीरा के मानसिक द्वन्द्व, नरेश के विचारों का चेतना प्रवाह लेखक की अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म चित्रण के परिचायक हैं। नरेश और नीरा दोनों ही पूर्ण रूप से आत्मकेन्द्रित और अन्तर्मुखी पात्र हैं। दोनों ही एक-दूसरे को जीवन में सबसे अधिक चाहते हैं किन्तु पाते नहीं हैं—यदि पाते हैं

---

१ रघुवंश : तन्तुजाल—पृष्ठ ३८२-३८३
२ वही—पृष्ठ ३८३
३ वही—पृष्ठ ६

तो वे हैं, क्षणिक सौहार्द एवं साहचर्य के मधुर क्षणों की मधुर स्मृति जो उनके चेतना प्रवाह का एक अविभाज्य अंग बन गई है। रेल की यात्रा के समय चेतना-प्रवाह में बहता हुआ नरेश कहता है—"यह कौन सा सूत्र है, कौन-सा तन्तु है, जो दो प्राणियों को इस प्रकार अभिन्न बना देता है···जीवन क्या इस तन्तु से ही बना हुआ है···और ये तन्तु है कि जीवन को कसकर बांधे हुए है ? लगता है कि जिस दिन ये तन्तु ढीले पडे, या इनका ताना-बाना ढीला पड़ा उसी दिन सारा जीवन बिखर जाएगा, फैल जाएगा···निश्चय ही आदमी के जीवन मे कोई अपने-पन का तन्तु रहता ही है जो उसके जीवन को रस देता है, अर्थ देता है।"[3] यह एक मधुर प्रसंग है, लखनऊ मे नरेश और नीरा के एक साथ बीते कुछ मादक क्षणों की स्मृति है जो नरेश को आत्म-विस्मृत किए है। नरेश का अस्तित्व ट्रेन की गति के साथ नहीं, प्रकृति के दृश्यों के साथ भी नहीं, अपितु कतिपय क्षणों के साथ चलता है। वे क्षण जो मूल्यवान है, इसलिए कि उनका अपना निजी व्यक्तित्व है। क्षणो के व्यक्तित्व की धारणा अस्तित्ववादी विचारकों की मौलिक देन है। जिसका प्रयोग सुचारु रूप से 'तन्तुजाल' में हुआ है। केवल नरेश ही नहीं, नीरा भी क्षण के महत्त्व को स्वीकार करती है। वह एक मधुर क्षण की कल्पना कर निराशा, चिंता और यातना के अनगणित क्षण हंसकर काट देती है। एक आशा, एक आकांक्षा और एक मधुर क्षण की कल्पना (नरेश साक्षात्कार की कल्पना) उसे शक्ति देती है। वह शक्ति जो उसके अस्तित्व और चेतना को तन्तुजाल से लपेटे है। यह तन्तुजाल प्रेम, माधुर्य और रहस्यपूर्ण बंधन का प्रतीक सूत्र है, जो दो शरीरों को ही नही दो आत्माओं को सदैव निकट अति निकट बांधकर रखता है। नरेश को नीरा और नीरा को नरेश की अनुभूति प्रतिक्षण मधुर लगती है। नरेश के जयपुर पहुंचने पर लेखक ने नीरा की अनुभूति को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"उसके अस्तित्व के तन्तुओं की लपेट मे जैसे कोई आ गया है, और वह उसे सघनता से जकड़ती जाती है···उसके तन्तुओं मे इतनी लोच आ गई है कि वे अब फैलने मे जैसे टूट सकेंगे ही नहीं।"[4] इसे उदात्त प्रेम का प्रतीक न मानें तो क्या यह सूझ की कमी नहीं होगी ? यही तो जीवन को संचालित करने वाली शक्ति है।

रोड़े और पत्थर—१९५८

'रोड़े और पत्थर' डा० देवराज का प्रतीकात्मक शिल्प-विधि में रचा गया एक लघु उपन्यास है, यह एक मध्यवर्गीय व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षी भावनाओं की प्रतीकात्मक गाथा है, जीविका से कलर्क, किन्तु रुचि से स्कॉलर हरीश का मन एक ओर इतिहास में डूबकर उसकी नव व्याख्या करने का स्वप्न देखता है, दूसरी ओर अपनी छोटी-सी गृहस्थी के लिए छोटा-सा घर बनाने की चिन्ता मे निमग्न है, प्राइवेट एम० ए० पास करके प्रथम स्थान पाने पर भी सामाजिक विषमता और धांधली के कारण मन चाही नौकरी न पाने के कारण उसका मन अपनी क्षूद्रता की चेतना से सहचरित उदासी का अनुभव करता है।

---

३. तन्तुजाल—पृष्ठ २९८
४. वही—पृष्ठ ४४६

यह उदासीनता उसकी सामाजिक स्थिति और विवशता की प्रतीक है, किन्तु वह शीघ्र ही उसे निर्वासित कर देना, यह उसकी क्षमता एवं साहसिकता का प्रतीक है।

वह बड़े-बड़े स्वप्नों की योजना करता है। वह कहता है—"सिकन्दर, सीजर और नेपोलियन, चन्द्रगुप्त और अशोक, इन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य बनाए थे, और हरीश, उनका प्रेमी अध्येता, एक छोटा-सा मकान बनाने के लिए उत्कण्ठित और व्यग्र है, क्या स्थिति नितान्त ही अयुक्त और विस्मयजनक नहीं है?"[1] इतिहास के अध्ययन को एक ओर रख अब वह सब समय अपना मकान बनवाने की योजनाओं में लगाता है। उसने को-आपरेटिव सोसाइटी से ऋण लिया और मकान बनवाने में जुट गया। मकान बनवाते समय उसे जीवन के जो नये अनुभव प्राप्त हुए वे व्यक्ति की, विशेषकर मध्यवर्गीय व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं की ओर स्पष्ट संकेत हैं। मिस्त्री, मजदूर और बढ़ई का निरीक्षण और परीक्षण, मार्ग में आई बाधाएँ, कठिनाइयाँ और समस्याएँ ही पत्थर हैं, रोड़े हैं। ये रोड़े और पत्थर पूर्ण रूपेण प्रतीकात्मक हैं। समय पर तुरन्त सीमेण्ट न मिलने की समस्या, ब्लैक मार्केटिंग की प्रचलित व्यवस्था, हरीश की भावुकता और अव्यवहारिकता, मिस्त्री, मजदूरों की कुशलता व बेईमानी ये रोड़े हैं जो जीवन में मकान बनवाते समय समस्या बनकर सामने आते हैं। गृहनिर्माण में कुल पांच मास लगे हैं। ये पांच मास चट्टान बनकर हरीश के धैर्य, साहस और कर्मण्यता की परीक्षा लेते हैं, उसे आर्थिक रूप से क्षीण कर देते हैं, किन्तु सिकन्दर, नेपोलियन और चाणक्य का अध्येता इन चट्टानों से टकराकर टक्कर लेता हुआ, इन्हें ध्वंस न कर निर्माण एवं रचनात्मक रूप प्रदान करता है। जीवन में नवीन मूल्यों की खोज एवं प्रयोग की दृष्टि से यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है।

---

१ डॉ० र   रोड़े और पत्थर—पृष्ठ १३

छठा अध्याय

नाटकीय शिल्प-विधि के उपन्यास

नाटकीय उपन्यास और नाटकीय शिल्प-विधि का उपन्यास क्या मूलतः एक ही वस्तु है ? प्रश्न तात्त्विक है। मेरे मतानुसार दोनों एक नही है। मेरे लिए नाटकीय उपन्यास शीर्षक कोई स्वतंत्र विधा अभी तक साहित्य जगत मे नही पनपी। उपन्यास और नाटक दोनों भिन्न धर्मा साहित्यिक विधाएं है। यह ठीक है कि दोनों में व्यक्ति, घटना और वातावरण, उद्देश्य, शैली तथा वार्ता वर्तमान है, किन्तु नाटक मे रचनाकार जितना प्रच्छन्न रहता है, साधारणतया उपन्यास में नहीं रह पाता। नाटक की कला रंगमंच पर आश्रित है जबकि उपन्यास किसी मंच पर आश्रित नही होता। समान उपकरणों का प्रयोग करने पर भी दोनों का शिल्प-विधान सर्वथा विभिन्न है। नाटक जो मूलत. दृश्य काव्य है। उपन्यास के श्रव्य जगत में आत्मसात कैसे हो ? या उपन्यास जो जेबी रंगालय (Pocket Theatre) है नाटक के रंगमंच पर कैसे अवतरित हो ? इस 'कैसे' को रूपायत करने के लिए आलोचकों ने 'नाटकीय उपन्यास' की परिकल्पना की। इस संबंध में एक आलोचक लिख गए—"नाटकों के रूप में उपन्यास रचना आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक नया और अद्‌भुत आविष्कार था और इससे उपन्यास के विकास में बहुत सहायता मिली।"[१]

यह ठीक है कि हिन्दी के अनेक कथाकार मूलतः नाटककार थे या है जैसे प्रथम उपन्यासकार श्रीनिवासदास, जयशंकरप्रसाद, सेठ गोविन्ददास, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, मोहन राकेश प्रभृति कथाकार। इनके उपन्यास साहित्य पर नाट्यकला का प्रभाव अवश्य है किन्तु इनकी रचनाएं नाटकीय उपन्यास है, यह तो किसी ने स्वीकार नहीं किया। हां नाटक उपन्यास को समय-समय पर प्रभावित अवश्य करता रहा। इस संबंध में प्रसिद्ध पश्चिमी आलोचक श्री मेंडिलेव कहते हैं—"प्राचीन रोमांसों तथा उपन्यासो के लेखकों ने बहुत-सा शिल्प महाकाव्य तथा नाटक से अर्जित किया।"[२] नाटक से उपन्यास ने जो शिल्प-सामग्री ग्रहण की उसका मूल कारण यह है कि नाटक पूर्ववर्ती साहित्यिक विधा है और इसका परवर्ती विधा पर आंशिक प्रभाव छोड़ना स्वाभाविक ही है। इतना होने पर भी नाटक की अपूर्णताएं उपन्यास में नहीं है, इसमे वह

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास— पृष्ठ २७८

2. "The writers of the earlier romances and and novels took over much of the Techniques of Epic and Drama."

"Time and the Novel" P. 53

सब सामग्री विद्यमान रहती है जिसे कथाकार रचना की अन्तर्धारणा तथा सोद्देश्यता के लिए आवश्यक मानता है। उपन्यासकार की स्वच्छन्दता उसे नाटककार की सीमाओं से आगे ले गई है और उपन्यासकार ने नाटकीय उपन्यासकार बनने की अपेक्षा नाटक के मात्र प्रधान गुण नाटकीयता को ग्रहण कर अपने कथासूत्र में या कथानक में नाटकीय शिल्प विधि का संयोजन कर लिया।

नाटकीय शिल्प विधि का कथाकार अपने कथ्य को यानी प्रमुख बनाकर घटना और पात्र में उत्तरोत्तर संघात उत्पन्न करता हुआ अधिक से-अधिक मात्रा में प्रभावोन्मुखी बनाता जाता है। इस शिल्प विधि को अपनाने वाले कथाकारों ने अपनी घटनाओं को ऐसे चयनित-क्रमित किया है कि उसका प्रवेग (Tempo) पाठक के मन में सदैव रहस्यानुभूति (Feeling of Suspense) बढ़ाता गया। कथाकार ने इस विधि को अपनाते हुए अपनी शैली भी बदली और 'मृगनयनी' में वर्मा ने तथा 'चित्रलेखा' तथा 'गुनाहों का देवता' के लेखकों ने दृश्य विधान शैली (Scene Style) अपनायी—ये कथाकार अपने उपन्यासों में सीमित अभिरुचि, सीमित दृष्टिकोण, सीमित स्थान और सीमित समय लाते हैं।

चित्रलेखा—१९३४

'चित्रलेखा' परिस्थिति, घटना और चरित्र का एक-दूसरे के संघात में उद्घाटन करने वाला हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित नाटकीय शिल्प विधि की इस रचना को पढ़ते ही पाठक का ध्यान प्रत्येक परिस्थिति और घटना के साथ-साथ पात्रों की वार्ता पर केन्द्रित हो जाता है। 'चित्रलेखा' के वस्तु विन्यास का गठन पात्रों के कथोपकथन पर आधारित है तथा वस्तुवस्तु और पात्रों के कार्य-व्यापार में अद्भुत समन्वय हुआ है। इस उपन्यास का समारम्भ नाटकीय है। संवादों का लघु विस्तारी रूप स्थिति की गम्भीरता उद्घाटित करता है। उपन्यास की उपक्रमणिका में दर्शकों द्वारा उठाई गई समस्या—"और पाप" नाटकीय प्रभाव रखती है। उपक्रमणिका में गुरु रत्नाम्बर और उनके दो शिष्य श्वेतांक तथा विशालदेव वार्तालाप द्वारा परिस्थिति और पृष्ठभूमि की ओर संकेत कर देते हैं। श्वेतांक और विशालदेव को मंच पर खड़ा करके रत्नाम्बर और उपन्यासकार दोनों परोक्ष में चले हो जाते हैं। श्वेतांक को बीजगुप्त और विशालदेव को कुमारगिरि के परिवेश में डालकर जिज्ञासा और कुतूहल का विकास होने लगता है।

प्रस्तुत उपन्यास के संबंध में आलोचकों का मत अस्पष्ट, असंगत और भ्रामक रहा है। एक आलोचक इसे वर्णनात्मक शैली की रचना मानते हुए लिखते हैं—'इतने पूर्व-कथन के पश्चात् वर्णनात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास की कथा का व्यावहारिक रूप से आरम्भ होता है—सामंत बीजगुप्त और नर्तकी चित्रलेखा की विलास क्रीड़ा से।'[1] एक अन्य आलोचक इस मत का खंडन करते हुए इसे नाटकीय शैली की रचना तो मान

---

1. डॉ० प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास —पृष्ठ ३[illegible]

लेते हैं किन्तु उन्हें पात्रों के वाद-विवाद और कथावस्तु के गठन पर आपत्ति है। उन्होंने लिखा है—"पाप और पुण्य की समस्या को नाटकीय शैली मे उपस्थित किया गया है··· उपन्यास में पात्रों के वाद-विवाद कथानक को रसहीन तथा गतिहीन बनाते हैं।"[२] प्रस्तुत प्रबंध के लेखक मतानुसार दोनों धारणाएं बीच-बीच में अस्पष्ट और असंगत है। 'चित्र-लेखा' अवश्यमेव नाटकीय शिल्प-विधि की रचना है। इसका आरम्भ ही नही, मध्य और अन्त भी परम नाटकीय एवं प्रभावपूर्ण है। उपन्यास आद्योपान्त नाटकीय शैली में रचा गया है। इसमें वर्णनात्मकता या विश्लेषणात्मकता की गन्ध तक नही मिलती। पात्रों के कथोपकथन कहीं भी विस्तृत या नीरस नहीं हुए। ये संक्षिप्त, नाटकीय प्रभाव रखने वाले, परिस्थिति को स्पष्ट करने वाले परम आकर्षक एवं रुचिकर है। वास्तव में इन्हें 'चित्रलेखा' का प्राण तत्त्व कहा जा सकता है। पात्र उपन्यास के पृष्ठों में आकर ऐसे वार्ता करते हैं जैसे नाटक में मंच पर अभिनेता। पहले परिच्छेद में ही छलकते हुए मदिरा पात्र को चित्रलेखा के मुख से लगाते हुए बीजगुप्त कहता है—"चित्रलेखा ! जानती हो जीवन का सुख क्या है ?" उसके अधरों ने बीजगुप्त के अधरों से मौन वार्ता कर धीरे से कह डाला "मस्ती"।[३] आगे चलकर जब वे वार्ता करते हुए कहते है—"तुम मेरी मादकता हो"—"और तुम मेरे उन्माद"[४] तो पाठकीय आकर्षण द्विगणित हो जाती है। ऐसे मधुर संलापों से उपन्यास भरा पड़ा है। ये वार्ताएं उपन्यास की प्रत्येक गति-विधि का संचालन करती हैं। इन्हें कथानक को रसहीन बनाने वाला तत्त्व कदापि नहीं कहा जा सकता। इनके द्वारा कथानक में गति और प्राण दोनों तत्त्वों का संचार हुआ है। इनके द्वारा ही उपन्यास नाट-कीय शिल्प-विधि का बन पड़ा है। इनके द्वारा कथा का विस्तार भार हल्का हो गया है।

'चित्रलेखा' के कथानक में नाटकीय स्थितियों की प्रचुरता है। इसे पढ़कर चन्द्र-गुप्त मौर्य के समय का भारत हमारे सामने चित्ररूप में प्रस्तुत हो जाता है। महायज्ञ के अभिमन्त्रित धूम्र से सुवासित राज-प्रसाद का विशाल प्रांगण, अतिथि, मंत्री और नर्तकी चित्रलेखा तथा विद्वन्मण्डली तत्कालीन समाज और राजनैतिक अवस्था के परिचायक है। चाणक्य और कुमारगिरि वाद-विवाद, चित्रलेखा का नृत्य और एकाएक नृत्य के बीच कुमारगिरि का देदीप्यमान रूप धारण कर ईश्वर को दिखाने की बात कहना और उसे दिखाना नाटकीय घटनाएं हैं। एक आलोचक 'चित्रलेखा' को अनातोल फ्रांस के प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' की छाया बताते हुए लिखते है—"कथानक में फ्रांस के प्रसिद्ध कलाकार अनातोल के उपन्यास 'थाया' की कुछ प्रच्छन्न छाया दिखाई पड़ती है, किन्तु मूल आधार इस उपन्यास का भारतीय उपनिषद् से निर्मित है।"[५] आलोचक ने तो मूल आधार का पता लगाने की चेष्टा भर की है किन्तु स्वयं उपन्यासकार ने इस असंगति के निराकरण हेतु लिखा है—"मेरी 'चित्रलेखा' और अनातोल फ्रांस की 'थाया' में उतना ही अन्तर है जितना

२. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ९७-९८
३. चित्रलेखा—पृष्ठ ९
४. वही—पृष्ठ
५. गंगाप्रसाद पाण्डेय : हिन्दी कथा-साहित्य—पृष्ठ १६६

मुझ मे और अनातोल फ्रांस मे। 'चित्रलेखा' मे एक समस्या है, मानवी जीवन के तथा उसकी अच्छाइयो और बुराइयो के देखने का मेरा अपना दृष्टिकोण है और मेरी आत्मा का अपना संगीत भी है।"[6] मै उपन्यासकार के कथन से सहमत हू। 'चित्रलेखा' मे इतिहास केवल पृष्ठभूमि का काम करता है। शेष कथानक कल्पना के आश्रय सम्पादित हुआ है और यह कल्पना अनातोल फ्रांस से उधार ली गई कल्पना नही है, लेखक की पंक्ति मे उसकी आत्मा के संगीत की झकार है। एक एक पात्र के व्यक्तित्व मे उसके भावो और विचारो का संगम है।

चित्रलेखा, कुमारगिरि और बीजगुप्त मे हम मानव हृदय की समस्त भावनाए—जैसे राग, द्वेष, ईर्ष्या, प्रेम, मोह, साहस, त्याग, घृणा, क्रोध, निष्ठा, भक्ति आदि दिखाई देते हैं। श्वेताक जैसे ब्रह्मचारी यौवन के स्पन्दन का अनुभव करने लगते हैं। वह वासना को पाप समझता है किन्तु चित्रलेखा उसे नया पाठ पढ़ाती है—"श्वेताक तुम भूल करते हो। जिसे तुम साधना कहते हो वह आत्मा का हनन है। मैंने तुम्हे केवल इतना दिखलाया है कि मादकता जीवन का प्रधान अग है। रही तुम्हारे हृदय मे ज्वाला उत्पन्न करने की बात, मैंने तुम्हे केवल जीवन का वास्तविक महत्त्व दिखलाया है।"[7] श्वेताक, कुमारगिरि, बीजगुप्त और चित्रलेखा मानसिक रूप से उद्विग्न हैं किन्तु फिर भी उपन्यासकार इनकी मनःप्रकृति का विश्लेषण नही करता, वह केवल निर्देशक है और उसके निर्देश मे ये पात्र वार्ता द्वारा एक-दूसरे की परिस्थिति और मानसिक स्थिति का अन्वेषण प्रस्तुत करते हैं, विश्लेषण या वर्णन नही करते। पात्रो के चारित्रिक उत्थान-पतन संवादात्मक विधि द्वारा सम्पन्न हुए हैं। चित्रलेखा बीजगुप्त प्रणय मैत्री की विकास-सूचिका दोनो की प्रेमवार्ता या स्वगत-कथन के व स्थल हैं जिनमे नाटकीयता है। यशोधरा के प्रसंग की उद्भावना बीजगुप्त के पावन प्रेम का मापदण्ड है। चित्रलेखा उपन्यास की सबसे सशक्त पात्र है जो अपनी शक्ति का परिचय अपने सबल संवादो के द्वारा देती है। कुमारगिरि के यह कहने पर कि स्त्री अधकार है, मोह है माया है और वासना है, वह प्रतिकार स्वरूप कहती है—"रही स्त्री के अधकार तथा माया होने की बात, योगी, वहा भी तुम भूलते हो। स्त्री शक्ति है। वह सृष्टि है, यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति योग्य है, वह विनाश है यदि उसे संचालित करने वाला व्यक्ति अयोग्य है। इसलिए जो मनुष्य स्त्री से भय खाता है, वह या तो अयोग्य है या कायर। अयोग्य और कायर दोनो ही व्यक्ति अपूर्ण हैं।'[8]

वर्णनात्मक शिल्प विधि के उपन्यासकार की भाति पात्रो का चरित्राकन करने मे पृष्ठ के पृष्ठ नही रंग गए। नाटकीय विधि द्वारा उपन्यासकार तुलनात्मक चरित्र-चित्रण करता है—"कुमारगिरि और चित्रलेखा दोनो ही अहभाव से भरे महत्त्वकाक्षा के दास हैं और दोनो ही ममत्व की तुष्टि पर विश्वास करते है। पर दोनो के साधन विपरीत हैं। एक साधना की शरण ली है, दूसरे ने आत्म-विश्वास की।"[9] इसी भाति चित्रलेखा तथा

६ उपन्यासकार का दृष्टिकोण भूमिका से अवतरित
७ " —पृष्ठ २९
८ " —पृष्ठ ५३
९ —पृष्ठ ५९

यशोधरा के चरित्र की तुलना की गई है। कुमारगिरि और बीजगुप्त जीवन के दो कोण है। दोनों की परिस्थितियां भी भिन्न है। बीजगुप्त को उपन्यासकार की पूर्ण सहानुभूति मिली है। इस संबंध मे एक आलोचक लिखते है—"वर्मा जी जीवन को कर्मक्षेत्र मानते है और इससे विमुखता अकर्मण्यता। आपकी योगी कुमारगिरि के प्रति सहानुभूति नही और उसका पतन आपने कुछ द्वेष-भाव से दिखाया है। 'चित्रलेखा' का निष्कर्ष यह निकलता है : 'सुख तृप्ति है और शान्ति अकर्मण्यता। पर जीवन अविकल कर्म है, न बुझने वाली पिपासा है। जीवन हलचल है, परिवर्तन है; और हलचल तथा परिवर्तन मे सुख और शान्ति का कोई स्थान नही।"[१०]

'चित्रलेखा' में प्रेम और विवाह, दुःख और सुख, नारी और पुरुष, परिस्थिति और व्यक्ति, पाप और पुण्य आदि गुरु गम्भीर समस्याओं का विवेचन नूतन नाटकीय शिल्प-विधि द्वारा प्रस्तुत हुआ है। दृश्य-विधान कथानक और विचार पर छाया रहता है। पात्र स्वयं उपन्यास मंच पर आ-आकर अपने मनोद्वेगों की विवृत्ति अपने संवादो द्वारा अभिव्यक्त करते है। वैदग्ध्यपूर्ण भावात्मक संवाद द्वारा चित्रलेखा प्रेम और वासना का अन्तर स्पष्ट करती है—"वासना के कीड़े! तुम प्रेम क्या जानो? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो? प्रेम वलिदान है, आत्म-त्याग है, ममत्व का विस्मरण है।"[११] बीजगुप्त के मतानुसार स्त्री-पुरुष का चिर-स्थायी संबंध ही विवाह है।[१२] उसका दृष्टिकोण है—मनुष्य अनुभव प्राप्त नही करता, परिस्थितियां मनुष्य को अनुभव प्राप्त कराती हैं।[१३] वह अपने बारे में मनन करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि मनुष्य परतंत्र है, परिस्थितियों का दास है, लक्ष्यहीन है। एक अज्ञात शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को चलाती है। मनुष्य की इच्छा का कोई मूल्य नही है। मनुष्य स्वालम्बी नहीं है, वह कर्त्ता भी नही है, साधना-मात्र है।[१४] इन्हीं परिस्थितियों के आवर्त में कुमारगिरि का संयम-स्खलित होता है, और इन्हीं के परिवेश में बीजगुप्त महान त्यागी और उदारचेत्ता बनता है। लेखक ने पात्र द्वारा पाप-पुण्य की व्याख्या भी करा दी है। उपन्यास के अन्त में पाप की व्याख्या करते हुए महाप्रभु रत्नाम्बर कहते है—"संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।··· जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है, विवश है। वह कर्ता नहीं, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा? ···ससार में इसलिए पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते है और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते है, जो हमें करना पड़ता है।"[१५] परिस्थिति नियति और प्रकृति के

१०. प्रकाशचन्द्र गुप्त : नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि—पृष्ठ १७५
११. चित्रलेखा—पृष्ठ १७३
१२. वही—पृष्ठ ८६
१३. वही—पृष्ठ १०६
१४. वही—पृष्ठ १५७
१५. वही—पृष्ठ १६२

आगे मनुष्य कितना निष्पाय एवं असहाय है, यह सब 'चित्रलेखा' द्वारा तर्कपूर्ण ढंग से पाठक के सामने प्रस्तुत है। उपन्यास का आरम्भ जितना नाटकीय है, अन्त उतना ही प्रभावोत्पादक। प्रत्येक परिच्छेद की अवतारणा नई नई परिस्थितियों तथा दृश्यों के साथ हुई है जैसे रंगमंच पर नये अंकों के साथ नये दृश्य विधान परिवर्तित होते चलते हैं। संवादों द्वारा नाटकीय शिल्प विधि की सौन्दर्य वृद्धि हुई है।

दिव्या—१९४५

'दिव्या' में यशपाल ने वर्णनात्मक शिल्प-विधि का आश्रय न लेकर नाटकीय शिल्प विधि को प्रश्रय दिया है। इस उपन्यास के कथानक और चरित्र चित्रण में अपूर्व सन्तुलन है। समस्त कथा का विकास नाटकीय विधि के साथ हुआ है। एक एक घटना एक-एक चरित्र को पूरी तरह प्रभावित करती चलती है। प्रत्येक चरित्र नये दृश्य की योजना में गत्यात्मक योग देता है। नाटकीय शिल्प विधि की रचना होने के कारण 'दिव्या' की एकसूत्रता में व्यवधान नहीं आने पाया। प्रस्तुत उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है, इतिहास आश्रित है। इस तथ्य की स्वीकृति में उपन्यासकार लिखता है—"दिव्या इतिहास नहीं, ऐतिहासिक कल्पना-मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्र है। कला के प्रति अनुराग से लेखक ने काल्पनिक चित्र में ऐतिहासिक वातावरण के आधार पर यथार्थ का रंग देने का प्रयत्न किया है।"[1] उपन्यासकार का यह कथन तथ्यपरक है। 'दिव्या' का कथानक पूर्णरूपेण ऐतिहासिक नहीं है, पात्र भी कल्पित हैं किन्तु इसमें बौद्धयुगीन समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है। 'दिव्या' के प्राक्कथन में यशपाल ने एक और बात भी कही है जिसका संबंध उनके मार्क्सवादी द्वंद्वात्मक भौतिकवादी जीवन दर्शन से है। वे लिखते हैं—"मनुष्य केवल परिस्थितियों को भुलाता ही नहीं, वह परिस्थितियों का निर्माण भी करता है। वह प्राकृतिक और भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन करता है, सामाजिक परिस्थितियों का वह स्रष्टा है।"[2] उपरोक्त दृष्टिकोण भगवतीचरण वर्मा के नाटकीय उपन्यास 'चित्रलेखा' में प्रस्तुत दृष्टिकोण "मनुष्य परिस्थितियों का दास है, वह कर्ता नहीं,"[3] से विपरीत पड़ता है। किन्तु इसका निर्वाह यशपाल द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ। 'दिव्या' के पात्र भी 'चित्रलेखा' के पात्रों की भांति परिस्थितियों के आगे संघर्ष करने के पश्चात् आत्म-समर्पण कर देते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का समारम्भ नाटकीय प्रभाव रखता है। आरम्भ को पढ़ते ही पाठक का ध्यान दिव्या और उससे संबंधित घटनाओं की ओर आकृष्ट हो जाता है। समस्त कथा का विभाजन 'मधुपर्व', 'धर्मस्थ का प्रसाद', 'दिव्या' आदि तेरह अध्यायों में किया गया है। ये अध्याय नाटक में नियोजित अंकों की भांति हैं। इनमें शीर्षक अनुरूप कथा प्राप्य है। 'मधुपर्व' में तत्कालीन उत्सवों का, रीति-नीति और धार्मिक अनुष्ठानों

---

१ यशपाल : दिव्या—प्राक्कथन—पृष्ठ ५
२ वही—पृष्ठ ५
३ भगवतीचरण वर्मा : चित्रलेखा—पृष्ठ १८२

का नाटकीय चित्र उपलब्ध है। उनकी वेश-भूषा तक को एक नाटककार की बारीकी के साथ चित्रित किया गया है—"अभिजात पुरुष और कुल स्त्रियां पर्व के योग्य वस्त्र-आभूषण, अपने वर्ण और वंश स्थिति के अनुकूल धारण किए थे। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कढ़े लाल रेशम के उपणीष से सिर के केशों को बांधे थे। उसके मस्तक और भुजा पर श्वेत चन्दन का सौर था। श्मश्रु मुण्डे हुए। उनके कण्ठ की मुक्ता मालाओं मे कृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे। कन्धों से लहराते उत्तरीय के नीचे अस्पष्ट झलकती रेखा कटि से नीचे स्वच्छ अन्तरवासक पर पीले यज्ञोपवीत में प्रकट हो रही थी ···क्षत्रिय स्वर्ण खचित शुभ्र वस्त्र धारण किये थे, उनके कानों, कंठ, भुजा और कलाइयों पर रत्न-जड़ित आभूषण थे।··· श्रेष्ठियों के वस्त्र बहुमूल्य किन्तु ढीले-ढाले। गण परिषद् के सदस्य कंधों पर अजानुकेशरी कंचुक धारण किए थे।"[४]

'चित्रलेखा' की भांति 'दिव्या की नाटकीयता भी असंदिग्ध है। कथानक का विकास आकर्षक संवादों तथा रोचक नाटकीय स्थितियों द्वारा सम्पन्न हुआ है। भाव-परिवर्तन के समस्त दृश्य स्वाभाविक एवं नाटकीय हैं। विजयगामी पृथुसेन अपनी प्रियतमा दिव्या को विस्मृत कर देते है। यही से उपन्यास में कथा की मार्मिकता बढ जाती है। पृथुसेन की नई प्रियतमा और भावी पत्नी सीरो उसके द्वारा उठाए दिव्या संबंधी कोमल भावों को अभिनयात्मक विधि द्वारा परिवर्तित करती है। उसमें दृढ़ता है। वह निश्चयात्मक रूप से कहती है—"आर्यो में स्त्री केवल भोग्या और दासी है। वह अपने प्रियतम के हृदय की एकछत्र रानी अन्तःपुर की एकमात्र स्वामिनी बनेगी।"[५] किन्तु अन्त में वह मात्र भोग्या बनकर रह जाती है। यह सब नाटकीय विधि द्वारा प्रदर्शित होता है। घटनाचक्र दिव्या को घर छोड़ने पर विवश करता है। वह पग-पग पर परिस्थितियों द्वारा प्रताड़ित होकर यह कहने पर विवश होती है—"धीर रुद्रधीर, कोमल पृथुसेन, अभद्र मारिश और माताल वृक नारी के लिए सब समान है। जो भोग्या बनने के लिए उत्पन्न हुई है, उसके लिए अन्यत्र शरण कहां? उसे सब भोगेगे ही।"[६] कथा में दिव्या का भोग्या रूप प्रतुल द्वारा बेचे जाने के पश्चात् भूधर और चक्रधर के घर दासी रूप में अपनी अन्तिम दुर्दन्य अवस्था को प्राप्त होता है। उसे अपनी ही संतान को पूरा दूध पिलाने का अधिकार नहीं। ये दृश्य घटनाएं कम और भाव प्रदर्शन अधिक संयोजित करते हैं। नारी की असहाय अवस्था का प्रदर्शक यह नाटकीय उपन्यास पाठक के हृदय मे एक हलचल पैदा करता है। इसी-लिए एक अलोचक इसके संबंध में लिखते हैं—"एक विशेष दृष्टिकोण से लिखा जाकर भी यह उपन्यास बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा है। कहानी में कृत्रिमता नहीं आने पाई है। प्रवाह सहज है, संवाद पात्रानुकूल हैं, वातावरण, वेश-विन्यास, राजनीति, सभी के अंकन में सतर्कता है। आरम्भ और अन्त दोनों में ही हृदय पर प्रभाव डालने की शक्ति है। आरम्भ में दिव्या का मराली नृत्य और अन्त में जीवन के अनुभवों से त्रस्त दिव्या का

---

४. दिव्या—पृष्ठ १०-११
५. वही—पृष्ठ १२६
६. वही—पृष्ठ १४४

जहाँ कलाकार मानिक की ओर बढ़ता जाता है वहीं नाटकीयता है।"[7]

'दिव्या' के पात्रों में पर्याप्त नाटकीयता है। ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाला आचार्य रुद्रधीर अनेक स्थलों पर अपने तेज का परिचय देता है। उन्मुक्त प्रकृति वाला पृथुसेन समाज की घृणा, विद्वेष और वितृष्णा का पात्र बनता है। मारिश केवल अनीश्वरवादी ही नहीं है, लेखक के भौतिकवादी जीवन दर्शन का व्याख्याता भी है। भाग्य उसकी दृष्टि में मनुष्य की विवशता का दूसरा नाम है। कर्मवाद का खण्डन वह साम्यवादी शक्ति के साथ करता है। कला को उपकरण और नारी को सृष्टि का साधन-मात्र कहकर उसने यह दिखा दिया है कि यशपाल चरित्र को मानव प्रतिपादन के अन्तर्गत विशेष वाद के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। और वह वाद भोगवाद है। इसके संबंध में एक आलोचक लिखते हैं—"जिस भोगवाद का समर्थन मारिश करता है उस काल में उसकी गत तक नहीं थी। जितने भी तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्त थे सभी मोक्ष को प्रधान स्थान देते थे। जीवन की स्थिरता की ओर लोगों का कुछ भी आकर्षण नहीं था, चाहे वह बुद्धि का निर्वाण हो, चाहे वर्णाश्रम का मार्ग। हाँ 'चार्वाक' ने उसके पूर्व भोगवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जो उससे कुछ भिन्न न था। उपन्यासकार का तो दावा है कि मारिश 'चार्वाक' ही है।"[8] मारिश को 'चार्वाक' का रूपान्तर बनाना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भले ही असंगत हो, नाटकीय विधा पर वह पूरा उतरता है। किसी पात्र द्वारा दूसरे पात्र का सफल चरित्रांकन अभिनय विधि के उपन्यासों में ही संभव हुआ है।

दिव्या, सीरा, अमृता आदि नारी पात्रों का व्यक्तित्व भी निखरा हुआ है। दिव्या की उपस्थिति मात्र उपन्यास को नाटकीय बना रही है। उपन्यासकार ने उसे प्रत्येक परिस्थिति में नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया है। उसका चरित्रगत परिवर्तन परिस्थितिगत विषमता का परिणाम है। उसका परिवार, उसके संबंधी, उसके परिवेश में आने वाले समाज का प्रत्येक प्राणी उसके साथ जो व्यवहार करते हैं, वह पूर्ण अभिनयात्मक है। परिस्थितियाँ पट की भाँति परिवर्तित होकर दिव्या को पहले दासी दारा बनाती हैं और फिर अंशुमाली। रत्नप्रभा के मंच से निकलने के बाद जब दिव्या पुनः सागल आकर मल्लिका द्वारा उसकी उत्तराधिकारिणी घोषित होती है, तब उसके प्रेम द्वार का सबसे ढीठ और आग्रही भिखारी रुद्रधीर ही उसे अधिक अपमानित करता है। इस प्रसंग में कितनी मार्मिकता और नाटकीयता भरी है। अन्त में भी उसका प्रताड़ित, उत्पीड़ित, चिन्तित रूप पाठकों को अत्यन्त रूप में द्रवित और प्रभावित करता है। दिव्या के व्यक्तित्व के संबंध में एक आलोचक यह मन्तव्य पठनीय है—"नारी पात्रों में दिव्या जो करुणा की प्रतिमा है, उपन्यास का केन्द्रबिन्दु है। उसकी कला प्रियता, उदारता, दृढ़ता, सहनशीलता, कोमलता, गम्भीरता आदि उसके व्यक्तित्व को दिव्य बनाने में योग देती है।"[9] दिव्या के अतिरिक्त सीरा के द्वारा भी उपन्यास में नाटकीयता आती है। उसमें जीवन की मस्ती

---

७ डॉ० [illegible] : औपन्यासिक हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३३६-३३७

८ डॉ० [illegible] : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—पृष्ठ २०१

९ डॉ० [illegible] : हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३८४

है उल्लास है और उच्छृंखलता है।

'दिव्या' में उपन्यासकार ने एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। अतीत केवल मुग्धकारी और अलौकिक नहीं था। तत्कालीन समाज का व्यक्ति भी आज के व्यक्ति की भांति प्रेम, करुणा, भय, ईर्ष्या, क्रोध, प्रपंच आदि मनोभावनाओं से ग्रस्त था। उपन्यास में प्रस्तुत वर्णन, संवाद, स्थितियां इस प्रकार से संयोजित हुई है कि मानव के ये मनोविकार नाटकीय प्रभाव के साथ फूट पड़े है। धार्मिक आडम्बर, वर्णभेद, दास प्रथा आदि समस्याओं का विस्तृत वर्णन नहीं, सूक्ष्म एवं मार्मिक दिग्दर्शन कराया गया है। दार्शनिकता से बोझिल प्रसंगों को भी यौन संबंधी आचरणों के साथ मिश्रित करके प्रभावात्मक एवं नाटकीय बना दिया गया है। उपन्यास की नाटकीयता के विषय में एक आलोचक लिखते है—"जान पड़ता है 'दिव्या' प्रसादजी की नाटकीय परम्परा की एक कड़ी है। 'दिव्या' के द्वारा यशपाल जी ने सिद्ध कर दिया कि वर्तमान जीवन की उथल-पुथल में भी वह अपने अतीत का सर्वथा विस्मरण नहीं करना चाहते।"[१०] प्रसाद के उपन्यासों में नाटकीयता के संबंध में इस मत में प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को विश्वास नहीं है, किन्तु 'दिव्या' को वह पूर्णरूपेण नाटकीय शिल्प-विधि की रचना मानता है। इस रचना मे उपन्यासकार ने ऐतिहासिक तथ्यों, यथार्थ अथवा कल्पना प्रधान स्थितियों तथा सामाजिक मान्यताओं को नाटकीयता प्रदान की है।

झांसी की रानी लक्ष्मीबाई—१९४६

नाटकीय शिल्प-विधि की रचना में संघर्ष दो प्रकार से अभिव्यक्त होता है। यदि उपन्यास सामाजिक, ऐतिहासिक या आंचलिक प्रवृत्ति को लेकर चलता है तो पात्रों के बहिर्जगत में संघर्ष प्रस्तुत होता है और यदि उपन्यास मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक प्रवृत्ति का उद्घाटक होता है तो एक या दो पात्रों के अन्तर्जगत का द्वन्द्व अभिव्यक्ति पाता है। 'चित्रलेखा' में इसी प्रकार के द्वन्द्व का अन्वेषण किया जा चुका है । अब 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' आदि उपन्यासों मे चित्रित संघर्ष और उसकी प्रभावान्विति का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' का अध्ययन मैंने अनेक बार एक ले-मैन की तरह किया पर थीसिस की मूल प्रति मे इसे सम्मिलित न कर सका। मेरे दोनों परीक्षकों डॉ० केसरी नारायण शुक्ल तथा (स्वर्गीय) आचार्य बाजपेयीजी को यह बात अखरी और उन्होने साक्षात्कार के समय यह बात कही कि यह तो डॉ० वर्मा की एक क्लासिक रचना है- इसके अध्ययन और अन्वेषण के बिना थीसिस उखड़ा-उखड़ा रह जाएगा। मैंने साभार इस सम्मति को स्वीकार किया और इसके अध्यमन में जुट गया। उपन्यास पढ़ते ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यह ऐतिहासिक रस प्रधान नाटकीय शिल्प-विधि की कृति है।

डॉ० वर्मा ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम देखा, सुना और आत्मसात किया है।

१०. गंगाप्रसाद पांडेय : हिन्दी कथा साहित्य—पृष्ठ २०५

अपने स्वर्णिम इतिहास से उन्होंने स्फूर्ति ग्रहण कर पद दलित भारतीय समाज में नई चेतना जगाने के निमित्त 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' लिखा है। इतिहास के विषय में डा० वर्मा की मान्यता प्रसिद्ध नाटककार और कथा शिल्पी श्री जयशंकरप्रसाद से मेल खाती है। प्रसाद 'विशाख' की भूमिका में लिख गए कि "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक है।" डॉ० वर्मा 'कचनार' की भूमिका में लिख गए कि "आजकल के भारतीय राजनैतिक विकास में गोंड कोई विशेष भाग लेते हुए नहीं जान पड़ते, यद्यपि मध्यभारत में उनके कई राज्य हैं। परन्तु एक समय वे अपने सहज, सरल, स्वाभाविक और प्रमोदमय जीवन द्वारा भारतीय संस्कृति को अपने दृढ़ और पुष्ट हाथों की अंजलियाँ भेंट किया करते थे। वे क्या फिर ऐसा नहीं कर सकते? मुझको तो आशा है। और इस आशा के आधार पर ही उन्होंने पहले 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई'—१९४६ और आगे चलकर 'मृगनयनी'—१९५० की रचना की।

डॉ० वर्मा प्रेमचन्द के पश्चात् सबसे विशाल जीवन फलक लेकर लिखनेवाले उपन्यासकार हैं। अपने 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' में उन्होंने विस्तृत जीवन फलक के आधार पर वर्णनात्मक शिल्प विधि को अपनाया। ठीक उसी प्रकार जैसे प्रसाद ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त' में काश्मीर से मगध और मालव तक के जन-जीवन को प्रतिध्वनित किया। परन्तु 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'मृगनयनी' में वर्माजी का क्षेत्र कुछ संकलित सा होकर झाँसी और ग्वालियर तक सीमित हो गया है।

डा० वर्मा के उपन्यास ऐतिहासिक अनुसंधान एवं किंवदंतियों के परिणाम हैं। झाँसी की रानी की गौरव कथा उन्होंने अपनी परदादी से सुनी। पुस्तक के परिचय का आरम्भ करते हुए उन्होंने स्वीकारोक्ति के रूप में लिखा—"दीवान आनन्दराय मेरे परदादा थे रानी लक्ष्मीबाई की ओर से लड़ते-लड़ते सन् १८५८ में मऊ की लड़ाई में मारे गए थे। जब मैं ८-९ वर्ष का था, तब मेरी परदादी का देहान्त हुआ। परदादी से रानी के विषय में बहुत-सी कहानियाँ सुना करता था। उन्होंने रानी को देखा था।"[1] डॉ० वर्मा ने इन सुनी कथाओं को अपने कथा साहित्य द्वारा वाणी दी। ठीक वैसे ही, जैसे स्काट कहते हैं—"मुझे एक पुराना गढ़ अथवा युद्ध क्षेत्र दिखला दो, तो मेरे आनन्द का ठिकाना नहीं।"[2] डॉ० वर्मा पुराने खण्डहरों, किलों, मठों, समाधियों, महलों को देख सुनकर भाव विभोर हो उठते हैं और पाठक को एक वर्णनात्मक अथवा नाटकीय शिल्प-विधि का उपन्यास मिल जाता है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' भारतीय स्वतन्त्रताहित अंग्रेजों से लड़ी गई एक नाटकीय कथा है इसे हम परिस्थितिजनित स्वार्थहित लड़ी गई जनरल रोज प्रदत्त थोपी हुई लड़ाई की संज्ञा कदापि नहीं दे सकते। वर्माजी की कल्पना ऐतिहासिक तथ्यों को छोड़ कर इधर उधर नहीं भटकने पाती, तभी तो आप में बंकिम बाबू या हरिनारायण आप्टे

१ 'परिचय' झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—पृष्ठ ३

2 Show me an old Castle and a field of battle, and I am at home at once

की नव उद्भावनाओं के स्थान पर ऐतिहासिक तथ्यों की प्रमाणिकता पुष्ट प्रसंगों का ही आधिक्य है। इस रचना में पात्रों के चित्रण को अनुसंधत्सु इतिहासकार के प्रामाणिक साक्ष्यों की नींव मिली है। तभी तो यह रचना उपन्यास से अधिक जीवनी और जीवनी से अधिक इतिहास लगती है। मगर पाठक को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि यह रचना है एक उपन्यास ही और इसमे औपन्यासिकता लाने का श्रेय पात्रों और वस्तु में नाटकीय संतुलन को दिया जाएगा। लगभग सभी पात्र और समस्त घटनाएं इतिहास सम्मत हैं। परिचय में आपने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि १९३२ से अपने अथक अनु-संधान के बल पर एक उपन्यास रचना ही उन्हें इष्ट रहा है, इतिहास की सर्जना करना नहीं। एक ऐसा उपन्यास रचना चाहा जो इतिहास के कंकाल में मास और रक्त का संचार कर सके। इस रक्त-मांस वाले प्रसंग में कहीं-कहीं कल्पना आई तो भले आई जैसे लक्ष्मी बाई की सहेलियों के रूप में सुन्दर, मुन्दर और जूही मे से हम एक या दो या फिर तीनों को काल्पनिक पात्र मान लें तो मान लें, परन्तु ये तीनों पात्र भी उपन्यास में नाटकीयता लाने का दायित्व निभाते हैं और रानी की संगठन एवं जासूसी शक्ति का परिचय देते हैं।

'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' में कौतूहलवर्धक और नाटकीय प्रसंगों की अवतारना हुई है। 'प्रस्तावना' में महाराजा गंगाधरराव के अभिय प्रेम तथा मोतीबाई आदि पात्रो का परिचय तथा खुदाबख्श-मोती प्रेम प्रसंग पाठकीय आकर्षण एवं नाटकीयता के परि-चायक है। खुदाबख्श का दरबार से अलग कर दिया जाना और झांसी से निकाल दिए जाने पर भी छुपे-छुपे झांसी में ही रहना और मोती से प्रेम डोर बढ़ाना पाठक के मन में जिज्ञासा और गुदगुदी मचानेवाले प्रसंग है। उपन्यास का सही आरम्भ 'उदय' शीर्षक अध्याय से मानें तो बेहतर होगा। 'उदय' वाले भाग में लक्ष्मीबाई की किशोरावस्था, जीवनवृत्त, राजा गंगाधर से विवाह, पुत्रोत्पत्ति, पुत्र-मरण, दत्तक पुत्र के गोद लिए जाने की गाथा है। इस उपन्यास की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी अधिकारिक और प्रासंगिक कथा की होड़ का प्रसंग नहीं आता। समस्त कथा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को केन्द्रस्थ रखकर घूमती है। अत: कथा सूत्र मे केन्द्रीयता आ जाने के कारण अधिक नाटकीयता के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया है। 'लक्ष्मीबाई' की कथा का चरम बिन्दु 'उदय' भाग के अन्तर्गत राजा गंगाधर के मरणोपरान्त रानी के दृढ़ संकल्प मे निहित है। 'मध्याह्न' भाग में लक्ष्मीबाई तथा झांसी की जनता का अंग्रेजों के प्रति व्यापक रोष, तथा सन् सत्तावन की चिर स्मरणीय क्रांति की भूमिका तैयार निमित्त विविध योजनाएं तैयार करना महत्त्वपूर्ण है। खुदाबख्श को क्षमा देकर अपनी ओर मिला लेना, पीरअली और बहराम पठान, मोती तथा जूही एवं झलकोरी सपेरिन से संबंधित घटनाएं नाटकीय चमत्कार का वातावरण उत्पन्न करती है। झांसी जीतकर एक बार पुन: उसपर राष्ट्रीय ध्वजा फहराना तथा सुशासन स्थापित कर स्वाभिमान की चेतना जागृत करना और समूचे राष्ट्र को स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरणा देना लक्ष्मीबाई तथा तात्या टोपे की विविध योजनाओं के नाना पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाले दृश्य हैं। और 'अस्त' में नाटकीयता अपने उच्चतम सोपान पर है। रानी के जीवन का अव-

सति एक वीरांगना नारी का बलिदान है जो पाठक के मन में करुणा से अधिक सन्तोष और गौरव के भाव भर देता है।

लक्ष्मीबाई के जीवन का संघर्ष उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। उसकी कर्तव्यनिष्ठा, संगठन शक्ति, राज्य संचालन विधि, विपरीत परिस्थितियों में बुद्धि सन्तुलन, दृढ़ संकल्प, अनवरत गोरों से संघर्ष, संकट में वीरता और संघर्ष और अनन्त कर्मण्यता इसे भारतीय इतिहास और उपन्यास साहित्य का एक अमर पात्र बनाने वाले गुण हैं। स्वाधीनता के विषय में उसकी लगन, निष्ठा, और वाक्य पठनीय हैं। उपन्यास में अपनी सहेलियों से वह कहती है —'यदि हिन्दुस्तान में कोई भी उस (स्वराज्य-प्राप्ति के) पवित्र काम को अपने हाथ में न ले, तो भी मैंने अपने कृष्ण के सामने, अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है। करूँगी और फिर करूँगी। चाहे मेरे पास खड़े होने के लिए हाथ भर भूमि ही क्यों न रह जाय। मान लो मैं सफल न हो पाई, तो भी जिस स्वराज्य धारा को आगे बढ़ा जाऊँगी, वह अक्षय रहेगी।'[3] वस्तुतः हमने आज जो स्वतन्त्रता प्राप्त की है उसमें राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह और छत्रपति शिवाजी के साथ-साथ रानी लक्ष्मीबाई के वचनों और कर्मों का भी पूर्ण योगदान है। उसका चरित्र एक नाटकीय परिवर्तन का उदाहरण है। विवाह से पूर्व की सामन्ती प्रवृत्ति की नायिका पति मरण पश्चात् जन आन्दोलन की प्रतीक बनकर एक चारित्रिक परिवर्तन का उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस ओर संकेत करते हुए डा० वर्मा लिखते हैं—"झाँसी का राज्य उसके लिए सुरपुर न था—किन्तु जिस सुरपुर का ध्यान की उसके मन में लालसा थी, झाँसी उसकी सीढ़ी मात्र थी। पति के देहान्त के बाद रानी की दिनचर्या इस प्रकार हो गई—वह नित्य प्रातःकाल चार बजे स्नान करके आठ बजे तक महादेव का पूजन करतीं फिर ग्यारह बजे तक महल के समीपवर्ती खुले आँगन में घोड़े की सवारी, तीरंदाजी, तेगा चलाना, दौड़ते हुए घोड़े पर चढ़े चढ़े, दाँतों से लगाम पकड़कर दोनों हाथों से तलवार भाँजना, बन्दूक से निशाना लगाना, मलखम्भ, कुश्ती इत्यादि। ग्यारह बजे के उपरान्त रानी फिर स्नान करती हैं और भूखों को खिलाकर तथा कुछ दान धर्म करके तब भोजन करतीं। भोजन के उपरान्त थोड़ा-सा विश्राम। फिर तीन बजे तक ग्यारह सौ राम नाम लिखकर आटे की गोलियाँ मछलियों को खिलाती तीन बजे के उपरान्त फिर व्यायाम। सन्ध्या के उपरान्त आठ बजे तक कथा वार्ता, पुराण, भगवद्गीता का अठारहवाँ अध्याय इसके बाद आगन्तुकों को भेंट के लिए बुला लिया जाता वे समय की बहुत पाबन्द थीं।"[4] भगवान कृष्ण के उपदेश कर्म करने के अधिकार की वे कायल थीं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका दत्तक रीति का अस्वीकृत हो जाने पर उनका शान्त रहना है। पर यह शान्ति क्षणिक है। मन में स्वाधीनता आन्दोलन का चाहे मन अशान्ति है। वे स्वराज्य के आदर्श को जन मन में फूँकने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। दो अगस्त १८५४ को झाँसी अंग्रेजी राज्य में मिला और उनकी कार्य पद्धति में द्रुतगति से तेज का संचार हुआ। वह स्वाधीनता संग्राम

---

३ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—पृष्ठ १७३
४ वही—पृष्ठ १३६

की संचालिका बनी। इस पुनीत कार्य में उसे तात्या, नाना और जनता का अपार सहयोग मिला और जून १८५७ में पुनः लक्ष्मीबाई का झांसी पर अधिकार हो गया। इस युद्ध में भी रानी ने आदर्शवादी नारी विषयक कोमलता का परिचय ही अधिक दिया। उसने अपने शत्रु गार्डन का यह संवाद पाकर कि उनकी स्त्रियां भूखे मर जाएगी, अपनी सहेलियों सुन्दर-मुन्दर के हाथों दो मन रोटियां किले में भिजवा दी। उसका यह कार्य राजनैतिक दृष्टि से अदूरदर्शिता का परिचय भले ही दे, पर यह उसके मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचायक भी है। यहां नाटकीयता के उद्‌भव के साथ-साथ मानवीय तत्त्व उभर आया है। रानी में उत्कट जीवनानुभूति का उत्स है। उसका चरित्र जीवन्त, गतिशील और परम नाटकीय बन जाता है। प्रारम्भ की मनू ने लक्ष्मीबाई बनने पर भी अपनी तेजस्विता को स्थायी रूप में बनाए रखा। इस पात्र में कहीं भी अन्तर्द्वन्द्व नहीं है। जीवन के बहिर्संघर्ष ने इसमें असाधारणता तथा तीव्रता का संचार किया है। इसकी इच्छा और क्रिया में कहीं अन्तर्विरोध नहीं, गतिरोध नहीं। वह अपनी जनता के लिए अत्यधिक सार्थक और मूल्यवान हो उठती है। यहां तक कि उसकी मृत्यु भी अधिक मूल्यवान सिद्ध होती है। इस संबंध में उसके सेनानी गुलमुहम्मद मन में कहता है—"ओ! कभी नहीं। वो मरा नहीं। वो कवी नई मरेगा। वो मुर्दों को जान बख्शाता रहेगा।"[५]

'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' में डॉ० वर्मा के टिप्पण प्रेम और विवाह; दुःख-सुख; नारी और पुरुष आदि सामाजिक एवं वैयक्तिक विषयों का विवेचन प्रस्तुत करने के निमित्त प्रस्तुत नहीं हुए। उन्होंने इस रचना में भारतीय राजनीति एवं अंग्रेजों की शोषण रीति तथा भारतीय जनता की दासता विरुद्ध विचारणा को नाटकीय शिल्प-विधि से मुखरित किया है जिसमें लक्ष्मीबाई के व्यक्तित्व की छाप ही यत्र-तत्र उभर आई है। रण-नीति का स्पष्टीकरण करती हुई रानी लक्ष्मीबाई कहती है..."हमारी लड़ाई अंग्रेज पुरुषों से है। उनके बाल-बच्चों से नहीं। यदि मैंने सिपाहियों का नियंत्रण न कर पाया तो उनका नेतृत्व क्या करूंगी? कह दो गार्डन से कि स्त्रियों और बच्चों को तुरन्त महल भेज दे।"[६]

'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' में डॉ० वर्मा स्वयं बहुत कम बोले हैं। वे पात्रों को सामाजिक, राजनैतिक विचारों और विश्वासों पर टिप्पणी करने का अधिकार देते हुए इस रचना में अधिक नाटकीयता ले आते हैं—यथा जन शक्ति और जन संगठना सत्ता के संबंध में वे रानी लक्ष्मीबाई से कहलवाते हैं—"जनता असली शक्ति है। मुझको विश्वास है कि वह अक्षय है। छत्रपति ने जनता के भरोसे ही इतने बड़े दिल्ली सम्राट को ललकारा था। राजाओं के भरोसे नहीं। मावले, कुणभी किसान थे और अब भी हैं। उनके हलों की मूठ में स्वराज्य और स्वतन्त्रता की लालसा बंधी रहती है। यहां की जनता को भी मैं ऐसा ही समझती हूं।"[७] रानी मात्र यह कहकर मौन नहीं हो जाती। वह नाना तथा

---

५. झांसी की रानी-लक्ष्मीबाई—पृष्ठ ५०७
६. वही—पृष्ठ २३५
७. वही—पृष्ठ १५०

तात्या को निर्देश देती है कि दल के कोने-कोने में जाकर जन चेतना जागृत करें। वह शान्ति प्रेमिन होकर भारतीय के लोगों में नई आस्था जगाती है। वह हर क्षण आक्रमणात्मक कार्यवाही नहीं चाहती युद्ध और नीति में समन्वय चाहती है जिसके अभाव में सन् १८५७ की क्रान्ति विफल हुई।

'झांसी की रानी लक्ष्मी बाई' में मात्र राजनीति और रणनीति संबंधित विचार ही प्रस्तुत नहीं किए गए वरन हिन्दू मुस्लिम एकता, नारी समस्या और पवासना जैसे सामाजिक और आर्थिक विषयों पर भी विचार किया गया है। राजा गंगाधरराव की राज सभा तथा नाट्यशाला में मुसलमान वीरों तथा अभिनेताओं को हिन्दू कलाकारों के समान आदर मिला है। राहतगढ़ में आए पांच सौ पठान रानी पर सर्वस्व न्यौछावर करने को कटिबद्ध हैं। गुलाम गौस, खुदाबख्श और गुलमुहम्मद की गाथा इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में लिखी गई है। अमीरखां और वजीरखां नामी उस्ताद रानी के कसरती अखाड़े के सिरमौर बने। झांसी की रक्षा के लिए अमीरअली व पीरअली को छोड़कर शेष सभी मुसलमानों का त्याग प्रशंसनीय है। बरहामुद्दीन के बलिदान पर तो एक नया उपन्यास ही लिखा जा सकता है। मरणासन्न अवस्था में भी भारत का जयनाद और अल्लाह पर अडिग आस्था उसके देश प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। रानी द्वारा उसे सैनिक सम्मान के साथ दफनाए जाने की आज्ञा उनके हिन्दू मुसलमान स्नेह की द्योतक बात है।

'झांसी की रानी' व 'मोतीबाई' में नारी एक समस्या के रूप में न आकर समस्या समाधान रूप में चित्रित हुई है। उपन्यास की कोई भी नारी पात्र अपनी व्यक्तिगत समस्या को राष्ट्रीय समस्या के सामने उभरने नहीं देती—जैसे मोतीबाई खुदाबख्श से प्रेम अवश्य करती है परन्तु राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम की एक कुशल योद्धा बनते ही वह खुदाबख्श को सन्मार्ग पर ले आती है और युद्ध नीति का उसे भी एक योद्धा बना देती है। अंग्रेजी आक्रमण के समय वह जिस वीरता के साथ लड़ा वह इन शब्दों में चित्रित है—"चमकते हुए गोलों की चादर के नीचे गोरी पलटन संगीनें बन्दूकें लिए दीमक की तरह चली। खुदाबख्श और दूल्हाजू ने उसको बढ़ने दिया।। जब मार के काफी भीतर आ गए तब उन्होंने कहर को मानो उड़ेल दिया। गोरी पलटन धरती में बिछ गई और फिर खुदाबख्श ने टक के तारावान को अपना लक्ष्य बनाया।"[8]

एक नर्तकी मोतीबाई से प्रेरणा पाकर खुदाबख्श ने स्वतन्त्रता संग्राम में बलिदान दिया। प्रस्तुत उपन्यास की प्रत्येक नारी पात्र स्वतन्त्रता संग्राम की प्रहरी बन सामने आई है। वह ललित कलाओं की पोषक भी है और युद्धकालीन स्थिति में देश रक्षिका भी। रानी स्वयं तो वीरांगना है ही, उसकी सहेलियां सुन्दर-मुन्दर, जूही और मोतीबाई भी अपने गौरवपूर्ण कार्यों से हमें प्रभावित करती हैं। रानी स्वयं स्त्री स्वतन्त्रता की संरक्षिका हैं। उन्हें जब तात्या से यह ज्ञात होता है कि पंजाब में स्त्रियों को पूर्ण स्वाधीनता है तब बड़ी प्रसन्नता होती है किन्तु जब यह पता चलता है कि मुसलमान स्त्रियों में स्वतन्त्रता का अभाव है तो उन्हें दुःख होता है और वे ऐसा प्रयत्न करती हैं कि उनमें भी

---

८ झांसी की रानी लक्ष्मीबाई—पृष्ठ ४१४

स्वाधीनता के प्रति विचारणा जगे। लक्ष्मीवाई तो कोई अवसर जाने ही नहीं देती जिसमें वह स्त्री जाति में स्वगौरव और नवचेतना के कण न फूके। वह हर अवसर पर स्त्रियों को एकत्रित कर उनसे एक ही भीख मांगती है कि अपने को पुष्ट करो। राष्ट्र को स्वाधीन वनाने में योग दो। वह शिकार को जाती तो सहेलियों सहित अश्वारोहण करती और उन्हें कहती कि उन्हें अपने शरीर को फौलाद वनाना है। पुष्ट शरीर में ही महान आत्मा का वास होगा। उसकी सव विश्वसनीय सहेलियां पुष्ट भी है और कुशल जासूस भी। नाना, राव और वहादुरशाह दांतों तले अंगुली दवा लेते है, जव उन्हे यह पता चलता है कि रानी की सेना में अधिकतर स्त्रिया है।

'झांसी की रानी लक्ष्मीवाई' की नारी स्वतन्त्रचेता नारी है। वह आत्मरत, भीरू और आत्मविश्लेपक नारी नहीं है, समाज सेविका है। राष्ट्र गायिका है, उन्नायिका है। दृढ़ संकल्प करते ही रानी लक्ष्मीवाई कह उठती है—"यदि अकेले ही स्वराज्य की लड़ाई लड़नी पड़े तो लड़ी जाएगी।" आगे चलकर वर्माजी इस नारी पात्र को नारी स्वाभिमान का प्रतीक वनाते हुए लिख गए—"वे अपने युग के उपकरण और साधन काम में लाती थी। जिस समाज में उनका जन्म हुआ था, उसीमें होकर उनको काम करना था, परन्तु उस समाज की हथकड़ियों और वेड़ियों की उन्होंने पूजा नहीं की। वे अपने युग से आगे निकल गई थीं, किन्तु उन्होंने अपने युग और समाज को साथ ले चलने का भरसक प्रयत्न किया। झांसी में विशेपतः और विन्ध्याखण्ड में साधारणतया, स्त्री की अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता और नारी की स्वस्थता लक्ष्मीवाई के नाम के साथ वहुत सम्वद्ध है।"[९] इस उपन्यास के नारी पात्रों का प्रेरक तत्त्व प्रेम नहीं, राष्ट्र प्रेम है। विवाहोपरान्त लक्ष्मीवाई सांसारिक विलासिता के मोह में जीवन की इतिश्री नही करती, राष्ट्र प्रेम की प्रतीक वनकर स्वतन्त्रता संग्राम की कुशल सचालिका वन गीता श्लोकों का पाठ करते हुए अंग्रेजों का विनाश करती हुई वीर गति पाती है। इसी से प्रेरणा पाकर रघुनाथ-मुन्दर, तात्या-जूही, खुदावख्श-मोतीवाई, गौसखां-मुन्दर के प्रेम भाव राष्ट्र प्रेम में परिणति पाते हैं। इन पात्रों में भावना पर वुद्धि और विचारणा का अंकुश है।

जिस प्रकार प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास मे ग्राम चित्रण के क्षेत्र में अपना सानी नहीं रखते, वैसे ही डॉ० वर्मा युद्ध और शिकार के कुशल चित्रक है। 'झासी की रानी लक्ष्मीवाई' में कुल मिलाकर वारह से अधिक छोटी-वड़ी लड़ाइयों का चित्रण हुआ है। छः मई को मेरठ में हुए विस्फोट और अम्वाला, लखनऊ, कानपुर आदि युद्धों का तो संकेत भर दिया गया है किन्तु झांसी के किले में हुए दो भीषण युद्धों का विवरण ऐतिहासिक प्रसंगों की टिप्पणियों तथा सुन्दर, मुन्दर और जूही के नाटकीय हाथो के साथ चित्रित हुआ है। इसी के अन्तर्गत नवाव अलीवहादुर व पीरअली की जासूसी तथा खुदावख्श के अमर वलिदान का दृश्य-विधान भी प्रस्तुत किया गया है। रानी द्वारा मानवीय दृष्टिकोण अपनाकर अंग्रेजो को रसद सप्लाई कर हृष्ट-पुष्ट वनाकर युद्ध से ललकारना भारतीय संस्कृति के अनुरूप है, किन्तु इसी भूल के कारण वह दूसरी वार झांसी का किला हारती है, क्योंकि

---

९. झांसी की रानी लक्ष्मीवाई—पृष्ठ ३३१

शक्ति पहले ही किले के गुप्त मार्ग का ज्ञान जाता है और आगरा चला जाता है। गाइन का उनके फाटक से तोक-ताककर निशाना लगाना, ब्रौल का भयभीत हो जाना, गुलाम गौसखाँ का तोपों को व्यवस्थित कर युद्ध के लिए तैयार करना, ऐसे दृश्य हैं जो ऐसा लगता है युद्ध से लौटकर आए सेनापति की कलम से लिखे गए हैं। रानी का गौस मया लन (गुलाम गौस और उसके तोपचियों को समझाना—दो बाढ़ें जल्दी-जल्दी दाग दो और चुप हो जाओ, बैरी समझेगा कि तोपें बन्द कर दीं, बढ़ेगा, बढ़ते ही दीवार की छेदों में से बन्दूकों की बाढ़ दागी जाए) अभूतपूर्व है। वह सुन्दर, मुन्दर, काशीबाई आदि को आवश्यक हिदायत देती है। दूल्हाजू व पीरअली के विश्वासघात पर भी विचलित न होती, वीरतापूर्वक लड़ती और मरती है। इस संग्राम में बुन्देले और मुसलमान कन्धे से कन्धा लगाकर लड़ते हैं और गोरों का सामना करते हैं। रानी की संगठन शक्ति और युद्ध-नीति वस्तुतः नाटकीय प्रभावान्विति का सृजन करती है। अंग्रेजों की जीत इतनी प्रभावशाली नहीं जितनी रानी की हार। जब उपन्यास के अन्त में घोड़ा आगे बढ़ने से इन्कार कर देता है और रानी की जंघा में गोली लगती है, फिर भी वह तलवार चलाए जाती है तब पाठक का हृदय धक-धक करने लगता है परन्तु जब गुलमुहम्मद आकर अंग्रेजों का सफाया करता है, तब उसके पीड़ित मन में शान्ति और आनन्द का सर्जन होता है।

वस्तुतः रानी का नाटकीय वृत्तान्त पढ़ पाठक अपने मन और मस्तिष्क में एक उत्तेजना की अनुभूति करता है। देश की स्वाधीनता के लिए किए गए संग्राम के नाटकीय दृश्यों से परिपूर्ण यह उपन्यास लक्ष्मीबाई के साथ-साथ सुन्दर, मुन्दर, जूही, तात्या, खुदाबख्श के चरित्र की एक अमिट छाप भी पाठक के मानस पर छोड़ जाता है। तात्या एक कुशल नट की भाँति उपन्यास मंच पर भ्रमण करता है और जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, ग्वालियर, काश्मीर, पंजाब, बंगाल, इत्यादि नगरों और राज्यों के समाचार रानी तक पहुँचाता है। उसकी योजना और वाक्पटुता पर मुग्ध होकर रानी कहती है—"तात्या तुम बहुत चतुर हो।" तात्या ने देश के जन मन की नब्ज पकड़ी है उसके मतानुसार जनता में स्वाधीनता की चाहना है, पर वह नेतृत्वविहीन असहाय है। रानी उसे नेतृत्व दे सकती है। झाँसी से बाहर गए झाँसी के निवासी के मन में भी रानी के प्रति अगाध श्रद्धा व आस्था है। छोटी-नारायण इसके प्रमाण हैं।

कलात्मकता, पाठकीय आकर्षण, शिल्प प्रौढ़ता इस उपन्यास की जानी-पहचानी बातें हैं। वस्तु, चरित्र, वातावरण और उद्देश्य में डॉ० वर्मा एक अद्भुत समन्वय एवं सन्तुलन प्रस्तुत कर इस रचना को 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी' तथा 'मुसाहिबजू' से कहीं ऊँचा उठा गए।

मृगनयनी—१९५०

नाटकीय शिल्प विधि की रचना में सबसे अधिक ध्यान प्रभावान्विति की ओर दिया जाता है। [illegible] से वृन्दावनलाल रचित 'मृगनयनी' नाटकीय शिल्प-विधि की रचना है। इस [illegible] की कथावस्तु और चरित्र-चित्रण में अद्भुत समन्वय है। पात्रों की गति विधि [illegible] पर यथेष्ट प्रभाव डालती हुई चारित्रिक विकास की ओर बढ़ती

है। प्रथम बार जो लाखी हमारे सामने आती है, वह अपने दृढ़ निश्चय में सन्नद्ध है। हम उसके निर्भीक क्रियावेग से अभिभूत होते हैं। राई की रक्षा में उसने प्राण तक विर्सजित किए हैं किन्तु मरने से पूर्व शत्रु दल के सम्मुख जिस पराक्रम का परिचय दिया है, उससे हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। उपन्यास के आरम्भ की निन्नी और अन्त की मृगनयनी में नाटकीय प्रभावान्विति है। एक ही तीर से अरने के मस्तक को चीर डालने वाली, अपने पराक्रम के आधार पर ग्रामबाला से राजरानी बननेवाली, महलों की संकुचित सीमाओं में सौत-डाह से घिरकर भी मानसिंह को कर्तव्य पथ पर आरूढ करनेवाली मृगनयनी हमारे चित पर पड़ी हुई प्रभाव-छापों को निरंतर अपने रग से गहरा करती चलती है। उपन्यास के अन्त में उसे सुमन-मोहिनी के पुत्रों के लिए राज्य-सिंहासन का अधिकार सौंपते देखते ही हम अपने धर्म के सम्पूर्ण प्रभाव-परिणामों से आविष्ट होकर पूर्णतया एक विशेष प्रकार की भावदशा का अनुभव करते हैं। इसे उपन्यास की प्रभावान्विति कह सकते हैं।

इस विधि के ऐतिहासिक उपन्यास में स्थिति और वातावरण का निर्माण तथा कथावस्तु और पात्रों का विकास संघर्ष पर आधारित रहता है। इसके लिए दो पक्ष अनिवार्य हो जाते हैं। एक पक्ष सत्य के लिए, न्याय के लिए तत्पर रहा, दूसरा मार्ग का अवरोध बनकर संघर्ष के लिए सामग्री जुटाता है। प्रस्तुत उपन्यास में दोनों पक्षों की सुन्दर योजना है। निन्नी, लाखी, अटल और मानसिंह सत्य पक्ष के रक्षक हैं। सिकन्दर, गयासुद्दीन आदि मुसलमान आक्रमणकर्ता सत्य, न्याय और प्रगति पथ के काटे हैं। उपन्यास की कुछ घटनाएं मुख्य कथा से संबंध नहीं रखती किन्तु नाटकीय प्रभाव रखती हैं। जिस प्रकार प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' में तिहरी कथा-वस्तु है, ऐसे ही 'मृगनयनी' में भी हुआ है। 'रंगभूमि' में जसवन्त नगर की कथा मुख्य कथा से दूरवर्ती होती गई, ऐसे ही 'मृगनयनी' में बर्घरा संबंधी कथा की दशा है किन्तु नवाब बर्घरा का निजी जीवन, उसका स्वभाव, उसकी स्थिति, उससे संबंधित वातावरण (खान-पान, रक्त-लिप्सा आदि) नाटकीय प्रभाव रखता है। तीनों कथानकों में घटनाएं निश्चित क्रम के साथ घटती हुई पात्रों के स्वाभाविक विकास में योग देती हैं। मृगनयनी-मानसिंह का विकास अटल व लाखी के शौर्य द्वारा हुआ है। गयासुद्दीन आख्यान की उन्नति नटवर्ग से पोटा-पिल्ली षड्यंत्रों पर निर्भर है।

एक ही उपन्यास में अनेक स्वतन्त्र कथाएं देवकीनन्दन खत्री परम्परा की देन रही है; प्रेमचन्द इस प्रभाव से मुक्त नहीं रहे, वर्मा पर भी इसका आंशिक प्रभाव पड़ा है। बैजू-कला, राजसिंह, बोधन शास्त्री, विजय आदि पात्रों से संबंधित कथाएं किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति कर रही है। बैजू युद्ध और आशंकाओं के वातावरण में भी संगीत कला की अभिवृद्धि में संलग्न है। कला ग्वालियर में रहकर चंदेरी के राजा राजसिंह की दूती का कार्य करती है। बोधन शास्त्री वर्णाश्रम प्रथा का प्रचार और हिन्दु-धर्म की दिव्यता का प्रसार करता फिरता है, इसी के लिए प्राण भी दे देता है। विजय आधुनिक समाजवादी सुधारक है।

वर्मा एक सूत्र के मिलते ही घटनाओं का जाल सा बिछा देते हैं। मटरू को कहीं से नटवर्ग की कार्य दक्षता का पता चल जाता है, यही समाचार वह बढ़ा-चढ़ाकर अपने

भाता गयासुद्दीन से कह देता है और उसका समर्थन पाकर नटवर्ग को षड्यन्त्र रचने की खुली छूट दे देता है। नट राई गांव में डेरा डाल देते हैं, नट कला का प्रदर्शन करके निन्नी और लाखी को फुसलाना चाहते हैं। यहीं से नित्य नवीन परिस्थितियां और घटनाएं निर्मित होने लगती हैं। गहना तथा आभूषणों के आकर्षण को विफल देख शक्ति को आजमाया जाता है। दो सवार निन्नी और लाखी द्वारा यमलोक की यात्रा करते हैं। राजा भी अधिक समय तक इन दोनों युवती घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रह पाता, बोधन शास्त्री को शीघ्र ही इलाके की सुध लेने का वचन देता है। दूसरे ही दिन शिकार के लिए राई के लिए प्रस्थान कर देता है। यहीं पाठक की कौतूहलवृत्ति बढ़ जाती है। मानसिंह शिकार प्रथम मिलन उसकी उत्सुकता को भड़का देता है।

'मृगनयनी' के वस्तु विधान की प्रमुख विशेषता वातावरण की सजीवता है, जो मानसिंह तोमर के द्वारा किए गए शिकार के दृश्य से प्रारम्भ होती है। शिकार का दृश्य सुन्दर कथा में इस प्रकार संयोजित किया गया है कि लगता है, सारा काण्ड हमारी आंखों के सामने औपन्यासिक पृष्ठ पट पर घटित हो रहा हो। वर्मा ने प्रेमचन्द की तरह शिकार का संकेत मात्र ही नहीं किया है अपितु शिकार के अन्तर्गत शिकारियों तथा शिकार की चेष्टाओं का अति सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत किया है। जहां 'गोदान' में मेहता मालती, मिर्जा खुर्शेद-तनखा, तथा रायसाहब और खन्ना शिकार के लिए जाकर भी दूसरी बातों में उलझे जाते हैं, वहां 'मृगनयनी' में निन्नी और लाखी किस प्रकार अरने का शिकार करती हैं — इसके लिए यह उदाहरण पर्याप्त होगा — 'जब तक लाखी दूसरा तीर चलावे, निन्नी ने अरने के मस्तक के बीचों बीच का निशाना लेकर तीर छोड़ दिया। तीर अपने निशाने पर जा लगा परन्तु इतनी जल्दी में चलाया गया था कि पूरी शक्ति को लेकर न छूट सका, माथे की ऊपरी हड्डी की ऊपर तह को ही फोड़ सका, टिककर रह गया। अरने ने जोर की डिडकार लगाई और उनकी ओर पूंछ उठाए हुए आया। लाखी ने दूसरा तीर छोड़ा, तीर उसके नथने को ही फोड़ पाया, अरना थोड़ा-सा ही हिचका, परन्तु अन्तर इतना कम रह गया था कि तरकश में से तीर निकालकर प्रत्यंचा पर नहीं चढ़ाया जा सकता था, अरने की बड़ी-बड़ी लाल आंखों से अंगारे छूट रहे थे और फुफकार में से फेन उड़ रहा था।'[1]

निन्नी ने शिकार किया और पुरस्कार पाया। घटना ने नई परिस्थिति को जन्म दिया है। वह निन्नी से मृगनयनी बनी, ग्रामबाला से राजरानी हुई, किन्तु अटल-लाखी के लिए विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई। कथानक ने वर्णाश्रम की सामाजिक समस्या को इन दो पात्रों की कथा के सहारे चित्रित किया है। बोधन की अस्वीकृति पर अटल लाखी से—विवाह कर लेता है तो ग्राम में पंचायत बैठ जाती है और दोनों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। यह घटना दोनों पात्रों को नई परिस्थितियों में ले जाती है—वे पिल्ली-पोटा के नटवर्ग के साथ मगरोनी के लिए प्रस्थान करते हैं। यहीं कथा बहुमुखी रूप धारण करती है। मालवा अधिपति नरवर को घेरे में लेता है। लाखी के

---

1 मृगनयनी—पृष्ठ १६२

समक्ष पिल्ली के प्रलोभन है और देशहित संबंधी दायित्व तथा जातीय सनकी । वह देश को प्रमुखता देकर किले से बाहर निकालने के लिए लगी रस्सी काटकर निन्नी, गयासुद्दीन आदि की आशाओं पर पानी फेर देती है । पिल्ली का रस्सी से गिरकर मर जाना नाटकीय दृश्य है । गयासुद्दीन का अन्त नाटकीय षड्यन्त्र आभासित होता है । सुमन-मोहिनी की समस्त क्रियाएं 'अजात शत्रु' की छलना का स्मरण कराती है ।

कथानक के अंतिम सोपान में कुछ घटनाएं ठोंस दी गई हैं । अटल-लाखी का विवाह उपन्यासकार की कल्पना का परिणाम है । 'गढ कुंडार' के दिवाकर-तारा और 'विराटा की पद्मिनी'[१] में कुमुद-कुंजर समान तत्कालीन जातीय प्रकोप का भाजन न बनकर अन्त में वैवाहिक सूत्र में जोड़ दिए गए है, अतएव ऐतिहासिक यथार्थ की अवहेलना की गई है । सिकन्दर के अंतिम आक्रमण से पूर्व भूकम्प का दृश्य प्रभावशून्य है, अवैज्ञानिक है, इस भूकम्प का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर पश्चिमी भारत मध्यभारत तक का प्रदेश है । निहालसिंह कला-वार्ता का अंश अति संक्षिप्त है, अतएव कोई महत्त्व नही रखता ।

'मृगनयनी' के पात्र नाटकीय प्रभाव रखते है । मृगनयनी और लाखी इस नाटकीयता के परिचायक हैं । दोनों की वार्ता, दोनों की चारित्रिक दिशाओं की ओर संकेत करती है । लाखी महत्त्वाकांक्षी है, निन्नी देश भक्त और स्वातन्त्र्य प्रिय । विवाहिता मृगनयनी और अविवाहिता निन्नी के चरित्र में आकाश पाताल का अन्तर है । ग्वालियार के महलों मे आबद्ध होकर मृगनयनी की स्वच्छन्दता संयम और सहनशीलता, कला प्रेम और कर्तव्यनिष्ठा में परिवर्तित हो जाती है । मानसिंह उसके चरित्र में से हमें परिचित कराता है—"वह क्षत्रिय कन्या है । सबको एक दिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । आप देखना वह पढ़-लिखकर और विविध कलाओं मे पारंगत होकर, हमारी, आपकी सबकी, कीर्ति-ध्वजा को ऊंचा फहरावेगी ।"[२]

महलों की संकुचित सीमाओं से घिरी मृगनयनी सौतिया डाह को भी द्वेष-भाव से नहीं अपनाती, अमर्यादित आचरण नहीं करती अपितु निरन्तर कर्तव्यनिष्ठ रहकर मानसिंह को कर्तव्य और कला में सतुलन बनाए रखने की प्रेरणा देती है । उत्तेजित अवस्था में वह मनोभावनाओं को उंडेल डालती है—"वीणा को बजाते-बजाते, काम पड़ने पर यदि तुरन्त तलवार न उठ पाई, कोमल सेज पर सोते-सोते, संकट आने पर यदि तुरन्त ही उछलकर कमर न कसी, ध्रुवपद को गाते-गाते शत्रु के सामने आ खड़े होने पर यदि तुरन्त गरजकर चुनौती न दे पाई, जिन कानों में मीठे स्वरों की रसधार बह-बहकर जा रही थी, उन्हीं कानो में यदि रणवाद्यों और कड़खों की धुन न समा पाई तो ऐसी वीणा, सेज और ध्रुवपद की तानों का काम ही क्या ?"[३]

मृगनयनी की संयमशीलता से मानसिंह प्रभावित हो जाता है—"तुम संयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मैं अपने विकार से उसको चंचल कर देता हूं । संयम के आधार वाला प्रेम ही आगे भी टिके रहने की समर्थता रखता है ।"[४] यह संयम का ही

२. मृगनयनी—पृष्ठ २५२

३. वही—पृष्ठ ३४७

४. वही—पृष्ठ ३८७

चमत्कार है कि सुमन मोहिनी द्वारा विष दिए जाने पर भी वह उदासीन बनी रहती है, प्रतिक्रियात्मक कार्य नहीं करती। एक आलोचक के शब्दों में उसका आधारभूत विचार इन पंक्तियों में आ जाता है—"कला कर्तव्य को सजग किए रहे, भावना विवेक को साधे किए रहे, मनोबल और धारणा एक-दूसरे का हाथ पकड़े रहें।"[5] आलोचक का मत तथ्य-परक है। वास्तव में मृगनयनी विवेकशील, अनुभूतिमयी, सात्त्विक और कर्मशील, वीर नायिका है। संगीत, वीणा, नृत्य और चित्रकारी उसकी दिनचर्या के प्रसाधन हैं। तीर, बर्छी चलानेवाली निन्नी और संगीतज्ञ मृगनयनी के चरित्र में जो अन्तर पड़ गया है—वह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

शौर्य का गुण लाखी और निन्नी दोनों में ही रखा गया है किन्तु औपन्यासिक घटनाएं निन्नी की अपेक्षा लाखी को इसके प्रदर्शन का अधिक अवसर प्रदान करती हैं। इसी कारण वह पाठक के मन पर अपना अस्तित्व बनाए रखती है। दो मुसलमान घुड़सवारों के आ धमकने पर वह निष्कम्प, ऊंचे और पैने स्वर में उन्हें ललकारकर कहती है—"कहां चलें तुम्हारे साथ" (पृष्ठ १८३)। पिल्ली द्वारा चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर वह शीघ्र ही अपना कर्तव्य निश्चित कर लेती है और योजना बनाकर बड़ी सफाई के साथ पिल्ली का काम तमाम कर डालती है। नरवर की विजय का श्रेय इसी को प्राप्त होना है।

लाखी के हृदय में प्रेम का अटूट स्रोत भर रहा है। जातीय रूढ़ियों के प्रति विद्रोह भावना इसमें कूट-कूटकर भरी है। स्वाभिमान की तो वह साक्षात् मूर्ति है। अपनी सखी निन्नी के विवाह हो जाने पर उसकी आश्रिता होकर रहना नहीं चाहती, अटल से दृढ़ शब्दों में कहती है—"कोई मुझको यदि किसी का चेरा कहे, चाहे वह मेरी निज की ननद ही क्यों न हो, तो मैं नहीं सह सकूंगी और न यह सह सकूंगी कि तुमको राजा का दास या रोटियारा कहे। हम लोगों को भगवान ने भुजाओं में बल दिया है और काम करने की लगन। कुछ करके ही ग्वालियर जावेंगे।"[6] ऐसा ही होता है—लाखी नरवर को जीतकर ही ग्वालियर जाती है।

मानसिंह की रूपरेखा उपन्यासकार ने स्वयं प्रस्तुत की है—"राजा मानसिंह युवा अवस्था के आगे जा चुका था। बड़ी काली आंखें, भरी भौंह, सीधी लम्बी नाक, चेहरा भरा हुआ कुछ लम्बा। ठोड़ी दृढ़, होंठ सहज मुस्कान भरे। सारा शरीर जैसे अनवरत व्यायाम से तपाया और कसा गया हो। कद लम्बा और छाती चौड़ी। घनी नोकदार मूंछें।"[7] इस आकृति के अनुरूप ही मानसिंह का चरित्र उभारा गया है।

कर्म और सतत कर्म यही उसका जीवन दर्शन है—"ये बैठे ठाले के वाक्-युद्ध व्यर्थ हैं। कर्म मुख्य है। जो इससे बचते हैं वे ही दाएं-बाएं की पगडंडियां ढूंढ़ते हैं। कुछ काम करिए और आगे क[illegible] लग जाइए। आगे, चलकर एक अन्य स्थल पर वह

५ डॉ० शशिभूषण : उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—पृष्ठ १८५
६ मृगनयनी—पृष्ठ १५
७ वही—पृष्ठ ४२

कहता है। जीवन में कायक-काम—ही सब कुछ है। एक काम से मन उचटे तो दूसरा करने लगे।"[८]

मानसिंह की कर्म प्रियता को उपन्यासकार इन शब्दों मे अंकित करता है—"दोपहर के समय को छोड़कर दिन में राजा मानसिंह किसी न किसी काम में व्यस्त रहता था। लोगों से मिलने का समय नौ बजे से बारह बजे तक। न्याय का शासण तीसरे पहर की अंतिम घड़ियों में। चौथे पहर के आधे भाग में सेना की तैयारी और अश्वारोहण, दिन के पहले पहर की तरह। रात के पहले पहर में भोजन और राज्य व्यवस्था की चर्चा, दूसरे पहर में संगीत।"[९]

वर्मा ने मानसिंह में एक आदर्श राजा के अनेक गुण प्रतिष्ठित किए हे। जातिवाद की संकीर्णता, कट्टरपन और रूढ़िवादिता से उन्हें घृणा है। तभी मानसिंह कहते हैं—"हे भगवान, क्या हमारे समाज के इन अन्धे-बहरों को कभी सूझता सुनता करोगे। या हम सबको डुबोकर ही रहोगे?" ये शब्द बोधन को सुनाने के पश्चात् वे मृगनयनी से कहते है—"अवश्य। इस युद्ध के बाद ही जात पांत के इस युद्ध को भी लड़ूंगा।"[१०] राजा इस निश्चय को क्रियात्मक रूप दे डालता है—लाखी-अटल का विवाह करा डालता है।

जनता के प्रति उसके हृदय में अपार प्रेम है। प्रछन्न वेश में रात के समय उनकी स्थिति देखने के लिए भ्रमण करता हैं। उसके विश्वासानुसार "राज्य के किसानों की खेती-पाती अपनी खेती-पाती के ही समान तो है।"[११] राजा होते हुए वह जनता के अधिकारों…उनकी सुविधाओं के प्रति सजग रहता हुआ कहता है—"धिक्कार!"

गुनाहों का देवता—१९४९

डॉ० धर्मवीर भारती का प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' नाटकीय शिल्प-विधि का उपन्यास है। जिस प्रकार भगवती बाबू ने अपनी 'चित्रलेखा' में 'पाप और पुण्य' की मूल समस्या को वस्तु विन्यास और चरित्र विकास के पारस्परिक संघात द्वारा नाटकीय रूप प्रदान करने की चेष्टा की, वैसे ही डॉ० भारती इस रचना में वासना के अन्तर्द्वन्द्व को नाटकीय रूपाकार (Form) देने का प्रयास करते है। हिन्दी के नाटकीय शिल्प विधि के उपन्यास के रूप में इसका योगदान अविस्मरणीय है। आधुनिक युग-चेतना के बहु-स्तरीय जटिल यथार्थ को प्रेम और वासना के परिप्रेक्ष्य में नाटकीय प्रभाव के साथ सम्प्रेषित करने की कला में भारती सिद्धहस्त है।

'गुनाहों का देवता' की अधिकांश कथा संवादों द्वारा अभिव्यंजित हुई है। सुधा-चन्दर संवाद ही कथा के वाहक हैं। इनकी वार्ता में सहज स्नेह, मधुर व्यंग, अन्तर्द्वन्द्व का बहिर्मुखी प्रवास, वासना की गन्ध, प्रेम का संघर्षात्मक संघात, जीवन का आदर्श, आस्था

---

८. मृगनयनी—पृष्ठ २०९
९. वही—पृष्ठ १९९
१०. वही—पृष्ठ २६०
११. वही—पृष्ठ २६१

के प्रश्न और नाना प्रकार की समस्याएँ सम्प्रेषित होकर सामने आई हैं। नायक चन्दर प्रयाग विश्वविद्यालय का रिसर्च स्कॉलर है और अपने गुरु डॉ० शुक्ला की लड़की सुधा से आत्मा से प्यार करता है मगर डॉ० शुक्ला उसका विवाह अपनी ही जाति के एक लड़के से करना चाहते हैं और इसके लिए चन्दर को ही ड्यूटी करते हैं कि वह सुधा को ही इस विवाह के लिए तैयार करे। चन्दर सुधा के पास पहुँचता है, उस सुधा के जो शिशु अवस्था में चन्दर को देखकर छिप जाया करती थी, मगर यौवन के आते ही अपनी सभी कोमलतम भावनाओं को उसकी ओर केन्द्रित कर देती है। मूक भावनाएँ, तीव्र प्रहार को वाचाल हो उठीं। यहाँ से नाटकीय स्थिति उत्पन्न हुई, जो सुधा-चन्दर बातों में सन्निहित है। यथा—

उसने सुधा की अंगुलियाँ अपनी पलकों से लगाते हुए कहा—"सुधी मेरी! तुम उस लड़के से विवाह कर लो।

"क्या?" सुधा चोट खाई नागिन की तरह तड़प उठी—"इस लड़के से! यही शक्ल है इसकी मुझसे ब्याह करने की। चन्दर हम ऐसा मजाक नापसन्द करते हैं। समझे कि नहीं। इसीलिए बड़े प्यार से बुला लाए, बड़ा दुलार कर रहे थे।"

"तुम अभी वायदा कर चुकी हो!" चन्दर ने बहुत आजिज़ी से कहा। "धोखा देकर वायदा कराना क्या? हिम्मत थी तो साफ-साफ कहते हमसे। हमारे मन में आता सो कहते। तुम इस तरह से बाँधकर मानवीय बलिदान चढ़ा रहे हो?" और सुधा मारे गुस्से के रोने लगी।

"चन्दर स्तब्ध! उसने इस दृश्य की कल्पना ही न की थी..." वह गया और रोती हुई सुधा के कंधे पर हाथ रख दिया।

"हटो उधर!" सुधा ने बहुत रुखाई के साथ हाथ हटा दिया और आँचल से सिर ढकती हुई बोली—"मैं ब्याह नहीं करूँगी, कभी नहीं करूँगी, किसी से नहीं करूँगी। तुम सभी लोगों ने अगर मिलकर मुझे मार डालने की ठानी है तो मैं अभी सिर पटककर मर जाऊँगी।

"मैं जाऊँगी पापा के पास! मैं कहूँगी उनसे... मैं उनसे शादी नहीं करूँगी।" और वह उठकर पापा के कमरे की ओर चली।

"खबरदार जो कदम बढ़ाया।" चन्दर ने डाँटकर कहा। "बैठो इधर।"

"मैं नहीं रुकूँगी!" सुधा ने अकड़कर कहा।

"नहीं रुकोगी!"

"नहीं रुकूँगी।"

"और चन्दर का हाथ तैश में उठा और एक भरपूर तमाचा सुधा के गाल पर पड़ा।"[1]

और सुधा-चन्दर बातों का यह प्रसंग नाटकीय प्रभाव ही नहीं रखता, उपन्यास को नाटकीय शिल्प प्रदान करने वाली विधा का सूत्रपात करता है।

---

१ गुनाहों का देवता—पृष्ठ ४७-४८

कथाकार की दृष्टि और दृष्टिकेन्द्र नाटकीय परिवर्तन के भाव-सूत्र को अनेक सूत्रों तथा आयामों ने संप्रेषित करता है। जहा एक ओर पाठक यह समझ बैठा कि चन्दर के थप्पड़ और सुधा के आंसू दोनों को एक सूत्र मे बाध देगे, वहां 'गुनाहों का देवता' का कथाकार कथा विन्यास और पात्रों के घात-प्रतिघात से नाटकीय परिवर्तन प्रस्तुत करके दोनों पात्रों को आदर्शवाद के आश्रय में ले जाकर स्वर्गिम प्रेम की ओर अग्रसर करता है। चन्दर के प्रेम वचनों में अमृत की धारा है। वह सुधा से विनती करता है कि उन दोनों का प्रेम एक-दूसरे को कमजोर बनाने के लिए नहीं है, अपितु दृढ बनाने के लिए है। अपने तर्कों द्वारा वह सुधा को उसी की जाति के लड़के के साथ विवाह के लिए तैयार करने में सफल हो जाता है। मगर यहीं एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या चन्दर सुधा को मानसिक रूप से इस विवाह के लिए तैयार कर सका ? शायद नही। तभी तो भारती पात्रों के भाव स्तर में अन्तर्द्वन्द्वात्मक नाटकीय प्रभावपूर्ण स्थिति उत्पन्न करते हैं।

सुधा विवाह उपन्यास को नाटकीयता के रंग में रंगने का प्रधान सूत्र तो हे यह आधुनिक मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन पर भी एक भारी प्रश्नचिह्न है। दाम्पत्य को नये परिवेश में नाटकीय आयाम पर खड़ा करने मे भारती ने अपूर्व कला-कौशल का परिचय दिया है। भारतीय नारी होने के कारण भारती ने सुधा मे एक के पश्चात् एक भाव स्तर को उभारकर, प्रेम और वासना के द्वन्द्व की एक विचित्र-सी करुण एवं तटस्थ दृष्टि का प्रदर्शन किया है। अनचाहे व्यक्ति से विवाह और चाहे व्यक्ति (चन्दर) से सतत प्रेम के कारण वह आत्म-पीड़ित अवस्था में अपना जीवन-यापन करती है। वह मन से अपने पति से रागात्मक तादात्म्य स्थापित करना चाहती है किन्तु उसकी आत्मा उसे बार-बार चन्दर की ओर खींच कर ले जाती है। उन क्षणों में अपने मन की कड़ुवाहट, तमतमाहट और झुंझलाहट को नाटकीय शब्दों में अभिव्यंजित करते हुए सुधा एक पत्र में लिखती है—"मेरी आत्मा सिर्फ तुम्हारे लिए बनी थी। उसके रेशे मे वह तत्त्व है जो तुम्हारी ही पूजा के लिए थे। तुमने मुझे बहुत दूर फेंक दिया, लेकिन इस दूरी के अन्धेरे में भी जन्म-जन्मातर तक मैं भटकती हुई सिर्फ तुम्ही को ढूंढूंगी, इतना याद रखना ··सोचो चन्दर कि उस अनादि काल के प्रवाह में सिर्फ एक बार मैंने अपनी आत्मा का सत्य ढूंढ पाया था और अब अनादि काल के लिए उसे खो दिया। अगर पुनर्जन्म नहीं है तो बताओ मेरे देवता फिर क्या होगा ? ··· कि अब थककर जल्दी ही गिर जाऊंगी।"[२]

सुधा-कैलाश विवाह आधुनिक स्त्री-पुरुष-संबंध पर एक प्रश्नचिह्न है। यह अनमेल विवाह प्रेमचन्द द्वारा रचित 'निर्मला' जैसी समस्या को चित्रित नहीं करता, वरन् अधुनातम व्यक्तिवादी नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के चाह की राह में बनी दीवार को प्रस्तुत करता है जिस टक्कर लेने के लिए नारी को एक अनिवार्य गहरे दबाव में से होकर गुजरना पड़ता हैं और पुरुष विस्फोटात्मक परिस्थितियों का पथिक बनना है। सुधा झेलती है और टूटती है। चन्दर का चरित्र और व्यक्तित्व बिखरने लगता है। चन्दर का पवित्र प्रेम सिद्धांत एक प्रश्नचिह्न बनकर रह जाता है, जब वह एक फिल्मी टूटे हृदय नायक की

२. गुनाहों का देवता—पृष्ठ २६०-६१

तरह पम्मी से सेक्सगत का अभिनय करता है। सात्विक प्रेम ध्वस के मार्ग पर है। चन्दर के हृदय की एकरस प्रेम कल्पना धूमिल पड चुकी है। पम्मी को देखकर अब उसके मन मे एक ज्वालामुखी सी उठती है। उपन्यास ने एक ओर नाटकीय प्रभाव देकर सुधा-कैलाश के मध्य उभर रहा मानसिक व्यवधान प्रस्तुत किया है, दूसरी ओर चन्दर-पम्मी मुक्त यौन आचरण को तीव्रतापूर्ण और गहन स्तर पर स्थापित किया है। एक उद्धरण दिया जा रहा है जो स्त्री-पुरुष सबधो के मुक्ताचरण रूप को प्रक्षेपित करने के लिए पर्याप्त है। वही चन्दर जो कल्पना म सुधा ही सुधा का रहता था, पम्मी को एकान्त मे उद्दीप्त करते हुए इन शब्दो म चित्रित हुआ है—"सात चाद की रानी ने आखिर अपनी निगाहो के जादू से सन्नाटे के प्रेत को जीत लिया। स्पर्शों के सुकुमार रेशमी तारो ने नरक की आग को शबनम से सींच दिया। ऊबड खाबड खण्डहर को अगो के गुलाब की पखुडियो से ढक दिया और पीडा व अविश्वास को गोपिया पलको से झरनेवाली दूधिया चादनी मे धो दिया। एक सगीत की लय थी जिसम स्वर्ग भ्रष्ट देवता खो गया, सगीत की लय थी या उद्दाम यौवन का उभरा हुआ ज्वार था जो चन्दर को एक मासूम फूल की तरह बहा ले गया जहा पूजा-दीप बुझ गया था, वहा तरुणाई की सास की इन्द्रधनुषी शमा झिलमिला उठी, जहा फूल मुरझा कर धूल मे मिल गए थे वहा पुखराजी स्पर्शों के सुकुमार हरसिगार झर पडे आकाश के चाद के लिए जिन्दगी के आगन मे मचलता हुआ कन्हैया, थाली के प्रतिबिम्बचन्द्र से ही बहल गया चन्दर की शाम पम्मी के अदम्य रूप की छाह म मुस्करा उठी।" इस प्रसग मे मात्र काव्यात्मकता ही नही है, इसमे पर्याप्त नाटकीयता भी है। यही चन्दर-सुधा प्रेम का भावना अब समाप्त होता है, सुधा की मानसिक स्थिति का तनाव बढने के साथ-साथ पुरुष चन्दर का वासना अब भडकता है। एक ओर प्रणय मे वचित सुधा के मन का हाहाकार है, तो दूसरी ओर चन्दर की अधकारमयी वासना।

सुधा प्रेम और चन्दर वासना द्वन्द्व ही उपन्यास की नाटकीयता मे श्रीवृद्धि करने वाले तत्त्व है। वासना की विघटनकारी विध्वसात्मक शक्ति पुरुष की चिन्तना पर कुठाराघात करती है। एक कालेज का प्राध्यापक बनकर दूसरो को शिक्षा देनेवाला व्यक्ति भी आत्म प्रवचक बन सकता है, जीवन की कितनी बडी विडम्बना है। चन्दर के मन मे द्वन्द्व भी है, उसने सुधा के सहज प्रेम को ठुकराया, बिनती की, श्रद्धा का तिरस्कार किया, पम्मी की पवित्रता से खिलवाड की, क्या यह उसके जीवन की विडम्बना नही। एक ओर तो वह सुधा को वचन देता है कि वह अपने को टूटने नही देगा, उसका प्यार सदैव उसके साथ रहेगा, दूसरी ओर पम्मी के साथ मुक्त यौनाचार उसकी नैतिक मान्यताओ पर प्रहार कर तीक्ष्ण यथार्थ का सूचक बन जाता है।

सुधा-कैलाश दाम्पत्य की असफलता का मूल तत्त्व पति-पत्नी सबध स्थापित होने से पूर्व (और पश्चात् भी) सुधा का चन्दर के प्रति मानसिक रूप से अतिरेक के साथ वैचारिक सबध निर्वाह है। भारती इस स्थिति के प्रक्षेपण मे नाटकीयता और आदर्श

---

२ गुनाहों का देवता—पृष्ठ २६७

वादिता संजो देते है। नाटकीयता सुधा के कारण और आदर्शवादिता कैलाश के कारण प्रस्तुत हुई। पति-प्रेमी और सुधा का प्रेम त्रिकोण क्या वस्तुतः चाइस इस कैरेट का प्रणय सोना है या चौदह कैरेट की वासनात्मक पॉलिसवाली धातु कैसे ? कैलाश एक सीमा तक शुद्ध मना पति है जो चन्दर के प्रति श्रद्धा ही रखता है, पर प्रेमी चन्दर—वह तो वह नही रह गया। उसका पतन काल्पनिक नहीं; यथार्थपरक और मनोवैज्ञानिक है। लौह-पुरुष भी तो उसमें वर्तमान है जो प्रेम के कमनीय दीप के ऊपर वासना की ज्वालामुखी भड़काता है। जब कैलाश सुधा को मायके छोड़कर कार्यवश देश से बाहर चला जाता है, तब चन्दर की वासना आहत अहं के कारण आत्मवादी रूप ग्रहण कर उपन्यास में अति नाटकीय स्थिति ले आती है जो सुधा-चन्दर वार्ता द्वारा सम्प्रेषित हुई। वार्ता का एक अंश हम अपने मत की पुष्टि के लिए देते है—

"सुधा ने एक सूखा हार उठाया और चन्दर पर फेंककर कहा, "चन्द्र, क्या हमेशा मुझे इसी भयानक नरक में रखोगे। क्या सचमुच हमेशा के लिए तुम्हारा प्यार खो दिया मैंने ?"

"मेरा प्यार? चन्दर हंसा, उसकी हंसी सन्नाटे से भी ज़्यादा भयंकर थी···मैं आज प्यार में विश्वास नहीं करता···"

"फिर ?"

"फिर क्यों, उस समय मेरे मन में प्यार का मतलब था त्याग, कल्पना, आदर्श। आज मैं समझ चुका हूं कि यह सब झूठी बात है, खोखले सपने हैं।"

"तब ?"

"तब ? आज मैं विश्वास करता हूं कि प्यार के माने सिर्फ एक है, शरीर का संबंध ! कम से कम औरत के लिए ! औरत बड़ी बातें करेगी, आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक मिलन, लेकिन उसकी सिद्धि सिर्फ शरीर में है और वह अपने प्यार की मंजिलें पारकर पुरुष को अन्त मे एक ही चीज़ देती है—अपना शरीर। मैं तो अब यह विश्वास करता हूं सुधा कि वही औरत मुझे प्यार करती है जो मुझे शरीर दे सकती है। बस इसके अलावा प्यार का कोई रूप अब मेरे भाग्य में नही है।"

सुधा उठी और चन्दर के पास खड़ी हो गई—"चन्दर तुम भी एक दिन ऐसे हो जाओगे इसकी मुझे कभी उम्मीद नही थी। काश कि तुम समझ पाते कि···" सुधा ने दर्द भरे स्वर में कहा।

"स्नेह है।" चन्दर ठठाकर हंस पड़ा—और उसने कहा—"अगर मैं उस स्नेह का प्रमाण मांगूं तो ! सुधा। दांत पीसकर चन्दर बोला—"अगर तुमसे तुम्हारा शरीर मांगूं तो ?"

"चन्दर !" सुधा चीखकर पीछे हट गई।[४]

भारती द्वारा प्रस्तुत चन्दर-सुधा वार्ता का यह प्रसंग अधुनातम प्रेम त्रिकोण की अन्वति पर एक प्रश्न चिह्न है जिसके आरम्भ में आदर्शवादिता, सिद्धान्त और आस्था के

४. गुनाहों के देवता—पृष्ठ ३१४

स्वर गूंजते हैं किन्तु अन्त में परिस्थितिमूलक आन्तरिक रूप परिवर्तन सामने आते हैं। चन्दर का वासना के पैशाचिक रूप में देख सुधा सन्न रह गई, मगर यदि चन्दर सात्त्विक प्रेम का बाना पहनकर सामने खड़ा होता तो शायद सुधा स्वयं समर्पिता बनने का उपक्रम रचती। 'त्रिकोण' प्रेम प्रसंग में प्रेम और वासना की यह अन्विति रूप शिल्प की अनिवार्य परिणति है। एक में प्रेम, दूसरे में घृणा और तीसरे में वासना का फैलाव ही इसमें प्रतिफलित होता है। अन्त में यह त्रिकोण सुधा की मृत्यु के साथ टूटता है।

प्रेम और वासना की विघटनकारी संघर्ष गाथा की नाटकीयता का सूत्र अनेक स्थलों पर पात्रों को संभालने पर भी उपन्यासकार दर्शक अतिशय एक नाटककार की भांति परोक्ष में नहीं चला जाता। पहले जो सूत्र वह पात्रों को देता है, उसका दर्शन कीजिए। सुधा द्वारा नकारात्मक उत्तर पाकर आत्मप्रवंचक चन्दर घर लौटते ही शीशे के सामने जाता है तब शीशे का उसका प्रतिबिम्ब उससे कहता है—"और अभी क्या पागलों से कम है तू। अहंकारी पशु! तू बर्टी से भी गया गुजरा है। बर्टी पागल था, लेकिन पागल कुत्ता की तरह काटना नहीं जानता था। तू काटना भी जानता है और अपने भयानक पागलपन को साधना और त्याग भी साबित करता रहता था। दम्भी!

"बस करो, अब तुम सीमा लांघ रहे हो।" चन्दर ने मुट्ठियां कसकर जवाब दिया।

"क्या गुस्सा हो गए मेरे दोस्त! अहंवादी इतने बड़े हो और अपनी तस्वीर देखकर नाराज होते हो?"

'ठहरो, गालियां मत दो, मुझे समझाओ न कि मेरे जीवन दर्शन में कहां पर गलती रही है।"

"अच्छा, समझो! देखो! मैं यह नहीं कहता कि तुम ईमानदार नहीं हो, तुम शक्तिशाली नहीं हो। लेकिन तुम अन्तर्मुखी रहे, घोर व्यक्तिवादी रहे अहंकारग्रस्त रहे। अपने मन की विकृतियों को भी तुमने अपनी ताकत समझने की कोशिश की? कोई भी जीवन-दर्शन सफल नहीं होता अगर उसमें बाह्य यथार्थ और व्यापक सत्य धूप-छांह की तरह न मिला हो। मैं मानता हूं कि तूने सुधा के साथ ऊंचाई निभाई, लेकिन अगर तेरे व्यक्तित्व का, तेरे मन को जरा-सी ठेस पहुंचती तो तू गुमराह हो गया होता। तूने सुधा के स्नेह का निषेध कर दिया। तूने बिनती की, श्रद्धा का तिरस्कार किया तूने पम्मी की पवित्रता भ्रष्ट की—और इसे अपनी साधना समझा।"[५]

'चांदनी के खंडहर' में नायक बसन्त कमरे से वार्ता करता है, 'गुनाहों का देवता' में चन्दर प्रतिबिम्ब से बात कर मानसिक विश्लेषण ही नहीं करता, परिस्थिति और चरित्र के संघात में अपने [illegible] के उतार-चढ़ाव का नाटकीय प्रभावात्मक चित्र भी प्रस्तुत करता है। इसी [illegible] आगे प्रतिबिम्ब उसे दार्शनिक परिवेश की दिशा में ले जाते हुए बताता है कि सत्य [illegible] मिलता है जिसकी आत्मा शान्त और गहरी होती है, समुद्र के अन्तराल की तरह, [illegible] की सतह की तरह जो विक्षुब्ध और तूफानी होता है, उसके

५ चन्दर की [illegible] से वार्ता—गुनाहों का देवता—पृष्ठ २१७

अन्तर्द्वन्द्व में चाहे कितनी गरज हो लेकिन सत्य की शान्त अमृतमयी आवाज नहीं होती।

नायिका सुधा परम्परागत नारी की प्रतीक है तो चन्दर अधुनातम और परम्परागत पुरुष का अद्भुत मिश्रण लिए है। सुधा की मृत्यु 'गोदान' के होरी की मृत्यु से कम करुणाजनक नहीं। इसकी मृत्यु पर चन्दर तो चुप रहा, मगर लेखक मौन न रह सका उसने एक टिप्पणी प्रस्तुत की—"जिन्दगी का यन्त्रणा-चक्र एक वृत्त पूरा कर चुका था। सितारे एक क्षितिज से उठकर, आसमान पारकर, दूसरे क्षितिज तक पहुंच चुके थे। साल डेढ़ साल पहले सहसा जिन्दगी की लहरों में उथल-पुथल मच गई थी और विक्षुब्ध महासागर की तरह भूखी लहरों की बाहें पसारकर वह किसी को दबोच लेने के लिए हुंकार उठी थी। अपनी भयानक लहरों के शिकंजे में सभी को झकझोरकर, सभी के विश्वासों और भावनाओं का चकनाचूर कर अन्त में सबसे प्यारे, सबसे मासूम और सबसे सुकुमार व्यक्तित्व को निकलकर अब धरातल शांत हो गया था—तूफान थम गया था, बादल खुल गए थे, और सितारे फिर आसमान के घोसलों से भयभीत विहंग शावकों की तरह झांक रहे थे।"[६]

'गुनाहों का देवता' को नाटकीय शिल्प-शिल्प की संरचना के आवर्त मे लाने का पूर्ण श्रेय संवादों को है, जिनके विषय मे डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव लिखते हैं—"संवाद बड़े ही सरस, प्रभविष्णु एवं भावाभिव्यंजन मे समर्थ है।"[७] वस्तुतः ये संवाद उत्कट तीव्रता के कारण उपन्यास में जगह-जगह नाटकीयता का समावेश कर देते है। ये संवाद कहीं गम्भीर तो कहीं व्यंग्यात्मक शैली में अभिव्यक्त हुए हैं जैसे—

"बहुत, मुझे ताज्जुब है कि तन्दुरुस्ती के लिए तुमने क्या किया तीन महीने तक !"

"नफरत मिस्टर कपूर ! औरतों से नफरत। उससे अच्छा टॉनिक तन्दुरुस्ती के लिए कोई नहीं है।"[८]

'गुनाहों का देवता' मे भारती ने अपनी दृष्टि नये विषय, नये रूप की ओर केन्द्रित की। विषय की दृष्टि से उन्होंने भारतीय मध्य वर्ग के शिक्षित, सुसंस्कृत व्यक्ति की विचारणा सिद्धान्त और यथार्थ जीवन के अन्तराल को नाटकीय शिल्प मे रूपायित किया है। भारती वर्णनात्मक शिल्पविधि के कथाकार की भांति आधुनिक पुरुष द्वारा नारी पर अनगिनत अत्याचारो का विवरण नहीं देते, वे एक पुरुष द्वारा तीन नारियों (चन्दर द्वारा सुधा, बिनती और पम्मी) पर किए गए अत्याचार और क्रूरता का नाटकीय प्रभाव संप्रेषित करते है। वे चन्दर की भावुकतापरक आदर्शवादिता पर प्रश्नचिह्न लगाते है। सुधा के असंतोष की लहरों को गिनते हैं, बिनती के सफल विद्रोह का मूल्यांकन करते है और पम्मी के रूप में आधुनिकाओं की नग्न वासना के अंक खोलते हैं। उन्होंने प्रेम और विवाह जैसी शाश्वत समस्याओं का आधुनिक [illegible] का चित्र भी खीचा है। नायक

---

६. गुनाहो का देवता—पृष्ठ ३७९

७. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३९२

८. गुनाहों का देवता—पृष्ठ २२७

चन्दर तो अनेक बार सोचता है कि क्या पुरुष और नारी के संबंध का एक ही रास्ता है —प्रणय, विवाह, और तृप्ति। उस सुधा का कैलाश से विवाह करा देने पर संतोष भी है, असन्तोष भी। वह मन में अनेकश: विचारता है कि उसने सुधा के व्यक्तित्व को तोड़ा है। पर वह यह भी तो सोचता है कि आधुनिक व्यक्ति निरुपाय है। जातिवाद, परम्परा-वाद और आदर्शवाद उसे निराश, कुण्ठित और पीड़ित होने से नहीं बचा सकते, नहीं बचा सके। उपन्यासकार नाटकीय शिल्पविधि द्वारा इस रचना की एक एक पंक्ति में समाज पर व्यंग्य कर गया है।

सातवां अध्याय

समन्वित शिल्प-विधि के उपन्यास

प्रेमचन्द युग में ही अनेक उपन्यासकारों ने प्रेमचन्द स्कूल के प्रति विद्रोह करके नवीन शिल्प के प्रति मोह अभिव्यक्त किया था। प्रेमचन्दोत्तर युग मे समग्र रूप मे शिल्प के क्षेत्र मे नये प्रयोग करने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। इस पक्ष की विस्तृत चर्चा पिछले अध्यायों में हो चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में उन उपन्यासों की चर्चा होगी जिन्हें स्वतन्त्र रूप से किसी एक शिल्प-विधि के अन्तर्गत नहीं रखा गया। वस्तुतः एक समय और सीमा ऐसी आती है जब किसी उपन्यास में एक साथ एक से अधिक शिल्प समन्वित हो जाते हैं, जब उपन्यासकार अपनी रचना में एक साथ समाज का वर्णन और व्यक्ति का विश्लेषण करता है, तब उसकी रचना में शिल्प समन्वय स्वाभाविक धर्म बन जाता है।

हिन्दी में भी कतिपय उपन्यासकार भाववस्तु को ऊपरी स्तर पर वर्णित न करके उनके सूक्ष्म पक्षों का विश्लेषण करने में समर्थ हुए हैं। ऐसे उपन्यास जो दृष्टि को ऊपर से शिथिल, बिखरे और आकारहीन दृष्टिगोचर होते है, प्रायः शिल्प विहीन नहीं होते, अपितु वे समन्वित शिल्प-विधि की रचना होते हैं। हिन्दी के शीर्षस्थ उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' नवीनतम उपलब्धियों के होते हुए भी अनेक आलोचकों को बिखरा-बिखरा लगा। मगर मुझे उसका अनुभूति पक्ष तीव्र नजर आया। इसका नायक और मूल विषय दोनों विश्लेषणोन्मुखी है, जब कि समस्या और समाज वर्णनात्मक। अतः कथाकार ने भाववस्तु में विशिष्टता तथा तीक्ष्णता लाने के लिए नये शिल्प प्रयोग को अपनाया। वस्तुतः समन्वित शिल्प-विधि का यह अन्वेषण जोशी की सूक्ष्म अनुभूति और भावसत्य के अन्वेषण का ही सशक्त पक्ष है, जिसके कारण 'जहाज का पंछी' हिन्दी के कतिपय सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जाने लगा।

'चलते-चलते' का कथाकार वाजपेयी भी अपने पात्रों की बहुज्ञता को दर्शाता हुआ उन्हें समन्वित शिल्प-विधि के परिवेश में घुमाता है और बदलते परिप्रेक्ष्य मे उन्हे चित्रित करता है। वाजपेयी भारतीय समाज व्यवस्था की आलोचना वर्णनात्मक होकर और अपने पात्रो का विश्लेषण व्यक्तिपरक पात्रों की अन्तश्चेतना में उभरी समस्याओं पर प्रश्नचिह्न लगाकर करते है। 'चलते-चलते' में लेखक कहीं प्रत्यक्ष रूप से पात्रों की वेश-भूषा और कार्यकलाप की आलोचना एक वर्णनात्मक शिल्पी बनकर करता है तो कहीं लिखित भ्रामक उद्धरण विधि द्वारा पात्रों का विश्लेषण करता है। जैसे—छोटी भाभी नायक को, विचित्र ढंग से, अपने कथन को किसी के कथन-उद्धरण के रूप मे रूपायित कर अपनी

उस इच्छा को अभिव्यक्त करती है जो प्रत्यक्षत कथा रूप म कहने मे कठिन होती।

हिन्दी के दूसरे उपन्यासकार भी हैं जिन्होंने समन्वित शिल्प विधि का प्रयोग अपने-अपने उपन्यासो म किया है। उन्होंने अपनी-अपनी रचनाओ मे वर्णन, विश्लेषण चिन्तन, संवाद और प्रविधि को लेकर दो-तीन या उनसे अधिक को अपनाकर रचना के कलात्मक प्रभाव को तीव्र तथा प्रभावशाली बनाने का स्तुत्य कार्य किया है। समन्वित शिल्प विधि की रचनाओं म कही संवाद लम्बे हो गए हैं, कही वर्णनो की व्यापकता है तो कही विश्लेषणो की तीक्ष्णता, परन्तु इनकी प्रभावात्मकता असंदिग्ध है।

'जहाज का पक्षी'—१९५५

संवेगो के प्रशिक्षण द्वारा वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण के विषय को समन्वित शिल्प की प्रसिद्ध रचना 'जहाज का पछी' मे सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। अब तक की उपलब्ध रचनाओ म यह इलाचन्द्र जोशी की अन्तिम कृति है। शिल्प की दृष्टि से जोशी न सब से पहिले विश्लेषणात्मक, फिर वर्णनात्मक और अब अन्तिम रचना म समन्वित शिल्प विधि का प्रयोग किया है।

'जहाज का पछी' आत्म कथात्मक शैली मे रचा गया है। उपन्यास का नायक आत्म-कथा के रूप म अपनी जीवनी के यौवन खण्ड के एक छोटे भाग का वर्णन करता है किन्तु अवसर मिलते ही जीवन की विशिष्ट स्थिति का विश्लेषण भी करता चलता है। साधारणतया ऐसा हुआ है कि जब-जब उसे किसी घटना, व्यक्ति या समाज ने अधिक आदोलित किया तभी वह अन्तर्मुखी होकर अन्त प्रेक्षण विधि (Introspection) द्वारा अपनी मन स्थिति की छान-बीन करता हुआ दृष्टिगोचर हुआ है। कथा के आरम्भ म ही नायक ने अपनी अस्त-व्यस्त जीवनी, निराश्रित अवस्था और दीन दशा का वर्णन किया है, इसके अनन्तर विश्लेषण भी प्रस्तुत हुआ है, जिसकी कुछ पक्तिया उदाहरण स्वरूप दी जाती हैं—

'मेरे सिर के रूखे सूखे, अस्त व्यस्त बाल, घनी घास से भरी क्यारियो की तरह दो गलमुच्छे और उन गलमुच्छो के अगल-बगल और नीचे फैले हुए, एक हफ्ते से न छीले गए, फसल कटने के बाद शेष रह जाने वाले सूखे खूटो की तरह छितराए हुए दाढी के बडे बाल क्षय रोग के रोगियो की तरह मुरझाया हुआ मेरा दुबला पतला, धुले हुए कपडो की तरह रक्तहीन सफेद चेहरा, धसी हुई (और सम्भवत अप्राकृतिक प्रकाश से चमकती हुई) आखें, गढे पडे हुए गाल और गालो की ठुड्डी की उभरी हुई, नुकीली हड्डिया, तिस पर कई दिनो से धुलने की सुविधा न होने से कुर्ता और मैली ही धोती—ये सब उपकरण देखकर कोई व्यक्ति सभावत मुझसे सावधान रहना चाहेगा, यह मैं पहले ही जानता था। [illegible] पक्ति मे दुर्दशा का इतना वर्णन करने के पश्चात् इसकी प्रतिक्रिया सूचक पक्तिया [illegible] की जाती हैं—

"[illegible] मेरे मन पर अपना प्रभाव छोडने लगी, जिसकी कल्पना मात्र से मैं बार-[illegible] [illegible] जब मेरा हुलिया देखकर मेरी बगल म बैठने वाले एक-एक करके [illegible] सभी व्यक्ति मुझ पर पेशेवर गुण्डा या गिरहकट होने का संदेह करें

लगे तब अपनी उस हताश स्थिति में उन लोगों के मन की भावना का छुतहा प्रभाव मुझ पर इस रूप में पड़ने लगा कि बीच-बीच में कुछ क्षणों के लिए मैं सचमुच तिरछी दृष्टि से (हाथ से नहीं) पास वाले व्यक्ति की जेब की जांच करने लगता।"[1]

इस उपन्यास में कथानक वर्णनात्मक शिल्प-विधि द्वारा संयोजित हुआ है। मूल विषय नायक की वैयक्तिक स्थिति है जो सदैव विश्लेषण के लिए तत्पर रहती है, किन्तु इस विषय से संबंधित वस्तु विधान विवरणात्मक है, इतिवृत्तात्मक है। कथा संगठित नहीं है; किन्तु कथा तत्त्व का नितान्त अभाव भी नहीं है। विशृंखल कथा विस्तृत घटनाओं द्वारा उद्भासित हुई है। नायक की संचित अनुभूतियां ही कथा की सामग्री हैं, उसमे वर्णित घटनायें ही कथानक के स्तम्भ हैं। कलकत्ता नगरी की बड़ी और भीड़ी गलियां, पार्क, अस्पताल, सागर तट और जहाज, हवालात, अदालत, करीम चाचा का अखाड़ा, भादुड़ी महाशय की कोठी, प्यारे की लांडरी, मिस साइमन द्वारा संचालित वेश्यालय, लीला-भवन और रांची का मानसिक अस्पताल केवल नायक के भ्रमण व रहन स्थल ही नहीं है; वस्तुत: ये कथानक की भीतियां हैं। इनका विस्तृत विवरण और सूक्ष्म निरीक्षण इस उपन्यास में वर्णनात्मक शिल्प-विधि का आभास देता है।

कथावस्तु को वर्णनात्मक बनाने वाला सब से बड़ा तत्त्व है उपन्यास में संयोजित लम्बे-लम्बे भाषणों की तादाद। कुल मिला कर नौ महत्त्वपूर्ण भाषण विभिन्न अवसरों पर दिलाये गए है।[2] ये भाषण पात्रों के अहं की अवस्था के परिचायक है। कुछ साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक विषयों पर प्रकाश डालने के लिये संयोजित किए गए है। एक दो भाषण दूसरे पात्रों के मन मे उत्पन्न जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भावावेश की अवस्था का परिचय देते है। नायक द्वारा दिए गए

---

१. जहाज का पंछी—पृष्ठ ११-१२

२. (क) अस्पताल से चलते समय डॉक्टर को लक्ष्य करके नायक के द्वारा दिया गया भाषण—पृष्ठ ४३ से ४५
(ख) जहाज से पुलिसमैन के साथ चलने से पूर्व अमेरिकन के सम्मुख नायक का संक्षिप्त भाषण—पृष्ठ ८५
(ग) नायक के सम्मुख करीम चाचा का भाषण—पृष्ठ १४५ से १४७
(घ) नायक को लक्ष्य कर करीम चाचा का भाषण—पृष्ठ १८६ से १६०
(ङ) भादुड़ी महाशय के घर रवीन्द्रनाथ के जन्म दिवस पर गोष्ठी में दिया गया नायक का भाषण —पृष्ठ २२८ से २३२
(च) मिस साइमन के अड्डे पर पुलिस कर्मचारी को लक्ष्य कर नायक द्वारा लम्बा वक्तव्य—पृष्ठ ३५१ से ३५२
(छ) नारी संघ में आदरणीया [अध्यक्ष] द्वारा दिया गया लम्बा भाषण—पृष्ठ ४२३ से ४२८
(ज) लीला से वार्ता होने पर उसकी जिज्ञासा शान्तिहित दिया गया नायक का भाषण—पृष्ठ ४४४ से ४४६
(झ) स्वामी जी द्वारा आत्म कथात्मक परिचायक भाषण—पृष्ठ ५२३ से ५३५

भाषण केवल उनके अह के परिचायक ही नहीं हैं अपितु सामाजिक अवस्था तथा समाज के विशिष्ट व्यक्तियों के रहस्यों का उद्घाटन भी करते हैं। अस्पताल का डॉक्टर, केबिन वाला अमेरिकन तथा भादुड़ी के घर एकत्रित सभा और पुलिस अफसर एक बार को इन भाषणों द्वारा स्तब्ध ही नहीं हुये हैं, परिवर्तित भी हुये हैं। एक दूसरा डॉक्टर सहानुभूति एवं करुणा की भावना से द्रवित होकर नायक की सहायतार्थ कुछ दे डालता है, भादुड़ी के घर के लोगों पर अजीब सी प्रतिक्रिया होती है क्योंकि रहस्य भरी गम्भीर दृष्टि से नायक को देखती हैं, मालविका पुलक प्रमाणित दृष्टि से उनका स्वागत करती है, सुरेन्द्र नरेन्द्र आदि की दृष्टि में स्मिति और जिज्ञासा, किन्तु भादुड़ी महाशय को विश्वास ही नहीं आता कि एक रसोइया भी साहित्यिक व्यक्ति हो सकता है, वे उसे प्रच्छन्न कम्युनिस्ट तक कह देते हैं। पुलिस के अफसर तो भाषण सुनते ही नौ-दो-ग्यारह होने का यत्न करते हैं। भाषणों के पश्चात् की स्थिति वर्णनात्मक न होकर विश्लेषणात्मक है।

कथा-वस्तु की वर्णनात्मकता का परिचायक दूसरा तत्त्व नायक की बहिर्मुखी प्रवृत्ति की ओर झुकाव है। 'लज्जा', 'संन्यासी,' आदि विश्लेषणात्मक उपन्यासों में जोशी का ध्यान पात्रों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर ही केन्द्रित रहा, घटना बाहर तो बहुत ही कम घटित हुई है, जो भी प्रसिद्ध घटना है, पात्र के मन की घटना है। मन का ही विश्लेषण है, मन की ही विचारधारा है। 'मुक्तिपथ' से लेकर 'जहाज का पंछी' तक की कृतियों में जोशी ने केन्द्रस्थ प्रवृत्ति का बदला, इन उपन्यासों की कथावस्तु में बहिर्मुखी प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। 'जहाज का पंछी' के नायक को तो खुलेआम बहिर्जगत में विचरण करने के लिए छोड़ दिया गया है। पार्क और गलियों में ही वह शिक्षित, अर्धशिक्षित, विक्षिप्त, अर्ध विक्षिप्त, सतर्क अथवा धूर्त व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, उनसे दो क्षण वार्ता करके उनकी दारुण अवस्था से परिचित होता है। पार्क में कॉलेज के छात्र, होटल में बनावटी सी० आई० डी० इंस्पेक्टर, सड़क पर आवारा फिर रही यहूदी लड़की फ्लोरा और रेस कोर्स का शौकीन युवक बहिर्मुखी होने पर ही उसके सम्पर्क में आते हैं और उसकी अनुभूतियों को बढ़ाते हैं।"

बहिर्घटित घटनाओं का विश्लेषण नायक ने अन्तर्मुखी होकर किया है और यह उसकी चरित्रगत प्रवृत्ति है। बाह्य घटनाओं का वर्णन जितना व्यापक और तीक्ष्ण हुआ है, अन्तर्विश्लेषण की प्रक्रिया भी उतनी ही गहन और सूक्ष्म रही है। विश्लेषण द्वारा उपलब्ध परिणामों के कारण घटनाचक्र परिवर्तित हुआ है। 'करीम चाचा के ठिकाने' की घटनाओं को ही लें। इसमें हरिपद खेमी की उपकथा का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है, साथ ही इस कथा की तीक्ष्णता नायक को अन्तर्मुखी होकर कुछ मनन करने का अवसर भी देती है, हरिपद के साथियों की प्रत्येक क्रिया तथा बात की प्रतिक्रिया का प्रभाव नायक के अन्तर्मन पर पड़ा है और एक दिन उसने तत्कालीन स्थिति का विश्लेषण भी किया है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप दी जाती हैं—"इस प्रकार की बातें सुन-सुनकर मुझे ऐसा लगा जैसे सबसे बड़ा अपराधी मैं हूँ—हरिपद और उसके साथी रह-रहकर एक अजीब-सी ग्लानि, असन्तोष और स्वयं अपने प्रति घृणा की-सी भावना मेरे हृदय को दबाने लगी

फल यह हुआ कि वह सारा वातावरण ही मुझे विजातीय-सा लगने लगा।"[3]

वेला-नायक तथा लीला नायक सम्पर्क की सारी स्थिति समन्वित शिल्प-विधि का उत्कृष्ट उदाहरण है। वेला, विधवा वेला की जीवनी का विवरण केवल कथा नहीं है, अपितु विषम सामाजिक स्थिति का विश्लेषण भी है। वेला, भावुक, संतप्त, दमित काम वासना से वशीभूत वेला नायक को पाकर अपने सभी अधूरे स्वप्नों की पूर्ति करने के लिए लालायित है।

"तेरे बिना छलिया रे
बाजे ना मुरलिया रे···" आदि गीत उसकी अतृप्त काम वासना के प्रतीक है, जिन को सुनकर नायक मनन और विश्लेषण करने पर विवश हो जाता है। गीत की प्रकित सुनते ही वह विश्लेषण करता है—"साधारण स्थिति में मुझे वेला की इस तरह की बचकानी भावुकता पर हंसी आती। पर मैं प्रारम्भ से ही जानता था कि वेला के सारे बचकानेपन के भीतर-ही-भीतर एक मर्मपोशी रूद्र रोदन बाहर निकलने का रास्ता न पाने के कारण फफक-फफक कर फूल रहा है। उसके विगत संक्षिप्त परिचय एक दिन प्यारे ने मुझे दिया था ··"

"वेला के सारे विगत जीवन की प्रगति और दुर्गति के द्वन्द्वात्मक इतिहास से परिचित होने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वेला उस चिरन्तन विद्रोह के बीज की उपज है। जिसे प्रकृति किसी पुरानी परम्परा, जातिगत या सामाजिक लोक में एक नया परिवर्तन लाने के उद्देश्य से, अज्ञात उपायों से और रहस्यमय तरीकों से, किसी रूढ़िगत समाज के बीच में सहसा बिखेर देती है······

"पर नये विकास का वह नया बीज तत्त्व क्या सदा के लिए कुण्ठित होकर रह जाएगा? ···"

"पर मैं जानता था कि आज के युग में जीवन का जैसा रवैया समाज में चल रहा है, उसमें मुझ जैसे व्यक्ति को स्थिरता पाने की कोई सुविधा कहीं किसी भी रूप में प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए प्रारम्भ ही से वेला के उत्साह को ठंडा करते रहने की नीति अख्तियार किए हुए था।।"[4]

लीला-नायक प्रणय परिणति तक नाना घटनाओं का वर्णन तथा अनेक स्थितियों का विश्लेषण किया गया है। लीला के बाह्य आपे का वर्णन, उनके घर का विवरण, उसकी सहेलियों तथा नारी संघ का परिचय विस्तारपूर्वक दिया गया है, साथ ही लीला तथा नायक के अन्तर्मन की गांठ को मनोविश्लेषण द्वारा खोला गया है। लीला असुन्दर है, अतएव हीनता की ग्रन्थि उसके चेतन को आन्दोलित रखती है। उसने सम्पन्न होने पर भी विवाह क्यों नहीं किया, इस तथ्य का रहस्योद्घाटन विश्लेषण द्वारा नायक के सम्मुख प्रकट किया है—"इस देश की जैसी गिरी हालत है, उसे देखते हुए लगता तो यही है कि बहुत कम युवक एक निर्धन लड़की से विवाह करने को राजी होते हैं। आपके जैसा गुणों का पारखी कोई विरला ही मिल पाता···।"

---

३. जहाज का पंछी—पृष्ठ १८७
४. वही—पृष्ठ २६१ से २६६

"मुझमे कुछ ऐसे विशेष गुण भी नही हैं, इसलिए एक भी न मिलना, यह मैं जानती हू, पर आज मेरी सम्पन्न और स्वतन्त्र स्थिति देखकर कई युवक मुझसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपनी उत्सुकता जता चुके हैं और बहुत से आज भी तैयार हैं। मैं अच्छी तरह जानती हू कि मुझ जैसी असुन्दर और गुणहीन नारी से जो विवाह करने को राजी होगा वह मुझसे नहीं बल्कि मेरी सम्पत्ति से विवाह करना चाहेगा। इसलिए मैं अभी तक अनब्याही और अकेली हू।"[5]

साम्कृतिक कला केन्द्र जिसका सचालन लीला कर रही है, मारवाडी, गुजराती और बगाली सस्कृत-प्रेमी लोगो की सस्था है, इसका परिचय भी समन्वित शिल्प का उदाहरण है। इसमे कला के विकास और उसके महत्त्व का रहस्य बताया गया है। अलौकिक आनन्द की अनुभूति के उद्देश्य की केवल मात्र व्याख्या ही नहीं हुई, सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रस्तुत हुआ है। एक स्थल पर हँसी का विश्लेषण करता हुआ नायक लीला से कहता है—"यही है कलात्मक सौन्दर्य जनित अलौकिक आनन्द'। यह अकारण ही हसता है, अकारण ही रुलाता है और अकारण ही क्षण मे उत्पन्न होकर अकारण ही दूसरे ही क्षण गायब भी हो जाता है। और रोने का विशिष्ट महत्व है—उस पर प्रकाश डालते हुए अगली कुछ पक्तियो मे वह कहता है—"आसुओ का निकलना अच्छा है। हम लोग इस युग के स्त्री-पुरुष सब ऐसे जड और निश्चेष्ट हो गए हैं कि कठोर से कठोर परिस्थितियो मे भी रो नही पाते, केवल पत्थर के आसू निकाल कर ही रह जाते हैं। इसलिए अगर किसी उपाय से भावोद्वेग से उमडकर आखो से आसू निकल आवें तो इससे मन के निखार मे सहायता मिलती है।"[6]

लीला और नायक दोनों ही सास्कृतिक व्यक्ति है। उनके तर्क वितर्क जहा वर्णनात्मक है, वहा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी प्रस्तुत करते हैं। महात्मा बुद्ध के वैराग्य के विषय पर हुई उनकी वार्ता वर्णनात्मक तो है ही, मनोवैज्ञानिक भी है। वार्ता के पश्चात् नायक द्वारा किया गया विश्लेषण प्रस्तुत है—"लीला के मुह के भाव से लगता था कि मेरे विचारो से पूरी तरह सहमत न होने पर भी वह स्तब्ध, चकित और किसी हद तक पुलकित हो रही थी।"[7] लीला-नायक प्रणय की पेंग बडी ऊची उडान लेती है। नायक के मुह से 'लीजिए' के स्थान पर 'लो' निकल जाने पर और लीला के मुख से 'आप बडे वहमी हैं', 'बडे दुष्ट हो तुम', आदि छोटे-छोटे वाक्य एक प्रेमात्मक ससार की सृष्टि कर देते हैं। नीरजा प्रसग इस कथानक मे कही भी फिट नहीं बैठा है।

'जहाज का पछी' मे वैयक्तिक पात्रो की उद्भावना हुई है। नायक, बेला और लीला वैयक्तिक प्रकृति वाले चरित्र हैं, किन्तु साथ ही सामाजिक समस्याओ के उद्घाटक पात्रो के रूप मे भादुडी महोदय, मिस सादर्सन, अमला, जुलेखा और सुजाता आदि चरित्रो को प्रस्तुत किया गया है। नायक के रूप मे एक ऐसा व्यक्ति उपस्थित हुआ है जो वैयक्तिक

५ जहाज का पछी—पृष्ठ ३७६
६ वही—पृष्ठ ३८७
७ वही—पृष्ठ ३८८

और सामाजिक चरित्रों और समस्याओं की पूरी-पूरी छान-बीन करता है। उसने समाज के व्यापक रूप का वर्णन मात्र ही नहीं किया है अपितु विशिष्ट व्यक्तियों के व्यक्तित्व का सूक्ष्म अन्वेषण भी किया है।

नायक का चरित्र गत्यात्मक (Dynamic) है। उसने परिस्थिति के अनुसार रहकर भी अपने को परिस्थिति से ऊपर उठाकर जीवन-यापन किया है। इस उपन्यास की सबसे विशिष्ट चरित्रगत प्रवृत्ति है, पात्रों की द्वन्द्वात्मक स्थिति। नायक, बेला और लीला के मन का द्वन्द्व अपूर्व है। नायक तो इसी द्वन्द्व की प्रतिक्रिया स्वरूप कहीं भी स्थिर नहीं रहता। लीला के घर को सबसे अधिक आकर्षक पाकर भी उसकी मनःस्थिति डांवाडोल रहती है। अनेक बार उसके मन में उस भवन को छोड़कर भाग जाने के लिए तैयार हुआ है।[८] भावुकता के क्षणों में वह उस घर का त्याग कर रांची पहुंच जाता है।

'जहाज का पंछी' का नायक जोशी के पहले उपन्यासों के नायकों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक, अधिक भावुक और अधिक विश्लेषक है। उसमें धन अर्जित कर, यश कमाने वाली बौद्धिकता न सही किन्तु व्यक्ति, समाज, राजनीति, धर्म और राष्ट्र का विश्लेषण करने की प्रतिभा है। भावुकता के क्षणों में उसका बहाव उसके अहंकार ही एक रूप है। नायक का अहं 'संन्यासी' के नन्दकिशोर और 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ वाला उच्चतर अहं (Super ego) नहीं है, स्वाभिमान का परिचायक अहं है जो अनेक स्थलों पर उसकी शक्ति की सीमाओं का परिचय देता है। एक-दो स्थलों पर जहां उसका अहं विस्फोटक सिद्ध हुआ है, वहीं उसने वैश्लेषिक प्रक्रिया द्वारा उसकी स्वीकृति दी है जैसे—

"सोचते-सोचते जो पहली बात मेरे मन में जमी वह थी कि सभा से घर लौटने पर लीला को मैंने भाषण की तरह जो बातें सुनाई थी उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी और वह केवल मेरे अहं का असामयिक विस्फोट था। क्या आवश्यकता थी लीला को यह बताने की कि मेरी रहस्यात्मक चेतना अत्यधिक विकसित रही है और मैं कला और संस्कृति का जन्मजात प्रेमी रहा हूं, पर अब जीवन के कठोर अनुभवों के स्तूप ने मेरी उस प्रवृत्ति को झकझोरने, उसे तल से सतह तक मथने, अपने प्रति उसकी श्रद्धा और सहानुभूति जमाने और उसकी अपरिपक्व भावात्मक चेतना को डावांडोल करके उसे बरगलाने के अतिरिक्त मेरी उस तरह की बातों का और क्या उद्देश्य हो सकता था··· केवल अपने अज्ञात में अपने मूर्खतापूर्ण अहं की तृप्ति मैंने की और उस तृप्ति के लिए एक ऐसी नारी को मैंने अपने मनोजाल में उलझाया जो बौद्धिकता के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ी हुई न होने पर भी मन के क्षेत्र में अपेक्षाकृत शान्त और स्वस्थ जीवन बिता रही थी। उसके भीतर असन्तोष और अशान्ति के कीटाणु प्रविष्ट कराके मैं उसे किस मझधार में घसीट कर छोड़ देना चाहता हूं।"[९]

नायक का पीड़ित अन्तर्मन अवसर और सुपात्र पाते ही बांध तोड़कर बरबस फूट पड़ता है। कभी भाषण, कभी वक्तव्य, कभी तर्क-वितर्क और कभी विश्लेषण की क्रिया-

८. जहाज का पंछी—पृष्ठ ४१६, ४५४, ४५८
९. वही—पृष्ठ ४५२

प्रतिक्रिया द्वारा उसे अभिव्यक्ति मिली है। लीला के सम्मुख तो उसने अपने अन्तर्मन में छिपी सभी अनुभूतियो, स्मृतियो, विचारों एव भाव भगिमाओ को खोलकर रख दिया है। उसमे आत्म करुणा की भावना जाग्रत करके वह उसे सदैव के लिए अपने अनुकूल बना लेता है। राची मे मानसिक चिकित्सालय मे नायक ने नाना पात्रो के सवेगो का अध्ययन किया है इससे उसके अपने सवेगो म सतुलन स्थापित हो गया। नायक के अनुभव इसे दृढ तथा सम्पन्न बना देते हैं।

'जहाज का पछी' शिल्प और कला की दृष्टि से जोशी की पूर्ववर्ती कृतियो से कहीं बढ-चढकर है। इसमे परिस्थितिनुकूल पात्रों की योजना की गई है, अवसर अनुकूल सभाषण दिए गए हैं। अत मैं एक आलोचक के इस कथन से बिल्कुल सहमत नही हू जिसमे उन्होने कहा है कि 'जहाज का पछी' जोशी जी के सम्पूर्ण उपन्यासो मे विकास की सीढी मे जीवन दर्शन से हीन है। नायक केवल अपने कार्यो मे निष्क्रिय प्रतीत नही होता वरन् उसमे अस्वाभाविक गुणा का भी उल्लेख कर दिया है।

डॉ० रागेय राघव

डॉ० रागेय राघव बडे प्रतिभा सम्पन्न लेखक हैं, इन्होने नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना के साथ-साथ उपन्यास का सृजन किया है। परन्तु इनकी रुचि अधिकतर उपन्यास की ओर उन्मुख रही, यद्यपि उन्होने आलोचना और उपन्यास भी लिखे, तथापि उपन्यास लेखन म उनकी जो प्रतिभा प्रगट हुई, वह अन्यत्र नही उपन्यास मे भी ऐतिहासिक उपन्यासकार के नाते ही हिन्दी जगत् मे वर्मा जी को अधिक ख्याति प्राप्त हुई। रागेय राघव के उपन्यास सामाजिक चेतना और ऐतिहासिक अन्वेषण का परिणाम हैं। 'घरोंदे' सर्वप्रथम प्रकाशित उपन्यास है, जिसका प्रकाशन सन १९४१ मे हुआ। इस उपन्यास मे प्रकरणा की भरमार है। इस रचना म उपन्यासकार भारतीय कॉलिजो के विद्यार्थियो के जीवन पर प्रकाश डालता है, उपन्यास वर्णनात्मक शिल्प द्वारा भगवती नाम के छात्र के जीवन के विवरण प्रस्तुत करता है।

मुर्दों का टीला—१९४८

'मुर्दों का टीला' रागेयराघव का सर्वप्रसिद्ध उपन्यास है जो ऐतिहासिक होते हुए भी वर्णनात्मक शिल्प के बजाय समन्वित शिल्पविधि मे रचा गया है। इस उपन्यास के छपने ही हिन्दी आलोचको का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ और एक आलोचक ने इसके विषय मे कहा—"मुर्दों का टीला सम्भवत रागेयराघव का अब तक का सबसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है। जिसमे उन्होंने मोहन-जोदडो के समय के अज्ञात सामाजिक सास्कृतिक जीवन की कल्पना जन्य 'कहानी' कही है। इस प्रागैतिहासिक सभ्यता पर साहित्यिक 'कल्पना' का यह हिन्दी मे पहला उपन्यास है।"[1]

'मुर्दों का टीला' एक ऐतिहासिक ही नहीं प्रागैतिहासिक कालीन उपन्यास है।

---

१ शिवदानसिंह चौहान हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—पृष्ठ १७०

इसमें कथाकार ने 'मोहन-जोदड़ो' की प्रागैतिहासिक घटना को द्रविड़ दृष्टिकोण से चित्रित किया है। वातावरण विनियोग कथा घटनाप्रवाह, बहिर्मुखी होने के कारण वर्णनात्मक है। जबकि पात्रों को प्राचीन परिवेश में रखकर उनका विश्लेषण भी किया ही गया है। साथ ही प्रागैतिहासिक युग की समस्याओं का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। वर्णन-विश्लेषण के विनियोग के कारण यह रचना समन्वित 'शिल्प-विधि' की रचना बन गई है। इसमें अधिनायकवाद एवं राजतंत्र के स्थान पर प्रजातत्र के प्रति आग्रह साम्राज्य के प्रति घृणा आभिजात्य वर्ग के दम्भ पर प्रहारवादी स्वतंत्रता की पुकार और मानवता के सिद्धान्तों की वकालत अवश्य की गई है, किन्तु यह वकालत मार्क्सवादी उपन्यासकारों के प्रचार की भांति मुखरित नहीं हुई है। 'मुर्दों का टीला' का कथानक शृंखलाबद्ध है। इसमें 'मनिवन्ध' की ऐसी जीवनगाथा है, जिसमें विवरणों की भरमार है। समन्वित शिल्प-विधि का सम आयोजन करने के लिए कथानक को प्रागैतिहासिक और समाज-परक बनाते हुए वर्णनात्मकता का परिचय देता है। वही वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करता हुआ प्रमुख पात्रों का मनोविश्लेषण भी प्रस्तुत करता है। लेखक का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए हम उपन्यास के प्रमुख पात्र 'मविवन्धु' के चरित्र विश्लेषण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—"पिछले दिनों की वर्षों पूर्व की बातें एक-एक करके आखों के सामने गुजर गई, और उन स्मृतियों ने समय पर ऐसे अमिट चिह्न छोड़े जो गर्म वायु लेकर सांस के मांगने पर··· जिन बातों को मनुष्य भूल जाना चाहता है, वही उसे बार-बार क्यों याद आती है। क्या मनुष्य का अतीत वह भयानक पिशाच है, जो उसके भविष्य में वर्तमान का पत्थर बनकर पड़ा रहता ?"[२] इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यास में संयोजित विश्लेषण अति स्वाभाविक है।

'मुर्दों का टीला' का कथानक अत्यधिक चमत्कारपूर्ण है, और इनका घटनाक्रम कुतूहलवर्द्धक रोमांचकारी, कल्पना से ओतप्रोत है। उपन्यास की रोमांचकारिता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि इस उपन्यास में अनेक पात्रों की हत्या दिखाई गई है, अथवा कुछ पात्रों की हत्या के असफल प्रयास भी दिखाए गए हैं। हत्या कार्य में पुरुष पात्रों के साथ-साथ स्त्री पात्र भी तत्पर दिखाए गए हैं। कथा की गति पहले मंद, उत्तरोत्तर द्रुत होती गई है। कथाकार की वर्णन विवरण रुचि के कारण कथानक अनेक स्थलों पर वर्णन आधिक्य के कारण कथानक की रोचकता भी बढ़ी है, किन्तु नाटकीय-प्रसंगों के कारण मार्मिकता की भी वृद्धि हुई है।

'मुर्दों का टीला' एक पात्र बहुल उपन्यास है। ये पात्र दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। एक प्रगतिगामी, प्रतिक्रियावादी, 'मनिबन्ध' आमेनलावराह, वर्णाद पात्र नागरिक जीवन की महान आकांक्षाओं के दम्भ से परिपूर्ण है, जबकि विश्वजीत व विल्ली मिलूर···हेकादास मानवीय अधिकारों के प्रबल समर्थक हैं। 'मनिबन्ध' विश्वजीत का पुत्र था भी कि नहीं, इस संबंध में उपन्यासकार एक प्रकार की आशंका का वातावरण उत्पन्न करता है, जिसे इन शब्दों में विश्लेषित किया गया है—"मनिबन्ध विश्वजीत का

---

२. मुर्दों का टीला—पृष्ठ १७६

पुत्र था, आज तक सन्देह था आज वह पूरा हो गया। अब कोई संशय बाकी नहीं। किन्तु कुलीन, रक्त की कुलीनता का यह दम्भ कितना भीषण दुराचार है। इन लोलुप मनुष्य का, जो अपने आपको न्याय दान का प्रयत्न करता है? फिर शब्द कानों में गूंज उठा—"कुलीन!!! और विश्वजित मन ही मन हंसा, कुलीन! वह स्वयं ही कुलीन नहीं था।"[३] कुलीनता के दम्भ का यह विश्लेषण अति संक्षिप्त पर प्रभावात्मक है। कुलीनता के दम्भ पर लगाया गया यह प्रश्नचिह्न कथाकार के कला-कौशल और समन्वित शिल्प-विधि का प्रमाणपत्र बनकर सामने आया है। इसी प्रकार से कथाकार दासों के दारुण पीडन का विश्लेषण करते हुए प्राचीन समाज व वर्तमान पात्रों में संवेदना जागृत करता है। हैला और नीलूफर दोनों दासी हैं। पर हैला अपने चातुर्य से, जीवन की विपदाओं से त्राण पाती है। नीलूफर तो अपने सौंदर्य तथा कुशलता से मनिबन्ध की प्रेयसी बन जाती है, और स्वामिनी बनते ही वह दूसरी दासियों और दास पात्रों के साथ दुर्व्यवहार करने लगती है। परन्तु जब एक दूसरी औरत उसे मनिबन्ध द्वारा उपेक्षित बनवा देती है, तब उसकी जीवन की करुण घरनी सोधी गन्ध के समान पाठक को मोह लेती है। यहीं उपन्यासकार ने नारी जीवन की करुणा को सामाजिक चेतना की संवेदना के स्तर पर विश्लेषित किया है।

रांगेय राघव की 'पात्र संयोजना' अति आकर्षक है। एक ही पात्र में जीवन की नाना स्थितियों का वर्णन, विश्लेषण और नाटकीय संकेत कथाकार की समन्वित शिल्प-विधि की उपलब्धि मानी जायेगी। 'नीलूफर' में क्रीत दासी का सारा रूप वर्णनात्मक है और उसका मनिबन्ध सर्वत्र पूर्णरूप से विश्लेषणात्मक है। अन्त में उसका विद्रोह नाटकीय सार्थकता रखता है। मनिबन्ध नृशंस पुरुष के रूप में हमारे सामने आता है। धीरे-धीरे उसके चरित्र में एक परिवर्तन आया और ग्यारहवें परिच्छेद में तो वह आत्मग्लानि से परिपूर्ण होकर आत्मविश्लेषण भी करने लगता है। जैसे—"मनिबन्ध? जो स्वर्ण से भी मूल्य मणियों का बन्धन है यदि वह सब त्याग दे तो उसकी जगह वह अनेक कुत्ते ले लेंगे जो मनिबन्ध बनने के लिए जीभ निकालकर हांफते हुए भाग रहे हैं। तो क्या मनिबन्धत्व इसी प्रकार समाप्त हो जायगा?"[४] इस विश्लेषण में एक ओर मनोविश्लेषण है तो दूसरी ओर प्रतीकात्मकता भी है। उपन्यासकार मनिबन्ध को संपत्तिशाली के सांकेतिक रूप में चित्रित करता है। इसका पहला नाम सिन्धुदत्त था, वह भी प्रतीकात्मक है, क्योंकि उसे सिन्धु ने दे दिया था, उसे अनेक बार नीलूफर की याद हो आती है और वह भी कमल को देखकर क्योंकि नीलूफर का अर्थ ही कमल है।

कथाकार ने कहीं वर्णनात्मक तो कहीं विश्लेषणात्मक शिल्प विधि का आश्रय लेते हुए पूर्व कथाओं का वर्णन किया है और पात्रों का विश्लेषण किया है। उपन्यास के ग्यारहवें अध्याय में तो वह कहीं स्वप्नविधि द्वारा, कहीं चेतना प्रवाहवादी विधि द्वारा अपने पात्रों के अचेतन मन की अन्तर्द्वन्द्वात्मक स्थिति का विश्लेषण कर गया है। नीलूफर बड़े प्रयासों

३ मुर्दों का टीला—पृष्ठ ४२७
४ वही—पृष्ठ २६३

के पश्चात् गायक का प्रेम और विश्वास पाती है, किन्तु उसके अचेतन मन में यह भय बना रहता है कि यों ही मनिवन्व और वेणी के कारण गायक को भी खो दे, पृष्ठ २५८ पर उसने जो स्वप्न देखा है, वह उसकी अन्तश्चेतना की आशंकाशालिता का प्रतीक है।

डॉ० रांगेय राघव ने इस उपन्यास के पात्रों के चरित्र-चित्रण मे समन्वित शिल्प-विधि का सहारा लेते हुए वर्णन और विश्लेषण के साथ-साथ संवादो को भी परम्परा दी है—एक दास की हत्या हो जाने पर एक अन्य दास इस हत्याकाण्ड की सूचना देने के लिए आता है और संवाद इस प्रकार से संयोजित हुआ है—

"महाप्रभु !" दास से हांफते हुए कहा।

"क्या है ?" मनिवन्व व्याघात से क्रुद्ध गया। वेणी (प्रेयसी) सामने बैठी थी।

"महाप्रभु !" दास ने हांपते स्वर में फिर कहा।

"क्या है ? कह न !" मनिवन्व ने झुंझलाकर कहा—"मूर्ख ! कहता कुछ नही, बस महाप्रभु ! महाप्रभु।"

दास कांप रहा था। भय से उसके मुंह से फिर निकल गया—महाप्रभु।

"दास !" मनिवन्व गरज उठा। "लगता है आज तेरा सिर तेरे कन्धो पर बहुत भारी हो गया है ?"

दास नीचे लोट गया। मनिवन्ध को उसकी यह अवस्था देखकर विस्मय हुआ। उसने देखा वह अत्यन्त डरा हुआ था। उसने संयत होकर सांत्वना देते हुए कहा—

"क्या है दास ? क्या बात है ?"

"मुझे अभय दीजिए प्रभु ! अभय दीजिए।" दास ने गिड़गिडाते हुए कहा।

वेणी ने कहा—"निर्भीक होकर कह दास। क्या कहना है तुझे ?"

"स्वामिनी ! मैंने देखा है। अभी देखकर आया हूं..."

"क्या देखकर आया है ?"

"प्रभु ! रक्त..."

"रक्त ? वेणी ने पूछा, कैसे निकला ?"

"नहीं देवी ! हत्या !"

मनिवन्व ने सुना और हठात् उठकर खड़ा हो गया।

"हत्या !!" मनिवन्व ने गम्भीर गर्जन किया—"कैसी हत्या ! किसकी हत्या !! ...उसने फिर कहा—दास ! शीघ्र वह !"

"प्रभु ! दास कक्ष के प्रांगण में अक्षय प्रधान..."

"अक्षय प्रधान ?"

"कहने दीजिए प्रभु !" वेणी ने कहा—"मूर्ख डर गया है।"

मनिवन्व ने चुप होकर देखा। दास ने फिर कहा—"अवश्य प्रधान की हत्या हो गई है। उसका सिर फट गया है और रक्त से पक्का प्रांगण भीग गया है..."

"सच कह रहा है तू।" मनिवन्व ने फिर पूछा।

"देव मैं निरपराध हूं।" दास की गिड़गिड़ाहट से मनिवन्व को घृणा हो गई।

वेणी चीख उठी ।[5] इस संवाद द्वारा पात्रों की मनःस्थिति तो प्रकाश में आई ही, कथा की गत्यात्मकता में भी अभिवृद्धि हुई और एक क्षण में नाटकीयता आ गई । मणिबन्ध के साथ पाठक का आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कराने में इस प्रकार के संवाद पूर्ण सफल हुए हैं । इस दृष्टि से इस उपन्यास की शिल्प विधि प्रेमचन्द या इलाचन्द्र जोशी या डॉ० धर्मवीर भारती की शिल्प विधि से भिन्न है । एक ओर इसमें स्पष्ट चित्रों को अवतरित कर अभिव्यक्ति में एकात्मकता स्थापित हुई है, दूसरी ओर प्रागैतिहासिक युग की जीवन गाथा की संरचना में कथाकार युगीन समस्याओं तथा विचारणाओं को मुखरित कर गया है । एक ओर सामन्तशाही का प्रागैतिहासिक सफल चित्रण है, दूसरी ओर दास प्रथा आदि की कड़ी आलोचना, जो लेखक के जनवादी दृष्टिकोण की परिचायक है ।

'मुर्दों का टीला' की भूमिका में रांगेय राघव ने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, तटस्थता और वैज्ञानिकता का पक्ष लेते हुए कहा भी था—"मिस्र और एलाम, सुमेर और मोहन जोदड़ो व दार्शनिक तत्वों की झलक देने का मैंने प्रयत्न किया है । उसमें मैंने विशेष ध्यान रखा है कि उस काल के अनुसार ही सबका वर्णन किया जाए । आजकल हिन्दी में एक बहुत से उपन्यास निकल रहे हैं जिनमें अद्भुत बातें साबित कर दी जाती हैं, ऐसे अनेक उदाहरण हैं । खेद है आपको यहाँ 'दास दासों' की भी बात करता मिलेगा । उसकी परिस्थिति प्रकट है । वह उस काल के दार्शनिकों की-सी निश्चित बहस नहीं कर सकता, न वह वैज्ञानिक भौतिकवाद मानता है न द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक व्याख्या ही । मैं समझता हूँ, इतिहास का इतिहास की भाँति झलक करके देना ठीक है, न कि अपने आपको पात्र बनाकर किए-कराए पर पानी फेर देना । श्री भगवतशरण उपाध्याय एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिनमें यह दोष नहीं है । मुझे उनसे काफ़ी सहायता मिली है किन्तु उनमें पौराणिकता काफ़ी है ।"[6] रांगेय राघव यह लिखकर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर गए हैं । उन्होंने अपने इस उपन्यास में यशपाल या राहुल की तरह मार्क्सवादी अथवा वर्गवादी दृष्टिकोण का प्रचार किए बिना, मानवतावाद और आधुनिक संवेदना को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में चित्रित कर दिया है, वह भी समन्वित शिल्प-विधि द्वारा, अधिक कहने की चाहना वर्णनात्मक शिल्पी के रूप में, मानसिक ऊहापोह एवं विश्लेषणात्मक शिल्पी बनकर और नाटकीयता का रंग एक नाटकीय शिल्पकार का रूप धारण कर ये 'मुर्दों का टीला' में अवतरित हुए ।

'मुर्दों का टीला' में विश्लेषण प्रक्रिया भी और संवाद सौन्दर्य भी है, इस बात की पर्याप्त चर्चा हो चुकी । अब इनकी भाषा और शैली पर भी विचार कर लें । इनकी भाषा सरल है और शैली विषय अनुकूल, जिसके कारण इनके शिल्प में स्वत स्फूर्ति की दीप्ति आ गई है । जो निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायेगा—"प्रकोष्ठ में फिर दो ही रह गए—सुन्दर युवती—और मणिबन्ध—।

"तुम कौन हो ?" मणिबन्ध ने अचरज से पूछा—"तुम कोई दासी तो नहीं

---

५ मुर्दों का टीला—पृष्ठ ३३६-३७

६ वही—भूमिका से अवतरित

पात्र, संवाद, वातावरण और विचारणा का सानुपातिक समन्वय इस रचना को समन्वित शिल्प विधि की रचना बना देता है। इस विषय में डॉ० पवन ने ठीक ही लिखा है—"प्रगतिवादी नायक इतिहास के संदर्भ में मानव के उस स्वरूप तथा उसके विकास के उस सोपान का चित्रण करना है जिसे वह उपलब्ध कर चुका है। इस कारण रांगेय राघव के प्रस्तुत उपन्यास में विन्चभिक्षु तथा विश्वजित आदि के चरित्र साम्यवाद के ढांचे में नहीं ढाले गए, प्रत्युत उनके चरित्र तद्युगीन परिस्थिति के अनुकूल प्रगतिशील विचारों के वाहक हैं जो उनकी निजी अनुभूतियों की देन है। उपन्यासकार ने मृतक समाज को पुनरुज्जीवित करने के प्रयास में परोक्ष रूप से प्रगतिवादी जीवन दृष्टि का उपयोग करने पर भी कलात्मक संयम तथा वैज्ञानिक तटस्थता का प्रमाण दिया है।"[८] समन्वित शिल्प-विधि की अवतारणा इस रचना में सर्वत्र है।

विष्णु प्रभाकर

नई पीढ़ी के विद्रोह को अपनी उपन्यास कला का साधन बनाने वाले एक उपन्यासकार हैं श्री विष्णु प्रभाकर। इन्होंने पुरुष की तुलना में नारी वर्ग की विद्रोह वाणी को समन्वित शिल्प द्वारा अपने उपन्यास साहित्य में प्रसारित किया है। 'निशिकान्त'—१९५५ आपका प्रथम उपन्यास है जिसमें राजनीति और समाज ही कथा का प्रतिपाद्य है। लेखक की विचारणा का वाहक यह उपन्यास काफी प्रसिद्ध हुआ।

तट के बंधन—१९५५

'तट के बन्धन' उपन्यासकार के अपने शब्दों में एक नई कोटि का उपन्यास है। 'दो शब्द' में वह लिखता है—"तट के बन्धन मेरा दूसरा उपन्यास है। इसके बारे में विशेष कुछ कहने की धृष्टता मैं नहीं करूंगा, लेकिन दो-तीन बातें अवश्य कहना चाहूंगा। एक तो यह कि यह उपन्यास मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है दूसरी बात यह कि इस उपन्यास में पात्र अपेक्षाकृत कुछ अधिक हैं। ऐसा मेरे चाहने पर नहीं हुआ है। मुझे तो स्वयं उनका अधिक होना खला है, पर समाज का जो चित्र मेरे सामने थी, उसमें अनेकानेक दाग फैले पड़े थे। उन्हीं में से कुछ कथानक के साथ अनायास ही उपन्यास में आ गए।"[१] मेरे मतानुसार उपन्यास मात्र मनोरंजन की श्रीवृद्धि करता है दूसरे पात्र बहुल होकर न वर्णनात्मक बन पाए, न विश्लेषणात्मक। ये पात्र कहीं सामाजिक बनने का उपक्रम रखते हैं, कहीं वैयक्तिक बन मनोविश्लेषण पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं।

बसन्त, शशि, संदीप, सुनील, सत्यानंद, नीलम, मालती, ललिता, नरेश, रतिया, बरिस्टर (नरेश के पिता), अब्दुल सरला, रामेश्वर, वकील, शीला, गोपाल, कन्हैया लाल बावला, प्रभात, अतीता सब मर्तों के पात्र नगर हैं। उपन्यासकार अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्न को जिस गम्भीरता से उठाता है, पात्र सहज ही कहीं भाग कर, कहीं

---

८ हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३८१

१ " के "

स्वयं विवाह रचकर सब गुड़-गोबर कर देते है। सत्येन्द्र-नीलम संबंध, सुनील-शशि प्रणय, सरला का विवाह से पूर्व घर से भाग जाना, नरेश-शीला विवाह मानवीय दुर्बलता के परिचायक हैं। इन पात्रों के मन में विद्रोही भाव उभरते है, मगर दूध के उफान के समान बैठ जाते हैं। विवाह के पश्चात् न शशि का व्यक्तित्व उभरा, न सरला का, हालांकि इन दोनों ने अपनी इच्छा से विवाह से पूर्व प्रेम का वरण किया है। प्रश्न है—भारतीय समाज में विवाह पूर्व प्रेम की असंगति का। विष्णु प्रभाकर जिस द्रुत गति के साथ भारत के मध्यवर्गीय युवक युवतियों के प्रेम-शाप को चित्रित करना चाहते है, फलक उनका साथ नहीं देता। यदि उपन्यासकार इसी विषय को समन्वित शिल्प-विधि की अपेक्षा कम पात्र लेकर विश्लेषणात्मक या प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की रचना बनाता तो अवश्य सफल होता।

नीलम को एक सशक्त पात्र बनाने का लेखक का प्रयास विफल रहा। जब वह रतिया के विवाह प्रस्ताव को नकार देती है और अस्पताल मे पड़ी विचारती है तभी उसके कान गूंजने लगते है—"याद रख नीलम, तुझे जीना है। ससार से जूझकर जीना है। जब तक शरीर में प्राण हैं, तब तक तुझे जीवन का सम्मान करना है। बेशक, तुझे भीख मांगनी पड़े, दर दर की खाक छाननी पड़े, पर सदा यही समझना, वह भीख मानवता की भीख है। वह खाक, मातृभूमि की खाक है।"[२] पत्रों मे भी नीलम अपनी मनोदशा वर्णित करती हैं, मगर वह सब प्रभावशून्य की परिचायक है। कभी उसके कान गूंजते हे —"विवाह से डरती हो ? न सही विवाह। नारी को पुरुष चाहिए। पुरुष बिना नारी अपूर्ण है। पति, प्रेमी, कामी, लोलुपी, व्यभिचारी, साथी, सखा, मित्र ये सभी पुरुष है।"[३] यह सुन वह आत्महत्या का निश्चय करती है। पर कहां कर पाई वह मृत्यु ?

शीला की मृत्यु के प्रसंग में जो नाटकीयता आरम्भ हुई, वह भी अस्थायी रही। ललिता-महेन्द्र रोमास भी मन पर स्थायी प्रभाव नही छोड़ता। ललिता और उसके पिता रामनाथ के पत्र उपन्यास का आकार ही बढ़ाते है। वस्तुतः उपन्यासकार पात्रों की अन्तश्चेतना की आग को सुलगा कर स्वयं ही अपने निर्बल शिल्प के हस्त द्वारा उन पर बेकार के बोझिले विचारों और विशृंखल घटनाओं की राख डाल कर उस अन्तर्दाह को ढक कर रख देता है। 'निशिकान्त' का सफल लेखक 'तट का बंधन' में बुरी तरह असफल होता है।

चलते-चलते—१९५१

आत्म-निरीक्षण एवं समाज परीक्षण का कार्य सफल समन्वित शिल्प-विधि द्वारा अधिक सरल हो गया। अतः 'चलते-चलते' की रचना इस विधि अनुसार हुई है। उपन्यास का मूल विषय स्त्री-पुरुष की स्वच्छन्द प्रेम लीला है। कथाकार ने इस विषय के आधार पर जो कथा-वस्तु जुटाई है, वह वर्णनात्मक है किन्तु मूल विषय विश्लेषणोन्मुख है। वाजपेयी से पूर्व इसी विषय पर अनेक उपन्यास लिखे गये है, जिनमें प्रसाद कृत 'कंकाल'

---

२. तट के बन्धन—पृष्ठ ११४

३. वही—पृष्ठ ११९

अधिक प्रसिद्ध हुआ है, किन्तु 'कंकाल' का रचना विधान वर्णनात्मक है, 'चलते-चलते' में समन्वित शिल्प विधि के दर्शन प्राप्त होते हैं।

समन्वित शिल्प के अधिकांश उपन्यास आत्म कथात्मक शैली में रचे गये हैं। 'चलते-चलते' का नायक राजेन्द्र आत्म-कथा के रूप में अपनी जीवनी का बृहदांश पाठक के सामने प्रस्तुत करता है, किन्तु समय समय पर जीवन की विशिष्ट स्थिति का विश्लेषण करने बैठ जाता है, इस प्रकार आत्म निरीक्षण और समाज परीक्षण कहीं विश्लेषणात्मक तो कहीं वर्णनात्मक विधि द्वारा उद्घाटित हुआ है। उपन्यास के आरम्भ में जो पूर्व-कथा दी गई है, उसका मुख्य कथा से दूर का नहीं, निकटता का संबंध है, यह कथा वर्णनात्मक है। मुख्य कथा का आरम्भ नायक की बहन माधवी के विवाह से हुआ है, किन्तु वर्णनात्मक होते हुए भी यह प्रसंग नायक के अपनी छोटी भाभी के प्रति आकर्षण की रोचक जीवन स्थिति के विश्लेषण से भर पूर है। विवाह अवसर पर राजेन्द्र ने छोटी-से छोटी वस्तु का वर्णन किया है जिनमें लग्न मंडप घर के द्वार और उसकी शोभा प्रीति भोज और स्वागत आदि का विशद् वर्णन पठनीय है।

राजेन्द्र छोटी भाभी आकर्षण-प्रत्याकर्षण उपन्यास की केन्द्रस्थ स्थिति है। राजेन्द्र की ये छोटी भाभी उसके मौसेरे भाई साहब बंशी की दूसरी पत्नी हैं। अतृप्त यौन (unsatisfied sex) के कारण कुण्ठित हैं, अतः राजेन्द्र के प्रति आकृष्ट भी। इनके कारण राजेन्द्र को जीवन की नाना अनुभूतियां प्राप्त होती हैं। उनके वर्णन के साथ नायक ने अन्तःप्रेक्षण विधि द्वारा मनः स्थिति का पूर्ण विश्लेषण भी कर डाला है। वर्णन और विश्लेषण के अनेक उदाहरण उपन्यास में भरे पड़े हैं। छोटी भाभी के प्रति राजेन्द्र के आकर्षण का एक वर्णन नीचे दिया जाता है—

"मैं अभी इस आश्चर्य में ही पड़ा था कि वे इतना कहकर चल दीं। वे चली जा रही थीं और मैं एक साथ शिष्टता, आत्मीयता और व्यवस्था के प्रति उनकी उचित सतर्कता का अनुभव करके चकित-विस्मित और मुग्ध दृष्टि से उनकी स्फूर्ति देख रहा था, और देख रहा था, उसमें विकसित प्रस्फुटित उनके रूप-लावण्य का तरंगित वैभव। एक अमित आभा जैसे मेरे भीतर बाहर फैल गयी। सारा वातावरण मेरे लिए अत्यन्त स्निग्ध, मधुर और मनोरम हो उठा।"[1]

राजेन्द्र ने भाभी का वर्णन करते करते अन्तर्मुखी होकर मनःस्थिति का विश्लेषण भी किया है जैसे—

"एक प्रश्न बार-बार मेरे भीतर उदय हो होकर हलचल मचाने लगा कि एक क्षण, एक वाक्य और एक ही चितवन में जो सारी अपनी संचित राशि का समस्त अमृत एक साथ उड़ेल देती है, वही दूसरे क्षण इतनी कठोर, रहस्यमयी, मायाविनी और निर्मम कैसे हो जाती है ? प्रेम और तिरस्कार के प्रयोग ये एक क्रम से क्यों करती हैं ? क्या ये इस प्रकार से अपने आपसे ही लड़ती हैं ? क्या इनकी सारी अभिव्यक्ति केवल अपने लिये ही है ? या जो कुछ ये दान करती हैं, अन्त में उसे स्वयं ही प्राप्त भी कर लेती हैं ?"[2]

१ चलते चलते—पृष्ठ १७
२ वही—पृष्ठ ३८

विश्लेषण की यह प्रक्रिया व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रही है, समन्वित शिल्प-विधि के अन्तर्गत आ जाने के कारण 'चलते-चलते में समाज, राष्ट्र, राजनीति और धर्म आदि विषय भी इसकी परिधि में आ गये है। मनोज ने आत्मघात क्यों किया, जमुना पागल क्यों हुई, बड़े भैया वंशी ने आत्म-हत्या किस लिए की—इन सभी प्रश्नों के उत्तर में सामाजिक वैषम्य और वैयक्तिक कपट तथा स्वजनों का पूरा-पूरा विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत उपन्यास में वाह्य घटना का वर्णन जितना विशद् हुआ है, विश्लेषण की प्रक्रिया उतनी ही तीव्र एवं सूक्ष्म होती गई है। इस उपन्यास की आरम्भिक और क्रान्तिकारी वाह्य घटना राजेन्द्र के पिता की मृत्यु और शव का लुप्त हो जाना है। माधवी के विवाह अवसर पर भी राजेन्द्र को इस घटना की वहुत याद आती है। विवाह के पश्चात् उसका मन यह स्वीकार ही नहीं करता कि उसके पिता मृत है। इस घटना को वह अशुभ कल्पना के रूप में मानसिक रोग समझ बैठता है और शव की दुर्गति मे विषय को लेकर चिंतन करने लगता है। नाना प्रश्न, विभिन्न समस्याएं और अनेक शकायें उसके कोमल मन को जड़ीभूत कर लेती हैं। इसी स्थिति में वह मानव हृदय की एक घड़ी की मशीन से तुलना करता है और इस परिणाम पर पहुंचता है कि उसके पिता सशरीर सप्राण जीवित है और यह चिंतन सत्य में परिणित हो जाता है।

समन्वित शिल्प-विधि के उपन्यास में किसी भी सामाजिक घटना, राजनैतिक कार्य, धार्मिक परम्परा या आर्थिक समस्या का विस्तृत वर्णन-मात्र नही होती अपितु उसका कारण, परिणाम तथा उसका सीमा का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया जाया करता है। 'चलते-चलते' उपन्यास की घटनाओं को लें, तो इन्हें संख्या में सीमित पाएंगे, किन्तु इनका वर्णन विवरणात्मक है और इनके घटित होने का कारण तथा प्रभाव सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषणात्मक-विधि द्वारा उद्घाटित किया गया है। राजेन्द्र के पिता की अद्भुत मृत्यु और पुनर्जीवन; माधवी का विवाह, राजेन्द्र की चाची का मकान वेचना और विधवा पुत्री लाली का जेवर चुरा कर तीर्थ यात्रा के वहाने दिल्ली आवास और पांडेय जी (राजेन्द्र के पिता) के साथ मुक्त-मिलन, लाला सांवरे की दुहिता जमुना का राजेन्द्र के मित्र मुरलीमनोहर वनाम राजहंस के साथ वम्बई भाग जाना फिर उसके व्यवहार से तंग आकर उसे चलती गाड़ी से धक्का देकर स्वयं पागल हो जाना, रामलाल का विमला (वंशी की वड़ी वहू) के साथ अवैध संवंध स्थापित कर वंशी को धोखा देकर बीस हजार का चैक भुना लेना—ये पांच घटनाए ही उपन्यास की कथावस्तु का आधार है। इनकी योजना वर्णनात्मक शिल्प-विधि अनुसार हुई है किन्तु इनके घटित होने की खोज-बीन के लिए विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि का आश्रय लिया गया है।

'चलते-चलते' उपन्यास का प्रत्येक घटना के मूल में स्त्री-पुरुष के यौन की अतृप्त काम-वासना कार्य कर रही है। यह परिणाम प्रत्येक घटना का विवरण पढ़कर मालूम नही पड़ता, अपितु नायक राजेन्द्र द्वारा किए गए विश्लेषण द्वारा ज्ञात होता है। उपन्यास में पाच जोड़ों का अवैध संवंध दिखाया गया है—

इनका संवंध द्वै-पक्षीय है।

(१) पांडेय-चाची अवैध संवंध

(२) रामलाल विमला अवैध संबंध
(३) जमुना-मुरली अवैध संबंध
(४) लाली-वंशी अवैध संबंध
(५) अचना-वंशी अवैध संबंध

इनके अतिरिक्त एक पक्षीय अवैध संबंध स्थापित करने का जो प्रयास हुआ है, उसमें छोटी भाभी राजेन्द्र संबंध, लाली-राजेन्द्र संबंध तथा वैशाली राजेन्द्र संबंध द्रष्टव्य हैं। इस ओर राजेन्द्र के अति आदर्शवादी होने का कारण ये संबंध मन तक अवैध होकर रह गए हैं। दैहिकता का नाश इनके द्वारा नहीं हो पाया है। इस प्रकार के संबंधों का मूल कारण अतृप्त काम-वासना है। लाली-वंशी के अवैध संबंध की बात सुनकर राजेन्द्र हतप्रभ रह जाता है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि ऐसा कुछ घटित हो सकता है, सम्भाव्य है। मन स्थिति का विश्लेषण करने के साथ-साथ वह इस अनहोनी घटना के मूल का कारण खोज निकालता है। समाज की अन्त सलिल अन्तर्वाहिनी स्रोतस्विनी वृत्ति कामवृत्ति है, इसकी अतृप्ति ही मन को कुण्ठित कर देती है। इसकी पूर्तिहित कुछ भी अवांछनीय दृष्टिगोचर नहीं होता। और फिर पिता के मिल जाने पर उसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उनके तथा चाची के अवैध संबंध की कथा जानकर जो कड़ुवाहट अनुभव होती है, उसका वर्णन क्या इन शब्दों में संगृहीत नहीं हो गया—"मेरा हृदय उमड़ उठना चाहता है। उस उफान की तरह, जो उबलती दाल में पहली बार उठा करता है। मैं नहीं जानता, मैं इसे विषाद कहूँ या हर्ष। हर्ष इससे अधिक क्या होगा कि पिता जी जीवित हैं और विषाद भी इससे अधिक क्या होगा कि उन्होंने फिर अपने वैधानिक परिवार में आना भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मेरे और माँ के साथ इतना छल—उनका इतना तिरस्कार किया। लेकिन क्या यह अवसर इस बात पर रोने-धोने और बहस करने का है? जिसको मैंने अब तक 'चाची' शब्द से संबोधित किया है, क्या अभी इसी समय उनके मुँह पर फटाफट यह कथन जड़ दूँ कि तुम   हो, तुम से तो बात करने में भी मुझे शर्म आ रही है! लेकिन अगर ऐसा कहूँ तो फिर अपने पूज्य पिताजी को किन शब्दों में याद करूँ? हे प्रभु, तेरी इच्छा पूर्ण हो। तेरी वह रचना पूर्ण हो जिसमें अनैतिकता का इतना महत्त्व है।"[1] इसके पश्चात् अवैध संबंध का विश्लेषण हुआ है।

जमुना के पागल हो जाने पर उसकी विक्षिप्त अवस्था के वर्णन के साथ-साथ राजेन्द्र ने जमुना की अतृप्त काम वासना की दशा का विश्लेषण भी कर डाला है—"मेरे मन में आया—अरे, यह किसीको खोज रही है? क्या जीवन-पथ में चलते-चलते किसीने इसका साथ छोड़ दिया है? फिर राय चन्द्रनाथ का स्मरण आ गया। उनके रहते हुए यह नारी अन्य किसी व्यक्ति की ओर दृष्टि ही क्या डालती है? फिर उनका कथन कि मैं ज़हर खा सकता हूँ, पर   ... इस जगह नासूर है। क्या इसका यह स्पष्ट अभिप्राय नहीं कि   जमुना की यौन लिप्सा शांत करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं।"

३ चलते-चलते—   ४२१
४ वही—पृष्ठ ४५८

'चलते-चलते' उपन्यास में वैयक्तिक ही नहीं, समाजिक तथा आर्थिक विषमताओं तथा समस्याओं का विश्लेषण भी हुआ है। एक रिक्शे पर बैठकर राजेन्द्र के मस्तिष्क मे उसकी दयनीय स्थिति के प्रति करुणा ही नही उमड़ी है, अपितु समस्त समाज और अर्थ व्यवस्था के प्रति क्रांतिकारी विचारधारा वह गई है। वह इस स्थिति का विश्लेषण इन शब्दों में करता है—"आज की इस सभ्यता ने मनुष्य को कुत्ता बना डाला है ! पैसे की मांग, पैसे की पुकार और पैसे की भूख ! पैसा ! हाय पैसा ! ! यह कैसी चिल्लाहट है ?···उफ ! बिलकुल वैसी ही आवाजें है, जैसी भौंकने पर होती है।"[५] इसी प्रकार एक उदाहरण इलाचन्द्र जोशी के प्रसिद्ध उपन्यास 'जहाज़ का पंछी' से दिया जाता है। जिस समय नायक घुड़ दौड़ का मुकाबला देखता है, तब उसका मन कहीं और की ही दौड लगा आता है—

"मैं इस विचार में मग्न हो गया था कि यदि वे हजारो दर्शक पूर्णत: पागल नहीं है तो पागलपन किसे कहते है—रुपया ! रुपया ! हाय रुपया ! मुझे मिल जाए रुपया ! दूसरो की पॉकेट खाली करके केवल मेरे पास आ जाए रुपया ! प्यारा रुपया ! दिलदार रुपया ! भाग्य का विधायक रुपया ! आ जा रुपया। जिला जा रुपया ! छाती ठंडी कर जा रुपया ! भुजा भर भेंट कर जा रुपया ! हाय रुपया ! हाय रुपया······मेरे घोड़े ! जीत ! जीत ! जीत ! मैं···हू···पागल···! मै···मैं···मैं···मैं ! अरे घोड़े ! बढ़ जा, बढ़ जा, वढ़ जा, बढ़ जा, बढ़ जा। यह महा रागिनी घोडो की टापो के ताल मे प्रत्येक के भीतर उद्दाम स्वर से बज रही थी।"[६]

उपन्यास के शीर्षक की सार्थकता के साथ साथ समन्वित शिल्प-विधि का प्रमाण एक आलोचक की इन पंक्तियों द्वारा उद्‌घाटित हो जाता है—"उपन्यास का नाम 'चलते-चलते' बिल्कुल सार्थक है। उसका नायक राजेन्द्र अपने जीवन पथ पर चलते-चलते अपने चारों ओर जो कुछ देखता है, जो कुछ अनुभव करता है उसका वर्णन करता हे, विश्लेषण करता है।"[७] इस रचना में सामाजिक वैषम्य, वैधव्य, शोषण आदि दुर्गणों का विशद् वर्णन तो है ही, साथ ही यौन कुण्ठा, सौन्दर्य आकर्षण आदि शाश्वत जीवन समस्याओं का विश्लेषण भी प्राप्त हो गया है। राजेन्द्र, सावरे लाल और छोटी भाभी आदि पात्र समाज के घृणित व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते दिखाए गये हे।

राजेन्द्र एक वैयक्तिक चरित्र है। द्वन्द्वपूर्ण स्थिति में इसका चारित्रिक उत्थान विश्लेपणात्मक विधि द्वारा दर्शाया गया है। वैयक्तिक आदर्श और पारिवारिक आकर्षण निजी सिद्धान्त और सामाजिक अनैतिकता इसके मानसिक द्वन्द्व को गतिमान रखते हैं। छोटी भाभी की एक लट उसकी मानसिक शान्ति को अस्त-व्यस्त कर देने के लिए पर्याप्त है। लाली का निरावृत वक्ष: स्थल इसके आदर्शों को डिगा देता है। भाभी सौन्दर्य इसके संयम

---

५. चलते-चलते—पृष्ठ १००

६. जहाज का पंछी—पृष्ठ २०८

७. डॉ० ब्रजमोहन गुप्त: चलते-चलते एक मोहक उपन्यास: साहित्यकार पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी—पृष्ठ १६७

का परीक्षा स्थल है। एक बार उनके मुख पर आई लट को देखकर राजेन्द्र के मन में द्वन्द्व का जो ज्वार भाटा उठा है, उसका सूक्ष्म चित्रण पढ़िये—"लट मुख पर—कपोल पर आ गई और फिर मैं अपने-आप से झगड़ने लगा—नहीं नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह स्वप्न है, माया है, छलना है। भाभी के संबंध में ऐसी कल्पना। छि ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह सत्य भी हो, तो असत्य हो जाए। यह यथार्थ भी हो, तो मिथ्या बन जाए। यह असत्य है, मिथ्या है, भ्रम है।—और साथ ही सौरभ का भान हुआ, सो अलग। वाह तब तो यह दबन भी मधुर है आघात भी मृदुल। लेकिन मेरा मुंह क्यों नहीं खुल रहा है। न भी खुले, अथवा कुछ देर बाद ही खुले, तो क्या हानि है? जो प्राप्य है, उसका तिरस्कार क्या करूं! यह फुल्ल सुमन सौरभ-सा मेरे चारों ओर जो बिखर रहा है, फैल रहा है, लिप्त हो होकर उड़ रहा है, उसकी उपेक्षा, ना भई, यह मुझसे न होगा।

" एक बार पुन मन में झटका-सा लगा। देख ले मूर्ख आंख खोलकर प्रत्यक्ष देख ले—कि यह स्वप्न है या यथार्थ। परन्तु फिर एक अगाध, असीम, अनन्त लज्जा का भाव मेरे अन्तस्तल में फैल गया। मैं सोचने लगा—भाभी केवल भाभी हैं। और कुछ वे कैसे हो सकती हैं? संभव है, कभी किसी विशेष अभाव की ज्वाला से झुलस उठती हो। पर वह ज्वाला जो वासना की अतृप्ति, तृष्णा के उद्रेक और अवाञ्छनीय असंतोष में उत्पन्न होती है, उसकी सीमा कहां है?"[८]

इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति में राजेन्द्र के चरित्र का विकास होता है। उसकी आरम्भिक दशा बीच में कभी घट जाती है तो कभी अचानक ही बढ़ भी जाती है। अन्त तक पहुंचते-पहुंचते तो यह द्वन्द्व अधिक भयावह हो उठा है, विशेषकर उस समय जब छोटी भाभी यह कह देती है कि तुम या तो मुझसे इस तरह की बातें न किया करो, या मुझे प्राप्त कर लो। यह सुनकर उसका मानसिक द्वन्द्व बढ़ जाता है। छोटी भाभी की वाणी की तरलता, कण्ठ की आर्द्रता और मर्मस्पर्शी निकटता उसके कोमल मन में नाना प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न कर रहे हैं। लालो, वशालो और अचना तथा हीरा मानिक की यौवनगत मांसलता और शाब्दिक मधुरता उसके चरित्र के इतिहास में दुर्बल क्षणों को प्रस्तुत कर देने के लिए लाए गए हैं, किन्तु ये सब मिल मिलाकर भी उसके मनोद्वन्द्व को भटका देने से आगे की सीमा को पार नहीं कर पाए हैं। लीला का अनावृत वक्ष स्थल, जमुना का वस्त्र फाड़कर नंगी छाती दिखाना, राजेन्द्र के मन के संसार को झकझोर देने वाले दृश्य हैं जो उसे शारीरिक रूप से पवित्र रहने पर भी मनोविकार ग्रस्त कर देने के लिए पर्याप्त हैं। छोटी भाभी तो उसके जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता सिद्ध होती है, जिनके संबंध में बड़े भाई ने उसे आत्म मिलन की सीमा से बढ़कर देह-धर्म निभाने की आज्ञा भी दे दी।

राजेन्द्र एक ज्ञानवान, सम्पन्न, आदर्शपरायण एवं मातृ-भक्त व्यक्ति है, टाइप नहीं। सौन्दर्य के समक्ष वह भावुक बन जाता है और दार्शनिक विषय पर चिन्तक का परिचय देता है। लालो का तापमान लेने से इसलिए घबराता है कि कहीं तापमान देखते देखते शरीर के घर्म का [illegible] देखने में न उलझ जाए। इस प्रकार वह यथार्थ स्थिति

८ चलते चलते

के सम्मुख वैश्लेषिक प्रक्रिया द्वारा चिंतन करके विजय प्राप्त करता है। राजेन्द्र अनुभूति-शील, कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी है, वह समझता है कि आदर्श के साथ ही उसका जीवन है—'आदर्श के विना मैं—मेरा अस्तित्व—जड़ है, निर्जीव है, यही उसका दृष्टिकोण है। वह विनम्र भी है, स्पष्ट वक्ता भी। पिता को स्पष्ट कह देता है कि मेरे मुंह पर थप्पड़ मार दीजिए मगर सच्ची बात कहने का मेरा अधिकार मुझसे मत छीनिए। सभ्यता के उन नियंत्रणों पर भी उसका विश्वास नहीं है जो जीवन की मानवी दुर्बलताओं पर पर्दा डाल-कर उसके महाप्राण सत्य का गला ही घोंट लेना चाहते है।

'चलते-चलते' में कतिपय पात्रों का व्यक्तित्व बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया गया है। लाली के संबंध में चरित्र-चित्रण की यह विधि दर्शनीय है—"सत्रह-अठारह वर्ष की लाली। गाय के ताज़े मक्खन-सा वर्ण है, वैसी ही देह-यष्टि की चिकनाहट। लावण्य परिपक्व है। मृग-नयनों की नोंकदार कोरों की पतली कुशाग्र धार और गदराये यौवन की मत्त चंचल मनुहार, ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे जीवन अगाध के उस पार तक ले जाने को तैयार हैं।" इसे हम शब्द चित्र विधि पुकारें तो कैसा रहे? इस प्रकार के शब्द चित्र वैशाली, अर्चना आदि पात्रों के संबंध मे भी दिए गए है। किन्तु यह शब्द चित्र-विधि भी समन्वित शिल्प-विधि का एक अंग बनकर आई है।

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव को समन्वित शिल्प-विधि का उपन्यासकार माना जा सकता है। अभी तक (१९५८ तक) आपके दो उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' (१९५२) तथा उखड़े हुए लोग प्रकाशित हुए है। इन दोनों में कथाकार सामाजिक चित्रण के परिप्रेक्ष्य मे व्यक्ति विश्लेषण करते हुए वर्णनात्मक और विश्लेषणात्मक शिल्प का एक समन्वयात्मक प्रयोग करता है। 'प्रेत बोलते है' में यादव मध्यवर्गीय युवक-युवतियों को वर्णनात्मक परिप्रेक्ष्य में तोलकर उनमें से कतिपय पात्रों का विश्लेषण प्रस्तुत करते है। इसमें पूंजीपतियों के प्रेत बोले हैं, जिन्हें यदि कथाकार चाहता तो प्रतीकात्मक बनाकर अधिक सशक्त बना सकता था। एक आलोचक ने तो लिखा भी है—"'प्रेत बोलते हैं' में निम्न मध्यवर्ग के एक शिक्षित युवक के जीवन की विवशताओं तथा विषमताओं को प्रतीकात्मक शैली में चित्रित करने का प्रयास किया है।"[1] यह सही है। इस उपन्यास को प्रतीकात्मक शिल्प और शैली में रूपायित करने का कथाकार का प्रथम प्रयास असफल ही माना जाएगा। वस्तु-स्थिति यह है कि यादव मात्र एक कुशल कहानीकार है, उपन्यास लिखने की कला उन्हें अभी सीखनी पड़ेगी। 'प्रेत बोलते है' में इलाचन्द्र जोशी जैसे श्रेष्ठ कलाकार की कृति 'प्रेत और छाया' जैसा विश्लेषण हमें कही भी पढ़ने को नही मिलता।

उखड़े हुए लोग—१९५६

'उखड़े हुए लोग' में यादव और भी अधिक उखड़ गए है। समन्वित शिल्प-विधि

---

१. डॉ० सुषमा धवन: हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३२१

का अपना घर जहां श्री इलाचन्द्र जोशी 'जहाज का पंछी' में और श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी 'चलते-चलते' में सफलता के उच्चतम सोपान पर पहुंचे, वहीं विष्णु प्रभाकर तथा यादव असफल हुए। इन दोनों लेखकों ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति के मन का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वह उखड़ा-उखड़ा है। वर्णन में भी सजीवता नहीं है।

एम० पी० देशबन्धु के चरित्र में आरम्भ में जो गति और आकर्षण है, कथाकार मध्य तक पहुंचते-पहुंचते उसमें शिथिलता ले आता है। स्वदेश महल में परकीया माया देवी तथा उसकी लड़की पद्मा के साथ उसने जो खेल खेले, वे एक फिल्मी दुनिया की दौड़-धूप से अधिक प्रभाव पाठक के मन पर नहीं डालते। ऊपर से सन्त माने जाने वाले इन नेता जी के वैयक्तिक जीवन में जो ऊहा-पोह है वह यदि कथाकार द्वारा पूर्ण रूप से विश्लेषित होती तो इसका पाठकीय आकर्षण बढ़ जाता। पद्मा देशबन्धु की लोलुप दृष्टि से बचती फिरती है, मगर बच कहां पाती है? वह उखड़ी-उखड़ी जीवन रीतती हुई अन्त में आत्महत्या कर लेती है। इधर जया है जो शरद से विवाह के विषय पर तर्क वितर्क करती है मगर इसके तर्कों में बौद्धिकता का विश्लेषण या वर्णनात्मकता का प्रभाव नहीं है। फिल्मी नायक-नायिका की भांति शरद और जया भागकर नया घर बसाते हैं। पर इन्हें शरण देशबन्धु की ही लेनी पड़ती है। वहां एम० पी० की कुदृष्टि जया पर जम जाती है। शरद एम० पी० के लिए लेख लिखता है, भाषण तैयार करता है। इस प्रसंग में यादव आधुनिक जीवन की विडम्बना चित्रित कर गए हैं, जिसमें बुद्धिवादी मध्यवर्ग का शोषण पूंजीपति नेता और सरकार सभी करते हैं। शरद और जया को यह शोषण प्रक्रिया स्वीकार्य नहीं, अतः वे एक बार फिर घर छोड़ते हैं, उखड़ते हैं।

'उखड़े हुए लोग' में यथार्थ जीवन का जीया हुआ रूप देने का प्रयास यदि लेखक न करता तो यह अधिक सशक्त रचना बन सकता था। आज के नये कहानीकार भोगे हुए जीवन का चित्र उतारने के लिए उतावले नजर आते हैं, यहीं वे गड़बड़ कर जाते हैं। वस्तुतः कहानी में तो भोगा हुआ जीवन अधिक कलात्मक रूप में चित्रित हो सकता है मगर उपन्यास में उसे रूपायित करने के लिए कल्पना, कथ्य, शैली और शिल्प में संतुलन रखते हुए रेखाएं (शब्द चित्र रेखाएं) उभारनी होती हैं। मायादेवी का अपने पति को हटाकर एम० पी० से सम्बन्ध बढ़ाने वाला प्रसंग ही लें। इसमें कथाकार अपने कथ्य को स्वाभाविक गद्य शैली में विश्लेषणात्मक शिल्प द्वारा संयोजित करता तो हितकर था, रचना और रचनाकार दोनों के लिए ही। मायादेवी का फ्लर्ट (Flirt) बन हर पुरुष पर डोरे फेंकना उपन्यास में शिथिलता ही लाता है। उपन्यासकार कहीं भी जमकर प्रेम त्रिकोण (Love Triangular) का चित्र खींचने में सफल नहीं होता। पद्मा को अपनी ही माता का परकीया रूप घृणित लगा, शरद के लिए जया भी प्रश्नचिह्न बनी, देशबन्धु तो आधुनिक समाज की गिरती नैतिक स्थिति का उद्घाटक है ही। इस सम्बन्ध में डॉ० धवन ने लिखा है—'देशबन्धु के चरित्र-चित्रण में लेखक ने अपनी समस्त शक्ति का उपयोग किया है। उनकी मानवता, समाज सेवा, तथा कपटता का सूक्ष्म विश्लेषण कर उनके व्यक्तित्व को उभारा है। देशबन्धु की अतिरिक्त सजगता, सतर्कता तथा मधुरता भी उनके व्यक्तित्व की व्यंजना करती हैं। देशबन्धु के चरित्र के माध्यम में लेखक ने पूंजी

पतियों के जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला है, उनके व्यक्तिगत और सामाजिक आचरण में परस्पर विरोध दिखाकर उनके कुत्सित तथा विशृंखलित जीवन को अंकित किया है।"[२]

मुझे डॉ० बचन के कथन का पहला अंश जिसमें उन्होंने कहा कि लेखक ने देशबन्धु की कपटता का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, मान्य नहीं। यादव किसी भी पात्र का सूक्ष्म अन्वेषण और विश्लेषण करने में सफल नहीं हुए। 'उखड़े हुए लोग' के अधिकाश पात्र उखड़े-उखड़े है और उनका चारित्रिक वर्णन बिखरा-बिखरा है। बिगुल के सम्पादक सूरज के चरित्र में कही कोई प्रभाव नहीं। शरद-जया जगह-जगह विचारों का प्रदर्शन करते हैं और विचार भी समाज-विद्रोही ही है, कि विवाह दो व्यक्तियों के मध्य केवल एक सामाजिक अनुबन्ध है, इसमें पावनता का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार के विचारों द्वारा समाज में अनास्था और अनैतिकता फैलने का भय है। हर रात हर पति-हर नई पत्नी के साथ और हर पत्नी-हर नये पति के साथ सहवास करे तो जीवन मात्र विडम्बना न बन जाएगा क्या? उपन्यास का विचार पक्ष सतही होने के कारण भारी लगता है। यादव जब अपनी अनुभूतियों को चिन्तना के चौखटे में फिट करना चाहते है तो बुरी तरह से असफल होते है। इनकी सृजन शिल्प-शैली अवरुद्ध है।

---

२. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ३२५

आठवा अध्याय

उपसंहार

और अब अन्त में। मेरे लिए कथनीय अकथनीय क्या कुछ शेष रहा, शायद नहीं। पर फिर भी।

अपने शोध प्रबन्ध के प्रारम्भ से अन्त तक की लेखन संबंधी अपनी अक्षमताओं, उपलब्धियों, टिप्पणियों, अन्वेषण और प्रश्न चिह्नों पर समग्र रूप से एक बार अवलोकन करने पर भी कुछ नये प्रश्नों, आशंकाओं और नये मूल्यों से अपने को घिरा पाता हूं। प्रश्न नये भी हैं, पुराने भी हैं।

मुख्य प्रश्न यही है कि शिल्प और शैली में पर्याप्त जो अन्तर वर्तमान है, वह किस बिन्दु पर पहुंचकर प्रकट होता है। दूसरा प्रश्न है कि शिल्प साधन है या साध्य, तीसरा प्रश्न शिल्प संबंधी सर्वेक्षण से संबंधित है, इसके अन्तर्गत कथाकार के किसी एक अथवा दूसरे शिल्प को अपनाते समय कथाकार के दृष्टिकोण का प्रश्न उत्पन्न होता है। इन प्रश्नों के आवर्त में घिरा मैं अपने को असमय भी पाता रहा हूं, और इनका समाधान भी पाने के लिए हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासकारों से भेंट-वार्त्ता कर उनके शिल्प संबंधी विचार और मान्यताएं जानने को उत्सुक रहा हूं। किसी भी उपन्यासकार की भाव-वस्तु, भाव-सूत्र, चिन्तना और शिल्प स्तर का अन्वेषण करने के लिए काफी दौड़-धूप करनी पड़ी है, पर अमूर्त को पाने के लिए यह सब करना ही पड़ता है। पर क्या मैं अमूर्त को खोज पाया? शायद नहीं।

गत चार दशकों के लगभग १०० उपन्यासों का विवरण व विवेचन शिल्प के स्तर पर मैंने अपने ढंग पर अन्वेषित करने का प्रयत्न किया है। हिन्दी उपन्यास के शिल्पगत विवेचन का पुनरावलोकन करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं, कि प्रेमचन्द और प्रेमचन्द स्कूल के अधिकांश उपन्यासकार प्रधानतया समाज के चेतन मन के संघर्ष को ही हिन्दी उपन्यास में स्थापित करते रहे हैं। मनुष्य के जीवन में एक समय ऐसा भी आता है, जब वह बाह्य संघर्ष से थक कर उससे उत्पन्न अपनी थकान को मिटाने के लिए एकान्त की चाहना करता है। इस एकान्त की चाहना के वशीभूत होकर जब मानव ने जीवन की असंगतियों से पलायन कर [illegible] की दिशा में अन्तर्प्रयाण की ओर पग बढ़ाए, जो उसने पाया, कि बाह्य संघर्ष से भी [illegible] बहुस्तरीय जटिलता उसकी अन्तश्चेतना में प्रवेश कर गई। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक [illegible] ने मानव की इस अन्तर्प्रयाण प्रवृत्ति को चित्रण करने के लिए नए [illegible] अनुभव की ओर वे अपने उपन्यासों में अपनाए (शिल्प विषयक) [illegible] भी आए। उन्होंने नैतिकता को भी नए आयाम

में हिन्दी उपन्यास में अभिव्यक्त किया। यह नवीनता उपन्यास के कथ्य (Content) को नवीन शिल्प के विभिन्न तत्त्वों व नवीन सयोजन मे रूपायित हुई है। प्रेमचन्द की सुधारवादी दृष्टि, प्रेमचन्द स्कूल के कथाकारों की आदर्शवादी विचारधारा की इतिवृत्तात्मकता एवं वर्णनात्मकता की एकरसता तोड़ दी गई, नवीन परम्परा के उपन्यासकारो ने विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासों में अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय देते हुए चेतन से अवचेतन की दिशा में अन्तर्प्रयाण कर रहे व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को अतिरिक्त सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। इन उपन्यासों में मुझे एक भिन्न स्तर की अन्विति और अर्थवत्ता प्राप्त हुई, जो निश्चय ही परिवर्तित शिल्प का उदाहरण है।

विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के प्रायः सभी उपन्यासों में कथाकार कथा मंच से परे हटकर कथा सूत्रों को अपने पात्रों को सौप देता है। वह कथा का वाचक भी कहीं एक पात्र को तो कहीं सब पात्रों को वना देता है। दृष्टिकेन्द्र (Focus) का यह परिवर्तन भावस्तर का परिवर्तन न होकर शिल्पगत परिवर्तन ही तो है, जिसे सर्वश्री इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे प्रभृति उपन्यासकारों ने व्यक्ति के मन को विभिन्न संचरण भूमियों का भावपूर्ण विश्लेपण करके नये सूत्रों में उद्घाटित किया है। विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि का लेखक आदर्श चरित्र का संस्थापक तो है, किन्तु वह 'व्यक्ति की खोज' में संलग्न लेखक अवश्य है। इस विधि के चेतनाप्रवाहवादी उपन्यासकारों के मस्तिष्क मे एक ही समय में काव्य भावों और विचारों का उद्वेलन अपना ही महत्व रखता है, एक माप-मापक यंत्र की भांति यह उपन्यासकार मानव मस्तिष्क मे उभरने वाली लहरो के ग्रहित विंवों के मूल स्रोतों तक पहुंचने में सफल हुए हैं। यह ठीक है कि विश्लेपणात्मक शिल्प-विधि के कतिपय उपन्यासकारो ने पूर्वाग्रही बनकर मनोविश्लेपण के नाम पर रुग्ण हृदय पात्र-पत्राओं का, दुर्वल और क्षीण मनः आधुनिकाओं का विश्लेपण ही अधिक किया है। यह विश्लेपण कहीं अन्तर्निरीक्षण विधि द्वारा, कही वाह्य निरीक्षण विधि द्वारा तो कहीं पत्र-डायरी के अंश स्वप्न, फ्लैशवैक, संज्ञा-प्रवाह, अधवासित, विंव और अनेक नये प्रयोगों द्वारा सामने आए हैं; जिसमें इन पर पाश्चात्य उपन्यासकारों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। विश्लेपण के सिद्धान्तों के पोपक मानकर इनकी आलोचना कर डालना और इनके महत्त्व को न स्वीकारना नये शिल्प के प्रति अपनी संकुचित दृष्टिकोण का परिचय देना होगा। इस प्रकार के आरोप-प्रत्यारोप साहित्य जगत में शोभा नही देते, मेरे विचारानुसार तो इन प्रयोगों को अपनाकर हिन्दी के उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास के लिए नये मुहावरे को खोजकर एक प्रशंसनीय कार्य ही किया है। जोशी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, और प्रभाकर माचवे आदि उपन्यासकारों के शिल्प का उत्कर्ष इनके द्वारा प्रस्तुत चरित्राकण शिल्प में कथा इन पात्रों के व्यक्तित्व निर्माण में निहित है। जहां हमें लज्जा, शान्ति, जयन्ती, निरंजना, नन्दकिशोर, पारसनाथ, कट्टो, विहारी, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, जयन्त, शशि, शेखर, अविनाश और आभा जैसे अति वौद्धिक पात्र उपलब्ध हुए। इन कथाकारों ने घटनाओं की वर्णनात्मकता से प्रयाण कर पात्रों और विचारों के विश्लेपण का प्रस्तुतीकरण किया है।

प्रेमचन्दोत्तर युगीन उपन्यास शिल्प की एक उपलब्धि प्रतीकात्मक शिल्प-विधि भी

है। इसमे व्यक्ति ने एक बार पुनः अवचेतन से हारकर चेतन की दिशा मे बहिर्प्रयाण किया है। यह बहिर्प्रयाण वर्णनात्मकता लिए नही है। यदि ऐसा होता, तो उपन्यास शिल्प मे पुनरावृत्ति की आशका एक तथ्य बन जाती, ऐसा न होकर ऐसा हुआ कि प्रतीकवादी शिल्पी ने दृश्यमान वास्तविकता से अपने को परे ले जाकर व्यक्ति के अतर्मन मे विद्यमान स्वप्नों और सकेतो का बहिर्प्रयाण की दिशा मे अग्रसर किया। प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासकारो ने व्यक्ति के रहस्यमय जीवन को अशेष बनाने मे कोई कमी नहीं रखी। उन्होने मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुषो के सबधो को वर्णनात्मक या विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के द्वारा वर्णित या विश्लेषित करने के बजाए उनकी दुर्निवार परिस्थितियो, जटिल सभावनाओ और दूरगामी सबधो को प्रतीको द्वारा वाणी दी है। रेखा, गौरा और भुवन यह प्रेम त्रिकोण प्रतीकात्मक उपन्यास 'नदी के द्वीप' मे हर पक्ति मे साकेतिक शैली मे अपने अन्तर्विरोधो को अभिव्यक्त करते है। प्रतीकात्मकता पर आग्रह के प्रश्न को अभी तक हिन्दी के आलोचको ने अनबूझा ही बनाए रखा था। मैने हिन्दी मे कुछ ऐसे उपन्यास पाए, जिनकी घटनाओ और पात्रो और मानवीय रूपो को प्रतीको के माध्यम से ही प्रगट किया है। अज्ञेय अमृतलाल नागर, गिरिधर गोपाल, डॉ० रघुवश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना प्रभृति उपन्यासकारो ने अपनी-अपनी रचनाओ मे एक निश्चित प्रतीकात्मक भगिमा बनाकर, अपने पात्रो की यौन वर्जनाओ, विकृतियो, यौन कुण्ठाओ का विश्लेषण या वर्णनात्मक विवरण देने की बजाए इन पात्रो की अन्तश्चेतना का प्रतीकात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार लाई, भुवन, रेखा, बसन्त आदि पात्रो के अन्तर के उद्घाटन मे कुछ स्वप्नो, प्रतीको, सकेतो का उपयोग करते रहे हैं। 'बया का घोसला और साप' और 'चादनी के खडहर' मे जो स्वप्न है, सत्यपरक हैं, प्रतीकात्मक हैं। डॉ० लाल अपने पात्र सुभागी के अचेतन मन की भावनाओ का उद्घाटन करने के लिए स्वप्न सृष्टि का आश्रय लेते हैं। तहसीलदार ही साप है और मोरमुकुट पहने राजकुमार आनन्द है। इस स्वप्न के लिए उपन्यासकार पात्रो की अन्तश्चेतना को एक विशेष धरातल पर दिखाता हुआ प्रतीकात्मकता का निर्वाह करता है। प्रतीकात्मक शिल्प-विधि के उपन्यासो मे वर्णनात्मकता सकुचन प्रवृत्ति का आश्रय लेकर कथाकार बहिरंग चित्रण को एकदम स्वल्प किन्तु सार्थक बना देते है।

प्रतीकात्मक शिल्प विधि के उपन्यासकारो ने एक ओर नैतिकता का दार्शनिक विवेचन सीमित किया तो दूसरी ओर परम्परागत नैतिक मूल्यो पर प्रश्नचिह्न लगाए। 'नदी के द्वीप' मे सामाजिक मान्यता की नदी का जल सूख गया प्रतीत होता है और विभिन्न पात्रो का द्वीप ही-द्वीप दृष्टिगोचर होते हैं। ये द्वीप आधुनिक काल मे बढ़ रही व्यक्तिवादिता के प्रतीक है, व्यक्ति की नई मान्यताओ के सकेत हैं, जिनमे परम्परागत नैतिक मूल्यो के प्रति विद्रोह की भावना उभरी है। 'नदी के द्वीप' के व्यक्तिवादी जीवन दर्शन को रेखा के इन शब्दो मे देखा परखा जा सकता है—'मैं भीतर से मर गई हू, भुवन, तुम से बढ कर फिर मैं कही भी रह जा सकती हू—किसी भी बुरे-से-बुरे नर-पशु के साथ भी रह सकती हू। एक तुम्ही ने मेरी जडित आत्मा को जगाया था और उसके बाद उसके फिर जड हो जाने पर मैं पहिले से बदतर मृत्यु मे सहज ही जा सकती हू। इसलिए सावन

हूं, क्या वही न ठीक होगा, टूटी हुई रीढ़ वाली इस देह के लिए एक सहारा—एक छज : आत्मा की तो बात अब कौन कहे।"[1] रेखा की दृष्टि पूर्णतया व्यक्तिवादी जीवन दृष्टि है जो यौन-मिलन के क्षण विशेष को ही जीवन की परिपूर्णता मानती है। रेखा संसार रूपी प्रवाहित जलराशि में एक प्रवाहमान द्वीप है, नदी से कभी कटता हुआ, कभी नदी में तैरता हुआ, मानो जीवन सरिता में कभी डूबता हुआ, कभी उद्दाम क्षणो की अनुभूति कर तैरता हुआ रसबोध में भीगने को आतुर मानव मन हो। जीवन नदी के अलग-अलग द्वीपों के रूप में खड़े किए गए रेखा, भुवन, गौरा और चन्द्रमाधव हिन्दी साहित्य की अक्षुण पूजी माने जाएंगे। असामाजिकता का आरोप इस उपन्यास की कलात्मक ऊंचाई और शिल्प-गौरव को नीचा नहीं दिखा सकता। एकान्त के क्षणों का महत्त्व, व्यक्तिवादी पात्रों के जीवन का उल्लास और उनकी समस्याएं यत्र-तत्र उपन्यास के नये शिल्प (प्रतीकात्मक शिल्प) में गुंथी मणिकाएं है जिनमें हर मणि की अपनी महिमा है। इसमें पत्नी का मौन समर्पण, प्रेयसी का उष्णालिंगन, परकीया का नवाकर्पण और स्वकीया के प्रति विरक्ति का रूपक बांधा गया है। 'नदी के द्वीप' वस्तुतः हिन्दी उपन्यास शिल्प यात्रा मे एक माइल स्टोन है। इसके शिल्प की यह विशेपता है कि इसके हर पात्र का पाठक के सामने आकर प्रतीक जुटाते हुए आत्मान्वेपण करना तथा अन्य पात्रों के जीवन के अन्तस् मे प्रवेश की चेप्टा करना मानवीय संवेदना को आत्मपरक बना कर रूपायित करने का सफल प्रयास है।

पर 'नदी के द्वीप' को ही प्रतीकात्मक शिल्प-विधि की सर्वश्रेप्ठ रचना नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के निर्णय देने का दु.साहस मैंने कही नही किया। मेरी दृष्टि सदैव हिन्दी उपन्यास शिल्प को बदलते परिप्रेक्ष्य में एक जिज्ञासु अनुसधाता के नाते देखने-परखने की रही है। 'नदी के द्वीप' के प्रकाशन के साथ-ही-साथ एक ही दशक मे (सन् ५१ से ६० तक) प्रतीकात्मक उपन्यासों की एक बाढ़ हिन्दी साहित्य में आई और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि हिन्दी के एक भी आलोचक ने सन् ६२ तक इस ओर दृष्टि डाल कर इसका मूल्यांकन न किया। इसे नये शिल्प या प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार ही नही किया। प्रत्येक आलोचक अपने दृष्टिकोण से इन उपन्यासों को नये शिल्प की संज्ञा से अभिहित तो करता गया, मगर यह नयापन क्या है, कैसे आया इसका पर्यवेक्षण किसी ने न किया। मुझे यह सब देखकर कुछ आश्चर्य, कुछ ग्लानि भी हुई कि हमारे साहित्य मे नये शिल्प-प्रयोग करने वाले साहित्यकारों का उचित मूल्यांकन शून्य के बराबर है। अत. मैंने अपने शोध प्रबन्ध के एक भाग में साहित्य के इस अन्धकार पक्ष को शुक्लपक्ष में उद्भासित करने की योजना बना डाली और सन् ६० से ६२ तक जो कुछ प्राप्त कर सका उसे अलग-अलग अध्यायों में संयोजित कर 'प्रतीकात्मक शिल्प-विधि' शीर्पक नये शिल्प का उद्घोप किया। मैं अभी भी समझता हूं कि इस शिल्प-विधि के उपन्यासों की संख्या अभी बढ रही है और शायद कुछ रचानाएं मुझ से अछूती रह गई, इस दोप को मैं स्वीकारता हूं और आशा करता हूं कि अगले संस्करण में रही हुई महान् कृतियों का अन्वेपण कर इन्हे विवेचित करूंगा।

१. नदी के द्वीप—पृष्ठ २४३

नाटकीय आकस्मिकता के प्रवेश ने जिस द्रुत गति से हिन्दी उपन्यास शिल्प-विधि को झकझोरा, उसके विषय मे भी किसी को सदेह नही करना चाहिए। नाटकीय शिल्प-विधि ने उपन्यासो की प्रभावान्विति बढाई है। इसने वर्णनात्मक उपन्यास की अनगढता, विश्लेषणात्मक शिल्प के अति मनोवैज्ञानिक रूप विधान और मनोकथन तथा प्रतीकात्मक शिल्प विधि की दुरूहता से किनारा करते हुए आधुनिक उपन्यास को सुगढ, मनोहर, आकर्षण, सुसाध्य बनाने का सुन्दर प्रयास किया है। नाटकीय शिल्प-विधि का कथाकार निश्चय ही कथा मच से बहुत पीछे हट कर मात्र निर्देशक के कार्य को सम्पन्न करने की दिशा मे दत्तचित्त रहा है। 'चित्रलेखा', 'दिव्या' और 'गुनाहो का देवता' का रचनाकार एक नये क्षितिज पर एक नवीन उपलब्धि का जयघोष कर रहा है। वह 'गोदान' के प्रेमचन्द और 'सन्यासी' के जोशी या 'नदी के द्वीप' के अज्ञेय की भाति सुधारवाद, मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रह और दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रतिपादनार्थ घटनाए नही सजोता, चरित्राकन-विधि नही बदलता अपितु अपने पात्रो को अधिक प्राणवत्ता बनाकर उन्हें सवाद रटा कर उपन्यास मच पर उतारता है, ताकि वे पाठक के मन मे उपन्यास शिल्प की परिवर्तित एव संवर्द्धित अवस्था की उद्भावना करा सकें। प्रेमचन्द और जोशी स्कूल के कथाकार अधिकतर आदर्शों की ऊहा-पोह मे या यथार्थ की लीक पीटने के कारण वर्णन और विश्लेषण प्रक्रिया मे बधे रहे हैं। नाटकीय शिल्प-विधि के कथाकार ने अपने पात्रो के सवाद प्रयोग द्वारा अन्तर्भूत सत्य का उद्घाटन किया और वह भी नाटकीय प्रभाव और कौशल के साथ।

पात्रो के अन्तर्मन मे तीव्र तनाव की अनुभूति मात्र विश्लेषणात्मक शिल्प-विधि के कथाकारो की विरासत नही है। 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' के लेखक पात्रो के अन्तर्द्वन्द्व का नया प्रक्षेपण प्रस्तुत करने मे जितने सफल हुए, शायद राजेन्द्र यादव जैसे नई पीढी के अनेक लेखक उसका शताश भी अपनी रचनाओ मे प्रस्तुत न कर पाए। नाटकीय शिल्प-विधि द्वारा विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण मे एक ओर नवीनता आई, दूसरी ओर अधिक कलात्मकता। इससे स्त्री पुरुष सबधो की टकराहट को नये स्वर देकर नये स्तर पर उतारा गया। बलात्कार पर नये प्रश्नचिह्न लगाए गए। एक बलात्कार वह है जो शरीर पर किया जाता है, मगर 'गुनाहो का देवता' मे चन्दरमाधव द्वारा 'सुधा के मन पर' किया गया बलात्कार क्या बेमानी माना जाएगा। यौन व्याधि से ग्रस्त आधुनिक मध्यवर्गीय पीढी के स्तर नाटकीय शिल्प विधि द्वारा अधिक ओजस्वी या मार्मिक रूप मे अनुगुजित हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे। परिस्थिति की अस्वीकृति, आत्मगौरव की एकान्तिकता, भाग्य की विडम्बना, नई पीढी का नया उपक्रम, वैयक्तिक सबधो की तीव्रता की प्रभावान्विति को स्थायीत्व देने का सामर्थ्य शायद नाटकीय शिल्प-विधि मे सब से अधिक है। पर नाटकीय शिल्प विधि का यह सामर्थ्य शायद शब्द के साथ इसलिए जोडा गया है कि नाटकीय प्रभाव क्षणिक ही होता है। एक स्थाई भगिमा इसे कैसे जुटाई जाए, यही विचारणीय प्रश्न सामने आया और इसी के उत्तर मे कदाचित हिन्दी कथाकार ने समन्वित शिल्प-विधि का आश्रय लिया।

वर्णनात्मकता के विस्तार और विश्लेषणात्मकता की गहनता ने जब विवाह रचा

होगा, तभी कुछ समय पश्चात् इनके संगम से समन्वय शीर्ष पुत्र जन्मा होगा। समन्वित शिल्प-विधि कोई रूपगत नवीनता लिए हुए नहीं है जैसे कि विश्लेपणात्मक या प्रतीकात्मक या प्रतीकात्मक शिल्प-विधि। वस्तुतः इसका जन्म किसी भी प्रकार के एक शिल्प की एकरसता को समाप्त करने के लिए ही हुआ। बिखरे हुए विभिन्न शिल्प-सूत्रों को जब जोड़ दिया गया, रचना समन्वित शिल्प की दोहती कहलाई। इस शिल्प-विधि में अपेक्षाकृत अधिक लचकीलापन तथा गत्यात्मकता है। तभी तो श्री इलाचन्द्र जोशी अपनी अन्तिम रचना 'जहाज का पंछी' में अपनी तरह छी अनुभूतियों, गहन मनोभावों, जटिल मनःस्थितियों, और अहं के ऐकान्तिक रूप पर वज्रप्रहार कर इस शिल्प द्वारा अपने जीवनादर्शों को रूपायित करने में सफल हुए हैं। इस रचना मे, जो कदाचित 'समन्वित शिल्प-विधि' की प्रतिनिधि रचना है, भोगे हुए अनुभवों के अलावा नायक के देखे-सुने अनुभवों की संख्या अधिक है। उद्देश्य व्यंजना की दृष्टि से अलग-अलग पात्र अलग-अलग किस्से सुनाते है—जैसे वनवारी की अकेले पुलिस वालों को मार भगाने की कथा और अन्त में धोखे में आकर स्वयं मर जाने की दास्तां, अनाथ मजीद की कथा, पचानन का पूर्ववृत्त, कोयले वाले मिस्टर ब्राउन की कुण्ठित कहानी और शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक शोषण की शिकार चश्मानशी अभागिन युवती की करुण कहानी। इस सोद्देश्य कथा को सविस्तार फुला देने के लिए वर्णनात्मक शिल्प का प्रयोग करने के पश्चात् अनमेल विवाह एवं रूढ़िवादी समाज द्वारा बहिष्कृत, दमित काम-वासना की शिकार वेला के अन्तर्द्वन्द्व को मूर्त्तरूप देने के लिए विश्लेपणात्मक शिल्प का सहारा लेकर लेखक इसे समन्वित शिल्प का रूपाकार दे देता है। इस शिल्प के प्रयोग के कारण ही कथा अधिक विश्वसनीय एवं यथार्थपरक लगी है।

आधुनिक परिस्थिति प्रसूत यह नूतन प्रयोग हमे 'चलते-चलते' और 'उखड़े हुए लोग' आदि रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। इन उपन्यासों में प्रदर्शित आदर्श और भोगे हुए यथार्थ के अन्तर्गत यौन-तृप्ति, अनैतिक संबंधों के चित्रण को ही कथाकारों ने अपना प्रतिपाद्य चुना। इन उपन्यासों में घटनाएं अतिरंजित रूप में दिखाई गई हैं और यह सब नव-प्रयोग की आड़ में हुआ है। जहां विश्लेपणात्मक, प्रतीकात्मक और नाटकीय शिल्प-विधि की रचनाओं में कथानक स्वल्प होता गया था, वहां समन्वित शिल्प में पुनः एक बार वह उत्तरोत्तर स्थूल, व्यापक और अतिरंजक रूप में रूपायित हुआ है। तब तो, इसे 'ज़मीन गोल है' का उदाहरण मानना होगा। अर्थात् उपन्यासकार का मन घूम-फिर कर फिर कथानक के चक्रव्यूह में जा फंसा। वह पात्रों की आकृति, प्रकृति का विवेचक बनने के मोह को न त्याग सका। वह प्रत्येक घटना के कारण और परिणाम से स्वयं हमें परिचित कराने की सुविधा को पाने के साधन जुटाने लगा। एक बार उसे फिर खुलकर भाषण देने, भाषणों की व्याख्या करने, सिद्धान्तों का विवेचन करने की, पात्रों के चरित्र संबंधी तथ्यों के विवरण देने की राह निकालनी पड़ी। वह पहले प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर और अब अन्त में प्रत्यक्ष की ओर पुनर्विलोकन करने लगा। मुखर चिन्तन भी इस विधि की रचनाओं में खुलकर हुआ है। समन्वित शिल्पी व्यक्ति का चरित्र भी अंकित करता है और मनोवैज्ञानिक विश्लेषक बन पात्रों के व्यक्तित्व का तारतम्ययुक्त चित्र भी पेश करता है। 'चलते-चलते'

में विधवा लाली का विश्लेषण व्यक्तित्व उद्घाटन के धरातल पर हुआ है। बहु-कथा प्रसार की बहुलता और अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के चित्रण पर समानाधिकार की भावना ने ही समन्वित शिल्प विधि की रचनाएं जुटाई हैं।

हिन्दी उपन्यास —आविर्भाव तथा उद्गम कालीन परिस्थितियों पर अब तनिक विचार करना भी समीचीन होगा।

हिन्दी उपन्यास का आगमन उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में होता है। यह वह शुभ काल था जिसमें पद्य के साथ साथ गद्य भी साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो रहा था। हिन्दी के युगान्तकारी कलाकार बाबू हरिश्चन्द्र ने जोर-शोर के साथ पद्य के साथ-साथ गद्य का प्रयोग और प्रचार किया। उन्होंने हिन्दी गद्य को नई भाषा और नई शैली प्रदान की। अपने भावों को नये रूपों में बांधने की योजनायें जुटाईं। निबंध, नाटक और पत्र पत्रिकाओं के क्षेत्र में तो धूम मचा ही दी, कथा के क्षेत्र में भी पदार्पण किया। उन्होंने 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा, जिसमें भारतीय नारी की समस्याओं को अंकित किया। पर इस उपन्यास की औपन्यासिकता संदिग्ध है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल से लेकर आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी तक प्रायः हिन्दी के सभी प्रसिद्ध आलोचकों ने श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना है और इसका प्रकाशन काल सन् १८८२ लिखा है जो विचारणीय है। किन्तु इधर आचार्य हजारी प्रसाद तथा डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा यह कहा गया है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार थे और उन्होंने कुछ पूर्ण तो कुछ अपूर्ण उपन्यास लिखे। 'राजसिंह', 'एक कहानी कुछ आप बीती तो कुछ जग बीती', इनके अपूर्ण उपन्यास हैं। 'पूर्णप्रकाश और चन्द्रप्रभा पूर्ण रूपांतरित उपन्यास है। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस बांकीपुर द्वारा सन् १८८९ में हुआ। डा० कृष्णलाल ने इन सभी के मत का खंडन करके हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप के विकास का काल बीसवीं शताब्दी माना है। वे लिखते हैं—' हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास देवकी नन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' है, जो सन् १८९१ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद उपन्यास का विकास बड़े वेग में हुआ और धीरे धीरे कविता और नाटक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर वह आधुनिक साहित्य का सब से अधिक लोक प्रिय अंग बन गए।"

डॉ० कृष्णलाल द्वारा अपनाये मत से हम सहमत नहीं हैं। उपन्यास गद्य साहित्य का एक प्रधान स्वरूप है और इसका जन्म गद्य के विकास के साथ साथ नहीं तो केवल कुछ वर्षों के ही पश्चात् होगा न कि पूरी अर्ध शताब्दी के बाद जैसा कि डा० साहब ने लिखा है। और फिर वे अपनी ही समृद्ध लेखनी द्वारा अपने ही मत का खंडन भी कर गये हैं, शायद यह उन्हें पता भी नहीं चला। पहिले में लिखते हैं—"हिन्दी में उपन्यास के साहित्यिक रूप का विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ।"[३] और दूसरी ही पंक्ति में लिख देते हैं कि चन्द्रकान्ता हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। इतनी बड़ी चूक इतने बड़े

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पांचवां अध्याय उपन्यास से

३ वही—

लेखक की, यह तो वही जाने, हमें तो यही निवेदन करना है कि यह उन्हे शोभा नही देती। चन्द्रकान्ता से पूर्व लिखे गये उपन्यासों का उन्होंने वर्णन तो किया है किन्तु उनमें से कुछ का प्रकाशन बीसवीं शताब्दी में माना है। और कुछ का अस्तित्व ही स्वीकार नही किया। जबकि अन्य साहित्यकारों ने अपने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहासों तथा अन्य निबन्धो मे 'चन्द्रकान्ता' से पूर्व छपे अनेक उपन्यासों का वर्णन किया है, जिनमे श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षगुरु' (१८८२), पं० किशोरीलाल गोस्वामी रचित 'प्रणयिनी प्रणय' पंडित बालकृष्ण भट्ट रचित 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) तथा 'सौ सुजान एक अजान' और राधाकृष्ण दास द्वारा रचित 'निस्सहाय हिन्दू' बहुत प्रसिद्ध हुए है।

हिन्दी उपन्यास के जन्म के बारे में एक निश्चित धारणा बनाने से पूर्व हम आगे नहीं बढ़ सकते। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा प्रेरित 'पूर्णप्रभा चन्द्रप्रकाश' को अधिकतर आलोचकों ने मराठी से अनुवादित कृति माना है, किन्तु 'परीक्षा गुरु' के बारे मे अधिक वाद-विवाद अब नहीं रहा है और इसे मुक्त कण्ठ से हिन्दी उपन्यास साहित्य की प्रथम कृति मान लिया गया है जिसका प्रकाशन सन् १८८२ मे हुआ। सन् १८८२ से १९१७ तक के ३५ वर्षों में इसने अपनी पहली यात्रा पूरी की जिसमे संविधानात्मक योजनाओं का अभाव है। हिन्दी उपन्यास के इस शैशव काल मे शिल्पगत गठन के अभाव का कारण तत्कालीन परिस्थितियां हैं, जिनपर विचार कर लेना नितान्त आवश्यक है।

उद्गमकालीन परिस्थितियां

राजनैतिक परिस्थिति

अपनी आरम्भिक अनगढ़ अवस्था के समय हिन्दी उपन्यास तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधि की ओर झाक रहा था। राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष मे अंग्रेजों का एकछत्र राज्य स्थापित हो चुका था। १८५७ के युद्ध में भारतीयों के सामूहिक प्रयत्न को विफल बनाने के पश्चात् वे निश्चित नही बैठे अपितु भविष्य में उठने वाले संकटों की आशका को सदैव के लिए दूर हटाने के लिए उन्होंने अनेक राजनैतिक दांव-पैच खेले। इस दिशा में उन्होंने सबसे पहिला कदम यह उठाया कि भारतीयों की एकता को अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा विघटित किया। साम्राज्य भावना उनकी रग रग में प्रवेश कर चुकी थी, अतएव इसे स्थायी बनाये रखने के लिए उन्होने दूसरी योजना यह अपनायी कि भारतीयों की सास्कृतिक परम्पराओं को परिवर्तित करने के लिए ईसाई मिशनरी भेजे। जो यहां की जनता की भाषा और भावो को बदलने लगे। इनके अतिरिक्त अधिक से अधिक अग्रेजी ढ़ग के स्कूल और कॉलेज खोले गए जिनमें शिक्षा प्राप्त युवक भारतीयता और भारतीय साहित्य के नाम तक से नाक भौं सिकोड़ने लगे। वे अंग्रेजी सीखने और बोलने ही में अपनी शान समझने लगे और अग्रेज अपनी कूटनीति में सफल होकर मौज के साथ शासन करने लगे। प्रेम नीति पर अवलम्बित उनकी राजनीति शतप्रतिशत सफल रही।

सामाजिक परिस्थिति

अंग्रेजों की राजनैतिक दूरदर्शिता के फलस्वरूप भारतीय समाज की अवस्था भी

शोचणीय हो गई। वर्ण व्यवस्था ने अति रुद्र रूप धारण कर लिया था। प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज भारतीय समाज के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करते थे किन्तु अप्रत्यक्ष उपायों द्वारा वे उसे भीतर से खोखला बना रहे थे। हिन्दू समाज को अन्धविश्वासों व परम्परागत रूढ़ियों ने जकड़ रखा था। वृद्ध विवाह, बाल विवाह, अनमेल विवाह, सती प्रथा, देवदासी प्रथा, विधवाओं की शोचनीय दशा, छूत अछूत आदि सामाजिक समस्यायें भयंकर रूप धारण कर चुकी थीं। मुसलमानों के भीतर हीनता की भावना घर कर चुकी थी। राजनीतिक दाव पर सब कुछ हार जाने के पश्चात वे उदासीन हो चले थे। उन्होंने एक लम्बे समय तक अंग्रेजी भाषा तथा साहित्य का बहिष्कार किए रखा और बीसवीं शताब्दी से पहले वे सामूहिक रूप से पिछड़े ही रहे।

समाज में योग्यतम व्यक्तियों का अभाव रहा हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु अधिकांश शिक्षित वर्ग और जनसाधारण में एक रेखा खिंच गई थी और शिक्षित समाज जनता की उपेक्षा करके अंग्रेजों का पिछलग्गू बन गया था। कतिपय लोगों के स्वार्थ हित के लिए अशिक्षित लोगों के अधिकारों पर छुरी चलाई जा रही थी। हिन्दुओं में पढ़े लोग तथा ज्योतिषी मनमानी कर रहे थे और मुसलमानों में काज़ी, मुल्ला अपना हुक्का आराम से पी रहे थे। जीवन विशृंखल हो चला था। अंग्रेजों द्वारा आयोजित प्रत्येक सुधार का जनसाधारण द्वारा मोह, आशा और चाह से देखा जाने लगा। रेल, प्रेस और पोस्ट आफिस की सुविधाओं की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की जाने लगी और समाज विशेषकर मध्यवर्ग में अकर्मण्यता बढ़ी।

धार्मिक परिस्थिति

एक ओर तो इस प्रकार की स्थिति चल रही थी। दूसरी ओर कुछ लोग समाज सुधार और धर्म में संशोधन करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे थे। बंगाल में ब्रह्म समाज की स्थापना और मध्य भारत में आर्य समाज का आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध की दो युगान्तकारी घटनाएं हैं। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा विघटित तथा समाज भ्रामक का संगठित करने का प्रशस्त पथ तैयार किया, तथा पश्चिमी विचारों के बढ़ते हुए प्रभाव को क्षीण करने में विशेष योग दिया। ये दोनों आन्दोलन सामाजिक होते हुए भी मूलतः धार्मिक थे।

ऋषि दयानन्द आर्य समाज का जन्म १८७५ में हुआ, ठीक उसी समय हिन्दी उपन्यास जन्म ले रहा था। दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में धर्म के खोखले स्वरूप की खूब खिल्ली उड़ाई और उसके यथार्थ लक्ष्य की ओर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया। जिससे जहां एक ओर यह उपकार हुआ कि ईसाई पादरियों के प्रचार का क्षेत्र सीमित हो गया वहां दूसरी ओर धार्मिक उत्तेजना बढ़ी सनातन धर्म और आर्यसमाज में एक होड़ लग गई और किशोरीलाल गोस्वामी सदृश कट्टर पंथी लोगों ने नये सुधारों की ओर उदासीनता दिखाई अंग्रेजी और मुसलमानों में गोवध प्रचलित था अतएव हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचाती थी। श्री राधाकृष्णदास आदि लेखक इस भावना से अभिभूत हुए।

आर्थिक परिस्थिति

आर्थिक दृष्टि से दो वर्ग स्थापित हो चुके थे। एक जमींदार अथवा शोषक वर्ग और दूसरा सर्वहारा अर्थात् शोषित किसान वर्ग। धन और अन्न की उपजों वाले कृषकों के हाथ से भूमि छिन चुकी थी और गिने-चुने भूधरों को सौंप दी गई थी। ये बड़े-बड़े भूधर अंग्रेज़ों की शोषण नीति का समर्थन करते थे और उनका सारा शोषण इसी वर्ग के द्वारा हो रहा था। गरीब अधिक से अधिक गरीब होते चले जा रहे थे और अमीर अधिक से अधिक अमीर। इन दो वर्गों के बीच एक तीसरा वर्ग भी जन्म ले चुका था जिसे मध्य-वर्ग के नाम से पुकारा जाने लगा। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति और नैतिक सिद्धान्तों का परिचय हिन्दी उपन्यास के प्रथम चरण में मिल जाता है। आर्थिक शोषण का एक और उपाय अंग्रेज़ी ढंग की अदालतें भी इसी युग में सामने आईं। समग्र रूप से अंग्रेज़ों ने डटकर हमारा शोषण किया। इस युग की अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति की आलोचना करते हुए डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय लिखते है—"अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति के कारण यदि एक ओर भारतवर्ष की कृषि सम्पत्ति का ह्रास हुआ तो दूसरी ओर उद्योग-धन्धे और वाणिज्य व्यवसाय पूर्ण रूप से नष्ट हो गए। उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के एकमात्र साधन कृषि के ह्रास से भी अधिक भयावह परिणाम हुआ। शासकों की नीति के कारण भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश रह गया था।"[४]

मैं आपके मत से पूर्णतः सहमत हूं। इस देश की उन्नति मन से अंग्रेज़ों ने न तो चाही ही है और न ही वह उनके लिए हितकर ही सिद्ध होती। वे हमे आर्थिक, नैतिक और सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक तौर पर पिछड़े हुए रखना चाहते थे। हमारे ही द्वारा उत्पादित कच्चे माल को ले जाकर वापस हम पर ही ठौंस देते थे और इस प्रकार करोड़ों का लाभ उठाते थे। इससे जनसाधारण की निर्धनता बढ़ती ही गई। हमारी राष्ट्रीय आय में कोई वृद्धि न हुई। हमें उच्च स्तर पर सोचने और बढ़ने का समय ही न मिला।

सांस्कृतिक परिस्थिति

सामाजिक अराजकता और आर्थिक विषमता का सीधा प्रभाव हमारे सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। रेल का यातायात, प्रेस की सुविधाएं और उच्च शिक्षा का योग केवल उच्च वर्ग के लोगों तक ही सीमित रहा। इस प्रकार अंग्रेज ने दुहरी चाल चलकर हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं को नष्ट-भ्रष्ट किया। एक ओर तो उन्होंने उच्च वर्ग को अंग्रेज़ियत के नशे में चूर रखा और जन-साधारण को अशिक्षित बनाए रखा। 'परीक्षा गुरु' के मुख्य पात्र मदनमोहन सदृश हजारों ही नहीं लाखों नवयुवक झूठी सम्मान भावना, अकर्मण्यता तथा अंग्रेज़ों की नकल आदि दुर्वृत्तियों के शिकार हो चले। वे अपनी संस्कृति का मजाक उड़ाने लगे। दूसरी ओर ईशाई मिशनरियों द्वारा पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का प्रचार किया जाने लगा इसका मुख्य उद्देश्य धर्म प्रसार था। और भारतीयों

---

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य (पीठिका से) पृष्ठ ८४

को नवीन शिक्षा द्वारा नव संस्कार डालना था।[५] इससे वे हमारे भाषा, भावों और विचारों पर छाते चले गए। हम उनके मस्तिष्क से सोचने और उनके मुख से बोलने लगे। किशोरीलाल गोस्वामी, राधाकृष्ण दास आदि को यह बढ़ता हुआ सांस्कृतिक दासत्व अत्यधिक अखरा और इसके फलस्वरूप उन्होंने स्वतन्त्र भारतीय दृष्टिकोण को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उपन्यास रचना की।

साहित्यिक गतिविधि

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में जबकि हिन्दी उपन्यास पनपने लगा था, साहित्य को गोष्ठी-साहित्य की सीमाओं से बाहर निकालकर जन-साधारण के निकट लाने का सुप्रयत्न होने लगा था। प्रेस का प्रसार हो गया था अतः पत्र पत्रिकाओं की धूम मच गई। श्री श्यामसुन्दर दास जी ने सन् १८९५ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की स्थापना की और श्री किशोरीलाल गोस्वामी जी ने १८९८ में 'उपन्यास' नामक मासिक पत्र निकाला जिसमें उनके छोटे-बड़े कुल ६५ उपन्यास प्रकाशित हुए।

विकास की दिशा

इस शताब्दी में लिखे गए उपन्यास साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर एक बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है वह है उसमें उपलब्ध परिवर्तित भारतीय समाज की रूपरेखा। इस पक्ष पर हम कोई विशिष्ट शिल्प मिले या न मिले किन्तु भावनाओं का अपूर्व स्रोत बहता हुआ अवश्य मिलता है। श्रीनिवासदास से लेकर किशोरीलाल गोस्वामी तक सभी उपन्यासकारों के मन में भारतीय समाज का एक विशिष्ट रूप घर किए बैठा था, जिसे उन्होंने अपने साहित्य में चित्रित किया है।

चमत्कारपूर्ण घटनाओं की ओर जनता अधिक मोह रखती थी। उसकी कौतूहल तृप्ति हित देवकीनन्दन खत्री गोपालराम गहमरी और व्रजनन्दन सहाय अवतरित हुए। इनमें से देवकीनन्दनखत्री ने विशेष प्रसिद्धि पाई। इन्होंने हिन्दी जनता का एक कभी न भूलने वाला उपकार किया। हिन्दी के प्रति भारतीय जनता को आकृष्ट कर उन्होंने हिन्दी पाठकों की जन-संख्या बढ़ाई।

अब संक्षेप में हिन्दी उपन्यास के विभिन्न धरातलों पर मनन करें।

धरातल से हमारा तात्पर्य वे विषय हैं जिनकी आधार भूमि पर उपन्यास रूपी भवन तैयार होता है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

---

५ ईसाई मिशनरियों का प्रधान उद्देश्य तो ईसाई धर्म का प्रचार करना था, लेकिन भारत जैसे प्राचीन देश में विचार शैली परिवर्तित किए बिना केवल धर्म का प्रचार करना दुष्कर कार्य था इसलिए नवीन शिक्षा प्रणाली प्रचलित करने की पूरी कोशिश की। आधुनिक हिन्दी साहित्य

डॉ० वार्ष्णेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ६५

हिन्दी उपन्यास—विविध धरातल

समाज

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष में एक नये समाज (मध्यवर्गीय समाज) का उदय हुआ। आगे चलकर यह वर्ग जहां एक ओर समाज और राष्ट्र की रीढ बना वहां दूसरी ओर अपने आरम्भिक रूप से ही साहित्य के लिए उपयोगी धरातल भी सिद्ध हुआ। हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' इसी धरातल पर निर्मित हुआ। इसका नायक मदनमोहन मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं में उलझा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस समाज की प्रमुख समस्या दिखावा और आर्थिक विवशता है। जर्जर तन पर सफेद ठाठ किए विना इसे चैन नहीं मिलता। भले ही ऋण लेना पड़े या गवन करना पड़े।

उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश उपन्यासकारों ने अपने पात्रों का चुनाव इसी वर्ग से किया है। किशोरीलाल गोस्वामी, मेहता लज्जाराम आदि उपन्यासकारों ने इस वर्ग की रोमांटिक भावनाओं का सफल चित्रण किया है। निम्न मध्य वर्ग तथा किसान, मजदूरों की ओर इन उपन्यासकारों की दृष्टि नहीं पड़ी। एक और वात द्रष्टव्य है। इन उपसकारों ने इस वर्ग की भावनाओं का चित्रण भर किया है, प्रेमचन्द और जोशी की भांति इन्होंने इनकी समस्याओं का विशद् वर्णन या सूक्ष्म विश्लेपण नहीं किया। यही कारण है कि मध्य वर्ग की अवस्था डावांडोल रही और इनके पात्र और घटनाएं उपन्यास साहित्य को कोई निश्चित स्वरूप प्रदान न कर पाए। इनका साहित्य कोरी कल्पना लिए होता था, जीवन की तीव्र अनुभूति और स्मृति लिए नहीं। न ही इनके सामने कोई शिल्पगत परम्परा थी और न ही ये भाषा और शैली को भावानुकूल अभिव्यक्त करना चाहते थे। उपन्यास लिखना इनका ध्येय ही नहीं था। अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनके मतानुसार गोस्वामीजी ही उस युग के एकाकी मौलिक उपन्यासकार थे।[६]

परिवार

पारिवारिक उपन्यासों का प्रचलन प्रेमचन्द के 'निर्मला' के साथ हुआ। चतुरसेन शास्त्री कृत 'हृदय की परख' यज्ञदत्त रचित 'परिवार' और जैनेन्द्र रचित 'सुनीता' आदि उपन्यास मानव की समस्याओं को चित्रित करने के लिए लिखे गए हैं।

व्यक्ति

व्यक्ति को ही सर्वस्व मानकर उसकी वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं को

---

६. "इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गए। हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ संख्या ५०० — हिन्दी साहित्य का इतिहास

चित्रित करनेवाले उपन्यासों का सूत्रपात जोशी द्वारा किया गया है। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने इस क्षेत्र में पर्याप्त सहयोग दिया।

धर्म और नीति

समाज और परिवार के साथ-साथ धर्म और नीति भी उपन्यासों के लिए आवश्यक सामग्री जुटाने लगे। इनकी आधारशिला पर कुछ ऐसे उपन्यास भी लिखे गए, जिनमें से अधिकांश का नाम भी कोई नहीं जानता और जो खोज के विषय हैं किन्तु मेरे शोध क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते। उपलब्ध उपन्यासों में पं० बालकृष्ण भट्ट कृत 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) तथा श्री राधाकृष्णदास रचित 'निस्सहाय हिन्दू' (१८६०) प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, परन्तु मेरे विषय की सीमा रेखा से बाहर होने के कारण ये विस्तारपूर्वक विवेचित नहीं हुए।

'नूतन ब्रह्मचारी' कुल ८७ पृष्ठों में लिखा गया एक लघु उपन्यास है। उपन्यास के नायक 'विनायक' की नैतिक विजय में ही इसका महत्व दृष्टिगोचर होता है, अन्यथा घटना चक्र अस्वाभाविकताओं से परिपूर्ण है। 'निस्सहाय हिन्दू' गोवध निवारण के धार्मिक विषय को लेकर लिखा गया उपन्यास है। इसका कथानक भी ऊबड़ खाबड़ है और कथा का अन्त अपरिपक्व है।

धर्म और नीति के साथ प्रेम प्रधान आख्यान लेकर रचा गया एक उल्लेखनीय रचना 'नूतन चरित्र' भी है। इसके लेखक श्री रत्नचन्द्र प्लीडर ने इस में जगह-जगह नीति वाक्यों की बौछार ही लगा दी है। उर्दू-फारसी किस्से कहानी की शैली पर लिखे गए इस उपन्यास में नवाबों की विलासिता और नटियारियों की विचित्र लीलाएँ पढ़ने को मिलती हैं। मनोरंजक होने पर भी एक विशिष्ट स्वरूप न रखने के कारण हम इसका अभिनन्दन नहीं कर सकते।

प्रेम

प्रेम एक ऐसा स्थायी भाव है, जिसका स्रोत अविच्छिन्न रूप से मानव मन में बहता रहता है। इसके किसी न किसी स्वरूप का चित्रण प्रत्येक कृति में हुआ करता है। विश्व का आधे से अधिक साहित्य इस उदात्त भावना की आधार शिला पर टिका है, फिर भला हिन्दी उपन्यास ही इससे अछूता क्यों रहता। संस्कृत की कथा के विविध विधि विधानों में घूमता हुआ यह भाव-चक्र हिन्दी उपन्यास के तत्कालीन स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ। ठाकुर जगमोहनसिंह द्वारा 'श्यामा स्वप्न' (सन् १८८०) में इसका सफल चित्रण हुआ आप मध्यदेश में स्थित राघवगढ़ के राजकुमार थे और भारतेन्दु बाबू की मण्डली के एक रंगीले सदस्य थे। संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों साहित्यों का आपने संतुलित अध्ययन किया था। इसके पश्चात् श्यामा स्वप्न लिखा। इसके संबंध में श्री विजयशंकर मल्ल लिखते हैं—"'श्यामा स्वप्न' स्वच्छन्द प्रेम की कहानी है, विभिन्न उपकरण रीतिकालीन प्रेम प्रसंगों से एकत्र किए गए हैं। इसमें नायक, सखी, दूती, विरह, मिलन आदि के वर्णन रीतिकालीन परिपाटी के हैं, पर इस कथा में स्वच्छन्द प्रेम, गान्धर्व विवाह का औचित्य

प्रतिपादन, क्षत्रिय कुमार का ब्राह्मण कुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव—इन सबकी जो योजना की गई है वह ऐसे ढंग की है कि प्रेम और विवाह के संबंध मे कठोर सामाजिक रूढ़ियों के प्रति तत्कालीन शिक्षितों में व्याप्त असंतोष भली भांति व्यक्त हो जाता है। यह रचना यद्यपि गद्य प्रधान है पर अपने प्राचीन काव्य संस्कारो के कारण इसमें अलंकृत और चित्रात्मक वर्णनों की भरमार है और साथ ही सरस शृंगारी कविताओं का भी बाहुल्य है।"[७] इनके अतिरिक्त पंडित रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी इस उपन्यास के रम्य स्थलों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

इतिहास

कतिपय उपन्यासकारों ने समाज के साथ-साथ इतिहास के धरातल पर अपने उपन्यास खड़े किए। किशोरीलाल गोस्वामी हिन्दी के पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार है, परन्तु आपके ऐतिहासिक उपन्यासों में काल दोष स्पष्ट दिखाई देता है। युग विशेष के आचार-व्यवहार, वेष-भूषा और भाषा तथा भावों को अभिव्यक्त करने में आप सफल नहीं हो पाए। मुगल युगीन चित्रण कल्पना प्रधान अधिक हैं। ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि उन्होने इतिहास का गम्भीर अध्ययन किए बिना ही उपन्यास लिख डाले है। तभी तो अकबर के दरबार में पेचवानी (हुक्का) दिखाया गया है, जबकि उस समय तम्बाकू का प्रचलन नहीं हुआ था।

तारा, चपला, तरुण तपस्विनी, रजिया बेगम, लीलावती, राजकुमारी लवगलता, १८९० 'हृदयहारिणी' १८९०, 'हीराबाई', 'लखनऊ की कब्र' आदि इनके ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक भूलों से परे पड़े है। इनमें से प्रथम 'तारा' विशेषतः वर्णन करने योग्य है। इसकी नायिका तारा है, जो कि राठौर कुल मे उत्पन्न महाराणा अमरसिंह की पुत्री है। आगरे में शाहजहां का राजभवन काम-क्रीड़ाओं की रगस्थली के रूप में चित्रित किया गया है। ऐतिहासिक पात्रों की दुर्दशा विचारणीय है। तारा सदृश कुलीन भारतीय विदुषी में उच्छृंखलता और कामुकता का प्रदर्शन अवश्यमेव निन्दनीय है। तारा के ऐतिहासिक और सास्कृतिक जीवन को एक अजीब से तिलस्मी और ऐयारी वातावरण में प्रस्तुत किया गया है जिसकी भर्त्सना प्रायः हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित आलोचकों द्वारा हुई है।

'तारा' में चमत्कारपूर्ण घटनाओं को पढ़कर ऐयारी की गन्ध आने लगती है और गोस्वामीजी के लिए यह कोई नई बात नही है। उन्होने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त जासूसी, तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास भी लिखे इसीलिए ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मी तथा ऐयारी चक्र घुमाए है। मुसलमान पात्रों की अपेक्षा हिन्दू पात्रो के साथ अधिक सहानुभूति दिखाने के कारण उन्होने दारा जैसे पात्रों के मुख पर कालिख पुतवा दी है।

---

७. आलोचना के उपन्यास विशेषांक के 'उदय काल : प्रेमचन्द के आगमन तक' नामक लेख से—पृष्ठ ७०

तिलिस्म एवं ऐय्यारी

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हिन्दी उपन्यास का प्रमुख आधार तिलिस्म और ऐय्यारी बना। सन् १८९१ में देवकीनन्दन खत्री द्वारा रचित 'चन्द्रकान्ता' प्रकाशित हुआ और इसके शीघ्र बाद 'चन्द्रकान्ता सन्तति' छपी। 'चन्द्रकान्ता' चार भागों में और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (२४) भागों में छपी। इनका छपना हिन्दी संसार में एक धमाका सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु कालीन गोष्ठी साहित्य से जनता का मन ऊब चुका था। अत्यधिक सुधारवादी रचनाएं पढ़ते-पढ़ते लोग थक गए थे। उन्होंने मनोरंजन प्रधान साहित्य की आवश्यकता अनुभव की। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास साहित्य का जन्म हुआ।

प्रश्न उठता है तिलिस्म एवं ऐय्यारी किस अर्थ में उपयुक्त होते हैं। तिलिस्म फारसी का शब्द है जिसका अर्थ है जादू का घर। ऐयार का मतलब है—चालाक। पहले-पहल तिलस्म को आधार बनाकर अकबर के प्रसिद्ध कवि फैजी ने 'तिलिस्म होशरूबा' नामक बीस हजार पृष्ठों की पुस्तक लिखी। यह मूल रूप में फारसी में लिखी गई थी फिर उर्दू भाषा में इसका अनुवाद हुआ। हिन्दी के उपन्यास साहित्य में तिलस्म का प्रवेश कराने का श्रेय देवकीनन्दन खत्री जी को दिया गया है। मुंशी प्रेमचन्द जी के मतानुसार इन उपन्यासों का बीजांकुर इन्हें फैजी की रचना 'तिलस्म होशरूबा' से प्राप्त हुआ।[८] मुंशी जी के मत से हम अधिक सहमत नहीं हैं। वास्तव में चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्ता सन्तति मौलिक रचनाएं हैं। खत्री जी की कल्पना शक्ति बहुत उर्वर थी। उन्होंने तिलस्म शब्द भले ही फैजी की प्रेरणा से लिया हो किन्तु एक बार इस विषय पर कलम उठाकर अन्त तक उसका निर्वाह अपने ढंग से किया है। उनके काल्पनिक तिलस्म अनन्त धन-राशि का भण्डार हैं जिनका पता हर ऐरे-गैरे व्यक्ति को नहीं है, केवल गिने-चुने ऐयार (छटे हुए चालाक) लोगों को है जो हवा की तरह कहीं से कहीं उड़ सकते हैं, पल भर में वेश बदल लेते हैं और देखते-देखते आंखों में धूल झोंक डालते हैं। अपने बटुए और कमन्द के द्वारा वे किसी को भी वशीभूत करके तिलस्म की कैद में डाल देते हैं। वहां से छुटकारा दुर्लभ ही नहीं असम्भव लगता है, क्योंकि तिलस्म के द्वार जादू के बने हुए हैं, उनमें माया के ताले लगे रहते हैं और भीतर की सभी कोठरियां रहस्यपूर्ण हैं।

तिलस्म के खुलते ही बहिश्त (स्वर्ग) का नजारा (दृश्य) सामने आ जाता है। एक ओर नन्दन वन है तो दूसरी ओर कल्पतरु। कहीं मीठे पानी का झरना फूट पड़ा है तो कहीं सोने-चांदी, हीरे जवाहरात का ढेर लगा है। इस तक पहुंचना अतुल साहस एवं धैर्य का काम है। और फिर इस खोलने का भेद भी किसी को ज्ञात नहीं। वह किसी पुस्तक में लिखा पड़ा है और पुस्तक भी गायब कर (छुपा) दी गई है। तिलिस्म का टूटना जिस भाग्यवान के मस्तक पर लिखा होगा वही उस पुस्तक को पा सकेगा। इस प्रकार की वैचित्र्यपूर्ण असाधारण घटनाओं से परिपूर्ण यह घरानों हिन्दी उपन्यास को दुर्भाग्य

---

८ कुछ विचार—पृष्ठ ३०

वरदान सिद्ध हुआ कि इसने हिन्दी पाठकों की संख्या दस गुणा कर दी। हर व्यक्ति रेलवे बुक स्टाल पर तिलिस्मी उपन्यास ढूंढने लगा। देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रस्तुत परम्परा को उनके पुत्र दुर्गादास खत्री और अन्य लेखकों ने जारी रखा।

तिलिस्मी उपन्यासों को आचार्य हजारीप्रसाद जी ने साहित्यिक लकलका कहा है। वे लिखते हैं—"अति प्राकृत, अद्भुत और असाधारण घटनाओं से आश्चर्यजनक परिस्थितियों का निर्माण तिलस्माती कथानकों का प्रधान आकर्षण था। इन कथानकों में 'लकलका' नामक एक प्रकार की मादक वस्तु के प्रयोग का प्रसंग प्रायः आता ही रहता है जिसके सूंघने से मनुष्य बेहोश हो जाता है। तिलस्माती उपन्यासों का वातावरण भी साहित्यिक 'लकलका' है। वह पाठक को बेहोश और अभिभूत कर देता है, वह कथानक के उद्देश्य, गठन और पात्रों के साथ उनके संबंध की, और पात्रों के मनोवैज्ञानिक विकास की बात सोच ही नहीं सकता।"[९] यह लकलका हमारे विचार में हिन्दी पाठक को सुलाने अथवा बेहोश करने के लिए नहीं रखा गया। अपितु काल्पनिक संसार की सैर कराने के लिए रखा गया है। रहा प्रश्न कथानक के उद्देश्य और गठन तथा उसके पात्रगत संबंध का, उसका समाधान पहले ही किया जा चुका है। प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व हिन्दी उपन्यास में स्वरूपनिष्ठा का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मनोविज्ञान का अध्ययन उस समय तक हिन्दी उपन्यासकारों ने नहीं किया था, तब उसकी प्रतिष्ठा वे कैसे कर पाते। आगे चलकर आचार्य जी ने स्वीकार किया है—"उपन्यासों की जो सबसे बड़ी विशेषता—मनोरंजन है, उसे प्राप्त करने की दुर्दम लालसा उन्होंने अवश्य उत्पन्न कर दी।"[१०] यह क्या कम उपकार की बात है कि हिन्दी के प्रति उपेक्षित जनता की प्रवृत्ति को मोड़कर हिन्दीमयी बनाना। मनोरंजन के लिए इस काल्पनिक विधा के अतिरिक्त और कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर हो सकता था?

जासूस

घटना वैचित्र्य के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तन कर उसे अधिक विश्वसनीय एवं रोचक बनाने के लिए उपन्यास को एक नया धरातल मिला है—वह है जासूस। जासूसों के प्रवेश के साथ ही साथ उपन्यास में रहस्यपूर्ण रोमांचकारी घटनाओं की अभिवृद्धि हुई। एक बार को सनसनी उत्पन्न कर देनेवाले जासूसी उपन्यास श्री गोपालराम गहमरी जी की देन है। इनके द्वारा एक और उपकार भी हुआ। घटनाओं में क्रममयता आने लगी। उपन्यास रूप विधान की ओर बढ़ा और उसका एक ढांचा तैयार होने लगा।

इन धरातलों पर हिन्दी उपन्यास रचा गया। इस परिचय के पश्चात् अब तनिक उपन्यास की प्रविधि के अन्तर्गत इसकी सोद्देश्यता पर भी मनन किया जा सकता है। आभ्यांतरिकता के प्रवेश ने लक्ष्य का अर्थ ही बदल दिया है। उपन्यासकार की मूल संवेदना ही जब बदल गई, उसकी सुधारवादी दृष्टि ही जब परिवर्तित हो गई तब उसने अपनी

---

९. डॉ० हजारीप्रसाद : हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ४१८
१०. वही—पृष्ठ ४१८

रचना सामग्री भी बदली और रचना-विधि भी। इस परिवर्तन की ओर दृष्टिपात करते हुए एक आलोचक लिखते हैं— प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासों में हम हाथ, पैर, कान, आंख की ही करामात अधिक मिलती है। हां आधुनिक यथार्थवादी उपन्यासों में बाह्य इन्द्रियों की कम परन्तु मन की करामात ही अधिक मिलती है। मन की जादूगरी से आधुनिक उपन्यासों में आत्मानिरतता की जो एक भनक आ जाती है उससे चरित्रों के प्रति पाठकों का विश्वास जम जाता है।[11]

एक ओर सुधारवादी उपन्यासकार ने अपने हाथ-पैर और विचार फैला कर उपन्यास को कथात्मक विस्तार देकर इसे बृहद् रूपाकार दिया तो दूसरी ओर युगधर्मी उपन्यास की निरंतर यथार्थोन्मुखता ने स्थूल चित्रण से त्राण पाकर, अपने हाथों को खींच कर कथात्मक संकुचन प्रविधि का परिचय दिया। आधुनिक काल में प्रेमचन्द से लेकर राजेन्द्र यादव तक जो कथा प्रयोग होते रहे, या हो रहे हैं उनमें गद्य शैली में भी परिवर्तन आया। एक ओर सज्जित शैली (Ornate style) से गुम्फित रचनाएं सामने आईं, जिनमें जोशी रचित 'संन्यासी', अज्ञेय रचित 'नदी के द्वीप' तथा प्रभाकर माचवे रचित 'परन्तु' ही प्रमुख हैं तो दूसरी ओर सरल शैली (Plain style) की रचनाएं—यथा 'गोदान', 'सुनीता', 'चित्रलेखा' और 'दबदया' प्रस्तुत हुईं। पहले खेवे के कथाकारों की शैली प्रधानतः अर्थगर्भित एवं विश्लेषणपरक है तो दूसरी श्रेणी के कथाकारों की शैली मुख्यतः सहज, वर्णनात्मक है। पहले स्कूल के कथाकार अंतर्मन में डुबकियां लगाकर व्यक्ति के अहं की ऐकान्तिकता पर डटकर प्रहार करते हैं, जबकि दूसरी परम्परा के कथाकार मानव को बाह्य जगत में घुमा फिरा कर उनकी बाह्य लीलाओं व बहिर्द्वन्द्व को सीधे सहज ढंग से घुमा-घुमा कर वर्णित कर गए हैं। सुधारवादी उपन्यासकारों का ध्यान चरित्र-निर्माण रहा है। यथार्थवादी कथाकारों का व्यक्तित्व निदर्शन। प्रेमचन्द ने होरी जैसे आदर्श चरित्र का निर्माण किया है तो विश्लेषणात्मक कथाकार जोशी नन्दकिशोर के व्यक्तित्व की ऊंचाई पर पहुंचे हैं। शान्ति, नन्दकिशोर, पारसनाथ, शेखर, शशि, भुवन, रेखा के व्यक्तित्व की उपलब्धि का श्रेय किस को? उपन्यासकार की बौद्धिक एवं अनुभूतिगत तेजस्विता को अथवा पात्रों को नये परिवेश में ले आने वाले नये शिल्प को? यदि नया शिल्प (विश्लेषणात्मक या प्रतीकात्मक) प्रकाश में न आता तो क्या इन पात्रों की तेजस्विता स्वतः रूपहीनता के गह्वर में विलीन न हो जाती। प्रश्न जटिल है। यदि उपन्यासकार की उद्देश्यप्रिय प्रवृत्ति वही बनी रहती, यदि वह पात्रों में चारित्रिकता के निर्माण कार्य में जुटा रहता, तो अवश्य ही उसका वर्णनात्मकता से पिंड छुड़ाना दुःसाध्य होता और हिन्दी कथा साहित्य को सुमन निर्मला, होरी, तारा, दिवाकर, डा० प्रशान्त जैसे पात्र ही मिलते, नन्दकिशोर, शान्ति रेखा, या ताई जैसे व्यक्तित्व की ऊंचाइयों को छू लेने पात्र उपलब्ध न होते।

हिन्दी उपन्यास शिल्प के बदलते परिप्रेक्ष्य में क्या जीवन की गतिशीलता रूपायित हुई हैं? जीवन की निरन्तरता को नये स्तर पर रूपांतर किया गया है? एक विचारणीय

११ हिन्दी उपन्यास और यथार्थ (प्रथम संस्करण) भूमिका डॉ० श्रीकृष्ण लाल —पृष्ठ ५

प्रश्न है। हिन्दी के लगभग सौ प्रतिनिधि उपन्यास पढ़कर मै पुर्नावलोकन की क्रिया-प्रक्रिया में न उलझ शिल्प की परिवर्तित, परिष्कृत,परिवर्द्धित स्थिति से आश्वस्त हो अपने को इस अध्ययन प्रविधि मे पुनः जुटा पाने के लिये दृढ़ सकल्प पाता हूं। समाज, मनोविज्ञान, नैतिक शास्त्र, इतिहास आदि के परिप्रेक्ष्य में जब व्यक्ति बदलता है, उसकी जीवन दृष्टि बदलती है, भाव बोध परिवर्तित होता है, तब इन्हें नया आयाम देने वाला शिल्प क्यों न बदलेगा और जब शिल्प बदलेगा, शिल्पी भी बदलेगा। कभी पात्रों मे सम्पृक्त होकर कभी उनसे असम्पृक्त रहकर, वह सोचेगा लिखेगा और अन्ततः वह अपनी अनुभूति की संकीर्णता के चक्र व्यूह से निकल कर जीवन और जगत की बहुमुखी जटिलताओं, गत्थियों, उलझनों को नया आयाम देगा, सतत नए शिल्प से रूपायित करेगा और इसी में उसकी इति श्री है।

परिशिष्ट (१)

(क) सहायक ग्रन्थ-सूची हिन्दी

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
	अज्ञेय		
१	आत्मनेपद	१९६०	२४८, २४९
	डा० इन्द्रनाथ मदान		
२	प्रेमचन्द चिन्तन और कला	१९५४	८३, १०४, १०५
३	प्रेमचन्द एक विवेचन	१९५५	२६, ३७, ६८, ७०, ७१
	इलाचन्द्र जोशी		
४	विश्लेषण	१९५४	२१४, २१५
५	विवेचना	१९५५	५०
६	साहित्य चिंतन	१९५५	२१५
७	देखा-परखा	१९५७	५१, ५५
	गंगा प्रसाद पांडेय		
८	हिंदी कथा साहित्य	१९५०	६९, ८३, १०४, १२२, १२३, १३३, १८८, १९१, ३३३ ३३९
	जैनेन्द्रकुमार		
९	साहित्य का श्रेय और प्रेय	१९५३	१२, १८, २८, २२३, २३७
	डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा		
१०	हिन्दी गद्य साहित्य का इतिहास	१९५४	२७२
	डॉ० त्रिभुवन सिंह		
११	हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद	१९६१	३५, १४९, १६५, २०६, ३३८, ३८९
	डॉ० देवराज उपाध्याय		
१२	आधुनिक हिंदी कथा साहित्य और मनोविज्ञान	१९५६	४७, ४८, ६९, २३८, २४२, २५७, २६१, २९३
१३	कथा के तत्त्व	१९५७	१४४
१४	विचार के प्रवाह	१९५८	२४४
१५	साहित्य चिंता	१९६६	२३३

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
	डॉ० नामवर सिंह		
१६.	आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां	१९५६	१६७
	डॉ० नगेन्द्र		
१७.	विचार और अनुभूति	१९४९	२४३, २५०
१८.	विचार और विश्लेषण	१९५५	२४८
	आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी		
१९.	आधुनिक साहित्य	१९५०	१५, १०४, १८९, २४९
२०.	नया साहित्यः नये प्रश्न	१९५५	२७, २४२, २७२
२१.	प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन	१९५६	६९, ७१, ९७, १०४, १०८
	प्रकाश चन्द गुप्त		
२२.	नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि	१९४६	३३५
	पदम लाल पन्नालाल बख्शी		
२३.	हिन्दी कथा साहित्य	१९५४	२१६
	डॉ० प्रेम नारायण टंडन		
२४.	प्रेमचन्द कला और कृतित्व	१९५०	९६
	प्रेमचन्द		
२५.	कुछ विचार	१९२०	२०, २३, ६३, ६४, ३९६
	डॉ० प्रताप नारायण टंडन		
२६.	हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास	१९५९	३५, ३७, ११४, १४९, ३३२
	बलदेव शास्त्री		
२७.	प्रेमचन्द और उनका गोदान	१९५६	११४
	बलभद्र तिवाड़ी		
२८.	इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास	१९५९	२१६, २१७
	मंमथनाथ गुप्त		
२९.	कथाकार प्रेमचन्द	१९४७	८१, ९९, १००
	महेन्द्र भटनागर		
३०.	समस्यामूलक उपन्यास कार प्रेमचन्द	१९५७	१०४
	रघुनाथ शरण झालानी		
३१.	जैनेन्द्र और उनके उपन्यास	१९५६	१३६, २४६
	डॉ० रामअवध द्विवेदी		
३२.	हिन्दी साहित्य के विकास की रूपरेखा	१९५६	२३२, २४८

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध प्रबन्ध मे प्रयुक्त पृष्ठ
	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल		
३३	हिन्दी साहित्य का इतिहास	छठा संस्करण	६३, ६६, ३८८
	डॉ० रामदरश सिंह		
३४	ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा	१९५७	१३४
	डॉ० रामरतन भटनागर		
३५	जैनेन्द्र : साहित्य और समीक्षा	१९५८	१६, २३५, २३६
३६	प्रसाद : साहित्य और समीक्षा	१९५८	१२०
	डॉ० राम विलास शर्मा		
३७	आस्था और सौंदर्य	१९६१	२९४, २९८, ३००
	डॉ० राजेश्वर गुरु		
३८	प्रेमचन्द एक अध्ययन	१९५८	९७, १०४, १०५,
	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल		
३९	हिन्दी कहानी की शिल्प-विधि का विकास	१९६०	२६
	सियारामशरण प्रसाद		
४०	वृन्दावन लाल वर्मा : साहित्य और समीक्षा	१९६०	१३७, १३९, १४०,
	डॉ० सुषमा धवन		
४१	हिन्दी उपन्यास	१९६१	११४, ११६, ११८, १९२, २३२, २४७, २६६, २७१, २७९, २८१, २८४, २९४, ३०८, ३२७, ३३२, ३३३, ३३८, ३७२, ३७६, ३८१
	डॉ० शशिभूषण सिंगल		
४२	उपन्यासकार वृन्दावनलाल	१९६०	१३२, ३५०
	डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव		
४३	हिन्दी उपन्यास	१९५९	६९, ११७, १२१, १२३, १२४, १२८, १३०, १९३, १८८, २१४, २२३, २८४, २९७, ३२१, ३२३, ३३८, ३५७
	शिवदान सिंह चौहान		
४४	आलोचना के सिद्धान्त	१९५८	५८
४५	हिन्दी साहित्य के ८० वर्ष	१९५९	१६७, ३६६
	सुरेशचन्द्र तिवारी		
४६	यशपाल और हिन्दी कथा साहित्य	१९५९	१७०

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
	डॉ० श्री कृष्ण लाल		
४७.	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	१६५०	३३१, ३८८
	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी		
४८.	आधुनिक हिन्दी साहित्य	१६५५	२१३, ३६७
	हरस्वरूप माथुर		
४६.	प्रेमचन्द उपन्यास और शिल्प	१६६०	७१, ८३, १०६,
	डॉ० प्रेम भटनागर		
५०.	सुबह के भूले (परिचय)	१६६०	२१६
५१.	निमंत्रण एक अध्ययन : साहित्यकार पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी अभिनंदन ग्रन्थ	१६५६	२७३, ३७७

(ख) सहायक ग्रन्थ-सूची : अंग्रेजी

Serial No.	Name	Year of Publication	Page
1.	A. A. Mendilow : Time and the Novel	1952	12,13, 331
2.	Carl Grabo : The Technique of the Novel	1928	203,233
3.	Edwin Muir : The Structure of the Novel	1949	23,60
4.	E. M. Forster : Aspects of Novel	1947	289
5.	Two cheers for Demoevacy	1947	11
6.	H. W. Legget : The Idea of Fiction	1934	193
7.	J. Middleton Murry : The Problem of Style	1952	30,31
8.	Joseph. T. Shipley : Dictionary of World Literary terms		10,11
9.	J. Warren Beach : The Twentieth Century Novel : Studies in Technique	1956	73
10.	Leon Edel : The Psychological Novel		30
11.	Percy Lubbock : Craft of Fiction	1932	14,27,28,84
12	Ralph Fox : The Novel and the people	1954	166
13.	Sinsir Chattopadhiaya : The Technique of the modern English Novel		209
14.	Scott James : The Making of Literature	1956	11
15.	William James : Principles of Psychology		56
16.	William Van O' Conner : Forms of Modern Fiction		11
17.	Vivan : Creative Technique in Fiction		17
18.	Selected Prejudices		31
19.	Oxford Dictionary of Current English		10

परिशिष्ट (२)

ग्रन्थ मे विवेच्य उपन्यास और उपन्यासकार

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबंध मे प्रयुक्त पृष्ठ
	अज्ञेय		
१	शेखर : एक जीवनी (भाग एक)	१९४०	२४९–२५५
२	शेखर : एक जीवनी (भाग दो)	१९४४	२५५–२६०
३	नदी के द्वीप	१९५१	२८९–२९४
	अमृतलाल नागर		
४	सेठ बांकेमल	१९५५	२९४
५	बूंद और समुद्र	१९५६	२९५–३०४
	इलाचंद्र जोशी		
६	लज्जा	१९२९	२१६–२१८
७	सन्यासी	१९४१	२१८–२२५
८	पर्दे की रानी	१९४१	२२५–२२८
९	प्रेत और छाया	१९४६	२२८–२३२
१०	जहाज़ का पंछी	१९५५	३६०–३६६
	उदय शंकर भट्ट		
११	सागर, लहरें और मनुष्य	१९५५	१६३–१६६
	उपेन्द्रनाथ अश्क		
१२	सितारों का खेल	१९४०	१८९
१३	गिरती दीवारें	१९४७	१८९–१९२
	उषा देवी मित्रा		
१४	वचन का मोल	१९३६	२८५
१५	पिया	१९३७	२८६
१६	जीवन की मुस्कान	१९३९	२८७
१७	सोहिनी	१९४९	२८७
१८	नष्ट-नीड़	१९५५	२८७
	कृष्ण चंद्र शर्मा 'भिक्खु'		
१९	आदमी का बच्चा	१९५०	३०८

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
२०.	संक्रान्ति	१९५१	३०८
२१.	घर का वड़ा	१९५३	३०८
२२.	भंवरजाल	१९५४	३०८–३११
	गिरिधर गोपाल		
२३.	चांदनी के खण्डहर	१९५४	३१६–३२०
	गुरुदत्त		
२४.	कला	१९५३	१७४–१७७
२५.	गुण्ठन	१९५५	१७७–१७९
	चतुरसेन शास्त्री		
२६.	वैशाली की नगरवधु (भाग एक)	१९४८	१४८–१५०
२७.	वैशाली की नगरवधु (भाग दो)	१९४९	१५०
	जयशंकर प्रसाद		
२८.	कंकाल	१९२९	१२०–१२२
२९.	तितली	१९३४	१२३
	जैनेन्द्र कुमार		
३०.	परख	१९२९	२३४–२३७
३१.	सुनीता	१९३५	२३७–२४१
३२.	त्याग-पत्र	१९३६	२४१–२४३
३३.	कल्याणी	१९३८	२४३–२४५
३४.	व्यतीत	१९५३	२४५–२४७
३५.	जयवर्धन	१९५६	४३–४९
	डॉ० देवराज		
३६.	पथ की खोज (भाग एक)	१९५१	२८२–२८४
३७.	पथ की खोज (भाग दो)	१९५२	२८४
३८.	रोड़े और पत्थर	१९५८	३२९–३३०
	डॉ० धर्मवीर भारती		
३९.	गुनाहों का देवता	१९४६	३५१–३५८
४०.	सूरज का सातवां घोड़ा	१९५२	३०५–३०७
	नागार्जुन		
४१.	वलचनमा	१९५२	१५१–१५३
४२.	बाबा बटेसर नाथ	१९५४	१५३–१५५
४३.	वरुण के बेटे	१९५७	१५५
४४.	दुखमोचन	१९५८	१५५–१५६
	नरेश मेहता		
४५.	डूबते मस्तूल	१९५४	३१३–३१५

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
	पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र		
४६	चन्द हसीनों के खतूत	१९२७	४३
	प्रताप नारायण श्रीवास्तव		
४७	विदा	१९२८	१२४–१२७
४८	विकास	१९४१	१२७–१२९
४९	विसर्जन	१९५०	१२९–१३०
	डॉ० प्रभाकर माचवे		
५०	परन्तु	१९४०	२६४–२६७
५१	द्वाभा	१९५५	२६७–२७१
	प्रेमचन्द		
५२	सेवासदन	१९१७	६९–७७
५३	निर्मला	१९२३	७७–८१
५४	रंगभूमि (दो भाग)	१९२४	८१–९६
५५	गबन	१९२९	९६–१०३
५६	गोदान	१९३६	१०३–११४
	फणीश्वर रेणु		
५७	मैला आंचल	१९५४	१५६–१६०
५८	परती परिकथा	१९५७	१६०–१६३
	भगवती चरण वर्मा		
५९	चित्रलेखा	१९३४	३३२–३३६
६०	आखिरी दाँव	१९५०	१७९–१८०
६१	अपने खिलौने	१९५७	१८०–१८२
	भगवती प्रसाद वाजपेयी		
६२	पतिता की साधना	१९३६	२७१
६३	दो बहनें	१९४०	२७१
६४	निमंत्रण	१९४२	२७१–२७६
६५	चलते चलते	१९५३	३७३–३७
	मन्मथनाथ गुप्त		
६६	बहता पानी	१९५५	१८५–१८८
	यज्ञदत्त शर्मा		
६७	विचित्र त्याग	१९४०	१९९
६८	दो पहलू	१९४०	१९९
६९	इन्साफ	१९५०	१९९
७०	भुनिया की शादी	१९४२	१९९
७१	परिवार	१९५४	१९९–२०१

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध में प्रयुक्त पृष्ठ
७२.	रंगशाला	१९५६	१९९
७३.	दबदबा	१९५८	२०१–२०४ २०४–२०७
	यशपाल		
७४.	दादा कामरेड	१९४१	१६७–१६९
७५.	देशद्रोही	१९४३	१६९–१७१
७६.	मनुष्य के रूप	१९४९	१७१–१७३
७७.	दिव्या	१९५४	३३६–३३९
	डॉ० रागेय राघव		
७८.	विषाद मठ	१९४६	३६६
७९.	मुर्दों का टीला	१९४८	३६६–३७२
	राजेन्द्र शर्मा		
८०.	कायर	१९५१	१७७–१७९
८१.	हेमा	१९५४	१८३–१८५
	राजेन्द्र यादव		
८२.	प्रेत बोलते है	१९५२	३७९
८३.	उखड़े हुए लोग	१९५६	३७९–३८१
	रामेश्वर शुक्ल अचल		
८४.	चढ़ती धूप	१९४५	२७९
८५.	नई इमारत	१९४६	२७९
८६.	उल्का	१९४७	२८०–२८१
	डॉ० रघुवंश		
८७.	तंतुजाल	१९५८	३२७–३२९
	डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल		
८८.	वया का घोसला और सांप	१९५३	३२२–३२३
८९.	काले फूल का पौधा	१९५५	३२४–३२७
	विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'		
९०.	मां	१९२९	११४–११६
९१.	भिखारिणी	१९३०	११६–११९
	विष्णु प्रभाकर		
९२.	निशिकान्त	१९५५	३७२
९३.	तट के बन्धन	१९५६	३७२–३७३
	डॉ० वृन्दावन लाल वर्मा		
९४.	गढ़ कुंडार	१९२८	१३३–१३९
९५.	विराटा की पद्मिनी	१९३३	१३९–१४४

संख्या	नाम	प्रकाशन काल	शोध-प्रबन्ध मे प्रयुक्त पृष्ठ
९६	झांसी की रानी लक्ष्मीबाई	१९४६	३३९–३४६
९७	मृगनयनी	१९५०	३४६–३५१
	सर्वेश्वर दयाल सक्सेना		
९८	सोया हुआ जल	१९५५	३२०–३२२
	शिव प्रसाद मिश्र		
९९	बहती गगा	१९४६	१४४–१४८
	डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी		
१००	बाणभट्ट की आत्मकथा	१९५२	३१२–३१३

(ग) पत्र-पत्रिकाए (हिन्दी)

१	सारिका	अक्तूबर १९६०	१५०
२	आलोचना उपन्यास विशेषांक (१३)		४०,५३,७६,१५२,२१४ २६०, २८४, २९०, ३९५
३	समालोचक सितम्बर १९५९		३०४
४	आलोचना (१७)		३२०
५			

(घ) पत्रिका (अंग्रेजी)

Illustrated Weekly of India—Dated 4 3-1962 307